वैदिक-संग्रह एवं व्याख्या

<table>
<tr><td rowspan="3">उपलब्ध-
वैदिक-
साहित्यम्</td><td>ऋग्वेदः</td><td colspan="2">यजुर्वेदः</td><td>सामवेदः</td><td>अथर्ववेदः</td></tr>
<tr><td rowspan="2">एकविंशतिधा-
बह्वृचः</td><td colspan="2">एकशतम् अध्वर्यु शाखा</td><td rowspan="2">सहस्त्रवर्त्मा
सामवेदः</td><td rowspan="2">नवधा
आथर्वणो वेदः</td></tr>
<tr><td>शुक्ल</td><td>कृष्ण</td></tr>
<tr><td>संहिता</td><td>शाकल,
वाष्कल</td><td>वाजसनेयी
(माध्यन्दिन)
काण्व</td><td>काठक,
कपिष्ठल
मैत्रायणी,
तैत्तिरीय</td><td>कौथुम,
राणायनीय
जैमिनीय
(तलवकार)</td><td>शौनक,
पैप्पलाद</td></tr>
<tr><td>ब्राह्मण</td><td>ऐतरेय,
कौषीतकि
(शांखायन)</td><td>शतपथ</td><td>कठ,
तैत्तिरीय</td><td>पंचविंश-ताण्ड्य
जैमिनीय,
शाट्यायन
षड्विंश</td><td>गोपथ</td></tr>
<tr><td>आरण्यक</td><td>ऐतरेय,
कौषीतकि
(शांखायन)</td><td>बृहदारण्यक</td><td>कठ,
तैत्तिरीय</td><td>आरण्यकसंहिता
आरण्यकगण
जै. उप. ब्राह्मण</td><td>अनुपलब्ध</td></tr>
<tr><td>उपनिषद्</td><td>ऐतरेय,
कौषीतकि</td><td>ईशोपनिषद्,
बृहदारण्यक</td><td>तैत्तिरीय,
श्वेताश्वतर
महानारायण
मन्त्र, मैत्री</td><td>छान्दोग्य,
केन</td><td>मुण्डक,
माण्डूक्य,
प्रश्न</td></tr>
<tr><td>प्रातिशाख्य</td><td>ऋक्प्रातिशाख्य
(शौनक)</td><td>वाजसनेयि
(कात्यायन)</td><td>तैत्तिरीय</td><td>ऋक्-तन्त्र
(शाकटायन)</td><td>शौनकीय
(कौत्स)</td></tr>
<tr><td rowspan="2">शिक्षा</td><td>पाणिनीय स्वर
व्यंजन शिक्षा</td><td>याज्ञवल्क्य
वासिष्ठी,केशवी</td><td>चारायणीय
तैत्तिरीय, शम्भु</td><td>नारदशिक्षा
लोमशी, गौतमी</td><td rowspan="2">अथर्व-
प्रातिशाख्य
माण्डुकी</td></tr>
<tr><td colspan="2">कात्यायनी पाराशरी, माध्यन्दिनी,
माण्डवी,अमोघनन्दिनी,वर्ण० दी०</td><td colspan="2">भारद्वाज, व्यास, कौहली, आरण्य
आपिशलि, पारिशिक्षा, कालनिर्णय</td></tr>
<tr><td rowspan="3">श्रौतसूत्र</td><td rowspan="2">शांखायन
आश्वलायन</td><td>कात्यायन</td><td>बौधायन, मानव</td><td rowspan="3">आर्षेयकल्प
लाट्यायन
द्राह्यायण, जैमि०</td><td rowspan="3">वैतान
श्रौतसूत्र</td></tr>
<tr><td colspan="2">भारद्वाज, हिरण्यकेशी, आपस्तम्ब,</td></tr>
<tr><td colspan="3">सत्याषाढ, वाराह, वैखानस, वाधूल, काठक</td></tr>
<tr><td rowspan="2">गृह्यसूत्र</td><td rowspan="2">आश्वलायन
शांखायन
कौषीतकी</td><td>पारस्कर</td><td>बौधायन,</td><td rowspan="2">गोभिल, खादिर
जैमिनीय,
कौथुम</td><td rowspan="2">कौशिक सूत्र</td></tr>
<tr><td colspan="2">आपस्तम्ब, वाधूल, भारद्वाज,
मानव, वाराह, काठक</td></tr>
<tr><td>धर्मसूत्र</td><td>वसिष्ठ</td><td>अनुपलब्ध</td><td>बौधायन, आप०, विष्णु
हिरण्यकेशिन्, वैखानस</td><td>गौतम</td><td>अनुपलब्ध</td></tr>
<tr><td>शुल्बसूत्र</td><td>बौधायन</td><td>कातीय</td><td>बौधायन, आपस्तम्ब,
हिरण्यकेशि, मानव</td><td>अनुपलब्ध</td><td>अनुपलब्ध</td></tr>
</table>

बलदेवः

वैदिक-संग्रह एवं व्याख्या

एम० ए० प्रथम वर्ष एवं यू० जी० सी० (नेट) पाठ्यक्रमानुसार
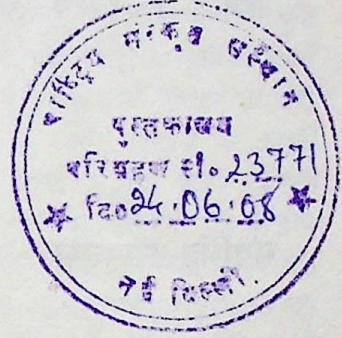
डॉ बलदेव

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

आचार्य प्रकाशन, दयानन्द मठ, गोहाना रोड़, रोहतक

प्राक्कथन

मानव जाति के विकास के अध्ययन का मूल स्रोत होने के कारण वैदिक-वाङ्मय सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वप्राचीन है। अलौकिक विषयों को इतने सहज ढंग से ग्रहण करने वाले हमारे प्राचीन ऋषियों ने जिन वेद मन्त्रों का साक्षात्कार किया था उन्हें समझ पाना आज के मनुष्य के वश की बात नहीं। अनेक वेदार्थ पद्धतियों का प्रचलन भी इसी का परिणाम है। श्रवण परम्परा से वैदिक पठन-पाठन प्रणाली श्रुति के रूप में अक्षुण्ण चली आ रही थी, जिसके भंग हो जाने से दुर्बोध वैदिक ग्रन्थों को समझ पाना कठिन हो गया। आधुनिक विद्वान अभिधेय अर्थ के आधार पर वेदों के विभिन्न अर्थ कर रहे हैं। फिर भी महर्षि दयानन्द प्रभृति विद्वानों के वेदार्थ प्रतिपादन से मृत परम्परा में जीवन आया है। मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिए वेदार्थ को पूर्ण समझ पाना यद्यपि दुष्कर है लेकिन वेद का अध्यापक होने के नाते मेरा यह कर्त्तव्य है कि प्राचीन वेदार्थ परम्परा के तत्त्वों को विद्यार्थियों के समक्ष उपस्थित करूं। मेरा यह प्रयास विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम०ए० संस्कृत (प्रथम वर्ष) में वेद के पत्र के लिए तथा यू०जी०सी० (नेट) की परीक्षा के लिए भी वैदिक साहित्य से सम्बन्धित पाठ्यक्रम-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वैदिक व्याकरण एवं वैदिक व्याख्या पद्धति सम्बन्धी विषयों के संकलन की व्याख्यामात्र है, जिसमें पाठ्यक्रम में निर्धारित मन्त्रों तथा पाठांशों को मूल रूप में देकर पदपाठ, अन्वय आदि के साथ प्रतिष्ठित संस्कृत भाष्यों सहित हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका सहित सम्पूर्ण पाठ्यक्रम के लिए विषय-वस्तु एवं साहित्य की विस्तृत जानकारी दी गई है, जिससे विद्यार्थियों को विषय के समझने में पूर्ण सहायता मिलेगी।

प्रथम-मन्त्रद्रष्टा एवं प्राचीन ऋषियों को नमन करते हुए मैं उन समस्त वैदिक विद्वानों का आभार प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों से परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से इस पुस्तक की रचना में सहायता ली गई है, तत्पश्चात् अपने गुरुजनों विशेषत: डॉ० रामगोपाल, डॉ० ईश्वर सिंह एवं प्रो० सुधिकान्त भारद्वाज का कृतज्ञतायुक्त नमन करता हूँ जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाया। मैं अपने सहयोगियों डॉ० सुधा जैन, डॉ० बलवीर आचार्य डॉ० आशा और डॉ० सुरेन्द्र कुमार का धन्यवादी हूँ जिन्होंने इस संग्रह की रचना के लिए मुझे बाध्य किया, मैं अपनी धर्मपत्नी डॉ शशी मेहरा (अध्यक्ष, लो०प्र०वि०) तथा अपने पुत्रों मयंक एवं देवेश का भी आभारी हूँ जिन्होंने संग्रह को पूरा करने में सहयोग दिया। इसके शीघ्र प्रकाशन के लिए मैं इस पुस्तक के प्रकाशक 'आचार्य वेदव्रत, आचार्य प्रकाशन, दयानन्द मठ, रोहतक' का आभार प्रकट करता हूँ तथा नितिन कुमार का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने 'कम्प्यूटर टंकण' से इस कार्य को पूरा करने में सहयोग दिया। अन्त में मैं उन विद्वानों के प्रति पुनः कृतज्ञता एवं आभार व्यक्त करता हूँ जिसकी बहुमूल्य रचनाओं से इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने में सहायता ली गई है।

-बलदेव

विषय-अनुक्रम एवं पाठ्यक्रम

वैदिक-साहित्यम्

भूमिका

वेदवाक् तथा वेदार्थ परम्परा

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

आचार्य भगवद्दत्त के अनुसार अनवच्छिन्न इतिहास का साक्ष्य है कि वाक् अपौरुषेय और आदि अन्त रहित है। प्रजापति पुरुष के द्वारा आदि में एकाक्षर (monosyllabic) तथा द्व्यक्षर (bi-syllabic) पद उच्चरित हुए। तत्पश्चात् देवों द्वारा अन्तरिक्ष और द्यौः आदि में देववाक् स्वाभाविक ही उत्पन्न हुई। वस्तुतः सारा जगत् उसी दैवी वाक् का परिणाम् है। उस वेद वाक् का रूप सदा एक समान और प्रति सृष्टि में एक-सा होता है।

दैवी वाक्–आर्य विद्वान् दो प्रकार की वाक् मानते आए हैं, दैवी और मानुषी। आर्य परम्परा में मानव की सृष्टि के आरम्भ से यह तथ्य सुरक्षित रहा है कि वेद-वाक् ही दैवी वाक् है। यह वाक् मानव की उत्पत्ति से बहुत पूर्व अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ देवों और ऋषियों अर्थात् ईश्वर की भौतिक विभूतियों द्वारा प्रकट हो चुकी थी। ओम्, अथ, व्याहृतियाँ और मन्त्र हिरण्यगर्भ आदि से तन्मात्रारूप वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित हो चुके थे। वह वाक् क्षीण नहीं हुई, परम व्योम आकाश में स्थिर रही। मानव सृष्टि के आरम्भ में जब ऋषियों ने आदि शरीर धारण किए, तो वह दैवी वाक् ईश्वर प्रेरणा से उनमें प्रविष्ट हुई। उसे उन्होंने सुना। इस कारण वेद-वाक् का एक नाम श्रुति हुआ।

दैवी वाक् के विषय में ऋग्वेद का मन्त्रांश है–

१. **दैवीं वाचमजनयन्त देवाः।** अर्थात् दैवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने।

ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त का मन्त्रार्ध है–

२. **तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।** अर्थात् उसको मुझ वाक् को देवों ने स्थापित किया।

लौगाक्षि गृह्यसूत्र में पठित मन्त्र है।

३. **दैवीं वाचम् उद्यासं शिवामजस्त्रां जुष्टां देवेभ्यः।** अर्थात् दैवी वाक् को उत्कृष्टता से प्राप्त होऊँ, श्रेयस्करी को और अजस्त्रा-नित्या को।

काठक संहिता में लिखा है।

४. **तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति, दैवीं च मानुषीं च।** अर्थात् इस कारण ब्राह्मण दो प्रकार के वाक् को बोलता है, दैवी अर्थात् देवों के वाक् को और मानुषी को।

आर्य परम्परा में यह विश्वास चला आ रहा था कि वेद-वाक् मनुष्यों में व्यवहृत नहीं हुई, अपितु लोकभाषा अथवा व्यावहारिकी भाषा वेद-पद-बहुला अति भाषा थी।

मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य लेखकों ने इस मौलिक तथ्य की उपेक्षा कर वैदिक काल, उपनिषद्-काल, सूत्र-काल और रामायण महाभारत काल की प्रमाण रहित कल्पना की। उनका भरसक प्रयत्न रहा कि किसी प्रकार वेद-वाक् को भी लोक-भाषा सिद्ध किया जाए।

वेद का साक्ष्य–ऋग्वेद के बृहस्पति ऋषि-दृष्ट ज्ञानसूक्त के मन्त्र में अति स्पष्ट शब्दों में लिखा है–

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।"

अर्थात् सत्तु को जैसे छलनी द्वारा (छिलके) से पृथक् करते हैं, वैसे धीरों के मन से (शुद्ध दैवी) वाक् को साधारण ध्वनियों से पृथक् कर दिया। अन्तरिक्ष में दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की वाक् उत्पन्न हो चुकी थी। दिव्य ऋषियों ने दैवी वाक् को आसुरी वाक् से पृथक् ग्रहण किया।

संसार की प्राचीन जातियों का मत–मिश्र और यूनान आदि के प्राचीन लोग देवों और उनकी विभूतियों को थोड़ा-सा समझते थे। देव ज्ञान और अधिभूत-ज्ञान का उन्हें पता था। उनके पुराने विद्वान् दैवी और मानुषी वाक् का भेद भी समझते थे।

(क) मिश्र के प्राचीन विश्वास के विषय में मर्सर लिखता है–

Egyptians had their šsacred writing› ..... šwritings of the word of the god›, often kept in a šhouse of sacred writings.›

अर्थात् मिश्र के लोग अपने पवित्र लेख रखते थे। **'देवों के शब्दों का लेख' जिसे वे प्रायः 'पवित्र लेखों के घर' में रखते थे।**

मिश्र के विद्वान् इस लेखन के लिए ndv-ntr (न्द्व-न्त्र) अर्थात् the speech of the God शब्द प्रयुक्त करते थे। निस्संदेह मिश्री भाषा के 'न्द्व' पद में 'द्व' शब्द देव शब्द का संकेत करता है और न्त्र पद वाग्वाची वैदिक शब्द 'मन्द्रा' का बोध कराता है। अर्थात् मिश्री लोग देवों की वाणी को 'देवमन्द्रा' कहते थे। मिश्री 'न्द्व-न्त्र' का जो मूल रूप होगा वह देवमन्द्रा के अधिक समीप होगा।

(ख) यूनान के प्रसिद्ध प्राचीन लेखक होमर (Homer) के लेख का भाव है–

The Language of God and of men.

अर्थात् देवों की भाषा और मानवी भाषा।

(ग) स्ट्रैबो (Strabo) लिखता है–

And on this account Plato, and even before his time the Pythagoreians, called philosophy music; and they say that the universe is constituted in accordnce with harmony, assuming that every form of music is the work of the god.

अर्थात् ब्रह्माण्ड छन्दों का परिणाम है। और सब छन्द देवों द्वारा निर्मित हुए।

संसार की पुरातन जातियों ने दैवी-वाक् का जो सिद्धान्त ग्रहण किया, वह शुद्ध वैदिक सिद्धान्त है। इस को समझने के लिए दैवी वाक् तथा देवों के स्वरूप को समझना आवश्यक है। भाषा देवों अर्थात् महाभूत आदिकों से स्वाभाविक उत्पन्न हुई। सब पुराने संसार का यही मत था। यह मत वेद से लिया गया था। जिस प्रकार आत्मा की प्रेरणा और मन के योग तथा कण्ठ आदि के व्यापार से वैखरी वाक् (ध्वन्यात्मक शब्द) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार महान् आत्मा की प्रेरणा, देवों के योग तथा तन्मात्रा रूपी वागिन्द्रिय से द्युः और अन्तरिक्ष आदि लोक में दैवी वाक् उत्पन्न हुई।

प्रति सृष्टि यही वाक् स्थिर भौतिक नियमों के आधार पर उत्पन्न होती है।

मानवी भाषा की उत्पत्ति–दैवी-वाक् का पक्ष अति संक्षिप्त रूप में लिखा है। स्पष्ट है कि दैवी-वाक् मनुष्य वाक् नहीं है। मनुष्य वाक् संस्कृत है। इसे भी आदि काल में वेद शब्दों के आचार पर ऋषियों ने व्यवहार की भाषा के रूप में जन्म दिया। इसीलिए स्वायंभुव मनु ने कहा है–

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ १.२१

अर्थात् आदि में ब्रह्मा ने वेद शब्दों से सब नाम आदि रखे। मनुष्यों में व्यवहृत वाक् मानुषी वाक् कहलायी। इसमें पद लगभग वही है जो दैवी वाक् में थे, पर वाक्य रचना और आनुपूर्वी के हेर-फेर के कारण यह एक नया रूप धारण करती है। मूल इसका दैवी वाक् ही है।

भरत नाट्य शास्त्र में लिखा है-

अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूजुजाम्।
संस्कार-पाठ्य-संयुक्ता सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता।। १७.१८

अर्थात् अतिभाषा तो देवों की और आर्यभाषा राजपुरुषों की। प्रकृति प्रत्यय के पूर्ण संस्कार से युक्त सातों द्वीपों में प्रचलित मानुषी वाक् के उत्तरोत्तर चार रूप हुए-

१. अतिभाषा=अभिभाषा=आदिभाषा-वैदिक शब्द बहुला।
२. आर्यभाषा=भाषा।
३. महाभारत काल की लोक-भाषा संस्कृत ।
४. पाणिनि के उत्तर काल की संस्कृत ।

वेद शब्द और उसका अर्थ

स्वर भेद से दो प्रकार का 'वेद' शब्द प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। एक है आद्युदात्त और दूसरा है अन्तोदात्त। आद्युदात्त वेद शब्द प्रथमा के एक वचन में ऋग्वेद में पन्द्रह बार प्रयुक्त हुआ है और तृतीया के एक वचन में एक बार। अन्तोदात्त वेद शब्द ऋग्वेद में नहीं मिलता। यजुर्वेद और अथर्ववेद में अन्तोदात्त वेद शब्द मिलता है।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति-वैदिक वाङ्मय में वेद शब्द की व्युत्पत्ति विशद रूप से विवेचित है। काठक, मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं में वेद शब्द की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से वर्णित है-

(क) **वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दन्त तद्वेदस्य वेदत्वम्।**

तै०सं० १, ४, २०

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऐसा वचन मिलता है-

(ख) **वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन्।**
वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीम्।। ३,३,९,१०

इन दोनों प्रमाणों में **अन्वविन्दन्। अविन्दन्। अविन्दन्त। विविदुः** आदि प्रयोग

पाणिनीय मतानुसार **विदलृ=लाभे** से व्युत्पन्न हुए हैं। भट्ट भास्कर तैत्तिरीय संहिता के अर्थ में लिखता है–(१) **विद्यते=लभ्यतेऽनेनेति करणे धञ्। उञ्छादिवादन्तोदात्तम्।।**

तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रमाण के अर्थ में भट्ट भास्कर लिखता है–

(२) **विविदुः–लब्धवन्तः।। पुरुषार्थां वेदयिता वेद उच्यते।**

आनन्दतीर्थ ने अपने विष्णुतत्त्वनिर्णय में वेद शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक प्रमाण दिया है–(ग) **नेन्द्रियाणि नानुमानं वेदा ह्येवैनं वेदयन्ति। तस्मादाहुर्वेदा इति पिप्पलादश्रुतिः।।**

आयुर्वेद की सुश्रुत संहिता में लिखा है–(घ) **आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।१।।१५** इस वचन की व्याख्या में डल्हण लिखता है–

आयुरस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्ति ..... विद्यते=ज्ञायतेऽनेन ..... विद्यते=विचार्यतेऽनेन वा ..... आयुरनेन विन्दति=प्राप्नोति इति वा आयुर्वेदः।

सुश्रुत के वचन से प्रतीत होता है कि सुश्रुतकार करण और अधिकरण दोनों अर्थों में प्रत्यय हुआ मानता है। टीकाकार डल्हण समझता है कि **विद्=सत्तायाम्। विद्=ज्ञाने। विद्=विचारणे।** और **विदलृ=लाभे** इन सभी धातुओं से सुश्रुतकार को वेद शब्द की सिद्धि अभिप्रेत थी।

चरक संहिता में लिखा है–(ङ) **तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः।** चरक संहिता का टीकाकार चक्रपाणि इस पर लिखता है–

वेदयति=बोधयति। अर्थात् **विद्=ज्ञाने** से कर्त्ता में प्रत्यय मानकर वेद शब्द बना है।

नाट्यशास्त्र की विवृत्ति में अभिनव गुप्त लिखते हैं–(च) **नाट्यस्य वेदनं सत्तालाभो विचारश्च यत्रतन्नाट्यवेद-शब्देन ..... उच्यते।** इससे प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त भाव में भी प्रत्यय मानता है। तथा सत्ता, लाभ तथा विचार अर्थ वाले **विद्** धातु से वेद शब्द भी सिद्ध करते हैं।

क्षीरस्वामी अमर कोष की टीका में लिखते हैं–(छ) **विदन्त्यनेन धर्मं वेदः।** इसी प्रकार सर्वानन्द अपनी टीका में लिखते हैं–(ज) **विदन्ति धर्मादिकमनेनेति वेदः।**

जैनाचार्य हेमचन्द्र अपनी अभिधान चिन्तामणि में लिखते हैं–(झ) **विन्दत्यनेन धर्मं वेदः।**

इन लेखों से विदित होता है कि क्षीरस्वामी, सर्वानन्द और हेमचन्द्र प्रत्यय तो

करण में ही मानते हैं, परन्तु पहले दोनों विद्वान् वेद शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञान अर्थ वाले **विद्** धातु से मानते हैं और तीसरा विद्वान् अर्थात् हेमचन्द्र **विदलृ** धातु से मानता है।

भाष्यकार मेघातिथि मनुस्मृति-भाष्य में लिखता है-(ञ) **व्युत्पाद्यते च वेद शब्दः। विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति वेदः। तच्च वेदनमेकैकस्माद्वाक्याद् भवति।**

आपस्तम्ब परिभाषा-भाष्य में सूत्र १/३३ के भाष्य में कपर्दि स्वामी लिखते हैं-(ट) **निःश्रेयस्कराणि कर्माण्यावेदयन्ति वेदाः।**

इसी प्रकार एक अन्य सूत्र की वृत्ति में हरदत्त लिखता है-(ठ) **वेदयतीति वेदः।**

जिस वेद शब्द की व्युत्पत्ति का प्रकार पूर्व कहा गया है वह वेद शब्द अथवा मन्त्र संहिताओं के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

वेद तथा ऋषि पर्यायवाची शब्द-प्राचीन भाष्यकार अनेक प्रसङ्गों में ऋषि शब्द का वेद भी एक अर्थ करते आये हैं। यह प्रवृत्ति कब से चली है उसका ऐतिहासिक ज्ञान बड़ा उपादेय है। अतः उसका आगे निदर्शन किया जाता है-भोजराज कृत उणादिसूत्र की वृत्ति में दण्डनाथ नारायण लिखते हैं-**ऋषिः वेदः**। अर्थात् ऋषि वेद को कहते हैं। हरदत्त मिश्र पाणिनीय सूत्र पर अपनी पद मञ्जरी व्याख्या में लिखता है-

ऋषिर्वेदः। तदुक्तमृषिणा-इत्यादौ दर्शनात्। अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों के **तदुक्तमृषिणा** पाठ के अनुरोध से ऋषि का अर्थ वेद है। वैजयन्ती कोष में यादवप्रकाश लिखते हैं-**ऋषिस्तु वेदे**। अर्थात् ऋषि शब्द वेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के प्रथम श्लोकान्तर्गत **महर्षयः** पद के भाष्य में मेघातिथि लिखते हैं-**ऋषिर्वेदः। तदध्ययन विज्ञान-तदर्थानुष्ठानाति- शययोगात् पुरुषेऽप्यृषिशब्दः**। अर्थात् वेद के अध्ययन, विज्ञान, अर्थानुष्ठान आदि के कारण पुरुष में भी ऋषि शब्द का प्रयोग होता है।

आठवीं शताब्दी से पूर्व के शाश्वत कोष में लिखा है-**ऋषिर्वेदे**।

इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी तक ऋषि शब्द का वेद अर्थ सुप्रसिद्ध था।

वेद मन्त्रों की कुछ विशेषताएँ

१. **नियतानुपूर्वी**—वेद मन्त्रों में आनुपूर्वी नित्य मानी जाती है। यज्ञ में अथवा अन्यत्र इस आनुपूर्वी को बदलने का आज तक किसी को अधिकार नहीं हुआ। जैसी मन्त्रों की ध्वनियाँ आकाश में उच्चरित हुई, उनका क्रम वैसा ही रखा गया। शाखाओं में भी वर्णानुपूर्वी अनित्य हुई। ऋषियों ने इस आनुपूर्वी को आज तक सुरक्षित रखा। आज तक अग्नि के स्थान में वह्नि शब्द कभी प्रयुक्त नहीं हुआ। संहिता पाठ में अग्निमीले के स्थान में ईलेऽग्निम् कभी नहीं हुआ। शाखाओं में कुछ परिवर्तन हुए, पर मूल का ज्ञान सदा ध्यान में रहा।

२. **वेद में मानुष इतिहास का अभाव**—वेद की वाणी आकाशी, वेद के देव आकाशी, मन्त्रगत ऋषि आकाशी, छन्द आकाशी, अत: वेद में पार्थिव मनुष्यों और ऋषियों का इतिहास नहीं मिल सकता। वेद का यथार्थ समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ तथा निरुक्त में वर्णित अधिदैवत और अधि-यज्ञ परक अर्थ का ज्ञान आवश्यक है। जो भाष्यकार वेद के अधिदैवत अर्थ को यथार्थ नहीं समझ पाए, उन्होंने वेदार्थ नष्ट किया है। वेद का अध्यात्म परक अर्थ वेद के अधिदैवत अर्थ के समझे बिना कदापि समझ नहीं आ सकता।

३. **छान्दसी मुद्रा**—वेद के रूपों की विशिष्टता को कुमारिल ने छान्दसी मुद्रा का नाम दिया है। यदि वेदानुकरण कर कोई भी रचना की जाए, वेद के सूक्ष्म विद्वान् उसमें छान्दसी मुद्रा का अभाव तत्काल बता देंगे।

४. **वेद शब्द सर्वतोमुख**—लोक भाषावत् वैदिक शब्दों में अर्थ की इयत्तता नहीं। एक ही मन्त्र में प्रकरण के बदलने से एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। भर्तृहरि **इदं विष्णुर्विचक्रमे** के सम्बन्ध में लिखता है। ऋग्वेद की ऋचा में विष्णु शब्द एक अर्थ में बंधा हुआ भी प्रकरण-भेद होने पर अधिदैवत, अध्यात्म, और अधियज्ञ में क्रमशः आत्मा (सूर्य), नारायण तथा चषाल को कहता है। इसी सूक्ष्म तथ्य का संकेत निरुक्त वृत्ति में दुर्गाचार्य ने किया है।

वेद में शब्दों के यौगिक होने से प्रकरणानुकूल ही अर्थ होता है। वह अर्थ मूलत: वा सम्बन्ध से एक अथवा अनेक प्रकार का है। विशेष्य, विशेषण की रीति से विशेषण धात्वर्थ मात्र ही देता है। विशेषण दूसरे स्थान पर स्वयं नाम अर्थात् योगरूढ़ बन जाता है। उन सब में यह योगरूढ़ बनते समय प्रकरण-वश कुछ ही अर्थों में रह गया है। वे सब अर्थ भाष्यकर्त्ता के ध्यान में रहने चाहिए। जो जहाँ संगत हो उसे ही प्रयोग करें।

वैदिक मान्यता के अनुसार प्राचीन वेदाचार्य

प्रजापति ब्रह्मा–सर्वतोमुखी प्रजापति ब्रह्मा आदि वेदाचार्य थे। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय तथा संस्कृत साहित्य में समस्त विद्याओं के आगम भूत पद-प्रवक्ता ब्रह्मा ही थे। ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदि आद्य ऋषियों से चारों वेदों का ज्ञान उपलब्ध किया। उसी के आधार पर लोकोपकारक समस्त विद्याओं का प्रवचन किया। यही भारतीय वाङ्मय में आदि वेदाचार्य कहलाए। वेदार्थ परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गयी।

अपान्तरतमा=प्राचीनगर्भ–(क) आचार्य शङ्कर अपने वेदान्तसूत्रभाष्य में लिखते हैं–**तथा हि अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिः विष्णुनियोगात् कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूव इति स्मरन्ति।**

अर्थात् अपान्तरतमा नाम का वेदाचार्य और प्राचीन ऋषि ही कलि द्वापर की सन्धि में विष्णु की आज्ञा से कृष्ण द्वैपायन के रूप में उत्पन्न हुआ।

(ख) इसी सम्बन्ध में अहिर्बुध्न्यसंहिता में लिखा है–

अथ कालविपर्यासाद् युगभेदसमुद्भवे॥५०॥

त्रेतादौ सत्त्वसंकोचाद्रजसि प्रविजृम्भते।
अपान्तरतमा नाम मुनिर्वाक् संभवो हरेः॥५३॥

कपिलश्च पुराणर्षिरादिदेवसमुद्भवः।
हिरण्यगर्भो लोकादिरहं पशुपतिः शिवः॥५४॥

उदभूत्तत्र धीरूपमृग्यजुः सामसंकुलम्॥५८॥
विष्णुसंकल्पसंभूतमेतद् वाच्यायनेरितम्।

अर्थात् वाक् का पुत्र वाच्यायन अपरनाम अपान्तरतमा था। [कालक्रम के विपर्यय होने से त्रेता युग के आरम्भ में] विष्णु की आज्ञा से अपान्तरतमा, कपिल और हिरण्यगर्भ आदिकों ने क्रमशः ऋग्यजुः, सामवेद, सांख्य शास्त्र और योग आदि का विभाग किया।

अहिर्बुध्न्यसंहिता शङ्कर से बहुत पहले काल की है। (ग) इस अहिर्बुध्न्यसंहिता से भी बहुत पहले महाभारत में वैशम्पायन राजा जनमेजय को कह रहे हैं–

अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्संभवो विभोः।
भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः॥३८॥
तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः।
वेदाख्याने श्रुतिः कार्या त्वया मतिमतां वर॥४०॥
तस्मात्कुरु यथाज्ञप्तं मयैतद्वचनं मुने।
तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायंभुवेऽन्तरे॥४१॥

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन॥६१॥

इन श्लोकों का और महाभारत के इस अध्याय के अन्य श्लोकों का अभिप्राय यही है कि अपान्तरतमा ऋषि वेदाचार्य अथवा प्राचीनगर्भ कहा जाता है। उसी ने एक बार पहले वेदों का शाखा-विभाग किया था।

अपान्तरतमा का कोई सिद्धान्त ग्रन्थ भी था। योगियाज्ञवल्क्य में उसका उल्लेख मिलता है।

महाभारत में वर्णित वेदाचार्य

शान्ति पर्व में सात मुख्य वेदाचार्यों के नाम स्मरण किए गए हैं। लिखा है-

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः ऋतुः।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि वै॥६१॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्येन कल्पिताः॥६२॥

अर्थात् **मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु** तथा **वसिष्ठ** सात वेदवित् मुख्य वेदाचार्य थे। इन्हीं का नाम अनुशासन पर्व में भी स्मरण किया गया है। यथा-

पितामहः पुलस्त्यश्च वसिष्ठः पुलहस्तथा।
अङ्गिराश्च ऋतुश्चैव कश्यपश्च महानृषिः॥
एते कुरुकुलश्रेष्ठ महायोगेश्वराः स्मृताः॥२०॥
एते च पितरो राजन्नेष श्राद्धविधि परः॥२१॥

पुनः इसी पर्व में लिखा है-

अथ सप्तमहाभागा ऋषयो लोकविश्रुताः।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ब्रह्माणं पद्मसंभवम्।
प्रदक्षिणमभिक्रम्य सर्वे प्राञ्जलयः स्थिता।
उवाच वचनं तेषां वसिष्ठो ब्रह्मवित्तमः॥ ५९.७०

महाभारत शान्ति पर्व में ही एक अन्य स्थान में वेदपारग दस आचार्यों का नाम वर्णित है-

भृगुमरीचिरत्रिश्च ह्यङ्गिराः पुलहः क्रतुः।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दशः॥९६॥

ब्राह्मणो मानसा ह्येते उद्भूताः स्वयमीश्वराः।
परत्वेनर्षयो यस्मात्-स्मृतास्तस्मान्महर्षयः॥९७॥

भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलहः, ऋतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ, पुलस्त्य यह ऋषि कोटि में प्रथम दस महर्षि हैं। वे स्वयं ईश्वर और ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं।

वेदव्यास–साहित्य में व्यास का लक्षण '**वेदान् विन्यास यस्मात्स वेदव्यास इति स्मृतः**' किया गया है। इस लक्षण के अनुसार अट्ठाईस ऋषि समय-समय पर शाखा आदि के प्रवचन कर्त्ता रहे। इनमें से वाल्मीकि प्रभृति कतिपय व्यासों के द्वारा प्रोक्त शाखाओं के विशेष नियम प्रातिशाख्यों में उपलब्ध हैं। महाभारत शान्ति पर्व में लिखा है '**वेदार्थवेत्तुर्व्यासस्य।**' अर्थात् वेदार्थ वेत्ता व्यास का।

महाभारत और वेद-प्रवचन–महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म व्यास और शुक्र संवाद सुनाते हैं। उस में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं–

त्रेतायां संहता वेदा यज्ञा वर्णास्तथैव च।
संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे॥६५॥

अर्थात् त्रेता में चरण एकत्र किए गए अथवा पृथकता से एकत्र पढ़े गए, यज्ञ और वर्ण भी ऐसे ही। और द्वापर में आयु के संरोध-ह्रास से शाखा रूप में प्रोक्त हुए।

पुराणों में वर्णित वेदाचार्य

अट्ठाईस व्यास–पुराणों में वैवस्वत मनु से आरम्भ करके कृष्ण द्वैपायन तक प्रति द्वापर की दृष्टि से अट्ठाईस व्यास गिनाए हैं। वैवस्वत मनु त्रेता के आरम्भ में था और वेद-प्रवचन द्वापर में माना गया है। अतः त्रेता-युगीन वैवस्वत मनु से वेद-प्रवचन किस प्रकार आरम्भ हुआ, यह परस्पर विरोधी बात प्रतीत होती है। पुराणों के इस प्रसंग में '**द्वितीयेद्वापरे, तृतीयद्वापरे**' आदि कहकर '**परिवर्ते पुनः षष्ठे**' और '**पर्यायश्च चतुर्दश**' आदि से गणना चलाई गई है। इससे प्रतीत होता है कि वेद-प्रवचन विषयक गणना का अभिप्राय सर्वथा अन्य प्रकार का है। तदनुसार त्रेता के आरम्भ से लेकर द्वापर के अन्त तक २८ वार वेद-प्रवचन माना गया है।

यदि माना जाए कि यहाँ प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर गिनाए गए हैं, वह भी ठीक नहीं बैठता। कारण–

वैवस्वत मनु प्रथम चतुर्युगी के द्वापर में नहीं था, वह त्रेता के आरम्भ में था। ऋक्ष अर्थात् वाल्मीकि २४वें परिवर्त का व्यास माना गया है। वह दाशरथि राम का समकालिक था। राम से भारत युद्ध तक केवल ३५ पीढ़ियाँ गिनी जाती हैं, अधिक नहीं। ये प्रधान पीढ़ियाँ नहीं हैं, सम्पूर्ण पीढ़ियाँ हैं। अतः ऋक्ष को चौबीसवीं चतुर्युगी

का मानना इतिहास के विरुद्ध बैठता है। २६वें परिवर्त का व्यास पराशर और २७वें परिवर्त का व्यास जातूकर्ण्य क्रमशः कृष्ण द्वैपायन के पिता और चाचा थे। ये दोनों महात्मा पूर्व चतुर्युगी के नहीं थे।

इन २८ वेद-प्रवचनों में अपान्तरतमा का नाम कहीं दिखाई नहीं देता। निश्चय ही वह वैवस्वत मनु से पूर्व स्वायम्भुव-अन्तर में वेद-प्रवचन कर चुका था

आचार्य सायण आदि याज्ञिक परम्परावादी आचार्यों ने मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" तथा 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' आदि परिभाषाओं के द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को मिलाकर वेद के स्वरूप का निर्धारण किया है। मन्त्रों के कई प्रयोजन हैं जिनमें देवताओं का आह्वान, उनकी स्तुति एवं प्रार्थना, अनुष्ठानों का स्मरण करना, सहायक ऋत्विजों को प्रैष प्रदान करना आदि का समावेश होता है। कई मन्त्र गद्यरूप हैं तो कई छन्दोबद्ध। छन्दोबद्ध मन्त्रों की संहिताएँ चार हैं जिन्हें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से पहचाना जाता है। गद्य रूप मन्त्र प्रमुख रूप से यजुर्वेद में ही पाए जाते हैं। देश काल की भिन्नता के अनुसार उक्त चार संहिताएँ कई शाखाओं में विभाजित हुई हैं अवश्य; फिर भी उनका मूल स्रोत तो एक ही रहा है। ऋक् संहिता के दस मण्डलों में एक हजार से भी अधिक सूक्त सम्मिलित हैं जिनमें से अधिकांश का विषय है देवताओं की स्तुति। यज्ञ कर्मों का ही वर्णन करने वाली यजुः सहिता के दो रूप पाए जाते हैं, कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। पहले में मन्त्र एवं ब्राह्मण ये दोनों अंश एक साथ और मिले-जुले रूप में विद्यमान हैं और दूसरे में केवल छन्दोबद्ध मन्त्र ही देखे जाते है। कृष्ण यजुर्वेद की जो चार संहिताएँ आजकल उपलब्ध हैं उनके नाम हैं तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी और कपिष्ठल। इनमें शाखाओं की भिन्नता के कारण कुछ अन्तर जरूर पाया जाता है। इन चारों में गद्यात्मक ब्राह्मण अंश में वह पूरी जानकारी एवं विवेचना ग्रथित है जो कर्मकाण्ड के लिए आवश्यक हो। अतः स्वाभाविक है कि इन्हीं संहिताओं में दर्शपूर्णमासादि इष्टियाँ, पशुबन्ध, तथा विभिन्न सोमयाग आदि याग विधियों की सर्वाङ्गीण चर्चा की गई हो। वाजसनेयि (अथवा माध्यन्दिन) तथा काण्व ये दोनों संहिताएँ भी उपर्युक्त चार संहिताओं की ही तरह शाखा भेद के कारण तनिक भिन्नता धारण किए हुए नजर आतीं हैं। इनके विषयों का प्रतिपादन भी उसी ढंग का है।

सामसंहिता प्रधान रूप से सामगान के लिए ही है और उसका अधिकांश ऋक्संहिता से ही उद्धृत किया गया है। मूलतः ऋग्वेद के मन्त्रों के साथ साथ अन्य मन्त्रों पर सामात्मक गानों की आयोजना करके इस संहिता की रचना हुई है। ग्रामगेय आरण्य, ऊह तथा उह ये चार गान स्वतन्त्र रूप से प्रसिद्ध हैं और इनका उद्देश्य रहा है गानों की रचना करना और पाठ प्रणाली का परिचय कराना।

अथर्ववेद संहिता के बीस काण्डों में से दो काण्ड केवल गद्य में ही प्रणीत हुए है। अन्तिम काण्ड में अधिकतर ऋग्वेद की ऋचनाएं पाई जाती हैं और अन्य काण्डों में भी ऋग्वेद के कई सूक्त अथवा सूक्तांश यत्र तत्र बिखरे हुए दिखाई देते हैं। शाखाओं के अनुसार इस संहिता के दो भेद उपलब्ध हैं; शौनकीय एवं पैप्पलाद। इस संहिता में देवताओं की स्तुति और प्रार्थनाएं तो हैं ही; लेकिन साथ-साथ विभिन्न व्याधियाँ, उन पर किए जाने वाले मन्त्र रूपी या ओषधिरूपी उपचार, आयु को बढ़ाने वाले एवं पुष्टिकारक कर्म, तरह-तरह के अभिचार-प्रयोग आदि का समावेश है। इतना ही नहीं, अध्यात्म, तत्वज्ञान, सृष्ट्युत्पत्ति आदि के संबन्ध में विचार आदि कई विषयों का इस संहिता में प्रतिपादन हुआ है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ प्राय: गद्यात्मक हैं; ये उपर्युक्त चार संहिताओं के अंग हैं जिनमें प्रधान रूप से यज्ञादि का विवरण किया जाता है। स्वाभाविक रूप से इन्हें अपौरुषेय वेदों के ही अन्तर्गत माना जाता है।

ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मण ऋग्वेद के अङ्ग हैं। इनमें यज्ञ के उन कर्मों का संपूर्ण विवरण है जो होतृनामक ऋत्विज से संबद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में अध्वर्यु के कर्मों की अगर विवेचना है, तो सामवेद के ताण्ड्य, जैमिनीय एवं षड्विंश ब्राह्मणों में उद्गाता के कर्मों की। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में तैत्तिरीय संहिता के उन विषयों का, खासकर पुरुषमेध का वर्णन है जो उस संहिता में नहीं पाया जाता। अत एव अन्यों की तुलना में यह ब्राह्मणग्रन्थ संक्षिप्त ही है। इसके अलावा गोपथ नामक और एक ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध है जिसे अथर्ववेद से संबद्ध माना जाता है; लेकिन अन्यों की अपेक्षा यह अर्वाचीन प्रतीत होता है। इन सभी ब्राह्मण ग्रंथों में प्रधान रूप से बड़े-बड़े यज्ञों की विवेचना है सही; लेकिन उसी के अनुषङ्ग में देवासुरों के युद्धों का उल्लेख, प्रजापति सम्बन्धी निर्देश, अर्थवादों के रूप में आई हुई प्राचीन आख्यायिकाएँ एवं कथाएँ, तथा सृष्टि की उत्पत्ति के विचार भी सम्मिलित हैं। साथ-साथ इन ग्रंथों में उचित अवसरों पर शब्दों के निर्वचन, वेद के निमार्ण, यज्ञ के लिए सुयोग्य समय आदि कई ऐसी बातों का समावेश हुआ है जिन्हें वास्तव में व्याकरण, निरुक्त, भूमिति, ज्योतिष जैसे आगामी विकसित शास्त्रों का मूल स्त्रोत मानना समीचीन होगा।

उपर्युक्त ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम अंशों में सुविदित आरण्यक एवं उपनिषद् संगृहीत हैं और यही इनकी अनुपम विशेषता है। आरण्यकों में-जैसाकि नाम से सूचित होता है-तपोवन में निवास करने वाले त्यागी व्यक्तियों के कर्तव्यों का विचार किया गया है और आगे चलकर इन्हीं से उन उपनिषदों का निर्माण हुआ जिनमें विश्व, जीवात्मा एवं ईश्वर के पारस्परिक संबन्धों की मौलिक विवेचना की गई है। चातुर्वर्ण्य

एवं आश्रम-व्यवस्था का प्रभाव भी इन्हीं में दिखाई देता है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के अन्तिम अंशों में संगृहीत होने के कारण उपनिषदों के लिए 'वेदान्त' संज्ञा प्राप्त हुई। ये उपनिषद् अनेक हैं लेकिन इनमें ईशकेनादि दशोपनिषद् प्राचीन एवं विख्यात हैं और आगे चलकर इन्हीं को वेदान्त की प्रस्थानत्रयी में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। इन दस उपनिषदों में छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों ही अधिक विस्तृत हैं और इन्हीं को अत्यन्त प्राचीन माना जाता है।

कर्म-काण्ड (यज्ञ) ज्यों-ज्यों विकसित होता गया त्यों त्यों उससे संबद्ध सभी विषयों की सर्वाङ्गीण विवेचना करने वाले ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी से छः प्रमुख वेदाङ्गों का निर्माण हुआ, जिनके नाम हैं शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। 'शिक्षा' में अगर मन्त्रों के पठन संबन्धी नियम समाविष्ट हैं तो 'कल्प' में श्रौत एवं स्मार्त कर्मों की विधियों का विचार हुआ है। 'व्याकरण' तथा 'निरुक्त' शब्दों की प्रक्रिया एवं निर्वचन पर प्रकाश डालते हैं। 'छन्द' वेद-मन्त्रों के वृत्तों के लक्षणों का परिचायक है और 'ज्योतिष' यज्ञ कर्म के लिए आवश्यक समय की विवेचना करता है। मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद राशि की सुरक्षा के लिए ही ये छहों वेदांग निर्मित हैं। शिक्षा एवं कल्प संबन्धी ग्रन्थ अनेकों हैं। विभिन्न वैदिक शाखाओं की शिक्षाओं से संबद्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। उसी प्रकार श्रौत कर्मों की विवेचना करने वाले कई श्रौतसूत्रों एवं शुल्ब सूत्रों के साथ-साथ स्मार्त तथा गृह्य कर्मों का विवरण उपस्थित करने वाले अनेकों गृह्य सूत्रों एवं धर्मसूत्रों को भी कल्प के अन्तर्गत माना जाता है। शेष चार वेदाङ्गों में से प्रत्येक का प्रतिनिधित्व करने वाला एक एक ही ग्रन्थ पाया जाता है जिनके क्रमशः नाम हैं:- पाणिनिकृत अष्टाध्यायी, यास्कविरचित निरुक्त तथा पिङ्गलप्रणीत छन्दःसूत्र और ज्योतिष वेदाङ्ग।

ऋग्वेद का स्वरूप

ऋग्वेद-संहिता वास्तव में १०२८ सूक्तों का अत्यन्त प्राचीन संग्रह है। परम्परा के अनुसार महर्षि शाकल इन सूक्तों के संकलनकर्ता हैं। इस संहिता के दस मण्डलों में से दो से लेकर सात तक के मण्डल उन्हीं मन्त्रदृष्टा ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनके कुल के व्यक्तियों ने इन्हें अपने अपने कुल का वाङ्मयरूपी निधि समझकर इनकी सुरक्षा की। इसके अनुसार ये (२ से ७ तक के) मण्डल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज तथा वसिष्ठ ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं; अतः ये 'कुलमण्डल' कहलाते हैं। इनमें सातवाँ वासिष्ठ मण्डल अगर सबसे बड़ा है तो गार्त्समद मण्डल सबसे छोटा। हर एक मण्डल के सूक्तों में मन्त्र द्रष्टा महर्षि का अथवा उनका नाम धारण करने वाले एक या अनेक व्यक्तियों का निर्देश कई

बार आता है। साथ-साथ कुछ सूक्तों में ऋषियों को बड़ी दक्षिणा प्रदान करने वाले दानी राजाओं का भी उल्लेख किया गया है। इन सात कुलों के ऋषियों में कोई निकटवर्ती संबन्ध स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता; फिर भी विश्वामित्र एवं वसिष्ठ कुलों के व्यक्तियों के बीच तीव्र संघर्ष का अनुमान करना संभव है। विश्वामित्र एवं वसिष्ठ से संबद्ध मण्डलों में प्रमुख रूप से भरतवंश के वीरों के साथ उनके राजा सुदास का निर्देश पाया जाता है। वसिष्ठ एवं विश्वामित्र दोनों अपनी ओर से भरतकुल के एवं उनके राजा सुदास के पुरोहित होने की और इन्द्र की कृपा के कारण कई युद्धों में उनकी सुरक्षा करने की दुहाई देते हुए पाए जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भरतों के राजा सुदास का पौरोहित्य ही इन दोनों ऋषिकुलों के संघर्ष की जड़ रही होगी। मालूम होता है कि पहले पहल विश्वामित्र ही राजा सुदास के पुरोहित थे। वसिष्ठों ने दीर्घ काल तक उनसे तीव्र संघर्ष किया और अपनी प्रतिभा के बल पर विश्वामित्रों से यह पद छीन लिया होगा। विश्वामित्रों ने अपने पौरोहित्य-काल में इन्द्र की कृपा को पाकर एक बार राजा सुदास को अश्वमेध के अवसर पर विशाल नदी के पार पहुँचाया और एक अवसर वह रहा जब शत्रुओं के दांत खट्टे करके सोल्लास लौटने वाले भरत कुल के वीरों को विपाट् एवं शुतुद्री के संगम पर बड़ी बाढ़ का सामना करना पड़ा था। इस समय इन नदियों को प्रसन्न करके भरतों को सपरिवार एवं सानन्द उनके पार पहुँचाने वाले कुशल पुरोहित विश्वामित्र ही ठहरे। इसके बाद बाजी विश्वामित्रों के हाथ से जाती रही और वसिष्ठ भरतकुल के पुरोहित बने। देवों की आराधना से अर्जित मन्त्र शक्ति के बल पर इन्हीं वसिष्ठों ने बड़ी विपत्ति में राजा सुदास एवं भरतों की रक्षा की और मिलकर उनसे लड़ने वाले शक्तिशाली राजाओं को परास्त करके राजा सुदास के सिर पर विजय का सेहरा बाँधा। यह लड़ाई 'दाशराज्ञ-युद्ध' इस नाम से प्रसिद्ध है और इसका आँखों-देखा वर्णन सांतवे मण्डल के अठारहवें सूक्त में किया गया है। इसी का उल्लेख बाद के दो सूक्तों में (७.३३, ८३) भी पाया जाता है।

मित्रावरुणों का उर्वशी से जनित पुत्र वासिष्ठ कुल का मूल पुरुष है। उसी के भाई अगस्त्य ने उसे भरतों के हाथ सौंप दिया। ऋग्वेद के एक सूक्त में (7.33) यह प्रतिपादित किया गया है कि इसी को यज्ञीय कर्मों के पौरोहित्य एवं आर्त्विज्य का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त है अर्थात्, वरुण और वसिष्ठ का बड़ा ही निकटवर्ती संबन्ध है। अतएव सातवें मण्डल में उक्त संबन्ध का वर्णन करने वाले कई वरुण-सूक्त हैं जिनमें इसी के सहारे ऋषियों ने अपने जाने-अनजाने अपराधों की ओर ध्यान न देने की प्रार्थना की है। इसी मण्डल के एक इन्द्र-सूक्त में (7.28) कवि की श्रद्धा है कि कृत अपराधों का क्षालन हुए बिना महापराक्रमी इन्द्र से भी सहायता की अपेक्षा रखना

व्यर्थ है। इसी से प्रेरित होकर प्रार्थना करते हुए उसने कहा, "वरुण पहले सभी अपराधों के लिए मुझे मुक्त करें; उन्हें दूर हटाएँ और बाद में इन्द्र मुझे शत्रुओं को परास्त करने की सामर्थ्य प्रदान करें। इन्द्रावरुणा इस देवता-युगल का स्तवन भी प्रधान रूप से इसी मण्डल के सूक्तों का विषय रहा है।

सूक्तों की संख्या की दृष्टि से अन्य चार कुल मण्डलों का क्रम होगा-अत्रि, भरद्वाज, वामदेव, और गृत्समद। इन चारों मण्डलों में प्रधान रूप से सूक्तद्रष्टा ऋषियों की असाधारण सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हुई है। अत्रिमण्डल में महर्षि अत्रि की उस मन्त्र शक्ति का वर्णन है जिसके सहारे सूर्य स्वर्भानु-नामक असुर के कारण उत्पन्न संकट से मुक्त हुए। वामदेव मण्डल ऋषि वामदेव के उस वार्तालाप का वर्णन उपस्थित करता है जो उनके और इन्द्र एवं इन्द्रमाता के बीच इन्द्रजन्म के अवसर पर हुआ था। गृत्समद-मण्डल में स्वयं ऋषि गृत्समद इन्द्र और बृहस्पति के पराक्रम का उस ढंग से वर्णन करते हैं जिससे नास्तिक एवं संशयालु व्यक्तियों को भी उसमें संदेह नहीं रहता। भरद्वाज मण्डल में मन्त्र की सामर्थ्य से इन्द्र को वश में करने वाले भरद्वाज की वह अनमोल सहायता वर्णित है जिस के सहारे दिवोदास को शंबर और वर्चिन् जैसे दो बलशाली शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो सकी।

इन छहों मण्डलों में अग्निसूक्तों के बाद ही इन्द्र सूक्त आए हैं। इन अग्नि सूक्तों की संख्या विश्वामित्र मण्डल में सबसे अधिक है; उसके बाद अत्रि मण्डल का नाम लेना पड़ेगा। इन्द्र सूक्तों के विषय में यह क्रम होगा-पहले भरद्वाज मण्डल और बाद में विश्वामित्र मण्डल। इसके उपरान्त इन कुल मण्डलों में देवताओं का कोई विशेष क्रम नजर नहीं आता। हाँ, यह जरूर कहा जा सकता है कि एक ही देवता की स्तुति करने वाले सूक्तों के संकलन में सम्मिलित ऋचाओं की क्रमशः घटने वाली संख्या का ध्यान रखा गया है। अग्नि सूक्तों एवं इन्द्र सूक्तों में भी यही क्रम स्वीकृत है। कहीं-कहीं इस क्रम का भंग होता है अवश्य; लेकिन इस तरह के सूक्त प्रायः तृचात्मक अथवा प्रगाथात्मक ही होते हैं जिससे इन सूक्तों को भाषा अथवा विषय की दृष्टि से तीन-तीन अथवा दो-दो ऋचाओं के स्वतन्त्र एवं छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित करना आसान हो।

अग्नि और इन्द्र के बाद उपर्युक्त कुल मण्डलों में अन्य देवताओं का भी स्तवन किया गया है; लेकिन इसमें संबद्ध ऋषिकुल की श्रद्धा ही प्रधान है। इस दृष्टि से गृत्समद मण्डल में बृहस्पति, रुद्र एवं अपां नपात् के, विश्वामित्र मण्डल में मित्र के और वामदेव मण्डल में ऋभु एवं दधिक्रा के दर्शन होते हैं। अत्रि मण्डल में अगर मरुद्गण एवं मित्रावरुणा की सराहना है तो भरद्वाज मण्डल में पूषा की। अन्तिम वसिष्ट-मण्डल में मित्रावरुणा के साथ-साथ अश्विना, उषा एवं वरुण भी स्तुति के

विषय बने हैं। यहाँ यह भी कहना चाहिए कि हरेक मण्डल के कतिपय सूक्त अपनी अपनी विशेषता रखते हैं। दूसरे मण्डल के शकुन्त सूक्त तथा तीसरे में समाविष्ट सृष्टि विषयक रहस्यवादी सूक्तों को इस कोटि में रखा जाएगा। चौथे मण्डल के क्षेत्रपतिसूक्त एवं घृतधारा सूक्त तथा पाँचवें के गर्भस्राविण्युपनिषद् तथा पर्जन्यसूक्त को भी असाधारण कहना युक्ति-युक्त होगा। इसी तरह छठे मण्डल के सङ्ग्राम-सूक्त के साथ-साथ सातवें में संगृहीत-मण्डूक-सूक्त को भी असाधारण सूक्तों के अन्तर्गत मानना समीचीन सिद्ध होगा।

कुल मण्डलों को छोड़कर ऋग्वेद के अन्य चार मण्डलों में से आठवाँ मण्डल भी कण्वकुल से ही संबद्ध है सही; लेकिन इसके सूक्तों की रचना उन मण्डलों जैसी नहीं है; इसमें प्रगाथ नाम की संयुक्त ऋचाओं की ही प्रचुरता पाई जाती है। नववें मण्डल के सभी सूंक्त एक ही देवता सोम की सराहना में समर्पित हैं; अतः यह 'पवमान मण्डल' के नाम से प्रसिद्ध है। यह बात जरूर है कि इन सूक्तों के द्रष्टा विभिन्न कुलों से संबद्ध हैं। पहले मण्डल के १९१ सूक्त रचना की दृष्टि से दो खण्डों में बाँटे जा सकते है। पहला खण्ड १ से ५० तक के सूक्तों से बनता है जिसके ८ सूक्त-समूहों में से ४ कण्व कुल के मन्त्रद्रष्टाओं से संबद्ध है। इनमें कुल मिलाकर ३१ सूक्त हैं। इनकी रचना आठवें मण्डल के सूक्तों की रचना से समता रखती हैं संभवतः यह कण्व कुल के वाङ्मयरूपी निधि का ही अंश रहा होगा। अब रहा दूसरा खण्ड। इसमें ५१ से १९१ तक के सूक्तों का अन्तर्भाव होता है। इन विभिन्न मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा प्रणीत सूक्तों के ९ समूहों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। इनकी रचना एवं गठन कुल मण्डलों की तरह अग्निसूक्त, इन्द्रसूक्त वाले क्रम का ही अनुसरण करती है। अन्तिम दशवें मण्डल के सूक्तों की संख्या तो १९१ ही है; लेकिन इसमें कई ऋषियों द्वारा प्रणीत सूक्त समाविष्ट हैं। इन सूक्तों के अधिकांश (१०० से भी ऊपर) ऋषियों के नाम पर एक-एक सूक्त ही दिया गया है। पहले ८४ सूक्त इसके लिए अपवाद हैं क्योंकि इनमें किसी ऋषि के नाम पर कहीं दो, कहीं तीन तो कहीं चार से भी अधिक सूक्त पाए जाते हैं। फिर भी सूक्तों की रचना प्रायः ऋचाओं की घटने वाली संख्या के अनुसार ही की गई है।

ऋग्वेद का वर्ण्य-विषय

सायण प्रभृति परम्परावादी आचार्यों के अनुसार ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों में इन्द्र आदि देवताओं से प्रार्थना की गई है कि यज्ञ में स्वयं उपस्थित होकर हविर्भाग अथवा सोमरस को स्वीकार करें। इन प्रार्थना के अनुषङ्ग में देवों के अनेकों पराक्रमों

के साथ-साथ उनके द्वारा याजकों को प्रदत्त सहायता के वर्णन का ढाँचा सभी सूक्तों में एक ही पाया जाता है; इतना ही नहीं, आगे चलकर 'हमें भी उसी तरह की सहायता प्राप्त हो' यही सविनय याचना प्राय: सर्वत्र की जाती है। अग्नि सूक्तों में विभिन्न प्रकारों से अग्नि का स्तवन करके उससे सविनय कहा गया है कि स्वेच्छा से देवों के पास हव्य पहुँचाने में या तो याजकों का दूत बने, या अपने रथ में देवों को बिठाकर उन्हें यज्ञ स्थल पर ले आने की कृपा करें। अग्नि-सूक्तों के अथवा साधारण रूप से इन्द्र-सूक्तों के अन्त में कभी-कभी विजय प्राप्ति के बाद अथवा किसी अन्य समारोह के अवसर पर राजा द्वारा पुरोहित को प्राप्त होने वाली विपुल दक्षिणा का बड़ा ही रसपूर्ण वर्णन पाया जाता है। उस दक्षिणा में अनेकों गायों, अश्वों एवं रथों के साथ कभी-कभी सुवर्ण एवं दासियों का भी समावेश होता है। नववें तथा अन्य मण्डलों के सोम सूक्तों में, सोम पीसने, उसे छानकर उसमें दूध, पानी, दही, मधु आदि रूचिवर्धक पदार्थों को मिलाने के उल्लेखों के साथ-साथ उसें देवों को समर्पित करने तक की अवस्थाओं का वर्णन तो आता ही है। इतना ही नहीं, उसके पान से अर्जित अनुपम सामर्थ्य के बल पर इन्द्रादि देवों ने जो अतुल पराक्रम किया, उसके भी विधाता होने का गौरव सोम देवता को ही प्रदान किया गया है। आश्विन-सूक्तों में प्रधान रूप से व्याधियों से पीडित एवं अभावों से ग्रस्त व्यक्तियों पर उनके द्वारा किए गए अनुग्रह का स्तवन है। साथ-साथ तीनों लोकों में संचरण करने वाला उनका वह चक्रविहीन एवं किसी भी ओर घूमने वाला रथ भी प्रशंसा का भागी हुआ है जिसमें उनके साथ प्रेमिका सूर्यादेवी के लिए भी अलग आसन बिछा हुआ है। रथ के साथ उसमें जोड़े गए वे पंखयुक्त अश्व भी ऋषियों की स्तुति का विषय है जो जल, स्थल एवं अन्तरिक्ष में वेग से संचरण करने की अनुपम क्षमता रखते हैं। वरूण सूक्तों में वरूण के प्रति आदरयुक्त भय पद पद पर प्रतीत होता है; अत: जानबूझकर किए गए अथवा अपने अनजाने अपराधों के साथ-साथ पूर्वजों के अपराधों के लिए क्षमा-याचना का स्वर ही इनमें प्रधान हो उठा है। मरुतसूक्त मरुद्देवों के साहसपूर्ण संचरण के साथ-साथ विविध सुवर्णालंकारों से विभूषित एवं शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होने की उनकी रूचि के परिचायक हैं। दानवों के साथ युद्ध करने के अवसर पर इन्द्र की सराहना करके उसे सभी तरह की सहायता प्रदान करने में इन मरुतों की तत्परता तथा उनके द्वारा संपन्न वृष्टि के निर्माण का कार्य भी इन सूक्तों में प्रशंसा के साथ वर्णित है।

ऋग्वेद के सूर्य-सूक्तों में अन्तरिक्ष के उस विशाल तेजोगोल का वर्णन है जो अहोरात्ररूपी कालचक्र को प्रेरणा प्रदान करता है। इन सूक्तों के रचयिताओं ने इसके पाँच रूपों की कल्पना करके उन्हें अपनी सराहना का भाजन बनाया है। सभी प्राणियों

पर स्नेह की वर्षा करने वाला मित्र; सात अश्वों से युक्त एवं ज्योतिष्मान् रथ के साथ उदयाचल से निकलकर उषा देवी का अनुसरण करते हुए अन्तरिक्ष के मार्ग पर आरोहण करने वाला सूर्य, ब्राह्ममुहूर्त में समूचे संसार को जगाकर उसे क्रियाप्रवण करने की तथा गोधूलिके समय अपने निवास स्थान पर लौटकर विश्राम लेने की प्रेरणा प्रदान करने वाला सविता ये तीनों मानव का नि:सन्देह बड़ा उपकार करते हैं। निशीथ के अंधकार में भूले-भटके हुए पथिक को 'पथ का अनुसन्धान' प्राप्त कराने तथा खोई हुई वस्तुओं को अपने आलोक में फिर से लौटाकर मानव को राहत प्रदान कराने में सहायक पूषा सुबह पालतू चौपायों को चरागाह की ओर ले जाना भी अपना कर्तव्य समझता है। वृत्रवध के समय इन्द्र के पास रहकर उसे खाद्य पदार्थों एवं पेयों के साथ अन्य सभी सहायता प्रदान करने वाला विष्णु दूर तक पहुँचने वाले अपने तीन पदन्यासों में, उच्चतम स्वर्गलोक में स्यन्दमान मधुर रस के निर्झर से देवों के याजकों को निरन्तर प्रमुदित करता रहता है। क्या ये पाँचों रूप अपने अपने स्थान पर सुहावने नहीं मालूम होते? इन्हीं के साथ उषासूक्तों का उल्लेख करना समीचीन है। कोई आश्चर्य नहीं कि सूर्य की अग्रणी उषा अनन्तयौवना हो एवं उसके चेहरे पर स्मित की आभा सदैव विद्यमान हो और हमेशा नियत समय एवं स्थान पर ताम्रवर्ण अश्वों से युक्त रथ के साथ अवतीर्ण होकर अन्धकार का विध्वंस करके वह जीवित प्राणियों में चेतना का संचार करे। क्या काव्य, क्या कल्पना दोनों दृष्टियों से उषा-सूक्त अतुलनीय है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभिन्न देवताओं के वर्णनों एवं उनकी प्रशंसापूर्ण प्रार्थनाओं को ऋग्वेद-सूक्तों में प्रधानता प्राप्त है। किन्तु ये सूक्त यहीं तक सीमित हों यह बात नही है; इनमें कई अन्य विषय भी सम्मिलित हुए हैं। शकुन्तसूक्त, गर्भस्त्राविण्युपनिषद् जैसे कुल मण्डलों के विशिष्ट सूक्तों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। विपुल दक्षिणा प्रदान करने वाले भोजों के ऐश्वर्य का वर्णन करने वाला भोजसूक्त, अन्नदान को सर्वोपरि घोषित करने वाला भिक्षु-सूक्त, रथों की प्रतियोगिता में सम्मिलित होने वाले मुद्‌गल-मुद्‌गलानी का यथार्थ वर्णन करने वाला दसवें मण्डल का सूक्त तथा अवनति के गहरे गढ़े में गिरे हुए जुआरी को साकार करने वाला अक्षसूक्त सभी बड़े ही उल्लेख योग्य है। यहाँ ऋग्वेद के कतिपय संवाद-सूक्तों की ओर निर्देश करना आवश्यक है। सर्वप्रथम विश्वामित्र तथा विपाट् एवं शुतुद्री नदियों के वार्तालाप की ओर संकेत करना चाहिए, जिसमें दोनों नदियों ने विश्वामित्र की मन्त्र-शक्ति से प्रसन्न होकर उसे अनुयायियों के साथ अपनी तेज धारा से पार पहुँचाने वाले पथ को प्रदर्शित किया। इन सूक्तों में स्वामिभक्त सरमा को पथ से विचलित करने में यत्नशील पणियों के साथ-साथ सुदीर्घ तपस्या के उपरान्त रति की प्रार्थना करने वाली लोपामुद्रा तथा उसे संतुष्ट करने वाले अगस्ति ऋषि भी पाठकों की सेवा

में उपस्थित होते हैं। इन्हीं संवादों में पुरूरवा के प्रेम को अस्वीकार करके नारियों के वृकतुल्य हृदय की दुहाई देने वाली उर्वशी अगर एक ओर उपस्थित होती है तो दूसरी ओर भाई बहनों के यौन संबंधों को समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकर मानने वाली तत्कालीन प्रथा की ओर निर्देश करने वाले यम भी यमी को (अपनी बहन को), समझाते हुए दिखाई देते हैं। इन्द्र तथा वामदेव का वार्तालाप जन्म लेने के पहले ही इन्द्र के अनूठे ढंग एवं उसकी अनुमप सामर्थ्य का परिचायक है। अपाला-सूक्त वह सूक्त है जिसमें सोमवल्ली को अपनी दाढ़ों से ही पीसकर इन्द्र को सोप समर्पित करने वाली अपाला श्रद्धा के साथ राम को जूठे बेर खिलाने वाली शबरी की याद दिलाए बिना नहीं रह सकती। वृषाकपि-सूक्त में चतुर सौतेली मां एवं भोले-भाले, श्रद्धालु याजक के नगण्य उपहार को पाकर बेहद खुश होने वाले इन्द्र का रूप बड़ा ही रोचक मालूम होता है। यक्ष्मनाशक, विषघ्न एवं सपत्नघ्न सूक्तों के साथ-साथ अद्भुत मन्त्रशक्ति के प्रभाव का परिचय कराने वाला प्रस्वापिन्युपनिषद् भी ऋग्वेद में सम्मिलित हुआ है। विवाह-संस्कार की अतीव प्राचीन विधियों पर प्रकाश डालने वाला सूर्या विवाह-सूक्त तो नि:सन्देह महत्वपूर्ण है। रात्रिसूक्त निशीथ में अरण्यों की भयकारिणी शान्ति को बड़ा ही सुन्दर वर्णन उपस्थित करते हैं; तो नासदीय जैसे सुविदित सूक्तों में सृष्टिविषयक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हुई है। मृतव्यक्ति के और्ध्वदेहिक संस्कारों की पर्याप्त जानकारी व काल-सूक्त, ऋग्वेद के काल के चिन्तकों की प्रतिभा का अलग पहलू पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। ज्ञान की गरिमा को सर्वोपरि घोषित करने वाला ज्ञानसूक्त भी ऋग्वेद का एक जगमगाता रत्न है। संक्षेप में ऋग्वेद-सूक्तों में वर्णित विषयों की विधिवता सूक्तद्रष्टाओं की बहुमुखी प्रतिभा की ही परिचायक है।

ऋग्वेद के अर्थ विवरण का इतिहास

ऋग्वेद वास्तव में, संस्कृत भाषा की अत्यन्त प्राचीन धरोहर है। यह समझना आसान है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों मन्त्रों के कई शब्द प्रचलित नहीं रहे जिससे मन्त्रों के कुछ अंश दुरूह हो गए। वेदों की संहिताओं के काल में ही यह आरम्भ हो चुका था। सामवेद यजुर्वेद तथा अर्थवेद में ऋग्वेद की ऋचाओं को उद्धृत करते समय कतिपय दुरूह शब्दों के लिए कहीं-कहीं नए एवं सुबोध शब्द प्रयुक्त पाए जाते हैं। ऋग्वेद के विवरण की यही पहली कड़ी है।

लेकिन तब तक संग्रहणीय साहित्य की पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी और अर्थज्ञान के साथ संपूर्ण अक्षर-राशि को सुरक्षित रखना किसी भी एक व्यक्ति के बूते कि बात नहीं रही। फलस्वरूप दो विभिन्न संप्रदायों का जन्म हुआ। एक ने केवल

अक्षर-राशि को ज्यों-का-त्यों रखना, उसकी भली भांति सुरक्षा करना यही अपना पवित्र कर्तव्य समझकर अर्थज्ञान को गौणत्व प्रदान किया, और दूसरे ने समग्र अक्षर-राशि की सुरक्षा को गौण मानकर उसे शाखाओं तक सीमित करते हुए अर्थज्ञान की गरिमा सर आँखों की और नूतन ज्ञान एवं साहित्य के विकास का पथ प्रशस्त किया। पहले सप्रदाय के विद्वान् पुरस्कर्ताओं की दृढ़ श्रद्धा थी कि वेदों के मन्त्र यज्ञ-कर्म के विनियोग के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं। उनका यह विश्वास था कि वही कर्म श्रेयस् की प्राप्ति का साधन होता है, जिसमें सम्मिलित अन्यान्य क्रियाओं का अनुवाद पठित ऋचाओं के परम्परा प्राप्त एवं सही अर्थ को समझते हुए भी उपर्युक्त विद्वान् इन्हें यज्ञ कर्मों के लिए अनुकूल सिद्ध करने पर उतारू हुए। फलस्वरूप उन्होंने कहीं-कहीं ऋचाओं के अर्थ को बरबस इधर उधर खींचा और उन्हें एक नवीन अर्थ प्रदान करने की चेष्टा भी की। तैत्तिरीय-संहिता के साथ-साथ ऐतरेय आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्या और अनुवाक्या के रूपों में ऋङ् मन्त्रों का जो अर्थ स्वीकृत किया गया है उससे इसकी सचाई भली भाँति प्रतीत होती है। मन्त्रों की अन्तिम शक्ति उनके पठन में ही है; उनका अर्थ समझने में नहीं यह श्रद्धा तो थी ही; साथ-साथ अर्थज्ञान के लिए आवश्यक सामग्री का उन दिनों अभाव भी था। परिणाम यह हुआ कि यज्ञ कर्मों के ये प्रणेता वेदों के मूल अर्थ से धीरे-धीरे बहुत दूर चले गए और कुछ काल के बाद इसका लोप हो गया। हाँ, यह बात सही है कि उसी काल में कुछ विद्वानों ने नित्य पठित संहिता के पदों की सन्धियों का विग्रह करके उनका मूल रूप स्पष्ट किया जिससे पठपाठ बना। यह प्रक्रिया भला अर्थज्ञान के कैसे संपन्न होती? मतलब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अर्थज्ञान के बल पर ही समग्र संहिता की सर्वप्रथम टीका उपस्थित करने का गौरव पदपाठ के इन निर्माताओं को ही प्राप्त है। संहिता के रूप में निर्धारित एवं नियत ऋक्सूक्तों के संग्रह को, अक्षर-राशि के इस मूल रूप को ज्यों-का-त्यों रखने के लिए कई प्रयत्न परवर्ती वेदाङ्ग में किए गए, जिनके कारण यह अनमोल वेदराशि मौखिक परम्परा के सहारे बिना तनिक भी परिर्वतन किए वैदिकों में आज तक अक्षुण्ण रही है।

दूसरे संप्रदाय का उल्लेख तो पहले हो चुका है। उसके पुरस्कर्ताओं ने अर्थज्ञान को प्रधानता देते हुए आग्रह के साथ प्रतिपादन किया कि भाषा में लिखित साधारण साहित्य की तरह वैदिक वाड्मय का भी अर्थयुक्त होना आवश्यक है। वेदों का पठन मात्र से श्रेय:प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती; मंत्रों के सही अर्थ को समझना भी नितान्त आवश्यक है इस बात को इन्होंने कई प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया। काल के प्रवाह के कारण भाषा के शब्द संचय तथा पदों की साधना की पद्धति में परिर्वतन हुआ था; इतना ही नहीं, यज्ञ कर्म में शब्दों को ही याज्ञिकों के हाथों प्रदत्त प्रधानता

के कारण अर्थ में परम्परा प्राप्त ज्ञान की कुछ मात्रा में अवहेलना भी हुई थी। इन दोनों के कारण वेदों के मन्त्र कई स्थानों पर दुरूह हो चुके थे। उपर्युक्त विद्वानों ने अपने समय में उपलब्ध व्याकरण आदि साधनों की सहायता से दुरूह मन्त्रों का संपूर्ण अध्ययन करके **'निघण्टु'** नामक शब्द--कोश तैयार किए। स्वाभाविक है कि इनका स्वरूप कुछ अव्यवस्थित हो। इन्हीं में से एक कोश के आधार पर यास्काचार्य ने अपने **निरुक्त** की रचना की है। अत: पद पाठ के परवर्ती काल में इस आधारभूत कोश को एवं यास्क विरचित निरुक्त को ऋग्वेद के मन्त्रों के अर्थ विवरण के महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रधानता प्रदान करना समीचीन होगा। उपर्युक्त निघण्टु कोश के पाँच प्रकरणों में से पहले तीन में पर्यायवाची ५४ संज्ञाओं के साथ-साथ १५ धातुओं के गण दिए गए हैं। इनमें प्राय: संज्ञाएं कर्ताकारक में और धातु उत्तम पुरुष एकवचन अथवा बहुवचन में रखे गए हैं। कहीं-कहीं संज्ञाएं अन्य कारकों में पाई जाती है और बीच में एकाध तदर्थक क्रिया का रूप भी पाया जाता है। धातुओं के गणों में भी कहीं-कहीं तदर्थक संज्ञा दिखाई देती है। उक्त दोनों प्रकारों के गणों में उन संज्ञाओं तथा धातुओं का भी समावेश किया गया है जो प्रस्तुत अर्थ का प्रतिपादन किसी विशिष्ट प्रकरण में ही करते हैं। चौथे प्रकरण, नैगमकाण्ड में लगभग २७६ पद संगृहीत है जिनके प्रचलित अर्थ को छोड़कर विशिष्ट प्रकरण में अभिप्रेत अर्थ को समझना बड़ा दूभर होता है। पाँचवें प्रकरण में ऋग्वेद के मन्त्रों में पाए जाने वाले देवताओं के नामों एवं विशेषणों के साथ-साथ देवताओं के रूप में स्तवन का विषय बनी हुई वस्तुओं का समावेश किया गया है। इन नामों एवं विशेषणों की संख्या १५० से भी अधिक है। माना कि यह निघण्टु कोश मन्त्रों का अर्थ समझने में अधिकतर उपयोगी सिद्ध होता है; फिर भी इसके अर्थ-प्रतिपादन में प्रकरण के अतिरिक्त अन्य कोई मूलभूत तत्व प्रतीत नहीं होता। इसीलिए शब्दों का अर्थ बतलाते हुए प्रकरण के साथ-साथ शब्दों के मूल निर्वचन की ओर ध्यान देते हुए यास्काचार्य ने मूलभूत धातुओं से अथवा उनके अर्थ से संबद्ध वस्तु का प्रतिपादन करने की पद्धति अपनाई और इस संबन्ध में कतिपय साधारण नियम बतलाकर अर्थ-प्रतिपादन को शास्त्रीय रूप प्रदान किया। यास्क का यह मत रहा कि "सभी संज्ञाएं आख्यातों अर्थात् क्रियाओं से उत्पन्न होती हैं"; परन्तु मूलभूत धातु के अर्थ से ये सभी किसी न किसी रूप में संबद्ध तो होनी ही चाहिएं। यास्क के मत में निरुक्त वह शास्त्र है जो शब्दों की उत्पत्ति का मूलगामी विचार करता है, अतएव उसकी सहायता से उन्होंने स्पष्टार्थ शब्दों से अर्थ कैसे और क्यों प्रतीत होता है इसे विशद करने के साथ-साथ अस्पष्टार्थ शब्दों के संभाव्य अर्थों की ओर भी संकेत किया है और अपने विवेचन को पूर्णता प्रदान की है। इस दृष्टि से वेदों के मन्त्रों के अर्थ प्रतिपादन को यास्काचार्य ने

सुनिर्धारित नियमों एवं तत्वों की भूमि पर खड़ा करके उसे निःसन्देह शास्त्र की प्रतिष्ठा प्रदान की। शब्द की उत्पत्ति का विचार यदि सही हो तो अर्थ की प्रतिपत्ति भी शत-प्रतिशत सही होगी। अब यदि उस विचार में ही कहीं भूल हो तो अर्थ का गलत होना अनिवार्य है; लेकिन उचित रूप से यास्क का दावा है कि यह दोष निर्वचन कर्ता का है; निरुक्तशास्त्र का नही। यास्क के निरुक्त में **नैरुक्त, याज्ञिक, ऐतिहासिक, नैदान** तथा **वैयाकरण** जैसी अध्ययन प्रणालियों की ओर निर्देश भी पाए जाते हैं; इतना ही नहीं, **और्णवाभ, शाकटायन, शाकपूणि, कात्थक्य, शाकल्य,** आदि कई पूर्व आचार्यों का उल्लेख भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वेदों के मन्त्रों के अर्थ की इस तरह की विवेचना आचार्य यास्क के पहले भी हो चुकी थी; किन्तु सभी पूर्ववर्ती प्रयत्नों को सुष्ठु, सुव्यवस्थित एवं शास्त्रीय रूप प्रदान करने का गौरव यास्काचार्य को ही प्राप्त है। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

निरुक्त रचयिता के उपरान्त वेदों के अर्थ विवरण के इतिहास में महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ने वाले दो महान आचार्य हैं, अष्टाध्यायी के प्रणेता **पाणिनि** तथा महाभाष्य के लेखक **पतञ्जलि**। संस्कृत भाषा के वैदिक एवं लौकिक दोनों विभागों का संपूर्ण आलोडन करके, इन्होंने पदों के दो अवयवों के, प्रकृति तथा प्रत्यय के आधार पर अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्दों के रहस्य को अनावृत करने का सराहनीय प्रयत्न किया। इतना ही नहीं; वेदों में दृष्टिगोचर होने वाले उदात्त अनुदात्त आदि स्वरों के कारण उत्पन्न होने वाली अर्थ की विविध छटाओं को विशद करते हुए, वैदिक भाषा को परवर्ती भाषा के नियमों की चारदीवारी में रखना अनुचित है इस सत्य की ओर निर्देश करके अपनी सावधानी का यथार्थ परिचय दिया है। वास्तव में व्याकरण के उपर्युक्त दोनों पण्डितों ने अपने-अपने समय में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय के अर्थ प्रतिपादन की सामग्री जिस ढंग से उपस्थित की है उसे देखते हुए, यह स्वीकार करना जरूरी है कि बिना इसकी सहायता लिए इस विषय में आगे बढ़ना असंभव हो उठा है। हाँ, यह सच है कि इनके काल तक किसी ने संपूर्ण वेद राशि पर या संहिता पर शुरू से लेकर आखिर तक भाष्य लिखने की नहीं सोची।

उपर्युक्त कमी को दूर करने का महान् प्रयत्न करने वाले सर्वप्रथम आचार्य है **सायण**। यह सच है कि इनके पहले **माधव, वेङ्कटमाधव, स्कन्दस्वामी, उवट, मुद्‌गल, भट्टभास्कर** आदि विद्वानों ने इस दिशा में प्रयत्न किए थे और इनके ग्रंथों के कुछ अंश आजकल उपलब्ध भी हो रहे हैं; लेकिन ईसा की चौदहवीं शताब्दी में उत्पन्न **सायणाचार्य** ने बड़े आत्मविश्वास के साथ संपूर्ण वेद राशि पर भाष्य लिख कर पूर्ववर्ती तथा परवर्ती प्रयत्नों को भी निःसन्देह तिरोहित कर दिया। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में पद-पद पर पाणिनि की अष्टाध्यायी के साथ-साथ ब्राह्मण ग्रन्थ,

निरुक्त, बृहद्देवता आदि सभी कृतियों में किए गए वेद मन्त्रों के विवरण का भली भाँति उल्लेख किया है। फलस्वरूप वेद-मन्त्रों की व्याख्या की आकांक्षा रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस भाष्य की उपेक्षा का साहस नहीं कर सकता। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेद मन्त्रों की व्याख्या की परम्परा ब्राह्मण, आरण्यक आदि के रचना-काल में ही खण्डित तथा कुछ अंशों में लुप्त प्रतीत होती है। सायणाचार्य के समय तक आते-आते तो शताब्दियाँ बीत गई थीं; अतएव सायणाचार्य के भाष्य में सर्वत्र मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का मन्तव्य ही स्पष्ट हुआ होगा, यह मानना दूभर है। इस दृष्टि से सर्वत्र सायणाचार्य की व्याख्या को प्रामाणिक मानना केवल उनके प्रति व्यक्तिगत आदर भावना का ही परिचायक होगा। संहिता के दूरूह स्थानों पर सायणाचार्य ने ब्राह्मण ग्रन्थों की साधारण व्युत्पत्ति का अथवा निघण्टु कोश में दिए गए अर्थ का अगर कहीं कहीं सहारा लिया है, तो कुछ स्थानों पर पर्याप्त रूप से विकसित किन्तु परवर्ती कर्मकाण्ड के आलोक में अर्थ को निर्धारित करने की चेष्टा की है। व्याख्येय संहिता की संपूर्ण भाषा के तुलनात्मक अध्ययन की आधुनिक प्रणाली के अभाव में सायणाचार्य कहीं कहीं परवर्ती वाक्य का वही अर्थ बतलाते हुए नजर आते हैं जो केवल सन्दर्भ के ही अनुकूल हो।

इस दशा में वेदों के अर्थ प्रतिपादन में आधुनिक विद्वान् पूर्णतया सायणाचार्य पर निर्भर रहना यदि स्वीकार न करते हों तो वह स्वाभाविक ही माना जाएगा। नए सिरे से विकसित व्युत्पतिशास्त्र, भाषाशास्त्र, तुलनात्मक देवताशास्त्र आदि की सहायता से इन विद्वानों ने ऋग्वेद-मन्त्रों का अध्ययन करने की ठान ली और अध्येताओं के सामने अपनी नवीन व्याख्याएँ उपस्थित कीं। इन विद्वानों में जर्मनी, फ्रांस एवं अमरीका के निवासी ही अग्रगामी हैं। **रॉथ** तथा **बोथलिंग** ने संस्कृत भाषा के उस बृहत् कोश की रचना की जिसमें वैदिक एवं लौकिक साहित्य में प्रयुक्त शब्द सम्मिलित हैं। **लुडविग** तथा **ग्रासमेन** दोनों ने जर्मन-भाषा में टिप्पणियों के साथ संपूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद किया। ऋग्वेद के मन्त्रों के संपूर्ण शब्दों की सूची उपस्थित करने वाला ग्रासमेन कृत कोश भी वह महत्वपूर्ण रचना है जिसमें प्रत्येक शब्द के सन्दर्भानुसार बदलने वाले अर्थों के साथ क्रियाओं तथा संज्ञाओं के सभी रूप एवं अर्थ भी क्रमानुसार दिए गए है। अमरीकी पण्डित **ब्लूमफील्ड** ने मन्त्रों के चरणों की बृहत्सूची उपस्थित की जो 'वैदिक कनकॉर्डन्स' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे अमरीकी विद्वान् **ह्विटने** ने अथर्ववेद को अंग्रेजी में अनूदित किया और आधुनिक ढंग से वह व्याकरण भी लिखा जो वैदिक तथा संस्कृत भाषा के अध्येताओं के लिए अतीव सहायक है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थ अध्येताओं की अनमोल धरोहर बने हुए हैं।

बीसवीं सदी में इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने का श्रेय **पिशेल** तथा **गेल्डर** इन जर्मन विद्वानों को प्राप्त है। इन्होंने केवल भाषा शास्त्र पर बल न देते हुए परवर्ती

वेदों एवं वेदाङ्गों के साथ साथ प्राचीन परम्परा के अनुसार किए गए सायणाचार्यकृत विवरण को भी महत्वपूर्ण एवं उपादेय माना है। ऋग्वेद के अधिकांश जटिल एवं दुरूह सूक्तों तथा शब्दों की तर्कसंगत व्याख्या करने का इनका प्रयत्न बड़ा ही सराहनीय है। **पिशेल** तथा **गेल्डनर** द्वारा प्रस्तुत सायणानुकूल विवरण की सर्वाङ्गीण समीक्षा करने वाले और एक जर्मन विद्वान हैं **ओल्डेनबर्ग** जिनकी ऋक्संहिता की आलोचनात्मक टिप्पणियाँ चिन्तन के साथ-साथ स्वर, छन्द आदि के सूक्ष्म अध्ययन के लिए वेदों के अध्येताओं में आदर का भाजन बनी है। उपर्युक्त तीनों मनीषियों में से संपूर्ण ऋग्वेद का गेल्डनरकृत जर्मन अनुवाद अमरीका में प्रकाशित हुआ है। वेदों के जटिल मन्त्रों एवं दुरूह शब्दों की विवेचना में **पॉलथीन** तथा हालैण्ड में **गोंडा** बहुत आगे बढ़े हुए हैं। ऋग्वेद के साथ साथ समूचे वैदिक साहित्य के गहरे एवं पूर्वाग्रहों से परे अध्ययन के लिए फ्रांसीसी पण्डित **लुई रेनू** का नाम भी मशहूर है।

वेदों के अध्ययन की दिशा में विदेशी पण्डितों ने जो कार्य किया है उसका उल्लेख तो ऊपर हो चुका। भारतीयों ने भी इस दिशा में जो प्रयत्न किए हैं उनमें सर्वप्रथम **महर्षि दयानन्द सरस्वती** के भाष्य का उल्लेख करना चाहिए। महाराष्ट्र में **श्री शंकर पांडुरंग पंडित** का 'वेदार्थयत्न' ऋग्वेद के पाँच मण्डलों का अंग्रेजी एवं मराठी अनुवाद कतिपय टिप्पणियों के साथ उपस्थित करता है। 'सोनार बाँगला' के सुपुत्र योगिवर **अरविन्द** ने अपनु स्फुट लेखों में ऋग्वेद के अर्थ को विशद करने का अच्छा प्रयत्न किया है। साथ-साथ बंगला, हिन्दी, मराठी, तेलगू, तमिल आदि देशीय भाषाओं में वेदों के अनुवाद भी किए गए हैं और हर्ष का विषय है कि वेदों के विषय में विश्वविद्यालयों में आजकल अनुसन्धान-कार्य भी हो रहा है। ऋग्वेद हम भारतीयों की अनमोल संपत्ति है। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्परा का समन्वय करते हुए समीक्षा की आधुनिक प्रणालियों से लाभ उठाकर ऋग्वेद तथा उससे संबन्धित साहित्य के मर्म को समझना हमारे लिए अधिक आसान है। स्वतन्त्र भारत में इस दिशा में अधिक ठोस कार्य करने तथा जो चल रहा है उसमें गति भरने की नितान्त आवश्यकता है।

ऋग्वेदीय देवता

ऋग्वेद के सूक्तों में प्राय: देवताओं के स्तवन के साथ साथ उनके विविध वीरकृत्यों तथा याजकों को उनके द्वारा प्रदत्त सहायता का वर्णन किया गया है और प्रार्थना की गई है कि वे स्तोताओं को ऐहिक ऐश्वर्य की प्राप्ति करा दें। ऋग्वेद में निर्दिष्ट देवताओं का यास्काचार्यकृत वर्गीकरण उनके निवास स्थानों पर आधारित है। इनकी संख्या कई स्थानों पर तैंतीस (33) बतलाई गई है। केवल एक ही जगह ३३०९ देवों का उल्लेख हुआ है। कतिपय सूक्तों में देवताओं की दो या अधिक पीढ़ियों की कल्पना भी की गई है। कुछ स्थानों पर ब्रह्मणस्पति को तो कहीं कहीं **विश्वकर्मा** या

हिरण्यगर्भ को इनका निर्माता माना गया है। किन्तु सबमें एक ही दार्शनिक विचार-धारा स्पष्ट रूप से पिरोई गई है जिसके अनुसार सृष्टि के मूल में एक ही आदि-तत्व है। इसी की इच्छा से देवों के साथ समूचे संसार की उत्पत्ति हुई। अतः सभी देवता उसी आदि-तत्व के विभिन्न कार्यों के अनुरोध से धारण किए गए अलग अलग रूप हैं। उक्त आदितत्व ने चिन्मय होकर पुरुष-रूप से आत्मयज्ञ करके विश्व का निर्माण किया और वह स्वयं अनेक रूप धारण करके विभिन्न संज्ञाओं का भाजन बना! **'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'** (I.164.48) का यही रहस्य है। इस उदात्त धारणा से प्रेरित होकर ऋग्वेदीय सूक्तों के मन्त्र-द्रष्टा आवाहित देवों में अन्य देवों की सभी विशेषताओं का समाहार करते हुए सभी को सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं सर्वोपरि घोषित करते हुए पाए जाते हैं। मानव के जीवन से अग्नि-देवता का संबन्ध सबसे अधिक निकटवर्ती एवं गहरा था। अतएव पहले उसके माध्यम से ऋषियों को 'एकं सत्' का भान हुआ जिसे व्यक्त करते हुए **गृत्समद** एवं **अत्रि** मण्डलों के प्रणेताओं ने कहा 'सभी देवताओं का रूप धारण करते हुए तुम अपने अपने याजकों पर अनुग्रह करते हो' इसी भाव को अधिक स्पष्ट करते हुए **भारद्वाज** मण्डल के एक सूक्त में कहा गया है, 'वैश्वानर देवों एवं मानवों में मन के रूप से निवास करने वाला यह अग्नि ही श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति कराता है'। अग्नि के साथ-साथ सूर्य तथा उषा के विषय में भी इस तरह के सर्वात्मभाव की अनुभूतियों को **कण्व** कुल के ऋषि ने भी शब्द रूप प्रदान किया है। दसवें मण्डल के ऋषियों का कथन है कि सूर्यरूपी सुपर्ण अथवा पतङ्ग तो एक ही हैं; कवियों ने उसमें कई देवताओं के रूपों के दर्शन किए हैं। पहले मण्डल में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि देवमाता **अदिति** वास्तव में सभी देवों एवं मानवों के साथ-साथ अतीत में निर्मित एवं भविष्य के गर्भ में विद्यमान विश्व से भी भिन्न नही मानी जा सकती। ऋग्वेद का सुविदित **ऋत-तत्व** भी विश्व के मूल में विद्यमान **चित्** तत्व का वह अविष्कार है जो विश्व के विधारण एवं पालन-पोषण के लिए आवश्यक नियमों की आधारशिला है। कोई अचरज नहीं यह ऋत्-तत्व इन मन्त्र द्रष्टाओं के अनुसार अनादि एवं तीनों कालों में निर्बाध हो और सभी देवता उसका स्वयं पालन करने तथा अन्य प्राणियों से उसका पालन कराने के लिए बाध्य हों। अनादि काल से अस्तित्व में रहने वाले पदार्थों का यथार्थ ज्ञान एवं वर्णत (ऋतु) तथा प्रतिज्ञात वस्तुओं का यथार्थ संपादन (सत्य) दोनों ऋत के ही रूप है। स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाली बात को न मानना और वचन देकर उसका स्वार्थवश पालन न करना ये दोनों अपराध ही 'अनृत' कहलाते है और ऋग्वेदीय ऋषियों की दृढ़ श्रद्धा है कि इनके लिए दण्ड देना अदिति के पुत्रों का, खासकर **वरुण** का कर्तव्य है। मानवीय

व्यवहारों में ऋत तथा सत्य के पालन को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करके वैदिक ऋषियों ने इनका अनादर करने वालों को **'अनार्य'** एवं **'दस्यु'** की तिरस्कारपूर्ण संज्ञा प्रदान की है। कई सूक्तों में कहा गया है कि सूर्य एवं नक्षत्र आदित्यों के गुप्तचर हैं और उन्हीं की सहायता से वे मानवों द्वारा किए गए तथा संकल्पित कार्यों का निर्निमेष निरीक्षण करते रहते हैं। ऋग्वेद के कई ऋषि जगह जगह देवों की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि वे 'अनृतभाषी, कुटिलबुद्धि, दोमुँहें तथा झूठे प्रलोभन दिखाने वाले व्यक्तियों को ढूँढकर उन्हें कठोर दण्ड दें और ऐसे व्यक्तियों को हम पर कभी हावी न होने दें'। संक्षेप में, निष्पक्ष अध्येताओं को स्वीकार करना पड़ेगा कि संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति के साथ-साथ सभी नीति नियमों के मूल में स्थित 'ऋतं च सत्यं च' का अन्वेषण करने वाले ऋग्वेदीय ऋषियों ने नीति का आडम्बर भले ही न मचाया हो, लेकिन उन्होंने संसार के अत्युच्च नीति-तत्वों एवं नियमों का पुरस्कार अवश्य किया है।

उपर्युक्त विश्वव्यापी ऋत के पालन का एक प्रधान अंश है यज्ञ-कर्म जो वास्तव में अपनी उत्तमोत्तम एवं प्रिय वस्तुओं को देवताओं के चरणों पर न्योछावर करने का दूसरा नाम है। कोई आश्चर्य नहीं कि यदि इसी यज्ञ को वैदिक सूक्तों में ऋत की संज्ञा दी गई हो। समूचे विश्व की उत्पत्ति तथा उसका पालन करने वाला ऋतरूपी आदितत्व कभी कभी सूर्य, उषा, अग्नि आदि साक्षात् प्रतीत होने वाली विभूतियों के रूपों में अगर प्रकट होता है तो कभी उसका आविर्भाव इन्द्र, वरुण, अश्विनौ आदि के माध्यम से होता है जिनके अस्तित्व का अनुमान साक्षात् देखे हुए अथवा परम्परा से सुने गए अद्भुत कर्मों के आधार पर किया जाता है। अतएव इन्हें हविर्भाग समर्पित करना ही 'यज्ञकर्म' कहलाता है; यही मानवों के देवता-पूजन का प्रधान अङ्ग है।

इस प्रकार ऋग्वेद-सूक्तों में वर्णित देवता 'एकं सत्' के ही विविध रूप हैं लेकिन इनकी अपनी अपनी विशेषताएँ भी विद्यमान हैं जिनके आधार पर उनके भेदों को भी तर्क संगत माना जा सकता है। इन देवताओं को मोटे तौर पर दो विभागों में रखा जाएगा। पहले में **अग्नि, सूर्य, उषा** इन तीनों प्रकाशात्मक पुञ्जों के साथ साथ **सोम, सरस्वती, द्यावापृथिवी, पर्जन्य** तथा स्पर्शगोचर **वायु** का समावेश किया जा सकता है, क्योंकि इनके बाह्य रूपों को मानव आँखें देख सकते हैं। दूसरा विभाग **इन्द्र, मरुद्गण, अश्विनौ, वरुण, रूद्र, बृहस्पति, यम** आदि उन छोटे-बड़े देवताओं से बनता है, जो अदृश्य तथा अनुमेय है। स्वाभाविक है कि पहले विभाग के देवों का अधिकांश वर्णन उनसे उस स्थूल रूप से ही संबद्ध हो जिसे ऋषि प्रतिदिन अनुभव करते रहते थे। लेकिन यहाँ भी प्रत्येक देवता के अदृश्य अवयवों का

वह स्वामित्व भी प्रज्ञाचक्षु ऋषियों की वाणी का विषय बना है जो उनके तर्कगम्य कर्तृत्व के ही अनुकूल है और जिसे उनके निरे स्थूल रूप तक सीमित नहीं माना जा सकता। दूसरे विभाग के देवों के संबन्ध में भी ऋषियों ने इसी नीति को अपनाकर उनके अदृश्य शरीरों का वर्णन करना पसन्द किया है। माना कि इन दोनों विभागों के देवों के शरीर 'पुरुष-विध' (मानवों-जैसे) ही हैं, लेकिन उनके स्तवन में उन्हीं अवयवों का उल्लेख किया गया है, जो कल्पित पराक्रमों एवं कार्यों के लिए आवश्यक हों। उदाहरण के तौर पर अग्नि को लीजिए जिसपर दूत कार्य का, हव्यवहन का उत्तरदायित्व है। अतः उसकी ज्वालारूपी जिव्हाओं एवं जंघाओं के साथ-साथ तेजोवलयरूपी पाश तथा धृत से सिञ्चित पृष्ठ जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अवयवों का वर्णन किया गया है। एक दूत के नाते देवों को यज्ञ स्थल पर ले आने का कार्य भी अग्नि को सौंपा गया है, जिससे उसके घोड़ों एवं रथ का वर्णन आवश्यक हो उठा। इन्द्रादि अदृश्य देवताओं के वर्णन में अश्वयुक्त रथ को तो स्थान है ही; साथ सोमपान के लिए आवश्यक जनु, जठर आदि का तथा दान देने एवं शस्त्र धारण करने क लिए हाथों एवं बाहुओं के साथ-साथ प्रशंसा सुनने के लिए कान जैसे अवयवों का वर्णन करना ऋृषियों ने उचित समझा। इतना ही नहीं; इनके द्वारा शत्रुओं का संहार करने के लिए वज्र आदि शस्त्र एवं भलाई-बुराई की परख के लिए उसके मन के साथ शत्रुसंहार के लिए क्रोध और याजकों पर कृपा करने के लिए कृपालुता आदि उनके मनोविकारों का वर्णन करना ये ऋषि भला कैसे भूलते? उपर्युक्त प्रथम विभाग के देवों में मानवों के लिए सबसे निकटवर्ती एवं नित्य परिचित होने में अग्नि अद्वितीय है। स्वाभाविक रूप से अरणियों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है और यज्ञ के लिए वह आहवनीय के रूप में अवतीर्ण होता है। अतः एक ओर यह **'द्विजन्मा'** कहलाया तो अनेक यज्ञों में विभिन्न स्थलों पर प्रकट होने के कारण इसे **'भूरिजन्मा'** की संज्ञा प्राप्त हुई। याजकों की ओर से सभी देवों को निमंत्रण देकर यह अग्नि सन्तोष की साँस नहीं लेता; अपितु उन्हें अपने रथ में बिठाकर सोमपान के लिए यज्ञस्थल में ले आने का महत्वपूर्ण कार्य भी संपन्न करता है। इसलिए इसे दूत कहा गया। धूम इसकी ध्वजा है और इसका मार्ग कृष्णवर्ण है। देवों ने इसे अपना मुख माना; फिर इसमें समर्पित हविर्भाग उन्हें क्यों न प्राप्त हो? घर्षण से ही उत्पन्न होने के कारण इसे **'सहसः सूनुः'** याने शक्ति के पुत्र की उपाधि प्राप्त हुई। जन्म से ही यह निर्मल, तेजस्वी एवं नित्य युवा होता है। अन्तरिक्ष मेघों के गर्भ में निवास करने के कारण यह **'अपां नपात्'** कहलाया। पृथ्वी पर स्थित औषधियों एवं वृक्षों के भीतर रहने का इसे शोक है, लेकिन यह सीधे उनमें प्रवेश नही कर पाता। अतः अन्तरिक्ष की माताओं मेघान्तर्गत आपोरूपी देवताओं की पनाह लेकर उनके द्वारा पृथ्वी पर प्रेषित वृष्टि के

साथ औषधियों एवं वृक्षों की जड़ों में पहुँचता है और उनकी जड़ों द्वारा शोषित वृष्टि जल के साथ उनके भीतर पहुँचने की अपनी साध पूरी कर लेता है। इसके उपरान्त अरणियों के घर्षण से प्रकट होकर दक्षता के साथ अपने यज्ञ संबन्धी कर्तव्यों को याने दौत्य, हव्यों के हवन जैसे कार्यों को संपन्न करता है। मधुरता का निर्माण करने वाली अपनी ज्वालाओं से याजकों द्वारा समर्पित हविर्द्रव्यों को अधिक रूचिपूर्ण करके यह **अग्नि** द्युलोक के सभी देवों को अपनी मधुर वाणी से निमन्त्रण देता है और **'तनूनपात'** एवं **'नाराशंस'** के नाम से इन्हें ये हविर्भाग समर्पित करता हे। इसी से ऋषियों ने इसे **'मधुजिह्व'** एव **'मन्द्रजिव्ह'** जैसे विशेषणों से विभूषित किया। पहले पहल यह अग्नि उच्चतम द्युलोक में मातरिश्वा देवता के संमुख प्रकट हुआ। बाद में मातरिश्व्वा ने इसकी स्थापना पहले भृगु महर्षि के पास और उसके उपरान्त उसके द्वारा अन्य ऋषियों के सांनिघ्य में की। प्रिय अतिथि के रूप में इसका सम्मान करके ऋषियों ने इसके माध्यम से देवलोक से संपर्क स्थापित किया और यज्ञ कर्म के द्वारा देवलोक एवं मनुष्य लोक में सहयोग की भावना का निर्माण किया। प्रात:काल में सूर्य के रूप में यही उदित होता है और यज्ञ कर्मों को प्रेरणा प्रदान करता है। याजकों के गृहों में वेदि पर स्थित यज्ञ कुण्डों में नित्य निवास करते हुए सदैव उनके कल्याण की ओर ध्यान देने के कारण यह अग्नि **'दमूना:'**, **'गृहपति:'**, **'विश्वपति:'**, **'वैश्वानर:'** जैसी संज्ञाओं का भाजन बना और ऋषियों को वह अपने पिता, बन्धु एवं सुहृद् जैसा प्रतीत हुआ। मन की आकांक्षाओं को भली भाँति जानने वाले इस अग्नि को सच्चा आत्मीय मानकर ऋषियों ने इसे **ऋत्विज्, कवि, विप्र** के नामों से पुकारा है और मूल चिदात्मक सत-तत्व के आविष्कार की दृष्टि से इसे विश्व का निर्माता भी कहा है।

अनन्तकाल से अन्तरिक्ष के पथ पर प्रकट होने वाली हँसमुख **उषा 'पुराणी'** होकर भी वैदिक ऋषियों को 'चिर युवती' प्रतीत हुई। यह उषा सूर्य को उसी तरह खींचकर ले आती है जैसे कोई प्रेमिका अपने प्रियतम को। सभी प्राणियों में नव उल्लास का निर्माण करने एवं उन्हें क्रियाप्रवण करने का गौरव इसे प्राप्त है। सद्य:स्नाता एवं स्मितवदना सुन्दरी की तरह हार्दिक स्वागत की आशा से यह समूचे संसार के सामने साहस के साथ इसी ढंग से उपस्थित होती है कि वह उसका कौतुक से स्वागत करें। नियत स्थल एवं समय पर बिना कभी भूले उपस्थित रहने में इसकी समानता जानकार महिला के साथ की जा सकती है। अन्धकार और मनोमालिन्य का विनाश यही करती है। रक्तवर्ण एवं तेजस्वी अश्वों तथा वृषभों को अपने रथ में जोड़कर यह उषा उस अन्तरिक्ष मार्ग पर आरूढ़ होती है जो उसकी बहन रात्रि के द्वारा सद्योमुक्त था। सूर्य, अग्नि, तथा सोम के साथ बलासुर के कारावास में दिन बिताने वाली द्युदेव की इस

कन्या को इन्द्र, बृहस्पति और उसके अनुयायी अङ्गिरस ऋषियों ने मुक्त किया। यज्ञ कुण्ड के सद्यः प्रज्वलित अग्नि इसका सहर्ष स्वागत करके अपने याजकों के लिए धनादि उपहारों की याचना करते हैं। प्रतिदिन चिर युवती के रूप में अवतीर्ण होने के कारण इसे अग्नि की तरह अनेकात्मक मानकर ऋषियों ने इसका निर्देश बहुवचन में भी किया है।

उषा का अनुसरण करते हुए अन्तरिक्ष के पथ पर आरूढ़ होकर समूचे विश्व को आलोकित करने वाले तेजोमय शक्ति के पाँच विभिन्न रूप वैदिक ऋषियों की प्रतिभामयी वाणी का विषय बने; ये है **सूर्य, सविता, पूषा, मित्र** तथा **विष्णु**। इनमें से सूर्य मित्रावरुणों के साथ अन्य देवों के सर्वसाक्षी चक्षु के रूप में मानवों के भले-बूरे, सभी कार्यों का सुष्ठु निरीक्षण करता रहता है। उषा के बाद प्राणि मात्र को आलोक प्रदान करने के उद्देश्य से अन्तरिक्ष में वरुण आदि आदित्यों द्वारा बनाए गए मार्ग पर यह सूर्य अपने एतश आदि अश्वों से युक्त रथ के साथ अवतीर्ण होता है। एक ही क्षण में समूचे संसार को आच्छादित करने की अभिलाषा से अन्धकाररूपी असित वस्त्र बुनने वाली रात्रिरूपी जुलाहिन को सब काम समेटकर चले जाने के लिए यह देवता विवश कर देता है। उपासकों की आधियों एवं व्याधियों को दूर करने वाला यह सूर्य चर एवं अचर विश्व की आत्मा है। वैदिक ऋषियों की आँखों में सर्वप्रेरक सविता अन्तरिक्ष की तेजोमयी शक्ति का वह रूप है जो अपने विशाल बाहू फैलाकर चराचर संसार को अपने अपने कर्तव्यों में प्रवृत्त करता है और गोधूलि के समय विश्राम के लिए सभी प्राणियों को अपने नियत निवास स्थान पर लौटने की प्रेरणा प्रदान करता है। क्या सविता के अवयव, क्या उसका रथ दोनों ही सुवर्णमय हैं। देव भी सत्यधर्मा सविता के व्रतों का पालन करने के लिए बाध्य है। इसी की प्रेरणा से रात्रि उपस्थित होती है और कार्यरत मानव अपने कार्यो को अधूरा रखकर विश्रान्ति-स्थान की ओर प्रयाण करते हैं।

प्रात:काल में प्रकाश के फैलने से दुर्गम मार्गो का अन्धकार जब विलीन होता है तब रात्रि में खोई हुई वस्तुओं या चौपायों का अन्वेषण करके उन्हें लौटाने वाला पूषा उस शक्ति का तीसरा रूप हैं। इस पूषा की कोई भी चीज़ खोने का नाम नहीं लेती। स्वाभाविक रूप से इसकी याचना में 'हम अपने पालतू जानवर कभी न खोएं और बिना किसी दुर्घटना के हमें प्राप्त हों' यही स्वर प्रधान हो उठा है। इस देवता के दांत नहीं होते; इसलिए चावल का माँड ही इसका भोजन है। फिर भी महापराक्रमी होने के कारण वीरतापूर्ण कार्यो में सहायक के रूप में इन्द्र भी **शस्त्र आरा** या **अष्ट्रा** के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव इसकी प्रार्थना में ऋषियों ने अपनी अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा, ''इस शस्त्र से कदर्य पणियों के हृदय बींधकर उन्हें दान देने पर विवश करो''। एक ओर यह पूषा 'आघृणि' (तुरन्त बिगड़नेवाला) है; तो दूसरी ओर

'विमोचन' (अर्थात् संकटों से मुक्त करने वाला) भी।

उपर्युक्त शक्ति का चौथा रूप है मित्र जिसके नाम में ही ऋषियों ने प्रधान रूप से मानवों के साथ मित्रता का भाव पिरोया है। कई स्थानों पर वरूण से संबद्ध होने के कारण यह मित्र भी निर्निमेष नेत्रों से मानवों की देखभाल करता है अवश्य; लेकिन मित्रता की भावना के कारण अपराधियों के विषय में वरुण-जैसी कठोरता बरतना पसन्द नहीं करता। कोई अचरज नहीं कि ऋषियों ने वरुण के साथ इसे भी सम्राट की उपाधि प्रदान की हो। मित्रावरूणा का युगल सूर्यबिम्ब को मेघों द्वारा आवृत करके वृष्टि का निर्माण करता है और इसी को माया के बल पर सूर्यबिम्ब रूपी रथचक्र आकाश में पुनः भ्रमण करने पर बाध्य होता है। तीन पदों में समूचे विश्व को (तीनों लोकों को) व्याप्त करने वाला विष्णु ही उस शक्ति का अन्तिम एवं पाँचवां रूप है। विस्तीर्ण रूप से संचरण करने वाला (उरुगाय) यह देवता बीहड़ स्थानों एवं गिरिगह्वरों में घूमता रहता है। इसके दो पद मानवों द्वारा देखे जा सकते हैं लेकिन तीसरा उस उच्चतम स्वर्गलोक में विद्यमान है, जहाँ के मधुर अमृत के स्रोत के पास पहुँचकर देवों के भक्त आनन्द से फूले नहीं समाते। वृत्रवध के अवसर पर इन्द्र के लिए पर्याप्त अन्न एवं सोमरस उपस्थित करके इसी विष्णु ने अन्य प्रकारों से भी उसकी अनमोल सहायता की।

ऋग्वेद का नववां मण्डल वल्लियों के रूप में पर्वतों के शिखरों पर निवास करने वाले वनस्पतियों के राजा **सोम** की कवित्वपूर्ण सराहना में समर्पित है। वल्लियों के टुकड़ें करना, उन्हें अद्रियों से (पाषणों से) पीसकर रस निकालना, उस रस में अधिक रूचि पैदा करने के लिए जल, दधि, दूध, धृत, शहद, सत्तु का आटा आदि द्रव्यों को मिलाकर उच्च कोटि का पेय तैयार करना आदि सोम की सभी अवस्थाओं के दर्शन इन ऋग्वेदीय सूक्तों में होते हैं। मूलतः यह स्वर्ग लोक का निवासी था और कृशानु नाम के धनुर्धर इसकी निगरानी भी करते थे; लेकिन पक्षिवर श्येन उसकी आँख बचाकर इन्द्र के लिए इसे ले आए और उन्होंने इसे इन्द्र के याजकों को समर्पित किया। इसी सोम के रस के कारण इन्द्रादि देवों पर युद्ध का नशा छा जाता है। इसके पान से उन्मत्त होकर इन्द्र ने वृत्रवध जैसे महान् कार्य कर डाले। अतएव सोमरस को उनका कर्ता मानने वाले ऋग्वेदीय कवि उनके वर्णनों में इसे भला कैसे भूलते? वास्तव में बिना किसी अत्युक्ति के यह कहा जा सकता है कि पृथ्वी पर सोमदेव के आगमन के वर्णन में मन्त्र के द्रष्टाओं ने कल्पनाओं एवं उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों की पर्याप्त वर्षा की है।

बाह्य रूप में साक्षात् प्रतीत होने वाले अन्य देवों में **सरस्वती, द्यावपृथिवी, पर्जन्य** एवं **वायु** का अन्तर्भाव होता है। सोम की तरह उनका रूप भी पारदर्शक एवं

सहज भाव से ज्ञेय हैं। माना कि अन्य देवताओं की तरह इन्हें भी सोमपान अथवा हविर्ग्रहण के लिए बुलाया जाता है; फिर भी इन्हें निर्दिष्ट पदार्थों के अधिष्ठाता देवता माना जा सकता है। सरस्वती को तो आप्री देवताओं में भी स्थान दिया गया है और एक सूक्त में पुष्टिकारक अन्न एवं समृद्धियुक्त वैभव की प्राप्ति के लिए इसके सहोदर सरस्वान् की भी प्रार्थना की गई है। द्यावापृथिवी को 'रोदसी' की संज्ञा भी प्राप्त है; इनमें से एक पितृ रूप देवता है और दूसरी मातृरूपा देवी। इन्हें देवों के साथ साथ समूचे चराचर विश्व के जनक एवं पोषणकर्ता माना गया है, लेकिन इनके उत्पत्ति कर्ता के रूप में एक अनूठे कर्त्तृत्ववान् देवता की भी कल्पना की गई है, जिसने अपनी बुद्धि के बलपर कभी न गिरने वाले अदृश्य स्तम्भों के सहारे इन्हें सँभाला है। पर्जन्य मूर्तिमती वृष्टि है और यह देव इन्द्र, मरुद्गण, मित्रावरुण, अग्नि आदि वृष्टि में सहायक देवों से अलग अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है। यह देवता अपने वृष्टिरूपी बीज से पृथिवी को गर्भवती करके मानवों के लिए उसे विपुल जल एवं अन्न से संयुक्त कर देता है और साथ-साथ चौपायों, लताओं, वृक्षों एवं मानवों को भी वह सामर्थ्य प्रदान करता है जिससे वे अपनी अपनी प्रजा के निर्माण एवं पोषण में समर्थ होते हैं। उचित समय पर मेघरूपी दूतों को अन्तरिक्ष में भेजकर समूची धरित्री को सुष्ठु सिञ्चित करके मृदुता से संयुक्त करना इसी का कार्य है। **'वि वृक्षान् हन्त्युत' हन्ति रक्षसाँ विश्वं विभाय भुवनं महावधात्। उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत् पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः'** में इसी देवता का भयंकारी रूप साकार हो उठता है; लेकिन निरपराध व्यक्तियों को इससे तनिक भी भय नहीं रहता; **'इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति'** यही अन्ततोगत्वा इसका मङ्गलमय रूप है।

वायु अथवा वात का अनुभव मानवों को तब होता है जब महान् रथ से उसका संचरण शुरू होता है और उसकी गड़गड़ाहट से कान बधिर होते हैं। इसका आँखों देखा रूप तब प्रकट होता है जब इसके प्रचण्ड वेग से लताओं के साथ बड़े-बड़े वृक्ष भी उखाड़े जाते हैं। त्रिभुवन इस राजा की सवारी के साथ साथ छोटी-मोटी आँधियों के रूप में इसकी रानियाँ भी आकाश में विद्युद्रूपी अबीर को उड़ाती हुई धूलि-कणों से **'नभस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूलतम्'** का अनुभव कराती हैं। वास्तव में, देवों की यह आत्मा किसी विश्राम के बिना अन्तरिक्ष के पथ पर स्वच्छन्द विचरण करती रही है। वायु इस देवता का वह श्वेतवर्ण सौम्य रूप है। जिसके रथ का वहन नियुत् नाम की सहस्त्रों से भी अधिक घोडियाँ स्वयंस्फूर्ति से कराती रहतीं हैं। इन्द्र के साथ यहां वायु भी सोमपान के लिए कई बार निमन्त्रित है। इतना ही नहीं, सोमपान में प्रथम भाग के अधिकारी होने के कारण इसे ऋषियों ने **'पूर्वपा'** एवं **'शुचिपा'**

की संज्ञा प्रदान की।

अदृश्य देवों में महापराक्रमी **इन्द्र** ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि है। इसका विशाल शरीर अपने एक पार्श्व से समूची पृथ्वी एवं स्वर्ग को आवृत करने की क्षमता रखता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इन्हें ऊपर उठने की अगर इच्छा हो तो दोनों इसकी मुट्ठी में ही समा जायँ।९.३०.१; १०.११९.७; ३.३०.५) बल में इसकी समता करने वाला न कभी हुआ था; न भविष्य में होगा। इसकी सामर्थ्य की थाह भला कौन पा सकता है? माता के गर्भ में होने के समय से ही स्वतन्त्र प्रवृत्ति रखने वाला यह **इन्द्र** 'जो कहूँगा सो करके रहूँगा' में विश्वास रखता हैं सोमरस का इसे इतना शौक है कि एक ओर उससे दूर रखने वाले अन्यायी पिता को भी इसने तुरन्त रास्ते से दूर हटा दिया (3-48.4; 4.18.12) तो दूसरी ओर अवैध ढंग से उसे सोमरस अर्पित करने वाली अपाला पर प्रसन्न होकर उसके सब दुःख दूर कर डाले। मन से अतीव उदार होने के कारण स्तोता को अपने पास जो कुछ हो उसे पूरी तौर से समर्पित करने में तो इसे कोई संकोच नहीं होता। स्तोता द्वारा याचित वस्तु की प्राप्ति के लिए यह 'कामरूप' इन्द्र कभी गाय या अश्व का तो कभी नारी का रूप भी धारण करता है और स्तोता को विमुख न लौटाने के अपने प्रण का पालन करता है। विविध रूप धारण करने की इस दैवी शक्ति के ही कारण युद्धों में इन्द्र के शत्रु मुँह की खाने पर बाध्य होते हैं। त्वष्टा ने खास इसके लिए एक बड़ा निर्घोष करने वाला वज्र बनाया जो इसे अतीव प्रिय होने के कारण इसके बाहुओं पर निरन्तर विद्यमान है। इसी की सहायता से कई दस्यु रणभूमि में खेत रहे। स्तोताओं का निमन्त्रण पाते ही अपने प्रिय अश्वों को भव्य रथ में जोतकर उनकी सहायता के लिए दौड़ने वाला यह देवता पहले उनके द्वारा समर्पित सोम का आकण्ठ पान करके उनके स्तोत्रों से प्रोत्साहित होता है और उनके शत्रुओं को परास्तर करके उनकी सभी संपत्ति उन्हें सौंप देता है। मरुद्गण तथा अङ्गिरस कुल के पूर्वज ऋषि इसके सहायक एवं चारण बने और उन्होंने वृत्र एवं बल के वध के अवसर पर इसकी सभी प्रकारों से सहायता की। वृत्र के शिकंजें में पड़ी हुई स्वर्गीय नदियों को मुक्त करके उन्हें इस इन्द्र ने पार्थिव समुद्र की ओर बहाया और बल की गुहा में अवरुद्ध देवों की गायों के साथ-साथ सूर्य, उषा एवं अग्नि को भी मुक्त करके उन्हें अपने नित्य कामों में प्रवृत्त किया। इन दोनों वीरतापूर्ण कार्यों की भावपूर्ण सराहना करते हुए वैदिक ऋषि कभी नहीं अघाते। साथ साथ शंबर तथा वर्चिन् इन दोनों असुरों का वध, कुत्सको अपने साथ रथ में बिठाकर शुष्ण का निर्दालन, सुविदित दाशराज्ञ युद्ध में वसिष्टों की पुकार सुनकर दौड़ते हुए आकर अभय प्राप्त भरतकुल के योद्धाओं एवं उनके राजा सुदास की सुरक्षा करना, गर्वीली उषा का गर्वहरण करना आदि ऋषियों द्वारा वर्णित कई कार्य इन्द्र के पराक्रम एवं भक्त

वात्सल्य की दुहाई देते हैं। क्या 'मघवा' (उदार उपहार देने वाला) क्या 'शतक्रतु' (सौगुने बुद्धिसामर्थ्य से युक्त) क्या 'पुरन्दर' (शत्रुओं के दुर्ग का भेदन करने वाला) सभी इन्द्र की उपाधियाँ बड़ी चरितार्थ मालूम होती हैं।

वृत्रवधादि पराक्रमपूर्ण कार्यों में इन्द्र की सराहना करने वाले उसके **अनुयायी** हैं **मरुद्गण। रुद्र** इनके पिता हैं और **पृश्नि** इनकी माता। जैसाकि नाम से **स्पष्ट है** ये अनेक हैं और सभी समान अवस्था के हैं। इनकी शक्ति एवं स्तर में भी समानता है। युवकों की तरह इन्हें तरह तरह के सुवर्णालंकार पहनने का बडा शौक है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि इनके शरीरों पर दमकने वाले तीक्ष्ण शस्त्रों के साथ-साथ कवच एवं भाले भी बड़ी शान के साथ विराजमान है। इनकी वेगभरी दौड़ से पूरा संसार कम्पित होता है। कतिपय सूक्तों में इनके पास रथ में खड़ी इनकी प्रिया **'रोदसी'** वर्णित है लेकिन कई स्थानों पर इनकी सहचरी के रूप में **विद्युत्** का भी उल्लेख किया जाता है। ग्रीष्म में सूर्य की किरणों से संतप्त पृथ्वी को आर्द्र करके उसे 'सुजला' 'सस्यश्यामला' एवं 'सुफला' का रूप प्रदान करने वाली वर्षा इनके संचरण मार्ग का ही अनुसरण करती रहती है। इनके रथ एवं वाहक अश्व भी सोने की तरह दीप्तिवान् हैं और इन रथ चक्रों की क्षुर की तरह पैनी कगारों के सहारे ये पर्वतों का भी भेदन कर सकते हैं।

संकटों में फंसे हुए प्राणियों की पुकार सुनते ही दौड़ते हुए आकर शल्यक्रिया एवं औषधि विज्ञान के समग्र कौशल के सहारे उन्हें उबारने वाले देवों में **अश्विनौ** अपना सानी नहीं रखते। ये जुड़वां भाई अपनी कमनीयता के साथ-साथ 'सुन्दर तरुणों' के लिए प्रसिद्ध है। कोई अचरज नहीं कि सूर्या देवी ने स्वयंवर में इन्हीं का वरण किया हो और वह स्वेच्छा से उनके रथ पर आरूढ हुई हो। पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं समुद्र तीनों में लीला संचरण करने वाले ये दोनों सुबह सुबह अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं। **अश्विनौ** के घोड़ों के पंख होते हैं; अतएव ऋभुओं द्वारा बनाया गया एवं तीन आसनों वाला इनका रथ अन्तरिक्ष के पथ पर विचरण करने में मनसे भी अधिक तेज है। ये देवता स्वयं निपुण तैराक हैं; इसलिए रथ को आसानी से समुद्र के पार पहुँचा सकते हैं। जमीन में गाड़े गए वन्दन ऋषि को जिन्दा बाहर निकालना, समुद्र में रेंग कर जलराशि के बीच दबाए गए रेभ को ऊपर उठाकर उसे उबारना, जांघ के टूटने से घायल विश्पला के लिए लोहमयी जाँघ लगाना तथा क्रोध के मारे पिता द्वारा नेत्रहीन बनाए गए ऋजाश्व को फिर से आँखें लौटा देना आदि कई कार्य इनके कौशल के साथ साथ कोमल हृदय के परिचायक हैं। बेचारे गौतम ऋषि के कुंए का पानी तल तक पहुँचा था; इन्होंने उसे एक ओर लुढ़का दिया ताकि पानी बाहर बहे और उसकी प्यासी गौंए उसे भरसक पी सकें। अत्रि ऋषि धधकती हुई खाई में फेंके गए थे; अश्विनौ ने हिमकी **वर्षा से आग बुझाई, उन्हें तरोताजा करने के लिए घर्म नाम**

के अपने प्रिय पेय का अंश भी उन्हें दे डाला, और बाद में उन्हें सुखपूर्वक बाहर निकाला। भूख से व्याकुल होकर अन्तिम घड़ियाँ गिनने वाले दरिद्री शयु की बांझ गाय को दुधारू बनाकर उसकी दरिद्रता को नष्ट करने वाले देवता भी ये अश्विनौ ही थे। रहस्यभेद के कारण इन्द्र द्वारा सिर उतारे जाने का भय दध्ययच् ऋषि पर सवार था; शल्यक्रिया के मर्मज्ञ अश्विनौ ने पहले ऋषि के कन्धों पर अश्व का सिर बिठाकर उससे झंडाफोड़ करवाया और इन्द्र द्वारा उसके उतारे जाने पर फिर से मानवीय सिर भली भांति बिठा दिया। फलस्वरूप दध्यच् के लिए 'आम के आम गुठली के दाम' वाली कहावत चरितार्थ हुई। जरा से जर्जर च्यवान ऋषि को इन कुशल देवों ने उसकी जीर्ण त्वचा से उसी तरह मुक्त किया जैसे कोई व्यक्ति अपनी देह को कवच से। इतना ही नहीं उसे वह 'युवावस्था' समर्पित की जिसपर सुन्दर युवतियों को भी ईर्ष्या हो। राजा तुग्र की आंखों के सामने उनके पुत्र भुज्यु का उसी के मित्रों द्वारा विश्वासघात् हो रहा था; लेकिन उसकी सुरक्षा के संबन्ध में पूर्णतया विवश होने के कारण वे पुत्र का त्याग करने को उसी तरह बाध्य हो रहे थे जैसे अन्तिम घडियाँ गिनने वाला व्यक्ति अपनी विशाल संपत्ति का। किन्तु इसी समय करूण के आगार अश्विना आ पहुँचे थे और उन्होंने अतीव गहरे समुद्र के बीच से भुज्यु को ऊपर उठा लिया। युवा विमद को सहचरी की प्राप्ति कराने में भी इन्हीं दयालु देवों का हाथ रहा। पिता के घर में ही रहकर प्रौढ़ बनने वाली कन्या के लिए उचित वर की प्राप्ति कराने की सतर्कता ये अश्विनौ अगर एक ओर दिखाते हैं; तो दूसरी ओर प्रसूत होने वाली नारियों की वेदनाओं को वैद्य के कुशल हाथों से दूर करने की सावधानी बरतना भी नहीं भूलते। क्रूर भेड़िये के मुँह में पहुँची हुई दीन एवं विवश चिड़िया को भी उबारकर इन देवों ने अपनी अपार करूणा का यथार्थ परिचय दिया है। वास्तव में, 'गिरे हुओं को तुरन्त उठाने' को अपना जीवन-कार्य मानने वाले इन देवों की 'भूरि भूरि' सराहना ऋग्वेद के सूक्तों में कई बार की गई है।

अदिति के सभी पुत्रों में ऋत-पालन एवं उसके द्वारा विश्व के विधारण का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व ऋग्वेद में सम्राट एवं राजाधिराज **वरुण** को ही सौंपा गया है। मानवों के आचरण का निरीक्षण करने के लिए इसके गुप्तचर 'अत्र तत्र सर्वत्र' फैले हुए हैं। अनृत एवं असत्य भाषण करने वालों के प्रति इसके मन में घृणा है। साधारण-रूप से अपनी प्रजा के साथ अधिक संपर्क न रखने वाले राजा की तरह आदर एवं भय का निर्माण करने वाले इस वरुण से वैदिक ऋषि प्रायः दूर ही रहते हैं। यह शीघ्रकोपी देवता अपने नियमों एवं मर्यादाओं के पालन में बड़ी कठोरता अपनाता है, इसी लिए इसे 'धृतव्रत' की उपाधि प्राप्त हुई। अपराधों के लिए इससे क्षमा की आशा भला कैसे रखी जा सकती है। अपराधियों को दण्ड देने में इसकी

कठोरता की मिसाल नहीं। दिव्य नदियों के मध्य में इसका अम्बरचुम्बी प्रासाद सहस्र-स्तम्भों से युक्त है और यहीं से यह सार्वभौम सम्राट् सभी प्राणियों पर राज्य करता है। इसी के नियन्त्रण में चराचर विश्व नियमित रूप से अपने कर्तव्यों का पालन करता रहता है।

मरुद्गणों का पिंगलवर्ण पिता रुद्र हाथ में हमेशा धनुष एवं बाण धारण करता है। मरुद्गणों की तरह इसे भी अलंकार बहुत भाते हैं; लेकिन अपराधियों के सिर पर सहसा गिरने वाले विद्युदरूपी अस्त्र के कारण वैदिक ऋषि इससे बहुत डरते रहते हैं। फिर भी प्रसन्न होने पर यह देवता अपने याजकों की आधियाँ एवं व्याधियाँ उन हाथों से दूर करता है जो रोगों से उत्पन्न पीड़ा का परिहार करने वालीं विभिन्न औषधियों से युक्त है। इसी से सन्तोष न मानकर अन्य देवताओं के क्रोध को दूर करने में भी मानवों की सहायता करने पर उतारू होता है। माना की इसकी प्रवृत्ति हिंसक है लेकिन मन से उदार एवं हृदय से मृदु होने के कारण आपत्तियों में फंसे हुए व्यक्तियों की पुकार सुनकर इससे रहा नहीं जाता और यह तुरन्त सहायता के लिए दौड़ पड़ता है।

अङ्गिरस कुल में उत्पन्न **बृहस्पति** सभी सामों तथा स्त्रोतों का जनक एवं विप्रों के सभी गणों का अधिपति है। शत्रुओं और निन्दकों का अगर यह विध्वंसक है तो अपने उपासकों का पालक एवं पोषक भी। इसका तेजस्वी रथ राक्षसों का विनाश करने वाला एवं शत्रुओं के गोधन का विजेता है। श्रद्धाहीन व्यक्तियों के लिए यह बड़ा भयंकर प्रतीत होता है। वृत्रवध के अवसर पर इन्द्र का यह प्रधान सहायक रहा और बल की गुहा में अवरुद्ध गौओं के साथ-साथ उषा आदि को मुक्त करने में भी इसका बड़ा हाथ रहा था। अर्कों की सामर्थ्य से तथा सिंहनाद से बल की गुहा पर घोर आक्रमण करके गायों को बाहर निकालकर बल को आँसू बहाने पर बाध्य करने वाले देवता के रूप में बृहस्पति बड़ा विख्यात है। इसी देवता के प्रयत्नों के बल पर यज्ञ में देवों को हविर्भाग प्राप्त हुए।

मृतात्माओं के लिए स्वतन्त्र साम्राज्य की स्थापना करने वाले देवता के रूप में **विवस्वान** के पुत्र पितृश्रेष्ठ **यमराज** का स्तवन ऋक्सूक्तों में पाया जाता है। मृत्युलोक में मर्त्य शरीर का त्याग करके अग्नि की सहायता से नूतन शरीर प्राप्त करने के उपरान्त यमराज के राज्य में पहुँचे हुए अग्निदग्ध पितरों के साथ साथ पहले से ही अग्निदग्ध एवं अनमर्त्य शरीर धारण करने वाले भृगु, अथर्व, अङ्गिरस आदि पितरों की संगति को पाकर यमराज का समय बड़े आनन्द के साथ बीतता रहता है। यज्ञ

में आवाहित होने पर उक्त पितरों के साथ आकर यह याजकों द्वारा प्रदत्त सोम, हव्य, घृत आदि का ग्रहण करता है। मृत व्यक्ति, जलाए गए मर्त्य शरीर से निकलकर जब यमलोक की ओर प्रयाण करता है तब यम के दो श्वान-जो विशाल नासिका एवं चार आँखों वाले होते है-साथ रहकर उसका मार्गदर्शन करते रहते हैं और उसे यमलोक पहुँचा देते हैं। वास्तव में मुमूर्षु व्यक्तियों को खोजकर उनके प्राणों को यम के पास पहुँचाना यही इन श्वानों का कार्य है। अतः ये मृत्युलोक में निरन्तर घूमते रहते हैं।

सुघन्वा के तीनों पुत्र 'ऋभु, विभ्वा तथा वाज'—पहले मर्त्य अर्थात् मानव ही थे; लेकिन अपने अनुपम कौशल से इन्द्र आदि देवों को सन्तुष्ट करके इन्होंने देव लोक में अपने लिए स्वतन्त्र स्थान पा लिया। इसी से इनकी गणना वैदिक देवताओं में की जाती है और सायं सवन के समय यज्ञ में सोमपान एवं हवि के भक्षण के लिए अन्य देवों के साथ इनका भी आह्वान किया जाता है। इन देवों ने अपनी अद्भुत शक्ति के बल पर अश्विनों के लिए एक अश्वहीन स्वयंचलित रथ एवं इन्द्र के लिए दो अश्वों के साथ साथ बृहस्पति के लिए मृत गाय के चमड़े से कामधेनुका निर्माण किया। जरा से जर्जर पिता एवं माता को नवयौवन का दान भला इन ऋभुओं के सिवा कौन कर सकता था? देवों के सोमपान के लिए निर्धारित सुन्दर चमस से ही चार, समान रूप से सुन्दर चमसों के निर्माण की इनकी अद्भुत कला को देखकर कुशल निर्माता के रूप में विख्यात त्वष्टा को भी इन पर ईर्ष्या होने लगी। अगोह्य नामक गृहस्थ आतिथ्य से सन्तुष्ट होकर ये तीनों भाई बारह दिनों तक निद्रा के सुख का अनुभव करते रहे और बाद में उसके खेत को जल से पूर्ण करके मानवों एवं पशुओं को प्रतीत होने वाले अन्न जल का अभाव इन्होंने सदा के लिए नष्ट कर डाला। वैसे तीनों भाईयों के अपने अपने नाम हैं (जो ऊपर दिए गए हैं) फिर भी यज्ञ में इनके बड़े भाई ऋभु अथवा ऋभुक्षा के नाम से ही वैदिक ऋषि इन तीनों का आह्वान करते हुए पाए जाते हैं। मानवों के सामने **'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'** का अनुपम आदर्श इन्हीं ऋभुओं ने उपस्थित किया।

इस प्रकार ऋग्वेद में वैदिक आर्यों की संपूर्ण मानसिक संपत्ति साकार हो उठी है। संघर्ष के काल में आवश्यक जयिष्णु प्रवृत्ति के साथ साथ **'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'** में जो दार्शनिक विचार अभिव्यक्त हुआ उसी को आगे चलकर प्रणीत दर्शनों का मूल उत्स मानना समीचीन होगा। क्या व्यवहार, क्या धर्म, क्या दशर्न, क्या साहित्य सभी का प्रेरणा-स्रोत तो ऋग्वेद ही माना जाता है। इस दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन कितना महत्वपूर्ण है इसकी ऊपर विवेचना की गई है।

वेद और भारतीय विद्वान् (भाष्य एवं प्रकाशन)

वैदिक वाङ्मय के विषय में प्राचीन काल तथा आधुनिक समय में जो कुछ कार्य हुआ है, उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है। इस विषय में विशेष उल्लेखनीय है कि वैदिक वाङ्मय की उन्नति में **राजा राममोहनराय** द्वारा स्थापित **'ब्राह्मसमाज'** और **स्वामी दयानन्द सरस्वती** द्वारा स्थापित **'आर्यसमाज'** ने विशेष सक्रिय कार्य किया है। ब्राह्मसमाज का ध्यान भारतीय-गौरव-रक्षा के लिए उपनिषदों की ओर रहा और आर्यसमाज ने वैदिक साहित्य पर बल दिया। यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक समय में वैदिक साहित्य पर जो कुछ कार्य हुआ है, उसमें आर्यसमाज का स्थान अग्रगण्य है।

(१) ऋग्वेद

(१) **ऋग्वेद संहिता**–(१) सायण ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का परम्परागत ढंग से भाष्य किया है। सायण का भाष्य ही वेदार्थज्ञान के लिए पाश्चात्य विद्वानों का आधार रहा है। सायण ने ५ वैदिक संहिताओं, ११ ब्राह्मण ग्रन्थों तथा २ अरण्यकों पर पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा है। (२) **वेंकटमाधव**–ऋग्वेद पर वेंकटमाधव का भाष्य डॉ० लक्ष्मणस्वरूप ने संपादित कर ४ भागों में प्रकाशित किया था। (३) **स्वामी दयानन्द** ने नैरुक्त-प्रक्रिया से संस्कृत और हिन्दी में ऋग्वेद के ७ कांडों (सूक्त ८० तक) का भाष्य प्रकाशित किया। अकालमृत्यु से यह कार्य अधूरा रहा। पं० **आर्यमुनि** ने इस अवशिष्ट भाग को पूर्ण किया। (४) **विश्वबन्धु** ने ऋग्वेद ४ भाष्यों सहित ८ भागों में प्रकाशित किया है। (५) **सातवलेकर** ने ऋग्वेद-संहिता का भूमिका और परिशिष्टों के साथ सुन्दर संस्करण निकाला है।

भारतीय भाषाओं में निम्नलिखित विद्वानों ने सम्पूर्ण ऋग्वेद अर्थ-सहित प्रकाशित किया है–(१) **रमेशचन्द्र दत्त** ने बंगला में, (२) **सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव** ने मराठी में (३) **जयदेव विद्यालंकार** ने हिन्दी में, (४) **रामगोविन्द त्रिवेदी** ने हिन्दी में, (५) **कोल्हट और पटवर्धन** ने मराठी अनुवाद आठ भागों में प्रकाशित किया है। (६) **सातवलेकर** ने चार भागों में **'ऋग्वेद का सुबोध भाष्य'** छापा है। इन्होंने तीन भागों में **'दैवत-संहिता'**–देवों के अनुसार ऋग्वेद के मंत्रों का संकलन, भी छापा है।

(२) **ऋग्वेद-विषयक अन्य ग्रन्थ**–(१) **सायण** ने ऐतरेय ब्राह्मण एवं ऐतरेय आरण्यक का भाष्य किया है और ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका लिखी है। (२) **सत्यव्रत सामश्रमी** ने ऐतरेयब्राह्मण और ऐतरयारण्यक सायण-भाष्य-सहित सम्पादित किया। उन्होंने **'ऐतरेयालोचन'** ग्रन्थ भी लिखा है। (३) **मंगलदेव शास्त्री** ने

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य संपादित किया है और अंग्रेजी में भूमिका दी है। (४) **गोविन्द और अनृत** ने शांखायन- श्रौतसूत्र की टीका लिखी है। (५) **राजेन्द्रलाल मित्र** ने आश्वलायन-श्रौतसूत्र का सम्पादन किया है। (६) **अविनाशचन्द्र दास** ने 'ऋग्वेदिक इन्डिया' ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा है। (७) **महेशचन्द्र राय तत्त्वनिधि** ने 'ऋग्वेदेर समालोचना' बंगला में प्रकाशित की है। (८) **नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ** ने 'ऋग्वेदालोचन' में ऋग्वेदीय विषयों की सुन्दर आलोचना की है। (९) **कपालि शास्त्री** ने ऋग्वेद 'सिद्धांजन' भाष्य-सहित दो भागों में प्रकाशित किया है। (१०) **स्वामी दयानन्द** ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' संस्कृत और हिन्दी में प्रकाशित की है। इसमें ऋग्वेद के महत्त्व पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। (११) **स्वामी विश्वेश्वरानन्द** ने चारों वेदों की पदसूची लाहौर से प्रकाशित की थी। (१२) **लॉ** (N.N. Law) ने Age of the Rigveda लिखा है। (१३) **श्रीराम शर्मा** ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है।

(२) यजुर्वेद (शुक्ल एवं कृष्ण)

(१) **यजुर्वेद संहिता**–(१) महीधर और उव्वट ने शुक्ल यजुर्वेद का संस्कृत में भाष्य लिखा है। यह बहुत प्रसिद्ध भाष्य है। (२) सायण ने काण्व संहिता (२० अध्याय तक) तथा तैत्तिरीय संहिता का भाष्य लिखा है। (३) **दुर्गादास लाहिड़ी** ने शुक्ल यजुर्वेद (महीधर-भाष्य-सहित) और कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता (९ भाग) छापी है। (४) **सातवलेकर**–श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि और काण्व संहिताएँ तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक संहिताएँ बड़े परिश्रम से प्रकाशित की हैं। इनमें सुन्दर भूमिका और परिशिष्ट भी है। इन्होंने यजुर्वेद के ५ अध्यायों (अ० १, ३०, ३२, ३६, ४०) का 'सुबोधभाष्य' भी हिन्दी में प्रकाशित किया है। (५) **स्वामी दयानन्द** ने नैरुक्त-प्रक्रिया का आश्रय लेकर सम्पूर्ण शुक्ल यजुर्वेद का संस्कृत और हिन्दी में भाष्य किया है। यह उच्चकोटि का प्रामाणिक भाष्य है। (६) **जयदेव विद्यालंकार** ने शुक्ल यजुर्वेद का हिन्दी भाष्य किया है। (७) **श्रीराम शर्मा** ने भी शुक्ल यजुर्वेद का हिन्दी भाष्य किया है। (८) **श्रीधर पाठक** ने शुक्ल यजुर्वेद का मराठी में अनुवाद किया है। (९) **सत्यव्रत सामश्रमी** ने शुक्ल यजुर्वेद का बंगला में अनुवाद किया है। (१०) **ज्वालाप्रसाद मिश्र** ने शुक्ल यजुर्वेद का हिन्दी भाष्य किया है।

(२) **यजुर्वेदीय अन्य ग्रन्थ**–(१) **आचार्य सायण** ने तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं आरण्यक पर महत्त्वपूर्ण भाष्य किया है। (२) **भट्टभास्कर** ने भी तै०ब्रा० पर भाष्य लिखा है। (३) **सत्यव्रत सामश्रमी** ने सायण-भाष्य-सहित शतपथ ब्राह्मण प्रकाशित किया है। (४) **गंगाप्रसाद उपाध्याय** ने पूरे शतपथ-ब्राह्मण का हिन्दी भाष्य किया

है। इसे डॉ० सत्यप्रकाश (इलाहाबाद) ने प्रकाशित किया है। (५) **उव्वट** ने कात्यायन के शुक्लयजुः प्रातिशाख्य पर अपना भाष्य लिखा है। (६) **कर्क, जयराम, गदाधर, हरिहर** और **विश्वनाथ** ने पारस्कर गृह्यसूत्र पर भाष्य लिखा है।

(३) सामवेद

१. **सामवेद संहिता**–(१) **सायण**–ने सामवेद का पूरा भाष्य लिखा है। (२) **सातवलेकर**–ने सामवेद-संहिता का भूमिका आदि सहित शुद्ध संस्करण निकाला है। इन्होंने सामवेद-संहिता का अर्थ व स्पष्टीकरण-सहित संस्करण भी प्रकाशित किया है। (३) **दुर्गादास लाहिड़ी** ने सायण-भाष्य-सहित सामवेद प्रकाशित किया है। (४) सामवेद के ये अनुवाद प्राप्त होते हैं–(क) **सत्यव्रत सामश्रमी**–बंगला में अनुवाद, (ख) **तुलसीराम स्वामी**–हिन्दी भाष्य, स्वा० दयानन्द की पद्धति पर, (ग) **जयदेव विद्यालंकार**–हिन्दी-भाष्य, (घ) **श्रीराम शर्मा**–हिन्दी भाष्य, (ङ) **वीरेन्द्र शास्त्री**–हिन्दी अर्थ-सहित।

(२) **सामवेदीय अन्य ग्रन्थ**–(१) **सायण** ने सामवेदीय इन ब्राह्मणों का भाष्य किया है–ताण्ड्य (पंचविंश), षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद् ब्रा०, संहितोपनिषद् ब्रा०, वंश ब्राह्मण। (२) **सत्यव्रत सामश्रमी** ने इन ग्रन्थों का संपादन एवं बंगला में अनुवाद किया है–वंश ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण एवं गोभिल गृह्यसूत्र। (३) **पुष्पर्षिलक्ष्मण शास्त्री द्रविड** ने सामप्रातिशाख्य (पुष्पसूत्र), **आनन्दचन्द्र** ने अग्निस्वामी के भाष्य-सहित लाट्यायन श्रौतसूत्र (१८७०-७२ ई०) तथा **चन्द्रकान्त तर्कालंकार** ने गोभिल गृह्यसूत्र (१८७१-८० ई०) प्रकाशित किया।

(४) अथर्ववेद

(१) **अथर्ववेद संहिता**–(१) **दुर्गादास लाहिड़ी** ने सायण-भाष्य-सहित अथर्ववेद (शौनक-शाखा) ५ भागों में प्रकाशित किया। (२) **शंकर पांडुरंग पंडित** ने भी सायण-भाष्य-सहित संस्करण निकाला था। (३) **सातवलेकर** ने अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय) १९४३ ई० में प्रकाशित की। इन्होंने **'अथर्ववेद का सुबोध भाष्य'** ५ भागों में प्रकाशित किया है। इसमें मन्त्रार्थ के अतिरिक्त विशद हिन्दी-व्याख्या है। यह अथर्ववेद का सर्वोत्तम व्याख्या-ग्रन्थ है। यह श्री सातवलेकर के अगाध वेद-ज्ञान और अथक परिश्रम का परिचायक है। (४) **क्षेमकरण त्रिवेदी** ने संपूर्ण अथर्ववेद का संस्कृत- हिन्दी-भाष्य किया है। (५) **जयदेव विद्यालंकार** ने भी संपूर्ण अथर्ववेद का हिन्दी-भाष्य किया है। (६) **श्रीराम शर्मा** ने भी हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया

है। (७) **विश्वबन्धु** ने सायण-भाष्य-सहित अथर्ववेद ५ भागों में निकाला है। (८) **डॉ० रघुवीर** ने अथर्ववेद (पैप्पलाद-संहिता) प्रकाशित की है।

(२) **अथर्ववेदीय अन्य ग्रनथ**—निम्नलिखित विद्वानों ने अन्य अथर्ववेदीय ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं-(१) **विश्वबन्धु**—अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य और अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानु- क्रमणी, (२) **भगवद्दत**—अथर्ववेदीय पंचपटलिका और माण्डू की शिक्षा, (३) **क्षेमकरण त्रिवेदी**—गोपथ ब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद सहित), (४) **राजेन्द्रलाल मित्र**—गोपथ ब्राह्मण।

विविध

(१) **चारों वेद मूल**—वैदिक यंत्रालय, अजमेर ने छापे हैं। निम्नलिखित विद्वानों ने ये ग्रन्थ लिखे हैं-(२) **लक्ष्मणसरूप**—निरुक्त का संपादन तथा अंग्रेजी-अनुवाद, (३) **चन्द्रमणि विद्यालंकार**—निरुक्त का हिन्दी-भाष्य, (४) **सत्यव्रत सामश्रमी**—निरुक्त (४ भाग) निरुक्तालोचन, त्रयी-चतुष्टय, (५) **चिन्तामणि विनायक वैद्य**—हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेच (वैदिक पीरियड), (६) **भगवद्दत**—वैदिक वाङ्मय का इतिहास (३ भाग), वेदविद्या निदर्शन, (७) **मंगलदेव शास्त्री**—ऋक्प्रातिशाख्य (संपादित), भारतीय संस्कृति का विकास, (८) **सूर्यकान्त**—अथर्व-प्रातिशाख्य (संपादित), वैदिक-कोश, वैदिक-देवशास्त्र, वैदिक धर्म एवं दर्शन (वैदिक इन्डेक्स का अनुवाद), (९) **विश्वबन्धु**—वैदिक पदानुक्रमकोष (१६ भाग) संपादित), वेदसार, (१०) **लोकमान्य तिलक**—आर्कटिक होम इन द वेदाज, ओरायन (अंग्रेजी, हिन्दी), वैदिक क्रोनोलॉजी एण्ड बेदांग ज्योतिष, (११) **हंसराज**—वैदिक कोष (भाग १), (१२) **सम्पूर्णानन्द**—आर्यों का आदि देश, व्रात्यकांड, (१३) **रामगोविन्द त्रिवेदी**—वैदिकसाहित्य, गंगा (वेदांक, संपादित), (१४) **वासुदेवशरण अग्रवाल**—वेद-विद्या, वेद-रश्मि, उरु-ज्योति, पृथ्वी-पुत्र, Vision in Long Darkness, Thousand Syllabled Speech, Vedic Lectures, (१५) **बलदेव उपाध्याय**—वैदिक साहित्य और संस्कृति, सायण और माधव, वेदभाष्य-भूमिका-संग्रह (संपादित), (१६) **सातवलेकर**—वैदिक व्याख्यानमाला (४८ व्याख्यान-ग्रन्थ, ४ भागों में, हिन्दी, मराठी और गुजराती में), वेदामृत, अथर्ववेद सुबोध- भाष्य (५ भाग, हिन्दी, मराठी, गुजराती में), उपनिषद्-भाष्य- ग्रन्थमाला, (९ उपनिषदों का हिन्दी-भाष्य), (१७) **मजूमदार**—Vedic Age, (१८) **स्वामी हरिप्रसाद (वैदिक मुनि)** स्वाध्याय-संहिता, (१९) **शिवशंकर काव्यतीर्थ**—वेदार्थ-निर्णय, वैदिक-विज्ञान, (२०) **पं० भीमसेन शर्मा**—संस्कार-चन्द्रिका, (२१) **स्वामी दर्शनानन्द**—उपनिषद्-भाष्य तथा वैदिक विषयों पर छोटे ग्रन्थ, (२२)

गुरुदत्त विद्यार्थी–The Terminology of the VeoaQs, (२३) **प्रियरत्न आर्ष**–यम-पितृ-परिचय, वैदिक मनोविज्ञान, अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र, (२४) **अरविन्द घोष**–On the VeoaQ, (२५) **पी०एल० भार्गव**– India in the Vedic Age, (२६) **रामगोपाल**–India of Vedic Kalpasutras, वैदिक व्याकरण, (२७) **कपिलदेव द्विवेदी**–अथर्ववेदकालीन- संस्कृति, (२८) **मुंशीराम शर्मा**–वैदिक साहित्य और संस्कृति, (२९) **वाचस्पति गैरोला**–वैदिक साहित्य और संस्कृति, (३०) **रामकुमार राय**–वैदिक माइथोलोजी, वैदिक इन्डेक्स और ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स के हिन्दी अनुवाद। (३१) **हरिशंकर जोशी**–वैदिक विश्व-दर्शन, (३२) **भारती कृष्णतीर्थ (जगद्गुरु)**–Vedic Mathematics, (३३) **गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी**–वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, (३४) **दांडेकर**–Vedic Bibliography, (३५) **सत्यप्रकाश**–वेदों पर अश्लीलता का व्यर्थ आक्षेप, (३६) **जयदेव शर्मा**–क्या वेद में इतिहास है? (३७) **रघुनन्दन शर्मा**–वैदिक-सम्पत्ति, (३८) **करमबलेकर**–अथर्ववेद एण्ड द आयुर्वेद, (३९) **भार्गव**–Rigvedic Geography of India, (४०) **लॉ** (N.N. Law)–Age of the Rigved.

वेद और पाश्चात्य विद्वान्

पाश्चात्य विद्वानों ने जिस योग्यता और तत्परता से वैदिक वाङ्मय की आराधना की है, उसकी प्रशंसा कि बिना नहीं रहा जा सकता है। कई विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय की आराधना और सेवा में अपना समस्त जीवन ही बिता दिया है। उन्होंने वेद के किसी एक अंश पर ही नहीं, अपितु वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, वैदिक सूचियाँ (Index) आदि सभी अंगों पर घोर परिश्रम किया है। यहाँ पर उसकी रूपरेखा-मात्र प्रस्तुत की जा रही है।

(१) ऋग्वेद

(१) **ऋग्वेद संहिता**–(१) सर्वप्रथम **फ्रीड्रिक रोज़न (Friedrich Rosen)** ने ऋग्वेद का सम्पादन प्रारम्भ किया और केवल प्रथम अष्टक मूल पाठ और लैटिन अनुवाद के साथ १८३८ ई० में प्रकाशित किया। उसके आकस्मिक देहावसान से यह कार्य रुक गया। (२) **मैक्समूलर (Max Muller)** ने सर्वप्रथम सायण-भाष्य-सहित ऋग्वेद का संपादन किया। इसका प्रारम्भ १८४९ ई० में हुआ और १८७५ ई० में पूर्ण हुआ। २७ वर्ष के घोर परिश्रम से यह कार्य पूर्ण हुआ। यह ३ सहस्र से अधिक पृष्ठों का ग्रन्थ है। इसमें कई सौ पृष्ठों की भूमिका और टिप्पणी है। इसका संशोधित द्वितीय संस्करण १८९०-१८९२ में प्रकाशित हुआ। यह मैक्समूलर के गंभीर अध्यवसाय का परिचायक है। (३) **थिओडोर आउफ्रेख्त (Theodor Aufrecht)** ने रोमन लिपि

में ऋग्वेद-संहिता सम्पूर्ण १८६१-६३ ई० में प्रकाशित की। इसका द्वितीय संस्करण १८७७ ई० में प्रकाशित हुआ। पाश्चात्य विद्वानों में यह संस्करण बहुत प्रचलित है।

(२) **ऋग्वेद के अनुवाद**–(१) **विल्सन (H.H. Wilson)** ने सर्वप्रथम ऋग्वेद का पूरा अंग्रेजी में अनुवाद १८५० ई० में प्रकाशित किया। यह सायणभाष्य पर आश्रित है। विल्सन सायण के प्रबल समर्थकों में थे। (२) **ग्रासमान (H. Grassmann)** ने दो भागों में सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद्र किया है। यह १८७६-७७ में प्रकाशित हुआ। ग्रासमान रॉथ के शिष्य थे और रॉठ की स्वतन्त्र तुलनात्मक पद्धति को इन्होंने अपनाया है। ये सायण-विरोधी वर्ग के व्यक्ति हैं। (३) **लुडविग (A. LuowQig)** ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन करते हुए सम्पूर्ण ऋग्वेद का ६ भागों में जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। जो १८७६-१८८८ ई० में प्रकाशित हुआ। (४) **ग्रिफिथ (R.T.H. Griffith)** ने सायण-भाष्य का समुचित उपयोग करते हुए सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया है। साथ ही आवश्यक टिप्पणियाँ भी दी हैं। यह १८८९-१८९२ में वाराणसी से प्रकाशित हुआ। चारों वेदों का अंग्रेजी में पद्यानुवाद का श्रेय श्रीग्रिफिथ महोदय को ही है। (५) **प्रो० ओल्डेनबर्ग (H. Oldenberg)** ने दो भागों में सम्पूर्ण ऋग्वेद का महाभाष्य जर्मन भाषा में (१९०९ से १९१२ ई० में) प्रकाशित किया। इसमें वैदिक समालोचना की पराकाष्ठा है। यह ऋग्वेद पर सर्वोत्कृष्ट भाष्य माना जाता है। ओल्डेनबर्ग का वैदिक समालोचना में वही स्थान है, जो वेदान्त में शंकराचार्य का। (६) **लांग्ल्वा (Langlois)** ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का चार भागों में फ्रेंच भाषा में अनुवाद (१८४८-१८५१ ई० में) प्रकाशित किया। यह कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद के विशिष्ट अंशों का आलोचनात्मक अध्ययन एवं अनुवाद किया है। इनमें विशेष उल्लेखनीय ये है–(१) **रुडाल्फ रॉथ (Rudolph Roth)**, (२) **गेल्डनर (Karl Geldner)** और **केगी (Adolf Kaegi)** ७० सूक्तों का अनुवाद, (३) **रोअर (Roer)**, (४) **हिलेब्राण्ट (A. Hillebrandt)**।

(३) **ऋग्वेदीय संकलन**–कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के प्रसिद्ध सूक्तों के अनुवाद एवं व्याख्या-सहित छात्रोपयोगी संकलन निकाले हैं, जिनमें विशेष उल्लेखनीय ये हैं–(१) **मैक्समूलर–Vedic Hymns**, (२) **ओल्डेनबर्ग–Vedic Hymns**, (३) **मैकडॉनल (Macdonell)**–A Vedic Reader for Students, Hymns from the R2gveoaQ, (४) **थॉमस (E.G. Thomas)**²Vedic Hymns, (५) **पीटर्सन (Peter Peterson)**²Hymns from the ÿgved.

(४) **ऋग्वेदीय ब्राह्मण**–(१) **प्रो० हाउग (M. Haug)** ने ऐतरेय ब्राह्मण का सम्पादन तथा अंग्रेजी-अनुवाद १८९३ में दो भागों में प्रकाशित किया। (२) **आउफ्रेख्त (T. Aufrecht)** ने ऐतरेय-ब्राह्मण का सर्वश्रेष्ठ संस्करण रोमन अक्षरों में

सायण-भाष्य के कुछ अंशों तथा अनेक सूचियों के साथ १८७९ में प्रकाशित किया। (३) **प्रो० लिन्डनर (B. Lindner)** ने कौषीतकि-ब्राह्मण १८८७ में संपादन कर प्रकाशित किया। (४) **डॉ० कीथ (Keith)** ने ऐतरेय और कौषीतकि दोनों ब्राह्मणों का अंग्रेजी अनुवाद १९२० में प्रकाशित किया। इसमें १०० से अधिक पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी है। कीथ ने ही शांखायन आरण्यक का अंग्रेजी अनुवाद किया है।

(५) **ऋग्वेदीय सूत्रग्रन्थ**-(१) **स्टेन्त्लर (A.F. Stenjler)** ने आश्वलायन गृह्यसूत्र दो भागों में प्रकाशित किया है। (२) **हिलेब्राण्ट** ने शांखायन श्रौतसूत्र का सम्पादन किया है।

यजुर्वेद

(क) शुक्ल यजुर्वेद

(१) **यजुर्वेदीय संहिता**-(१) **वेबर (Albrecht Weber)** ने शुक्ल यजुर्वेद संहिता का महीधर-भाष्य-सहित देवनागरी अक्षरों में सुन्दर संस्करण १८४९-१८५२ ई० में प्रकाशित किया था। श्री वेबर ने ही शुक्ल यजुर्वेद की सं०सा०स०इ०-२ काण्व शाखा का भी संस्करण १८५२ में प्रकाशित किया। (२) **ग्रिफिथ**-ने शुक्ल यजुर्वेद का १८९९ में बनारस से अंग्रेजी में पद्यानुवाद प्रकाशित किया।

(२) **यजुर्वेदीय ब्राह्मण**-(१) **वेबर** ने शतपथ ब्राह्मण का १८५५ में सर्वप्रथम आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किया। इसमें सायण, हरिस्वामी और द्विवेदगंग की टीकाएँ भी हैं। (२) **कैलेड (W. Caland)** ने शतपथ ब्राह्मण (कण्वशाखीय) अंग्रेजी प्रस्तावना के साथ १९२६ ई० प्रकाशित किया। (३) **ईल्गिं (J. Eggeling)** ने शतपथ ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद बृहद् भूमिका के साथ 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईष्ट सीरीज' में ५ भागों में प्रकाशित किया था।

(३) **यजुर्वेदीय सूत्रग्रन्थ**-(१) **वेबर** ने कात्यायन-श्रौतसूत्र १८५९ में प्रकाशित किया। (२) **स्टेन्त्सलर** ने पारस्कर गृह्यसूत्र का संपादन किया।

(ख) कृष्ण यजुर्वेद

१. **कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताएँ**-(१) **वेबर** ने कृष्ण यजुर्वेदीय **तैत्तिरीय संहिता** को रोमन अक्षरों में सम्पादित कर अनेक टिप्पणियों सहित १८७१-१८७२ में 'इन्डिशे स्टुडिएन' रिसर्च जर्नल में प्रकाशित किया। वेबर ने ही **मैत्रायणी-संहिता** का भी संस्करण १८४७ ई० में निकाला। (२) **श्रेडर (L.V. Schroeder)** ने कृष्ण यजुर्वेदीय **मैत्रायणी-संहिता** ४ भागों में १८८१-८६ ई० में प्रकाशित की। श्रेडर ने

ही **काठक-संहिता** भी ४ भागों में १९१० ई० में प्रकाशित की। (३) **डॉ० कीथ (Keith)** ने **तैत्तिरीय संहिता** का अंग्रेजी अनुवाद अमेरिका की 'हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज' में (१८, १९ जिन्द, १९१४ में) प्रकाशित हुआ। इसमें २०० पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी है।

२. **कृष्ण यजुर्वेदीय सूत्रग्रन्थ**–(१) कैलेन्ड **(W. Caland)** ने **बौधायन श्रौतसूत्र** का संस्करण (१९०४-१९२०) प्रकाशित किया है। इन्होंने ही **बौधायन धर्मसूत्र,** बौधायन गृह्यसूत्र, काठक गृह्यसूत्र, बाधूल सूत्र और वैखानस गृह्यसूत्र का भी संस्करण निकाला है। (२) **विन्टरनित्स (M. Winternitz)** ने **आपस्तम्बगृह्यसूत्र** का संस्करण निकाला है। (३) **गार्बे (R. Garbe)** ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का संस्करण दो भागों में (१८८१-१९०३ ई० में) प्रकाशित किया है। (४) **क्नाउएर (F. Knauer)** ने मानव-श्रौतसूत्र प्रकाशित किया है।

सामवेद

१. **सामवेद संहिता**–(१) **स्टेवेन्सन (J.Stevenson)** ने सामवेद की राणायनीय शाखा का संस्करण, अंग्रेजी अनुवाद के साथ, तैयार किया था। उसे विल्सन ने १८४३ ई० में छपवाया। (२) **बेन्फे (Benfey)** ने कौथुम शाखा के सामवेद का संस्करण, जर्मन अनुवाद के साथ, १८४८ ई० में प्रकाशित किया (३० **कैलेन्ड (W. Caland)** ने जैमिनीय शाखा की सामवेद संहिता का संस्करण रोमन अक्षरों में १९०७ ई० में छपवाया था। यह अतिशुद्ध संस्करण है। इसमें विस्तृत भूमिका भी है। (४) **ग्रिफिथ** का सामवेद का अंग्रेजी पद्यानुवाद १८९९ में बनारस से प्रकाशित हुआ था।

२. **सामवेदीय ब्राह्मण**–(१) **वेबर** ने अद्भुत ब्राह्मण का संस्करण, जर्मन अनुवाद सहित, १८५८ में प्रकाशित किया था। वेबर ने वंशब्राह्मण का भी संपादन किया। (२) **बर्नेल–(A.C. Burnell)** ने कई सामवेदीय ब्राह्मणों का संपादन किया। मुख्य ये हैं–सामविधान-ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, वंशब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण। ये १८७३ से १८७७ तक छपे हैं। (३) **एर्टल (H. Oertel)** ने जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद और सम्पादन किया। (४) **कैलेन्ड** ने जैमिनीय ब्राह्मण का जर्मन अनुवाद किया है तथा आर्षेय ब्राह्मण और जैमिनीय गृह्यसूत्र का संपादन किया है। (५) **प्रो० स्टेन कोनो (Sten Konow)** ने सामविधान ब्राह्मण का अनुवाद १८९३ में प्रकाशित किया। (६) **गास्ट्रा (D. Gaastra)** ने जैमिनीय गृह्य सूत्र का डच भाषा में अनुवाद (१९०९ ई०) किया है। इन्होंने ही जैमिनीय श्रौतसूत्र का भी संपादन किया था।

अथर्ववेद

(१) **अथर्ववेद-संहिता**–(१) **रॉथ और ह्विटनी (Rudolph Roth, W. D. Whitney)** ने अथर्ववेद संहिता (शौनकीय शाखा) का सर्वप्रथम संपादन किया और १८५६ ई० में उसे प्रकाशित किया। (२) **ब्लूमफील्ड और गार्बे (M. Bloomfield, R. Garbe)** ने अथर्ववेद (पैप्पलाद-शाखा) की एक अति जीर्ण, काश्मीर से शारदा लिपि में प्राप्त, प्रति से फोटो-प्रति तीन बड़ी जिल्दों में १९०१ में छपवाई। (३) **कैलेन्ड**–ने अथर्व-संहिता का एक आलोचनात्मक संस्करण उट्रिच (हालैंड) से प्रकाशित किया है। (४) **ग्रिफिथ** –ने अथर्ववेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद वाराणसी से १८९५-१८९८ में छपवाया है। (५) **ह्विटनी और लैनमैन (W.H. Whitney, C.R. Lanman)** ने अथर्ववेद का अंग्रेजी में अनुवाद, १५० पृष्ठ की भूमिका तथा विविध टिप्पणियों से युक्त, १९०५ ई० में २ भागों में प्रकाशित किया। यह १ हजार से अधिक पृष्ठ का ग्रन्थ है। (६) **ब्लूमफील्ड** ने पैप्पलाद-संहिता का अंग्रेजी में अनुवाद १९०१ में प्रकाशित किया।

(२) **अथर्ववेदीय ब्राह्मण आदि**–(१) **गास्ट्रा (D. Gaastra)** ने गोपथब्राह्मण का एक सुन्दर संस्करण १९१९ ई० में प्रकाशित किया। (२) **ब्लूमफील्ड** ने अथर्ववेदीय कौशिक-सूत्र १८९० ई० में प्रकाशित किया।

पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के वैदिक सिद्धान्तों का अनुशीलन

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का अनुवाद सायण-भाष्य का अनुकरण ही है। इन विद्वानों ने अनुवाद करते समय स्थल-स्थल पर टिप्पणी के रूप में अपने मत व्यक्त किए हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अधिकांशतः विद्वानों ने अनुवाद या भाष्य के पूर्व वैदिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इन विद्वानों के अनुवाद उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितना कि इनके द्वारा लिखित वैदिक साहित्य का इतिहास, वैदिक देवताओं के नामों की सूची, व्याकरण, आदि पुस्तकें महत्त्वपूर्ण हैं। इन पुस्तकों में इन्हें अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण अवसर मिला है। इन पुस्तकों के अध्ययन से विदित होता है कि इन विद्वानों के वेद-सम्बन्धी सिद्धान्त एवं मान्यताएँ भारतीय परम्परा के विरुद्ध थीं। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदार्थ के लिए ऐसी रीतियाँ अपनाई थीं, जो भारतीय जनता के प्रतिकूल होने के कारण अत्यन्त ही आश्चर्यमय थीं।

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदार्थों का तुलनात्मक अध्ययन न करके वेदार्थों की रीति एवं वैदिक सिद्धान्तों का समीकरण उपस्थित किया है। इससे स्पष्ट है कि उन पाश्चात्य विद्वानों ने सायण के सिद्धान्तों एवं भारतीय वेदार्थ-परम्परा को किस मात्रा तक अंगीकार किया है, तथा इसके अतिरिक्त किन-किन प्रणालियों का अन्वेषण किया

है। महर्षि दयानन्द का भाष्य इन पाश्चात्य विद्वानों के बाद का है। महर्षि दयानन्द पर पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों एवं प्रणालियों की क्या प्रतिक्रिया एवं प्रभाव हुआ, यह उनके सिद्धान्तों के अनुशीलन से स्पष्ट होगा।

वेदों के भाष्य, शब्दकोष, भाषा, टीका-टिप्पणी आदि की स्तरीयता निर्धारित करने में पाश्चात्य विद्वानों का महत्त्वपूर्ण प्रशंसनीय योगदान रहा है। सन् १७५७ ई० के लगभग भारत में अंग्रेज़ों द्वारा अंग्रेजी राज्य की स्थापना होती है, लगभग इसी समय अंग्रेजों द्वारा वैदिक एवं संस्कृत-साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ होता है। ब्रिटिश शासकों की, भारत के शासन की बागडोर अपने हाथों में ले लेने की उत्सुकता ने उन्हें प्रारम्भ में भारतीय धर्म और नीति के अनुसार राज्य करने को विवश किया इसीलिए पदाधिकारियों ने पाश्चात्य विद्वानों को वैदिक साहित्य एवं अन्य संस्कृत-साहित्यों के अध्ययन के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार, विदेशी विद्वानों को, सर्वप्रथम वैदिक साहित्य पढ़ने की आवश्यकता शासन-सम्बन्धी व्यावहारिक कठिनाई दूर करने के लिए हुई। तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स यह अनुभव करते थे कि भारतीय विधि, रीति-रिवाज और धर्म के अनुसार भारत पर शासन करने में अधिक लाभ है, अतः इसी के अनुसार भारत का संविधान बनाया जाए। अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश पदाधिकारियों की अभिलाषा भारतीय धर्म-नीति और रीति-रिवाज की ओट में ईसाई धर्म, रीति-रिवाज और सभ्यता कायम करने की थी। यह बात लार्ड मैकाले के इस विचार से भी स्पष्ट होती है–"अंग्रेजी शिक्षा भारत में एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न करेगी, जो रंग-रूप में भारतीय होगा, किन्तु दिमाग, कर्म और नैतिकता में अंग्रेज होगा।" (English education would train up a class of persons Indian in blood and colour, but English in taste, in opinions in morals and intelligence.) धर्मदेव वाचस्पतिः वादों का यथार्थस्वरूप, पृ० ३७.

प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय प्राचीन साहित्य के अध्ययन का कारण राजनीतिक था, किन्तु बाद में वे वेद एवं संस्कृत-साहित्य के उत्कृष्ट ज्ञान के कारण आकृष्ट हुए थे। भारतीय प्राचीन वाङ्मय की उत्कृष्टता से आकृष्ट होने पर भी वे वेदों का निराग्रह और निष्पक्ष अध्ययन नहीं कर सके। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए अकथनीय परिश्रम, अपार धन और समय लगाने का उद्देश्य भी वैदिक धर्म के माध्यम से भारत में ईसाई मत का प्रचार करना ही था। मैक्समूलर के पत्रों एवं लेखों से विदित होता है कि, यद्यपि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन भारतीय ग्रन्थों की सेवा में अर्पित कर दिया था, फिर भी वे वैदिक धर्म और साहित्य के प्रति सच्चा अनुराग और निष्कपट न्याय न दिखा सके। मैक्समूलर ने अपनी पत्नी के पास पत्र लिखा था–"निश्चय ही मैं वेदों के सम्पादनादि

का कार्य पूर्ण कर दूंगा, तथा यह भी निश्चित है कि इस कार्य को देखने के लिए मैं जीवित नहीं रहूंगा, तो भी मेरा यह ऋग्वेद का संस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के लाखों लोगों के भाग्य और आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालने वाला होगा। यह वेद भारतीयों के धर्मग्रन्थ का मूल है और मूल को दिखा देना उन्होंने पिछले तीन हजार वर्षों में जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, उसको मूल-सहित उखाड़ देने का सबसे उत्तम तरीका है।" श्री पुंसे ने एक पत्र मैक्समूलर को लिखा है-"आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के यत्न में नवयुग लाने वाला होगा कि उसने आपको आश्रय देकर भारत को ईसाई बनाने के प्रथम और अत्यावश्यक कार्य को सुगम बना दिया। आपका यह कार्य हमें समर्थ बनायेगा कि हम पुराने झूठे धर्म की सच्चे धर्म के साथ तुलना का अनंद ले सकें।" उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि पाश्चात्य विद्वानों को अपने धर्मग्रन्थ के प्रति कितनी श्रद्धा एवं पक्षपात था।

"१८वीं शतीं के मध्य में एक फ्रेंच मिशनरी ने लैटिन भाषा में अयथार्थ (नकली) "यजुर्वेद" फ्रांस के विद्वान् मि० वाल्टेयर को दिया। उस समय उन्होंने उससे आकृष्ट होकर भारतवर्ष की विद्वत्ता की पर्याप्त प्रशंसा की, यद्यपि वाल्टे यर को यह ज्ञात न था कि यह असली यजुर्वेद का अनुवाद नहीं है, यदि असली दिया जाता तो संभवत: वह भारत का और भी अधिक प्रशंसक होता।" प्राय: इसी कार्य से विदेश में वेदाध्ययन का कार्य प्रारम्भ होता है। इसके बाद प्रो० एफ० रोजन ने ऋग्वेद पर कार्य करना चाहा था, परन्तु १८३७ ई० में उनकी मृत्यु के कारण यह कार्य सम्पूर्ण न हो सका, अत: १८३५ ई० में केवल ऋग्वेद का प्रथम अष्टक ही प्रकाशित हो सका। इसमें लेटिन अनुवाद भी था। इस कार्य को भी यूरोप में वेदाध्ययन का सूत्रपात कहा जा सकता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी के अनेक विद्वानों ने अदम्य उत्साह और परिश्रम से अनुवाद, टीका-टिप्पणी आदि के कार्य किए। इनमें डॉ० रुडाल्फ रॉथ, डॉ० वेबर तथा डॉ० मैक्समूलर का नाम अग्रगण्य है। इन विद्वानों में डॉ० रॉथ का परिश्रम और साहस स्तुत्य है, क्योंकि सभी पाश्चात्य विद्वानों ने सायण-भाष्य का पूर्णतया अनुकरण करके वेदों का अनुवाद किया, किन्तु सर्वप्रथम रॉथ ही ऐसे मौलिक मनीषी चिन्तक थे जिन्होंने सायण के भाष्य का आधार न लेकर वेदों का अर्थ वेदों से ही करने का दृढ़ निश्चय किया। रॉथ के विचार में मध्यकालिक सायण प्राचीन वेदों के अर्थ करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं, अतः उनका अनुकरण करना उचित नहीं। वेद का अर्थ यज्ञपरक नहीं हो सकता, इस विचार से प्रेरित होकर, इन्होंने वेदार्थ करने के लिए ऐतिहासिक शैली को अपनाया। इसी दृष्टि से "सेंट पीटर्सवर्ग" संस्कृत जर्मन कोष नामक विशाल और महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द कोष तैयार किया। रॉथ ने इस ग्रन्थ में वैदिक शब्दों का विवेचन ऐतिहासिक क्रम से किया है, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अर्थ करने वाले पाश्चात्य विद्वानों के लिय यह अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। जर्मन विद्वान् वेबर का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपने समय तक के समस्त संस्कृत वाङ्मय के इतिहास को क्रमबद्ध रूप से लिखा है। इनका "इन्दियना स्टूदियन" भी पौर्वात्य जगत् के वेद दर्शन, व्याकरण, शब्दकोष आदि उत्कृष्ट ग्रन्थों का ज्ञान-कोष है। यद्यपि इन सब के परिणाम जिस पर वे पहुँचे हैं, सर्वमान्य नहीं हैं, किन्तु परिश्रम और कार्य प्रशंसनीय हैं।

जर्मन के अनुवाद-कर्त्ताओं में ऋग्वेद के दो अनुवाद कर्त्ता लुडविग और ग्रासमैन भी हैं। लुडविग ने यह अनुवाद गद्य में किया था और ग्रासमैन ने पद्य में। इन दोनों विद्वानों ने अपने कल्पनापूर्ण भाष्य में कई वर्ष व्यतीत किये तथा अपने समयपर्यन्त विद्यमान वेदों से अर्थ में परिवर्तन और परिशोधन लाने को दृढ़ प्रतिज्ञ हुए, जो न केवल अनावश्यक, अपितु पूर्णतया गलत भी है। इन विद्वानों का यह विचार था कि भारतीय भाष्कार नियमानुसार त्रुटिपूर्ण होने के लिए विवश हैं। इस विचार ने इन विद्वानों को ऐतिहासिक और आलोचनापूर्ण शैली के अन्वेषण के लिए अधीर किया। इस शैली के द्वारा इन विद्वानों ने बहुत बड़ी-बड़ी भूलें की हैं, इस कारण हम इसे पूर्णतया अनुसरण नहीं कर सकते। गेल्डनर ने भी अपने जीवन का अधिकांश वेदाध्ययन में ही लगाया था। इन्होंने सन् १९२३ ई० में ऋग्वेद के प्रथम भाग का अनुवाद प्रकाशित किया। यह कार्य उनके परिपक्व अध्ययन का परिणाम है। इस पुस्तक में स्थल-स्थल पर विस्तृत टीका-टिप्पणी है। ऋग्वेद का दूसरा भाग भी छपने वाला था, किन्तु छप नहीं सका था। कैगी ने ७० सूक्तों का अनुवाद प्रकाशित किया है। इन्होंने ऋग्वेद के विषयों पर कुछ लेख संक्षिप्त सागरर्भित और सुन्दर भाषा में लिखे हैं। डॉ० ग्रिफिथ ने भी वैदिक साहित्य के अध्ययन में अपना जीवन व्यतीत किया जो काशी के गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के अध्यक्ष थे। इन्होंने सन् १८८९-९२ ई० के बीच वैदिक संहिताओं का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करवाया। अमेरिकन विद्वान् डॉ० ह्विटनी ने अथर्ववेद की प्रस्तावना और टिप्पणी से युक्त एक उत्तम अनुवाद हारवर्ड सीरिज (नं० ७ और ८) नाम से दो बड़े खण्डों में प्रकाशित किया। यह अनुवाद संक्षिप्त है, किन्तु विद्वत्तापूर्ण और उत्कृष्ट है। ह्विटनी ने "संस्कृतग्रामर" भी लिखा है। इस ग्रन्थ में ह्विटनी ने भाषा और ग्रामर का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयास किया है। डॉ० कीथ ने कृष्णयजुर्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। मैकडोनल और कीथ ने मिलकर "Vedic Index" लिखा है। इस ग्रन्थ में वैदिक रिपीटीशन (ÿgveda repetition) लिखा है तथा इन्होंने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "Concordance to the ÿgveda" छपवाया है। उनकी यह पुस्तक उनकी अपरिमित विद्वत्ता अदम्य उत्साह और परिश्रम का द्योतक है। डॉ० ओल्डेन ने एक पुस्तक वेद सम्बन्धी "Die Religion der VeoaQ" लिखा है। इसमें इन्होंने सूक्तों के अर्थ में स्थल-स्थल

पर अपना विचार व्यक्त किया है। प्रत्येक मंत्र में नवीन शैली से व्याकरण कोष, छन्द आदि का उत्तम संग्रह तैयार किया है। जेम्यूर ने 'Original Sanskrit Texts' ५ भागों में प्रकाशित किया है। पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर का कार्य स्तुत्य है। इन्होंने सायण के सम्पूर्ण ऋग्वेद के भाष्य का सम्पादन किया है। मैक्समूलर ने उक्त कार्य के अतिरिक्त 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' वैदिक धर्म एवं भाषा-सम्बन्धी कई पुस्तकें भी लिखी हैं। इस प्रकार, इन पाश्चात्य विद्वानों ने न केवल चारों वेदों के अनुवाद का काम किया है, अपितु वेद एवं संस्कृत साहित्य का कोष' व्याकरण एवं इतिहास के अतिरिक्त स्वर, छन्द आदि विषयों पर ग्रन्थ भी लिखे हैं। उक्त विद्वानों में कुछेक ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही वैदिक साहित्य के अध्ययन में लगा दिया था। वेद का अध्ययन करने वाले आधुनिक विद्वानों प्रो० ओल्डेनवर्ग, हिलीब्रांड, कीथ पालङ्यूसन, वीचर ग्रिसवोल्ड, ह्विटनी, विण्टरनित्ज, जैकोवी, रीनन, आफेक्ट, थ्यूडोर, हौग, श्रूडर, वेनफे गास्ट्रा, वर्नेल कैलेंड, स्टेंन्सलर एगलिंग, कोनो वाकरनागेल, आर्नोल्ड आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

यहाँ पाश्चात्य विद्वानों एवं उनके ग्रन्थों के अध्ययन से अवगत होता है कि कुछ अनुवाद सायण के आधार पर किए गए थे, किन्तु कुछ विद्वान् सायण- भाष्य के पूर्ण विरोधी थे। इन्होंने वैदिक साहित्य के इतिहास भाषा, स्वर, छन्द, देवता आदि पर भी कार्य किया है, अतः विचारणीय यह है कि इन्होंने वेद के अनुवाद एवं अन्य ग्रन्थों के लिखने के लिए किन-किन प्रणालियों का अन्वेषण किया है। इन्होंने वेदार्थ के लिए जिन प्रणालियों का अन्वेषण किया था, उसके विवेचन से पूर्व उनके द्वारा किए गए वेदों के अर्थों की विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

कुछ विद्वानों का मन्त्रार्थ सायण-भाष्य का अनुवाद मात्र है। किन्तु अनुवाद के मध्य में जो टीका-टिप्पणी में विचार व्यक्त किए हुए मिलते हैं, वे सब इन लोगों की भाष्य-प्रणाली के द्योतक हैं। डॉ० रॉथ एवं गेल्डनेर आदि कुछ विद्वान् सायण-भाष्य के पूर्ण विरोधी थे। इन विद्वानों का विचार था कि सायण वेद के तत्व को समझ न सके थे, क्योंकि वैदिक अध्ययन की परम्परा सायण के पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी, अतः भारतीय परम्परा के अनुसार याज्ञिक अर्थ ठीक नहीं, इसलिए वेदार्थ ऐतिहासिक क्रम से पुनः किया जाना चाहिए।

आर्यों ने वेदों के पर्याप्त सूक्तों की रचना अपने आदि निवास मध्य एशिया में कर ली थी, और कुछ सूक्तों की रचना सप्तसिन्धु एवं भारत के अन्य स्थानों पर पहुँचने के बाद की। इसी हेतु वेदों के कुछ सूक्त हिन्दू होने की अपेक्षा, इण्डो-यूरोपियन अधिक हैं तथा आर्यों के भारत में बसने के पूर्व की स्थिति का

प्रतिनिधित्व करते हैं। वेदों के रचने में सैकड़ों वर्षों का समय लगा है, अतः विश्व के प्रारम्भिक इतिहास को समझने के लिए वेद का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

मनुष्य का ज्ञान क्रमशः विकसित होता है। जिस समय वेदों की रचना हुई थी, उस समय आर्य अर्द्ध विकसित अवस्था में थे। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी आदि प्राकृतिक वस्तुएँ आश्चर्यजनक थीं। वे इनके रहस्यों से पूर्ण परिचित न होने के कारण, इनसे कभी भयभीत होते थे, तो कभी अपनी रक्षा के लिए इनका आह्वान करते थे। वे सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक तत्त्वों को सम्बोधित करके कविता रूप में अपने मन के उद्‌गार को अभिव्यक्त करते थे। इसी का परिणाम वेद है। अतः वेद में प्राकृतिक पूजा एवं बहुदेवता का वर्णन है। वेदों की भाषा "इण्डो-यूरोपियन भाषा" के परिवार की है। वैदिक भाषा सभी भाषाओं की जननी है, अपितु जेन्द आदि भाषाओं की बहिन है। भारतीय आर्य भारत में आने के पूर्व "आदि भाषा" बोलते थे। इसी भाषा में वेद लिखे गए हैं। भाषा का विकास क्रमशः होता है। वेद जिस समय रचे गए थे, उस समय भाषाएँ पूर्ण विकसित नहीं हुई थीं, अतः इसकी भाषा अर्द्धविकसित है।

"इण्डो-यूरोपियन परिवार" के सभी रीति-रिवाज, गाथा आदि का विकास एक समान हुआ है, अतः वेदों के वास्तविक रहस्य तक पहुँचने के लिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त भारतोत्तर देशों के रीति-रिवाज, गाथा धर्म आदि की पारस्परिक तुलना वैदिक धर्म के मूल तक पहुँचा सकती है। वेदार्थ की दृष्टि से "इण्डो-ईरानियन" भाषा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। "आदि निवास" से अलग होने, अर्थात् भारतीय आर्य के भारत में पहुँचने, और ईरानी आर्य के ईरान में पहुँचने के पूर्व दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। भारतीय आर्यों ने भारत में प्रविष्ट होने पर वेद की रचना की, तो ईरानी आर्यों ने ईरान में प्रविष्ट होने के बाद "अवेस्ता" की रचना की। "इण्डो-यूरोपियन भाषा" के परिवार में, वेद और अवेस्ता की भाषा में विशेष साम्य है, अतः वेदार्थ के लिए अवेस्ता की भाषा की जानकारी आवश्यक है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं। यह विशेष समय के समाज के कई मनुष्यों की देन है। वेदार्थ के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ, निरुक्त एवं वेदांग उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि ये सब किसी-न-किसी विशेष मत से प्रभावित हैं। वेदार्थ की भारतीय प्रणाली पूर्णतः गलत एवं भ्रांतिपूर्ण है, क्योंकि इस प्रणाली में भारतीय स्थितियों एवं विचारों को विशेष महत्त्व दिया जाता है, जबकि वेद में इसका कोई महत्त्व नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में वेदार्थ के लिए देवता, छन्द, ऋषि, स्वर, प्रकरण आदि का विशेष महत्त्व नहीं है, इसलिए पाश्चात्य विद्वानों ने मंत्र के अर्थ में उक्त विषयों पर विशेष प्रकाश न डालकर, केवल मात्र वैदिक शब्दों के ऐतिहासिक क्रम पर विशेष ध्यान दिया है। मन्त्रों के प्रारम्भ में पाए जाने वाले ऋषि, मन्त्रों के अर्थद्रष्टा नहीं हैं, अपितु इनके

रचयिता हैं। मन्त्रान्तर्गत जो ऋषिवाची पद उपलब्ध होते हैं, वे मन्त्रकर्त्ता ऋषियों के इतिवृत्त के द्योतक हैं। ये ऋषि साधारण व्यक्ति थे।

उक्त विशेषताओं के अध्ययन से स्पष्ट विदित हुआ है कि पाश्चात्य विद्वानों के समक्ष वेदों के अर्थों को समझने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ, निरुक्त तथा अन्य वेदांग थे, किन्तु इन सभी का सम्यक् अध्ययन करके, उनके अनुसार अर्थ करना इनके लिए दुष्कर कार्य था। भारतीय पद्धति से अर्थ करने के लिए अतीव धैर्य एवं समय की आवश्यकता थी, जिसके लिए विद्वान् पूर्णतः तैयार नहीं थे, फलतः, इन विद्वानों ने सायण-भाष्य का सहारा लिया। इन लोगों ने सायण-भाष्य से अपने विचारोपयोगी बातों को ही ग्रहण किया, और अन्य बातों को परे छोड़कर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, तुलनात्मक गाथा, धर्म, एवं इतिहास की प्रणाली का अन्वेषण किया। सायण भाष्य के अनुसार अर्थ करते हुए उन्होंने स्थल-स्थल पर जो टीका-टिप्पणी की एवं अन्य पुस्तकें लिखीं, इनमें तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, तुलनात्मक गाथा, धर्म एवं इतिहास का पूर्ण उपयोग किया है, इस तथ्य से पाश्चात्य विद्वानों के पुस्तकों को पढ़ने वाले पूर्ण परिचित हैं। यहाँ पाश्चात्य वेदार्थ की शैलियों का समीकरण किया जाता है, इस समीकरण से स्पष्ट होगा कि ये प्रणाली वेदार्थ के लिए उपयोगी है या नहीं।

वेद प्रसार के ह्रास के कारण (भारतीय परम्पराजन्य)

प्रथम–"वेदाध्ययन केवल अदृष्ट के लिये है, न कि किसी दृष्ट फल को प्राप्त करने के लिये।" इस मत का प्रसार होने से **'मन्त्र अनर्थक हैं'** इस मत का प्रादुर्भाव हुआ। इससे जो वेदों का मानव-जीवन के साथ साक्षात् सम्बन्ध था, वह नष्ट हो गया। उसके नाश से वेदाध्ययन को अनर्थक मानकर लोगों ने वेद का पठन-पाठन छोड़ दिया।

द्वितीय–"वेद केवल यज्ञों के लिये प्रवृत्त हुये हैं। उनके अतिरिक्त वेदों का और कोई प्रयोजन नहीं है।" इस मत के प्रादुर्भाव से वेदों के आधिदैविक आध्यात्मिक अर्थों के साथ विज्ञान का जो सम्बन्ध था, वह नष्ट हो गया। उसके नाश से निष्प्रयोजनभाव को प्राप्त हुये वेदाध्ययन को 'प्रयोजन के बिना मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता' इस न्याय के अनुसार लोगों ने छोड़ दिया।

तीसरा–"यज्ञ भी केवल अदृष्ट के लिये है, उसका अन्य कोई लौकिक फल नहीं है।" इस मत के प्रसार से वेद का सृष्टि-विज्ञान का ज्ञापन करना रूप मुख्य प्रयोजन छूट गया। और आजकल के श्रद्धारहित, केवल तर्कप्रधान लोगों ने उनसे विमुख होकर यज्ञों को छोड़ दिया। यज्ञकर्मों के लोप से ब्राह्मण- वृत्ति का नाश, उसके नाश से वेदाध्ययन की प्रवृत्ति भी संकुचित हो गई।

चौथा–"स्त्रियों और शूद्रों को वेदों के सुनने का भी अधिकार नहीं, तो फिर उनके अध्ययन की तो क्या कथा?" स्त्रियों के लिये वेदाध्ययन का प्रतिषेध करने से पत्नियाँ वेदज्ञान-रहित हो गई। उनके वैदिक-ज्ञानरूप संस्कार के अभाव से वे अज्ञान आवृत्त हो गई। इससे उनकी सन्तान भी वैदिक संस्कार से रहित हो गई। इससे कुल नष्ट हो गये। शूद्रों के वेदों के श्रवणाधिकार को छीन लेने से वे भी वैदिक-संस्कारों से रहित होकर आर्य होते हुये भी अनार्थ बन गये। इस प्रकार मानव-संख्या का स्त्रीरूप अर्धभाग तथा शूद्ररूप अन्य अर्धभाग अर्थात् कुल मानव संख्या में ३/४ भाग ने वैदिक संस्कार-रहित होने के कारण अनार्यत्व को प्राप्त कर लिया। जब क्षत्रिय जाति ने भी वेदों के अनध्ययन से और वैदिक क्रिया के लोप से वृषलत्व (शूद्रत्व) प्राप्त कर लिया, तब स्त्रियों की तो क्या ही कथा।

पांचवाँ–"पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से तपोनिष्ठ ज्ञानी ब्राह्मणों की उपेक्षा तथा अनादर।" जगत् में यह साधारण नियम है कि 'समाज में जिस तरह के मुनष्य की पूजा होती है, उसी तरह का सब लोग अपने आपको बनाने में प्रवृत्त होते हैं'। इसलिये पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से पाश्चात्य भाव वा भाषा में दीक्षित धनी अनार्यों के प्रति सम्मान की भावनाओं के उदय होने से ब्राह्मण भी 'आंग्ल भाषाध्ययन से किसी न किसी तरह "धनोपार्जन ही हमारे लिये श्रेयस्कर है" ऐसा मानकर कुल-परम्परागत वेदाध्ययन को छोड़ बैठे।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उत्पादित कारण–

प्रथम–अनेक ईसाई मत पक्षपाती मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों द्वारा अनुसंधान के बहाने से वैदिक वाङ्मय के विषय में कल्पित अनर्गल प्रलापों के द्वारा उसकी निन्दा और उसके विषय में अश्रद्धा उत्पन्न करना।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृतभाषा और वैदिक वाङ्मय के विषय में किस भाव को मन में रखकर प्रयत्न किया, इस विषय को स्पष्ट करने के लिये उनके कुछ वचनों को प्रस्तुत करते हैं। पहले प्रसिद्ध तथा वैदिक वाङ्मय में विशेष परिश्रम करने वाले मैक्समूलर के वचन देखिये–

(क) 'वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या ऐसी है, जो छोटे बच्चों की बात के समान मूर्खतापूर्ण है। अनेक जटिल, अधम और साधारण है।'

(ख) 'मेरा अनुवाद, मेरा (सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का) संस्करण उत्तरकाल में भारत के भाग्य के विधान में अत्यन्त प्रभावशाली होगा। क्योंकि यह (=ऋग्वेद) उनके धर्म का मूल है। मैं निश्चय से यह अनुभव करता हूँ कि भारतीय धर्म का यह मूल कैसा है, इसका बताना गत तीन सहस्र वर्षों से पैदा हुये प्रभावों को

समूल उखाड़ देने में प्रधान उपाय है।'

(ग) "संसार के सब धर्मों में 'नई प्रतिज्ञा' (ईसाप्रोक्त बाईबल) ग्रन्थ ही उत्कृष्ट है। उसके बाद आता है कुरान नामक ग्रन्थ, यह तो आचार-शिक्षा में 'नई प्रतिज्ञा' का रूपान्तर ही है। उसके बाद आती है 'प्राचीन प्रतिज्ञा' (=यहूदी बाईबल), दाक्षिणात्य बौदध् पिटक, वेद और अवेस्ता ग्रन्थ।"

(घ) मैक्समूलर के वैदिक वाङ्मय के कार्य को उनके मित्र किस दृष्टि से देखते थे, उसको बताने के लिये मैक्समूलर के ई०बी० पुसे नाम के मित्र ने जो पत्र मैक्समूलर को लिखा था, उसका निम्न वचन देखने योग्य है–

'आपका यह (वेदविषक) कार्य भारतीयों को ईसाई मतानुयायी बनाने के लिये क्रियमाण प्रयत्नों में नवयुग का प्रवर्तक होगा।'

(ङ) अलबर्ट बेबर नामक प्राध्यापक ने लिखा–'कृष्ण का मत, जो संपूर्ण महाभारत में व्याप्त है, वह देखने योग्य है। वह ईसाई मत की कथाओं और अन्य पाश्चात्य मत के प्रभाव को स्थापित करता है। अर्थात् कृष्ण के मत पर ईसाई मत की कहानियों तथा अन्य पाश्चात्य मत का प्रभाव दिखाई देता है।

(च) इसीलिये ईसाईमत पक्षपाती विद्वान् लोग 'महाभारत ग्रन्थ ईसा के बहुत पश्चात् लिखा गया' ऐसा लिखते हैं।

(छ) मोनियर विलियम्स नामक प्राध्यापक, जिसने संस्कृतआंग्ल-भाषा का बृहद् कोश बनाया है, वह स्वकोश-रचना का प्रयोजन बताते हुये उसके उपोद्घात में लिखता है– 'यह जो संस्कृतांग्लभाषा-कोश के निर्माण का कार्य, तथा संस्कृत ग्रन्थों का अनुवादकार्य बौडन ट्रस्ट द्वारा संपादित किया जाता है, वह भारतीयों को ईसाई मत में दीक्षित करने के लिये प्रवृत्त हुये हमारे देशवासियों की सहायता के लिये किया जा रहा है।'

जब पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा किये कार्यों की ऐसी स्थिति है, तो कौन मूर्ख अनुसन्धानव्याज से किये गये मैक्समूलर आदि के कार्यों में विश्वास करेगा?

द्वितीय–भाषाविज्ञान के बहाने दैवी भाषा तथा वैदिकवाङ्मय पर भीषण प्रहार करना। पाश्चात्य विद्वानों ने कई भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके 'भाषा-विज्ञान' नामक एक नये मत का आविष्कार किया। यद्यपि वह अत्यन्त दोषपूर्ण है, तथापि उसके आश्रय को लेकर सर्वभाषा-जननी दैवी भाषा को उसके गौरवमय स्थान से पदच्युत करने के लिये 'भारोपीय भाषा' (Indo Europeon Language) नामक एक नई भाषा की कल्पना की। उसके असिद्ध होने अर्थात् उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण न होने पर भी उसे वर्तमान भारोपीय भाषाओं की जननी मानकर ग्रीक लैटिन भाषाओं

के समान उस 'कल्पित भाषा की पौत्री स्थानी दैवी वाक् है', ऐसे मत की घोषणा की है।

इतना ही नहीं–जैसे सामान्य मूर्ख लोग अज्ञान से वर्णों के ठीक-ठीक उच्चारण में सामर्थ्य न रखने के कारण शिष्टव्यवहृत शब्दों में वर्ण-लोप-आगम-विकार-विपर्यय आदि करते हैं, और कालान्तर में वही अपशब्दराशि भाषाभाव को प्राप्त हो जाती है, इसी प्रकार दैवी वाक् भी किसी पुरातन भाषा से विकृत होकर बनी हैं, ऐसा कहते हैं। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि पुरानी किसी प्राकृत भाषा का ही संस्कार करके ब्राह्मण लोगों ने इस देववाणी (संस्कृत-भाषा) की रचना की है। अध्यापक रैप्सन कहता है–'भारतीय आर्यों का लिखा हुआ वृत्तात्त उन साहित्यिक भाषाओं में सुरक्षित है, जो व्यावहारिक भाषाओं से विकसित हो चुकी थी।

तृतीय–डार्विन प्रतिपादित विकासवाद के अनुसार सत्य भारतीय इतिहास का खण्डन करना व उसे तोड़ना-मोड़ना। जितना भारतीय इतिहास प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है, वह सब एक मत से प्रतिपादन करता है कि–'सृष्टि के आदि में मानव परम ज्ञानी व अनेकविध शक्तियों से सम्पन्न थे, धर्म सत्त्व से युक्त और अत्यन्त दीर्घायु थे। उत्तरोत्तर ज्ञान शक्ति आयु में ह्रास होने लगा। लोग रजोगुण और तमोगुण से युक्त हो गये।' इसके विपरीत विकासवाद मत यह कहता है कि मनुष्य आदि काल में पशुओं के समान जंगल में रहने वाले, मांसाहारी और अज्ञानी थे। उत्तरोत्तर वे विकास को प्राप्त होकर सभ्य बन गये। इतना ही नहीं मनुष्यों के पूर्वज वनमानुष थे, उनके पूर्वज बन्दर, उनके पूर्वज और कोई। इस तरह से सब प्राणी 'अमीबा' नामक प्राणी से उत्तरोत्तर विकसित होकर बने।' इस मत का आश्रय लेकर ही पाश्चात्य विद्वान् वेदों को साधारण लोगों=गडरियों के गीत बताते हैं। ये ही पाश्चात्य विकृत मत हमारे विश्वविद्यालयों में आज भी पढ़ाये जाते हैं। इस कारण विश्वविद्यालयों में पढ़े हुये लोगों को वैदिक वाङ्मय में न केवल अश्रद्धा उत्पन्न होती है, अपितु वे ही कालान्तर में अनुसन्धान कार्य करते हुये वैदिक वाङ्मय के विषय में पाश्चात्य विद्वानों से भी हीनतर मतों को व्यक्त करते हैं। इसको बताने के लिये हम दो भारतीय विद्वानों का यास्क-निर्वचन-सम्बन्धी मत उपस्थित करते हैं–

(क) राजवाडे इस उपनाम से प्रसिद्ध काशीनाथ लिखते हैं–"निरुक्त की निर्वचन पद्धति ऐसी है कि उसे न विज्ञान कह सकते हैं, और न विद्यास्थान .....। निरुक्त विज्ञान नहीं हैं, अपितु विज्ञान का उपहास है। .....निरुक्त का निर्वचन प्रकार केवल भ्रम है, अथवा मानव-मस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है। ..... मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि निरुक्त की निर्वचन-पद्धति अयुक्त (=मूर्खतापूर्ण) है। फिर भी वह आज तक वेदाङ्गत्व स्थान को प्राप्त है। "निरुक्त में बहुसंख्यक निर्वचन मूर्खतापूर्ण है,

क्योंकि वे अशुद्ध सिद्धान्त पर आश्रित है। ..... इस सिद्धान्ताश्रय के कारण अनेक निर्वचन काल्पनिक है। शुद्ध निर्वचन तो बहुत ही अल्पसंख्यक है।" (निरुक्त-भूमिका)

(ख) एक भाषाशास्त्री के रूप में ख्याति को प्राप्त हुये सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं-"इससे ज्ञात होता है यास्क का निर्वचनप्रदर्शनोत्साह पागलपन की सीमा को प्राप्त हो चुका है।" "यास्क निर्वचनशास्त्र का उल्लंघनकर्ता था। उसके निर्वचन के पागलपन ने उसकी कल्पनाशक्ति को नष्ट कर दिया था। उसकी कल्पना की दरिद्रता विलक्षण है। इस गम्भीर दोष से वह न केवल व्यर्थ, शिथिल, सारहीन, अयुक्त निर्वचन ही करता है, अपितु यह भी विदित होता है कि वह इसको भी नहीं जानता था कि 'लक्षणादि से भी किन्हीं शब्दों के अर्थों का विस्तार होता है।' इसलिये उसने लाक्षणिक अर्थों के द्योतन के लिये भी पृथक् निर्वचन किये हैं।"[१]

इन उद्धरणों से अत्यन्त विस्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विद्वान् ईसाई मत के पक्षपात से अनुसन्धान के बहाने वैदिकवाङ्मय के विषय में जो प्रलाप कर गये, उसी के अध्ययन से भारतीय विद्वान् कैसी विचित्र मानसिक दासता को प्राप्त हो गये। ये विश्वविद्यालयों में पढ़े हुये विद्वान् पाश्चात्य आँखों से ही वैदिक वाङ्मय को देखते हैं, इनकी अपनी आँख नहीं है। इसलिये ऋग्वेद में सत्य ही कहा है-'**पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः**' (ऋ० १/१६४/१६)।

❋ ❋ ❋

प्रथमं घटकम्

संहिता-साहित्यम् (ऋग्वेदः)

अग्नि सूक्त

(मण्डल–१, सूक्त–१)

ऋषि–विश्वामित्र **देवता**–अग्नि छन्दः–गायत्री

१. **अग्निमीळे पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजम्।**
होतारं रत्नधातमम्॥

पद-पाठः अग्निम्। ईळे। पुरःहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्।
होतारम्। रत्नऽधातमम्॥१॥

अन्वय-यज्ञस्य पुरोहितम्, देवम्, ऋत्विजम्, होतारम्, रत्नधातमम् अग्निम् ईळे।

संस्कृत–व्याख्या-यज्ञस्य=क्रियमाणदेवताद्याराधनकर्मणः पुरोहितम् पुरोहितत्वादभीष्ट संपादकम्। यद्वा यज्ञस्य पूर्वभागे आहवनीयरूपेण संस्थितम्। अग्निर्वै देवानां होता इति श्रुतेः। देवं दानादिगुणयुक्तम्। होतारम् होतृनामकमाह्वातारं वा देवानाम्। ऋत्विजम्= देवानामृत्विग्भूतम्। रत्नधातमम्=यागफलरूपाणां रत्नानां अतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा। अग्निम्=तन्नामकं देवम्। ईळे=स्तौमि। यद्वा यज्ञस्येति पदं 'देव' मित्यनेनान्वेति। यज्ञस्य प्रकाशमित्यर्थः।

शब्दार्थ-ईळे=स्तुति करता हूं। **देवम्**=दान आदि दिव्य गुणों से सम्पन्न। **रत्नधातमम्**= रत्नों को धारण करने वाले।

हिन्दी अनुवाद-यजमान की कामनाओं को पूरा करने वाले, यज्ञ के पुरोहित, दान आदि गुणों से सम्पन्न, देवताओं के ऋत्विक् और होता एवं रत्नों अर्थात् यज्ञ के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ पदार्थों को धारण करने वाले अग्नि देवता की मैं विश्वामित्र ऋषि स्तुति करता हूं।

व्याकरण–

अग्निम्-'इण्' धातु से निष्पन्न 'अयन' शब्द से 'अ' का, का 'दह' धातु से निष्पन्न 'दग्ध' शब्द से 'ग्' का और 'नी' धातु को ह्रस्व करके 'नि' का ग्रहण

करके 'अग्नि' शब्द निष्पन्न होता है। अतः इस शब्द में तीन भाव है—गतिशील, जलाने वाला और सन्मार्ग पर ले जाने वाला, अथवा 'अगि' गतौ धातु से 'नि' प्रत्यय करके 'अग्नि' शब्द निष्पन्न होता है।

ईळे—'ईळ स्तुतौ' धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

पुरोहितम्—पुरस्+धा+क्त। 'धा' को 'हि' आदेश।

यज्ञस्य—यज्+नङ्=यज्ञ। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

रत्नधातमम्—रत्नानां धाता=रत्न+धा+क्विप्=रत्नधा। तमप् करके रत्नधातमम्।

विशेष—मैक्डानल ने 'ईळे' का अर्थ 'महत्व का गान करता हूं (Magnify) किया है। यास्क ने इस शब्द का अर्थ 'प्रार्थना करता हूं' किया है।

२. अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त।
स दे॒वाँ एह व॑क्षति॥

पद-पाठः अ॒ग्निः। पूर्वे॑ऽभिः। ऋषि॑ऽभिः। ईड्यः॑। नूत॑नैः। उ॒त।
स:। दे॒वान्। आ इ॒ह। व॒क्ष॒ति॒॥ २॥

अन्वय—अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः उत नूतनैः। स इह देवान् आवक्षति।

संस्कृत-व्याख्या-(अयम्) अग्निः, पूर्वेभिः=पुरातनैः भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः, ऋषिभिः ईड्यय:=स्तुत्यः, नूतनैः उत=इदानीन्तनैरस्माभिरपि (स्तुत्य इत्यर्थः), सः=अग्निः, (स्तुतः सन्), इह=अत्र (यज्ञे), देवान्=हविर्भुजः आवक्षति=आवहतु। उत शब्दो यद्यपि विकल्पार्थे प्रसिद्धस्तथापि निपातत्वेनाने-कार्थत्वादौचित्येनात्र समुच्चयार्थः।

शब्दार्थ—पूर्वेभिः= प्राचीन। **ईड्यः**=स्तुति किया जाता है। **इह**=इस यज्ञ में। **आवक्षति**=प्राप्त करावे।

हिन्दी अनुवाद्र—यह अग्नि देवता प्राचीन भृगु, अंगिरा आदि ऋषियों द्वारा स्तुति किया जाता है और अब नवीन हम विश्वामित्र आदि ऋषियों द्वारा भी स्तुति किया जाता है। वह इस यज्ञ में देवताओं को प्राप्त करावे।

व्याकरण—

पूर्वेभिः-वैदिक रूप है। 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश नही हुआ। लोक में 'देवैः' रूप निष्पन्न होगा।

ईड्यः-ईड्+यत्=ईड्य।

वक्षति-'वह्' धातु से लोट् लकार के अर्थ में लट् लकार और छान्दस 'स'

का लोप। अथवा यहां लेट् लकार है।

विशेष-'उत' का प्रयोग यहां समुच्चय के अर्थ में हुआ है।

३. अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्, पोष॑मे॒व दि॒वे दि॑वे।
य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम्॥

पद-पाठः अ॒ग्निना॑। र॒यिम्। अ॒श्नव॒त्। पोष॑म्। ए॒व। दि॒वेऽदि॑वे।
य॒शस॑म्। वी॒रव॑त्ऽतमम्॥३॥

अन्वय-अग्निना दिवेदिवे एव पोषम् यशसम् वीरवत्तमम् रयिम् अश्नवत्।

संस्कृत व्याख्या-(योऽयंस्तुत्योऽग्निस्तेन) अग्निना=निमित्तभूतेन, (यजमानः) रयिम्=धनम् अश्नवत्=प्राप्नोति (यच्च धनम्) दिवे दिवे=प्रतिदिनम्, पोषम्=पुण्यमाणतया वर्धमानम् (न तु कदाचित् क्षीयमाणम्), यशसम्=दानादिना। यशोयुक्तम्, वीरवत्तमम्=अतिशयने पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। तुष्टोऽग्निरुक्तरूपं धनं ददातीत्यर्थः।

शब्दार्थ-रयिम्=धन को। **अश्नवत्**=प्राप्त करता है। **पोषम्**= पोषण को प्राप्त होने वाले। **दिवेदिवे**=प्रतिदिन। **यशसम्**=यश को प्राप्त होने वाले। **वीरवत्तमम्**=पुत्र, भृत्य आदि वीरों से अत्यधिक युक्त।

हिन्दी अनुवाद-स्तुति किये जाते हुये अग्नि से यह यजमान प्रतिदिन ही निरन्तर पोषण को प्राप्त होने वाले, पान आदि के द्वारा यश को प्राप्त होने वाले और पुत्र भृत्य आदि वीरों से अत्यधिक युक्त धन को प्राप्त करता है।

व्याकरण-

अश्नवत्-'अश्' धातु, लेट् लकार, 'तिप्' के 'इ' को लोप और 'अट्' का आगम।

पोषम्-पुष्+घञ्=पोष।

दिवेदिवे-दिव शब्द के सप्तमी का एकवचन। 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व।

यशसम्-यशः अस्य अस्ति अर्थ में 'अच्' प्रत्यय। यशस्+अच्=यशस।

विशेष-मैक्डानल ने 'यशसम्' का अर्थ 'कीर्तिकारण या प्रकाश कारक' (Glorious) किया है।

४. अग्ने यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं, वि॒श्वत॑ः परि॒भूरसि॑।
स इद् दे॒वेषु॑ गच्छति॥

पद-पाठः अग्नै। यम्। यज्ञम्। अध्वरम्। विश्वतः। परिऽभूः असि।

सः। इत्। देवेषु। गच्छति।।४।।

अन्वय-अग्ने! यम् अध्वरम् यज्ञम् विश्वत परिभू असि स इत् देवेषु गच्छति।

संस्कृत-व्याख्या-(हे) अग्ने! (त्वम्) अध्वरम्=हिंसारहितम्, यज्ञम् विश्वतः =सर्वासु दिक्षु, परिभूः=परितः प्राप्तवान् असि। स इत्=स एव यज्ञः, देवेषु (तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गे) गच्छति प्राप्नोति प्राच्यादिचतुर्दिक्षु यज्ञे आहवनीयमार्जालीयगार्हपत्याग्नी- ध्रीयस्थानेषु वह्निः स्थाप्यते।

शब्दार्थ-अध्वरम्=हिंसा से रहित यज्ञ को। **विश्वतः**=सभी दिशाओं में। **परिभूः असि**=प्राप्त कर रहे हो। गच्छति=तृप्ति के लिये प्राप्त होता है।

हिन्दी अनुवाद–हे अग्ने! तुम जिस हिंसा से रहित यज्ञ को सभी दिशाओं में प्राप्त कर रहे हो, वह ही यज्ञ देवताओं को भी तृप्ति के लिये प्राप्त होता है।

व्याकरण-

अध्वरम्-न विद्यते ध्वरः हिंसा यत्र स अध्वरः।

विश्वतः-विश्व+तसिल्।

विशेष-मैक्डानल ने 'यज्ञ' का अर्थ 'पूजन' (Worship) और 'अध्वर' का अर्थ 'यज्ञ' (Sacrifice) किया है।

५. अग्निर्होता कविक्रतुः, सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।

देवो देवेभिरा गमत्।।

पद-पाठः अग्निः। होता। कविऽक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवःऽतमः।

देवः देवेभिः। आ। गमत्।।५।।

अन्वय-होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः देवः अग्निः देवेभिः आगमत्।

संस्कृत-व्याख्या-(अयम्) देवं=देवस्वरूपः, होता=होमनिष्पादकः, कविक्रतुः= क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा, सत्यः=अनृतरहितः (अवश्यं-फलदाता इति भावः) चित्रश्रवस्तमः= अतिशयेन विविधकीर्तियुक्तः, देवेभिः=हविर्भोजिरन्यैर्देवैः सह, आगमत्=अस्मिन् यज्ञे समागच्छतु।

शब्दार्थ-होता=होम को निष्पन्न करने वाला। **कविक्रतुः**=अतीत और अनागत आदि कर्मों को जानने वाला। **सत्यः**=मिथ्या से रहित, निश्चय ही फलों का देने वाला। **चित्रश्रवस्तमः**=विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त। **आगमत्**=आवे।

हिन्दी अनुवाद-होम को निष्पन्न करने वाला, अतीत और अनागत यज्ञ आदि कर्मों को जानने वाला, मिथ्या से रहित अर्थात् निश्चय ही फलों को देने वाला, विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त होता हुआ, दिव्य गुणों से सम्पन्न यह अग्नि देवता अन्य देवताओं के साथ इस यज्ञ में आवे।

व्याकरण-

कविक्रतुः-कविः क्रतुः यस्य स। बहुब्रीहि समास। अथवा कविश्चासौ क्रतुः। कर्मधारय समास।

चित्रश्रवस्तमः-श्रूयते इति श्रवः कीर्तिः। चित्रं श्रवः यस्य स चित्रश्रवः। तमप् प्रत्यय करके चित्रश्रवस्तमः।

आगमत्-आगच्छतु अर्थ में लोट् लकार में 'गम्' को छान्दस 'गच्छ' का अभाव। 'तु' के 'उ' का लोप।

सत्यः-सत्सु साधु अर्थ में निपातनात् निष्पन्न।

विशेष-मैडानल में 'होता' का अर्थ 'आह्वान करने वाला' (invoker) और 'कविक्रतु' का अर्थ 'बद्धि से युक्त बुद्धिमान्' (of wise intelligence) किया है।

६. यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥

पद-पाठः यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि।
तव। इत्। तत् सत्यम्। अङ्गिरः॥६॥

अन्वय-अङ्ग अग्ने! यत् दाशुषे भद्रम् करिष्यसि, तव तत् इत्। अङ्गिरः सत्यम्।

संस्कृत-व्याख्या-अङ्ग, इत्यभिमुखीकारणार्थे, हे अग्नि। त्वम् (पूर्वोक्तगुण-विशिष्टः) दाशुषे=हविर्दत्तवते यजमानाय, यद् भद्रम्=कल्याणम् (वित्तगृहप्रजापशु-रूपम्) करिष्यसि, तत् (भद्रम्) तव इत्=तवैव वर्तते। हे अङ्गिरः, एतत् सत्यम् न त्वत्र कश्चिद् विसंवादोऽस्ति।

शब्दार्थ-दाशुषे=हवि का दान करने वाले यजमान के लिये। **भद्रम्**=कल्याण करने वाले पदार्थ **करिष्यसि**=प्रदान करोगे। **अङ्गिरः**=अङ्गार रूपी, अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले पदार्थ।

हिन्दी अनुवाद-हे अग्ने! जो भी तुम हवि का दान करने वाले यजमान के लिये धन, गृह, प्रजा, पशु आदि कल्याण करने वाले पदार्थ प्रदान करोगे, वे सब पदार्थ तुम्हारे ही हैं। हे अङ्गार रूपी अग्नि देवता! अथवा हे अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले अग्नि देवता! यह बात सच ही है। इसमें कोई संशय नहीं है।

व्याकरण–

दाशुषे-'दाशृ दाने' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

अङ्गिरः-'गत्यर्थक अगि' धातु से औणदिक 'इरच्' प्रत्यय। 'अङ्गिरा अङ्गरा' इति यास्कः। येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्निति' (ऐतरेय ब्राह्मण) तस्मादङ्गिरो नामक मुनिकारणात्वादङ्गाररूपस्याग्नेऽङ्गिरस्त्वम्।

विशेष-मैक्डानल ने 'दाशुषे' का अर्थ 'पूजन करने वाले के लिये' (for the worshiper) किया है।

छन्द की पूर्ति के लिये प्रथम पाद में 'त्वम्' को 'तुवम्' पढ़ना चाहिये।

७. उप॒ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒, दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।

नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि॥

पद-पाठः उप॑। त्वा॒। अ॒ग्ने॒। दि॒वेऽदि॑वे। दोषा॑ऽवस्तः। धि॒या व॒यम्।
नमः॑। भर॑न्तः। आ। इ॒म॒सि॒॥७॥

अन्वय-अग्ने! वयम् दिवेदिवे दोषावस्तः धिया नमः भरन्तः उप त्वा आ इमसि।

संस्कृत-व्याख्या-हे अग्ने! वयम्=अनुष्ठातारः, दिवेदिवे=प्रतिदिनम्, दोषावस्तः =रात्रिन्दिवम्, धिया=बुद्ध्या, नमः=नमस्कारम्, भरन्तः=सम्पादयन्तः, उप त्वा=तव समीपम्, एमसि=आगच्छामः।

शब्दार्थ उप=समीप। **दिवेदिवे**=प्रतिदिन। **दोषवस्तः**=रातदिन। **धिया**=उत्तम बुद्धि से। **नमो भरन्तः**=नमस्कार करते हुये। **एमसि**=आते हैं।

हिन्दी अनुवाद–हे अग्नि देव! हम यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले प्रतिदिन और दिन-रात उत्तम बुद्धि से नमस्कार करते हुये तुम्हारे समीप आते हैं।

व्याकरण–

दोषावस्तः-दोषा च वस्तः च दोषावस्तम्। समाहार द्वन्द्व समास। दोषा=रात्रि। वस्तः=दिन।

भरन्तः=भृ+शतृ=भरत्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

इमसि-'इण् गतौ' धातु से लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन। 'इन्तोमसि' सूत्र से 'मस्' में इकार।

विशेष-मैक्डानल ने 'दोषावस्तः' को अग्नि का विशेषण मान कर सम्बोधन वाचक कहा है और इसका अर्थ किया है–Illuminer of gloom.

८. राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।

वर्धमानं स्वे दमे॥

पद-पाठः राजन्तम्। अध्वराणाम्। गोपाम्। ऋतस्य। दीदिविम्।

वर्धमानम्। स्वे। दमे॥८॥

अन्वय-राजन्तम्, अध्वराणाम्, गोपाम्, ऋतस्य दीदिविम्, स्वे दमे वर्धमानम्।

संस्कृत व्याख्या-पूर्वमन्त्रे 'उप त्वा एमसि' इति यदुक्तं 'त्वा' इत्यस्य विशेषणमन्यद् वक्ति। कीदृशं-राजन्तम्=दैदीप्यमानम्, अध्वराणाम्=हिंसारहितानां यज्ञानाम् गोपाम्=रक्षकम्, ऋतस्य=सत्यस्य (कर्मफलस्य), दीदिविम्=पौन्यः पुन्येन द्योतकम्, स्वे दमे=स्वकीये गृहे (यज्ञशालायाम्) वर्धमानम् (हविर्भिरिति शेषः)

शब्दार्थ-राजन्तम्=प्रकाशमान होते हुये। **अध्वराणाम्**=हिंसा रहित यज्ञों के। **गोपाम्**=रक्षक। **ऋतस्य**=सत्य कर्मफलों के। **दीदिविम्**= पुनःपुनः प्रकाशित करने वाले। **वर्धमानम्**=बढ़ने वाले। **स्वे**=अपने। **दमे**=घर यज्ञशाला में।

हिन्दी अनुवाद-पूर्व मन्त्र में जिस अग्नि को सम्बोधित किया गया है, उसके अन्य विशेषण कहे जाते हैं-प्रकाशमान होते हुये, हिंसारहित यज्ञों के रक्षक, सत्य कर्मफलों को पुनः पुनः प्रकाशित करने वाले और अपने गृह यज्ञशाला में बढ़ने वाले (अग्नि के समीप हम जाते हैं, पहले मन्त्र से अन्वित है)।

व्याकरण–

दीदिवम्–यङ्लुगन्त 'दिव्' धातु से 'कि' प्रत्यय।

विशेष–मैक्डानल ने 'अध्वराणाम्' का सम्बन्ध 'राजन्तम्' के साथ करके 'यज्ञों पर शासन करने वाला' (ruling over the sacrifies) अर्थ किया है। उसने 'ऋतस्य दीदिवम् गोपाम्' का अर्थ किया है-Shining guradain of order।

९. स नः पितेव सूनवे, अग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये।

पद-पाठः सः नः पिताऽइव। सूनवे। सुऽउपायनः। भव।
सचस्व। नः। स्वस्तये॥८॥

अन्वय–सः अग्ने! सूनवे पिता इव नः सूपायनः भव। नः स्वस्तये सचस्व।

संस्कृत व्याख्या-हे अग्ने! सः=पूर्वोक्तगुणसम्पन्नस्त्वम्, नः=अस्मदर्थम् सूपायनः= शोभनप्राप्तियुक्तः भव। (तथा) नः=अस्माकम्, स्वस्तये=कल्याणाय विनाशरहित्यार्थम्, सचस्व=समवेतो भव। (तत्रोभयत्र दृष्टान्त ददाति) पितेवेति, यथा पुत्रार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति तद्वत्।

शब्दार्थ– **सूनवे**=पुत्र के लिये। **सूपायनः**=सुप्राप्य, कल्याण करने वाला। **सचस्व**=संग रहो। **स्वस्तये**=कल्याण के लिये।

हिन्दी अनुवाद-पहले मन्त्रों में कहे गये गुणों से सम्पन्न हे अग्नि देव! जिस प्रकार पिता पुत्र के लिये सुप्राप्य और कल्याण करने वाला होता है, उसी प्रकार तुम भी हमारे लिये सुप्राप्य बनो और हमारे कल्याण के लिये हमारे संग रहो।

व्याकरण–

सूपायनः-शोभनः उपायनः यस्य स। सु+उप+इ (इण्)+ल्युट् (अन)।

सचस्वा-'षच्' धातु, लोट् लकार, मध्यम् पुरुष, एकवचन। 'ऋचि तू नू' से दीर्घ हुआ।

विशेष-मैक्डानल ने 'सचस्व' का अर्थ 'साथ रहना' (abide with) किया है।

इन्द्र-सूक्त

(मण्डल-२, सूक्त-१२)

ऋषि-गृत्समद देवता-इन्द्र छन्दः-त्रिष्टुप्

१. यो जात एव। प्रथमो मनस्वान्, देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां, नृम्णस्य महना स जनास इन्द्रः।

पद-पाठः यः। जातः। एव प्रथमः। मनस्वान्। देवः। देवान्। क्रतुना।
परिऽअभूषत्। यस्य। शुष्मात्। रोदसी इति। अभ्यसेताम्।
नृम्णस्य। महना। सः। जनासः। इन्द्रः॥१॥

अन्वय–जनासः! यः जात एव प्रथमः मनस्वान् देवः क्रतुना देवान् पर्यभूषत्

यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्, नृम्णस्य मह्ना स इन्द्रः।

सायण–गृत्समदो ब्रूते। जनासः जनाः हे असुराः। यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमः देवानां प्रधानभूतः मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यः। देवः द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत्। भूष अलङ्कारे भूवादिः। लङि रूपम्। यद्वा सर्वान्यान्देवान्पर्य- भूषत् रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत्। भूष अलङ्कारे भूवादिः। लङि रूपम्। यद्वा सर्वानन्यान् देवान् पर्यभूषत् पर्यभवत्। अत्यक्रामत्। अस्मिन पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन क्सः। 'श्रयुकः' कितीट् प्रतिषेधः। यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शरीराद् बलाद् रोदसी द्यावापृथिव्यौ अभ्यसेता बिभीताम्। भ्यस भये। अनुदात्तेत्। भ्यस भय-वेपनयोरिति निरुक्तः (३-२१) अभ्यसेतामवेपेतां वा। तथा च मन्त्रान्तरम्। इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही इति (ऋग् १. १८. ११) नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रो, नाहमिति। अत्र निरुक्तम्। यो जात एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान्क्रतुना कर्मणा पर्यभवत्पर्यगृह्णात्पर्त्यरक्षदत्यक्रामदिति वा। यस्य बलात्। द्यावापृथिव्यावप्यबिभीतां नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्तेति। (नि० १०. १०)

शब्दार्थ–**जातः**=उत्पन्न हुआ। **प्रथमः**प्रमुख, परम। **मनस्वान्**=मनस्वी। देवः=दिव्य गुणों से युक्त। **क्रतुना**=यज्ञ से, कर्म से। **परि अभूषत्**=अतिक्रमण किया। **शुष्मात्**=बल से। **रोदसी**=द्युलोक और पृथिवी लोक। **अभ्यसेताम्**=डरते थे, कांपते थे। **नृम्णस्य**=सेना के। **मह्ना**=महत्त्व से। **जनासः**=हे मनुष्यों, असुरो।

हिन्दी अनुवाद- हे मनुष्यो! अथवा हे असुरो! जो उत्पन्न होते ही सब देवताओं में प्रमुख परम मनस्वी हुआ, दिव्य गुणों से युक्त होते हुए, जिसने यज्ञ से या वृत्र के वध आदि कर्मोंसे अन्य देवताओं को अलङ्कृत किया या अन्य देवताओं की शक्ति का अतिक्रमण किया, जिसके शारिरिक बल से द्युलोक, पृथिवी लोक डरते थे या कांपते थे, महती सेना के महत्त्व से युक्त वह ही इन्द्र है।

व्याकरण–

जातः-जन्+क्त।

मनस्वान्–मनस+मतुप् (वत्)=प्रथमा का एकवचन।

पर्यभूषत्–''परि+भूष्' धातु, लङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। अथवा परि+भू वैदिक व्यत्यय से यहां 'शप्' न होकर 'क्स' हुआ।

शुष्मात्-शुष्+मनिन्=शुष्म।

मह्ना-'मह् पुजायाम' धातु से 'इ' प्रत्यय=महि। तृतीया का एकवचन। वैदिक रूप।

नृम्णस्य–नृ+म्ना+क=नृम्ण। नृणां म्नानम् आवृत्तिः यत्र तत् नृम्णम्।

अभ्यसेताम्–भ्यस् धातु (आत्मनेपद), लङ्लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन।

जनासः-जन का प्रथमा का बहुवचन। वैदिक रूप। लोक में जनाः होगा।

इन्द्रः-इदि परमैश्वर्ये+र=इन्द्र।

विशेष–सायण ने 'मनस्वान्' का अर्थ 'मनस्वी' किया है। मैक्डानल ने इसका अर्थ 'बुद्धिमान्' और पीटर्सन ने 'भयानक' किया है। सायण के अनुसार 'पर्यभूषत्' का अर्थ सुरक्षित करना है। मैक्डानल और पीटर्सन ने इसका अर्थ 'अतिक्रमण करना' किया है। यास्क ने दोनों अर्थ किये हैं।

परिचय-इस सूक्त की रचना के सम्बन्ध में कुछ प्राचीन कथायें प्राचीन साहित्य में हैं। 'बृहद्देवता' में इस प्रकार की कथा है–

गृत्समद ऋषि ने महान् तपस्या की और वे इन्द्र के समान महिमाशाली शरीर वाले हो गये। द्युलोक और अन्तरिक्ष में उनकी महिमा दिखाई देने लगी। धुनी और चुमुरि नाम के दो भयानक शक्तिशाली दैत्यों ने इनको इन्द्र समझा तथा वे ऋषि को मारने के लिये आये। उनके उस बुरे अभिप्राय की समझ ऋषि ने इन मंत्रों द्वारा इन्द्र की पहचान बताई।

इस सम्बन्ध में महाभारत में भी दो कथायें आती हैं–

पहले कभी इन्द्र आदि देवता राजा वैन्य के यज्ञ में गये। गृत्समद ऋषि भी उस यज्ञ में पहुंचे। इन्द्र को मारने की इच्छा से दैत्य वहां आये। दैत्यों को देखकर इन्द्र ने गृत्समद का रूप बनाया और वहां से निकल गया। वैन्य से सत्कार पाकर गृत्समद भी वहां से निकले। गृत्समद को इन्द्र समझ कर दैत्यों ने उसको घेर लिया। तब गृत्समद ने इस सूक्त द्वारा उनको इन्द्र की महत्ता बताई।

दूसरी कथा इस प्रकार है–

गृत्समद ऋषि के यज्ञ में इन्द्र अकेला ही पहुंचा। अकेला जानकर दैत्यों ने उसको घेर लिया। तब गृत्समद का रूप धारण करके इन्द्र यज्ञशाला से निकल गया। इन्द्र को देर तक न निकलता देखकर दैत्य अन्दर यज्ञशाला में गये। पहले एक गृत्समद को गया देखकर उन्होंने समझा कि गृत्समद तो पहले चले गये, अब उनका रूप धारण करके इन्द्र यहां है। अब गृत्समद को इन्द्र समझ कर दैत्यों ने उनको पकड़ लिया। तब इस सूक्त के द्वारा गृत्समद ने दैत्यों को इन्द्र का रूप बताया।

२. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यः पृथिवीम्। व्यथमानाम्। अदृंहत्। यः। पर्वतान्। प्रऽकुपितान्।
अरम्णात्। यः। अन्तरिक्षम्। विऽममे। वरीयः। यः द्याम्।
अस्तभ्नात्। सः जनासः। इन्द्रः॥२॥

अन्वय–जनासः! य व्यथमानाम् पृथिवीम् अदृंहत्, यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात्, य वरीयः अन्तरिक्षम् विममे, यः द्याम् अस्तभ्नात्। सः इन्द्रः।

सायण–हे जनाः! यः इन्द्र व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीमदृंहत शर्कराभिर्दृढाम-करोत्। दृंह दृहि वृद्धौ'। यश्च प्रकुपितान् इतस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतानारम्णात् नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान्। अरम्णात् रमु क्रीडायाम्। अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन श्ना प्रत्ययः। यश्च वरीयः उरुतममन्तरिक्षं विममे निर्ममे वितीर्णं चकारेत्यर्थः। यश्च द्यां दिवमस्तभ्नात् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत्। 'स्तम्भु रोधने' इति सौत्रो धातुः। स एवेन्द्रो नाहमिति।

शब्दार्थ–**व्यथमानाम्**=हिलती हुई। **अदृंहत्**=स्थिर कर दिया था। **प्रकुपितान्**=कुपित हुये इच्छानुसार इधर-उधर स्वच्छन्द विचरण करते हुये। **अरम्णात्**=नियमित कर दिया था। **वरीयः**=विस्तृत। **अस्तभ्नात्**=थामा हुआ है। **द्याम्**=द्युलोक को।

हिन्दी अनुवाद-हे असुरो! जिसने हिलती हुई पृथिवी को स्थिर कर दिया था अर्थात् जिसने पृथिवी को और उस पर रहने वाले प्राणियों को स्थिरता प्रदान की थी। जिसने कुपित हुए अर्थात् इच्छानुसार इधर उधर स्वच्छन्द विचरण करते हुऐ पंखों से युक्त पर्वतों को अपने-अपने स्थान पर नियमित कर दिया था, जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष की रचना की थी या विस्तार किया था और जिसने द्युलोक को थामा हुआ है, वही इन्द्र है।

व्याकरण–

व्यथमानाम्–व्यथ्+शानच् (शप् और मुक् का आगम)।

अदृंहत्–दृह धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रकुपितान्–प्र+कुप्+(इट)+क्त=प्रकुपित।

अरम्णात्–अन्तर्भावित ण्यर्थ 'रम्' धातु लङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन। छान्दस परस्मैपद और 'शप्' के स्थान पर श्ना'।

प्रकुपितां–अरम्णात्–वैदिक सन्धि होकर 'न्' को 'ँ'।

वरीयः–उरु+ईयसुन। 'उरु' को 'वर्' आदेश।

अस्तंभ्नात्–स्तम्भु रोधने, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष–वैदिक भाषा में 'कुप्' धातु का मूल अर्थ 'संचलन' तथा 'रम्' धातु का अर्थ 'स्थिरीकरण' था। ये अर्थ भौतिक थे। लौकिक संस्कृत में ये धातुयें मानसिक अर्थों में प्रयुक्त होने लगीं तथा इनका अर्थ 'क्रोध करना' 'क्रीडा करना' हुआ।

इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भि काल में पृथिवी पर भूकम्प बहुत आते थे। इन्द्र ने उनको शान्त किया। पौराणिक कथाओं के अनुसार पहले पर्वतों के पंख थे। वे उड़कर जहां तहां जाते थे। इससे भूलोक में हाहाकार हो रहा था। इन्द्र ने पर्वतों के पर काट कर उनको एक स्थान पर स्थिर कर दिया। वे पंख बादलों के रूप में परिवर्तित हो गये। इसीलिये बादल पर्वतों की ओर जाते हैं।

३. यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यः हत्वा। अहिम्॥ अरिणात्। सप्त सिन्धून्। यः। गाः। उत्ऽआजत्। अपऽधा। बलस्य। यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्। जजान।
सम्ऽवृक। समत्ऽसु। सः। जनासः। इन्द्रः॥३॥

अन्वय–जनासः! य अहिम् हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्, यः बलस्य अपधा गाः उदाजत्, यः अश्मनोः अन्तः अग्निम् जजान, समत्सु संवृक् स इन्द्रः।

सायण–यः अहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपः अरिणात् प्रैरयत्। यद्वा सप्त गङ्गायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात्। 'रीङ् स्रवणे' क्र्यादिः। यश्च बलस्य बलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तृकानिरोधा- न्निरुद्धा गा उदाजत् निरगमयत्। अपधा। अपपूर्वाद्दधातेरातश्चोपसर्ग इति भावे अङ् प्रत्ययः। सुपां सुलुगिति पञ्चम्या आकारः। यश्च अश्मनोः अश्नुते व्याप्नोति अन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः। अत्यन्तमृदूरूपयोर्मेघ- योरन्तर्मध्ये वैद्युतमग्निं जजान उत्पादयामास। यश्च समत्सु सभक्षयन्ति योद्धृणामायूंषींति समदः संग्रामाः तेषु संवृक् भवति वृणक्तेर्हिंसार्थस्य क्विपि रूपम्। स इन्द्रो नाहमिति।

शब्दार्थ–हत्वा=मार कर, हटा कर। **अहिम्**=वृत्र को, जल रोकने वाले पर्वत को। **अरिणात्**=बहाया था। **सिन्धून्**=नदियों को। **बलस्य**=बल नाम दैत्य की। **उदाजत्**=बन्धन से मुक्त कर बाहर निकाला था। **अपधा**=रोकी गयी। **अश्मनोः**=मेघों के, चट्टानों के। **अन्तः**=मध्य में। **अग्निम्**=विद्युत अग्नि को। **जजान**=उत्पन्न किया था। **संवृक्**=विनाश किया था। **समत्सु**=युद्धों में।

हिन्दी अनुवाद–हे असुरो! जिस इन्द्र ने वृत्र को मारकर अर्थात् जल रोकने

वाले पर्वतों को हटाकर सात नदियों को बहाया था, जिसने बल नामक दैत्य के द्वारा गुफा में रोकी गई गायों को बन्धन से मुक्त कर बाहर निकाला था, जिसने दो मेघों के या चट्टानों के मध्य में विद्युत-अग्नि को उत्पन्न किया था और जिसने युद्धों में शत्रुओं का अच्छी प्रकार विनाश किया था, वही इन्द्र है।

व्याकरण–

अरिणात्–'रीङ् प्रस्रवणे' क्र्यादि गण की धातु' लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

हत्वा–हन्+क्त्वा।

अश्मनोः–अश्ः+मनिन्=अश्मन्। षष्ठी का द्विवचन।

उदाजत्–'उत्+अज्' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अपधा–अप+धा+अङ्।

जजान–'जनी प्रादुर्भावे' लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

संवृक्–सम्+वृज+क्विप्।

विशेष–सायण ने 'अहिम्' का अर्थ 'मेघ' एवं मैक्डानल और पीटर्सन ने 'सर्प' किया है। इस मन्त्र की प्रथम पंक्ति में पञ्जाब की सात नदियों का संकेत मिलता है। सायण ने यहां गङ्गा, यमुना आदि नदियों की ओर जो संकेत किया है, उसको पीटर्सन ने शुद्ध नहीं माना। सायण ने 'अश्मनोः अन्तः' का अर्थ मेघों के अन्दर किया है। इससे मेघों की विद्युत की ओर संकेत मिलता है। इससे यह भी अभिव्यक्त हो सकता है कि दो पत्थरों के टकराने से अग्नि उत्पन्न होती है।

४. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि, यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँल्लक्षमाददद्, अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतानि। यः दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा। अकरित्यकः। श्वघ्नीऽइव।यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः।पुष्टानि। सः। जनासः। इन्द्रः।।४।।

अन्वय–येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि, यः दासम् वर्णम् अधरम् गुहा अकः, य लक्षम् जिगीवान्, य अर्यः पुष्टानि श्वघ्नी इव आदत्, जनासः स इन्द्रः।

सायण–येन इन्द्रेण इमा इमानि विश्वा विश्वानि च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि। यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकं यद्वा दासमुपक्षपयितारमधरं निकृष्टमसुरं

गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत्। करोतेर्लुङि मन्त्रे घसेत्यादिना च्लेर्लुकि रूपं लक्षं लक्ष्यं जिगीवान्। 'जि जये' क्वसौ सन् लिटोर्जेरित्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम्। दीर्घश्छान्दसः। जितवान् योऽर्योऽरेः। षष्ठ्येकवचने छान्दसो यणादेशः। शत्रोः सम्बन्धीनि पुष्टानि समृद्धानि। आदत् आदत्ते। तत्र दृष्टान्तः। श्वघ्नीव श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याघः। यथा व्याघो जिघृक्षन्तं मृगं परिगृह्णाति तद्वत्।

शब्दार्थ–**विश्वा**=सम्पूर्ण भुवन। **च्यवना**=नश्वर। **कृतानि**=स्थिर किया है। **दासं वर्णम्**=हिंसा करने वाली जाति को। **अधरम्**=निकृष्ट असुर। **गुहा**=गूढ स्थान, नरक। **अकः**=कर दिया है, डाल दिया है। **श्वघ्नी**=शिकारी, जुआरी। **जिगीवान्**=जीत लिया है। **लक्षम्**=लक्ष्य को। **आदत्**=छीन लिया है। **अर्यः**=शत्रु के। **पुष्टानि**=धनों को।

हिन्दी अनुवाद–जिसने इन सम्पूर्ण नश्वर भुवनों को स्थिर किया है, जिसने दास अर्थात् शूद्र आदि वर्णों को गुफा आदि स्थानों में स्थापित कर दिया है, अथवा हिंसा करने वाली असुर जाति को नरक में डाल दिया है, जिसने लक्ष्य को जीत लिया है और जिसने शत्रुओं के धनों को उसी प्रकार छीन लिया है, जैसे शिकारी या जुआरी छीन लेता है, हे असुरों! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

इमा, विश्वा-इमानि तथा विश्वानि का छान्दस रूप।

च्यवना-च्यु+ल्यु (अन)=च्यवन। प्रथमा विभक्ति बहुवचन (नपुंसक लिङ्ग) लोक में च्यवनानि बनेगा।

गुहा-सप्तमी विभक्ति का एकवचन। विभक्ति का छान्दस लोप।

अकः–'कृ' धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप है।

जिगीवान्–'जि जये' धातु से क्वसु प्रत्यय।

जिगीवाँ, लक्षम्–वैदिक सन्धि होकर 'न्' को 'ँ'।

श्वघ्नी–श्व+हन् से निपातनात् बनता है।

आदत्–आ+दा धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

अर्यः–'अरि' शब्द, षष्ठी विभक्ति का एकवचन। छान्दस रूप। लोक में 'अरेः' रूप बनेगा।

पुष्टानि–पुष्+क्त=पुष्ट।

विशेष–सायण ने 'कृतानि' का अर्थ 'स्थिरीकृतानि किया है, जब कि ग्रासमान के अनुसार इसका अर्थ 'बनाना' है। ग्रासमान ने अर्थ किया है–who is the

maker of all that moves। पीटर्सन के अनुसार 'दासम्' वर्णम् का अर्थ है–Hostile colour dark skin। ऋग्वेद में आर्येतर जातियों के लिये दास, दस्यु आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और ये शब्द घृणा-सूचक हैं। सायण ने 'श्वघ्नी' का अर्थ 'शिकारी' एवं पीटर्सन और मैक्डानल ने 'जुआरी' किया है।

५. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।

सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। सः। इति। घोरम्।

उत। ईम्। आहुः। एषः। अस्ति। इति। एनम्।

सः। अर्यः। पुष्टीः। विजःऽइव। आ। मिनाति।

श्रत्। अस्मै॥ धत्त। सः जनासः। इन्द्रः॥५॥

अन्वय–कुह सः इति यम् घोरम् पृच्छन्ति स्म, उत ईम् एषः न अस्ति इति आहुः, सः विजः इव अर्यः पुष्टी आ मिनाति, श्रत् अस्मै धत्त, जनासः स इन्द्र।

सायण–अपश्यन्तो जना घोरं शत्रूणां घातकं यं पृच्छन्ति स्म कुह सेति स इन्द्रः कुत्र वर्तत इति। सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणमिति सोर्लोपि गुणः। न क्वचिदसौ तिष्ठतीति मन्यमाना जना एनमिन्द्रमाहुः एषः इन्द्रो नास्तीति। तथा च मन्त्रे। नेन्द्रोऽस्तीति नेम उत्व आहेति। ईमिति पूरणः। स इन्द्रो विज इव। इव शब्द एवार्थ उद्वेजक एव सन्। अर्यः सम्बन्धीनि पुष्टीः पोषकाणि गवाश्वादीनि धनादि आमिनाति सर्वतो हिनस्ति। विश्वासमत्र कुरुत यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथाप्यस्तीति विश्वासं कुरुत। एवं निर्धारणमहिमोपेतः स इन्द्रो नाहमिति।

शब्दार्थ–कुह=कहां है। **घोरम्**=भयानक। **उत ईम् एनम्**=और निश्चय से जिसके विषय में। **पुष्टीः**=पोषक सम्पत्तियों को। **विजः इव**=विजेता के समान। **आमिनाति**=छीन लेता है। **श्रत्**=श्रद्धा। **धत्त**=धारण करो।

हिन्दी अनुवाद–वह कहाँ है? इस प्रकार जिस भयानक इन्द्र के सम्बन्ध में लोग पूछते रहते हैं और निश्चय ही जिसके विषय में यह नहीं है इस प्रकार कहते हैं, वह विजेता के समान शत्रु की पोषक सम्पत्तियों गौ आदि को छीन लेता है। इस इन्द्र के लिये श्रद्धा को धारण करो। हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

कुह–किम्+ह (वैदिक प्रत्यय)

सेति–सः+इति। 'सोऽपि लोपे चेत्पादपूरणम्' सूत्र से पाद की पूर्ति के लिये विसर्ग का लोप होकर गुणसन्धि।

अर्यः–अरि शब्द, षष्ठी विभक्ति एकवचन। वैदिक रूप। लोक में अरेः होगा।

पुष्टीः–पुष्+क्तिन्। द्वितीया विभक्ति का बहुवचन।

मिनाति–'मीञ् हिंसायाम्' धातु लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। मी को वैदिक ह्रस्व।

विशेष–विजः शब्द के अनेक अर्थ हैं–उद्वेजक, विजेता, जुआरी। आफ्रेक्ट ने 'घोरम्' को क्रिया-विशेषण माना है और इसका अर्थ किया है–In this awful manner। 'श्रत्' लैटिन के 'Credo' शब्द से मिलता है और वाक्य का अर्थ–Place your trust। छन्द की पूर्ति के लिये विज इवा को 'विजेवा' और 'सो अर्यः' को 'सोऽर्यः' पढ़ना चाहिये।

६. **यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।**
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यः। रध्रस्य। चोदिता। यः कृशस्य। यः। ब्रह्मणः नाधमानस्य। कीरेः। युक्तऽग्राव्णः। यः। अविता। सुऽशिप्रः। सुतऽसोमस्य। सः। जनासः। इन्द्रः॥६॥

अन्वय–यः रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यः नाधमानस्य कीरेः ब्रह्मणः सुशिप्र यः युक्तग्राव्णः सुतसोमस्य अविता जनासः सः इन्द्रः।

सायण–यो रध्रस्य। रध हिंसासंराद्ध्ययोः। समृद्धस्य चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति। यश्च कृशस्य दरिद्रस्य च यश्च नाधमानस्य। नाधृ णाधृ याञ्चोपतापैश्वर्याशीःषु। याचमानस्य कीरेः। करोतेः कीर्तयतेर्वा स्तोतुर्ब्रह्मणा ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता। यश्च सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तग्राव्णः अभिषवार्थमुद्यतग्राव्णः सुतसोमस्य अभिषुतसोमस्य यजमानस्य अविता रक्षिता भवति स एवेन्द्रो नाहमिति। ब्रह्मशब्दस्य त्वन्नपरत्वे ह्याद्युदात्तता स्यात्। यथा ब्रह्म वन्वानो अवरं सुवीरमिति (ऋग् ३/८/२) अयं त्वन्तोदात्तः पठ्यत इति नान्नपरः।

शब्दार्थ–**रध्रस्य**–समृद्धिशाली व्यक्ति का। **चोदिता**=प्रेरणा देने वाला। **कृशस्य**=निर्धन का। **ब्रह्मणः**=ब्राह्मण का। **नाधमानस्य**=याचना करने वाले। **कीरेः**=स्तुति करने वाले। **युक्तग्राव्णः**=अभिषव करने के लिये पत्थरों को उद्यत किये हुये का। **अविता**=रक्षा करने वाला। **सुशिप्रः**=सुन्दर ठोड़ी वाला। **सुतसोमस्य**=सोमरस को निचोड़ने वाले का।

हिन्दी अनुवाद–जो समृद्धिशाली व्यक्ति को प्रेरणा देने वाला है, जो निर्धन को प्रेरणा देने वाला है, जो याचना करने वाले और स्तुति करने वाले ब्राह्मण को प्रेरणा

देने वाला है और सुन्दर ठोड़ी वाला जो अभिषव करने के लिये पत्थरों को उद्यत किये हुए सोमरस को निचोड़ने वाले यजमान की रक्षा करता है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

रध्रस्य–'रध हिंसासंराद्ध्योः' धातु से 'र' प्रत्यय।

चोदिता–चुद्+(इट्)+तृच्=चोदितृ। प्रथमा का एकवचन।

कृशस्य–कृश+क (अ)=कृश्। षष्ठी का एकवचन।

नाधमास्य–नाधृ+शानच (मुक् का आगम)। षष्ठी विभक्ति का एकवचन

कीरेः–कृ अथवा कीर्ति् धातु से 'इ' प्रत्यय वैदिक रूप।

ब्रह्मणः–बृह्:+मनिन् ब्रह्मन्। षष्ठी का एकवचन।

युक्तग्राव्णः–युक्ताः ग्राव्णः येन तस्य। युज्+क्त (त)=युक्त।

सुशिप्रः–शोभनं शिप्रं यस्य स।

विशेष–सायण ने 'रध्र' का अर्थ 'समृद्ध' किया है, परन्तु रॉथ ने इसका अर्थ 'सुस्त' (lazy) किया है। सेन्टपीटर्सबर्ग डिक्शनरी में 'अरध्र' शब्द को जिन्दावेस्ता के अरेड्रा (Aredra) का समानार्थ माना गया है और 'रध्रस्य चोदिता' का अर्थ किया है–'He who impels the miser to be liberal'। 'कीरि' शब्द का अर्थ Small, wretched poor भी है। मैक्डानल ने 'शिप्र' का अर्थ 'होठ' और पीटर्सन ने 'मुख' (face) किया है।

छन्द के आग्रह से 'योऽविता' को 'यो अविता' उच्चारण करना चाहिये।

७. यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒ यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं ज॒जान॒ यो अ॒पां ने॒ता स ज॑नास॒ इन्द्रः॑।

पद-पाठः यस्य॑। अश्वा॑सः। प्र॒ऽदिशि॑। यस्य॑। गावः॑। यस्य॑। ग्रामाः॑। यस्य॑। विश्वे॑। रथा॑सः। यः। सूर्य॑म्। यः। उ॒षस॑म्। ज॒जान॑। यः। अ॒पाम्। ने॒ता। सः। ज॒ना॒सः॒। इन्द्रः॑ ।।७।।

अन्वय–यस्य प्रदिशि अश्वासः, यस्य गावः, यस्य ग्रामाः, यस्य विश्वे रथासः, य सूर्यम्, य उषसम् जजान यः अपाम् नेता, जनासः! स इन्द्र।

सायण–यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशने अनुशासने अश्वासः अश्वावर्तन्ते। यस्यानुशासने गावः यस्मानुशासने ग्रामाः। ग्रसतेऽत्रेति ग्रामा जनपदाः। यस्याज्ञायां विश्वे सर्वे रथासः वर्तन्ते। यश्च वृत्रं हत्वा सूर्यं जनयामास्। यश्चोषसम्। तथा

मन्त्रः जजान सूर्यमुषसं सुंदसा इति। अथ यश्च मेघभेदनद्वारा अपां नेता प्रेरकः स इन्द्रः इत्यादि प्रसिद्धम्।

शब्दार्थ–अश्वासः=घोड़े हैं। **प्रदिशिः**=अनुशासन में। **विश्वे**=सब। **रथासः**=रथ हैं। **जजान**=उत्पन्न किया था। **अपाम् नेता**=मेघों में से जलों का लाने वाला।

हिन्दी अनुवाद–जिसके अनुशासन में घोड़े रहते हैं, जिसके अनुशासन में गौवें रहती हैं, जिसके अनुशासन में गांव रहते हैं, जिसके अनुशासन में सब रथ रहते हैं, जिसने सूर्य को और जिसने ऊषा को उत्पन्न किया था एवं जो मेघों में से जलों का लाने वाला है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

अश्वासः, रथासः–प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। वैदिक रूप है। लोक में अश्वाः रथाः इस प्रकार से रूप होंगे।

प्रदिशि–प्र+दिश्+क्विप्। सप्तमी विभक्ति का एकवचन।

जजान–अन्तर्भावित ण्यर्थ जन्, धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

नेता–णीञ्(नी) प्रापणे+तृच्=। प्रथमा का एकवचन।

विशेष–छन्द के आग्रह से 'सूर्यम' का उच्चारण 'सूरियम्' होगा।

८. **यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।**

समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति सम्ऽयती। विह्वयेते।
इति विऽह्वयेते परे। अवरे। उभयाः। अमित्राः। समानम् चित्।
रथम। आतस्थिऽवांसा। नाना। हवेते इति। सः जनासः। इन्द्रः॥८॥

अन्वय–क्रन्दसी संयती यम् विह्वयेते। परे अवरे उभयाः अमित्राः। समानम् चित् रथम् आतस्थिवांसा नाना हवेते जनासः! स इन्द्रः।

सायण–यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणे मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्परं संगच्छन्त्यौ यमिन्द्र विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः। परे उत्कृष्टाः अवरे अधमाश्च उभया उभयविधाः उभयमाह्वयन्ति। समानं इन्द्ररथसदृशं रथं आतस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक् पृथक् ह्वयेते आह्वयेते। यद्वा समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नी ह्वयेते यज्ञार्थं यजमानैः पृथगाह्वयेते। तयोरन्यतरः। स इन्द्रो नाहमिति।

शब्दार्थ–**क्रन्दसी**=द्युलोक और पृथिवी लोक, शोर करती हुई दो सेनायें। **संयती**= मिल कर। **विह्वयते**=आह्वान करती हैं। **परे**=उत्तम। **अवरे**=अधम। **उभया**=दोनों प्रकार के। **अमित्राः**=शत्रु **आतस्थिवांसा**=बैठे हुये। **नाना**=अनेक प्रकार से। **हवेते**=पुकारे जाते हैं।

हिन्दी अनुवाद–शब्द करते हुए द्युलोक और पृथिवी लोक मिलकर अपनी रक्षा के लिये आह्वान करते हैं अथवा शोर करती हुई परस्पर युद्ध के लिये सामने खड़ी दो सेनायें सहायता के लिये जिसको पुकारती हैं, उत्तम और अधम दोनों प्रकार के शत्रु जिसका आह्वान करते हैं, इन्द्र के रथ के समान रथ पर बैठे हुए दोनों पक्ष अनेक प्रकार से जिसका आह्वान करते हैं, एक ही रथ पर बैठे हुए इन्द्र और अग्नि यज्ञ के लिये यजमानों द्वारा पुकारे जाते हैं; असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

क्रन्दसी–'क्रदि' धातु से निपातनात् वैदिक रूप।

संयती–सम्+इ+शतृ+ङीप्=संयती।

विह्वयेते–'वि+ह्वेञ' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन। (आत्मनेपद)

आतस्थिवांसा–आ+स्था++क्वसु। प्रथमा का द्विवचन।

उभयाः–उभय शब्द, प्रथमा का बहुवचन। लोक में उभये होगा।

अवर उभयाः–अवरे=उभयाः। स्वरसन्धि।

विशेष–मैक्डानल ने 'परे, अवरे' का अर्थ 'पास के और दूर के' किया है। पीटर्सन ने इसका अर्थ high low किया है। सायण के अनुसार यहां दो सैनाये दैवी और मानुषी हैं। परन्तु पीटर्सन आदि वहां दो मानव सेनाओं को ही लक्षित मानते हैं, जो सहायता के लिये इन्द्र देवता को पुकार रही है। 'समानम् रथम् आतस्थिवांसा' का अभिप्राय' एक ही रथ पर बैठे हुये सारथि और योद्धा भी हो सकते हैं।

छन्द की पूर्ति के लिये 'अमित्राः' को 'अमितराः' पढ़ना चाहिये।

९. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यस्मात्। न। ऋते। विऽजयन्ते। जनासः। यम्। युध्यमानाः। अवसे। हवन्ते। यः। विश्वस्य। प्रतिऽमानम्। बभूव। यः। अच्युतऽच्युत। सः। जनासः इन्द्रः॥९॥

अन्वय–यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते, युध्यमानाः अवसे यम् हवन्ते, यः विश्वस्य प्रतिमानम् बभूव, यः अच्युतच्युत्, जनासः! स इन्द्रः।

सायण–यस्मादृते जनासो जनाः न विजयन्ते विजयं न प्राप्तनुवन्ति। अतः युध्यमानाः युद्धं कुर्वाणा जना अवसे स्वरक्षणाय यमिन्द्रं हवन्ते आह्वयन्ति। यश्च विश्वस्य सर्वस्य जगतः प्रतिमानं प्रतिनिधिर्बभूव। यश्चाच्युतच्युत् अच्युतानां क्षयरहितानां पर्वतादीनां च्यावयिता स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम्।

शब्दार्थ–ऋते=बिना। **विजयन्ते**=विजय प्राप्त करते हैं। **अवसे**=रक्षा के लिये। **हवन्ते**=आह्वान करते हैं। **प्रतिमानम्**=प्रतिनिधि, रक्षक। **अच्युतच्युत्**=क्षय रहित पर्वतों का विनाश करने वाला, अचल को चल बनाने वाला।

हिन्दी अनुवाद-जिस इन्द्र के बिना मनुष्य विजय को प्राप्त नहीं करते, युद्ध करते हुए सैनिक अपनी रक्षा के लिये जिसका आह्वान करते हैं, जो सम्पूर्ण जगत् का प्रतिनिधि या रक्षक है, जो क्षय रहित पर्वतों का भी विनाश करने वाला है अथवा अचल को भी बनाने वाला है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

यस्माद् ऋते='ऋते' के योग में पञ्चमी विभक्ति है।

विजयन्ते–वि+जि धातु, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

युध्यमाना–युध्+(श्यन्)+(मुक्)+शानच्=युध्यमान।

अवसे–अव+असे (तुमुन् के अर्थ में वैदिक असे प्रत्यय)=अवसे।

हवन्ते–'हेञ्' या 'हू' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

प्रतिमानम्–प्रति+मा+ल्युट् (अन)।

अच्युतच्युत्–अच्युतानां च्यावयिता। च्यु+क्त=च्युत। न+च्युत=अच्युत। च्यु+क्विप्=च्युत्।

विशेष–मैक्डानल ने 'प्रतिमानम्' का अर्थ 'सदृश' (match) किया है। जो इन्द्र सब शक्तिशाली पदार्थों के समान है।

छन्द की पूर्ति के लिये 'न ऋते' का उच्चारण 'नर्ते' करना चाहिये।

१०. यः शश्वतो मह्येनो दधानान् अमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः।

पद-पाठः यः। शश्वतः। महि। एनः। दधानान्। अमन्यमानान्।
शर्वा। जघान। यः। शर्धते। न। अनुऽददाति। शृध्याम्। यः।
दस्योः। हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः॥१०॥

अन्वय–यः महि एनः दधानान् अमन्यमानान् शश्वतः शर्वा जघानः, यः शृध्याम् न अनुददाति, यः दस्योः हन्ता, जनासः! स इन्द्रः।

सायण–यो महि महदेनः पापं दधानान् शश्वतो बहूनमन्यमानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपूजयतो वा जनान् शर्वा। शृणोति शत्रूननेनेति शरुर्वज्रः तेनायुधेन जघान। हन्तेर्लिटि रूपम्। यश्च शर्धते उत्साहं कुर्वते अनात्मज्ञय जनाय शृध्यामुत्साहनयं कर्म नानुददाति न प्रयच्छति। अनुपूर्वात् डुदाञ् दाने जौहोत्यादिकः। अभ्यस्तानामादिरिति। (पा० ४, १, ८९) तिङि चोदात्तावतीति गतेर्निघातः यश्च दस्योरुपक्षयितुः शत्रोर्हन्ता घातकः स इन्द्र इत्यादि पूर्ववत्।

शब्दार्थ शश्वतः–बहुतों का। **महि**=महान्, अत्यधिक। **एनः**=पाप को। **दधानान्**=धारण करने वाले। **अमन्यमानान्**=अवज्ञा करने वाले। **शर्वा**=वज्र से। **जघान**=वध कर दिया था। **शर्धते**=हिंसा करने वाले को, चुनौती देने वाले· को, **शृध्याम्**=उत्साह से युक्त कर्म! **हन्ता**=मारने वाला।

हिन्दी अनुवाद–जिसने अत्यधिक पाप को धारण करने वाले और अवज्ञा करने वाले बहुत से व्यक्तियों का वज्र से वध कर दिया था, जो हिंसा करने वाले चुनौती देने वाले व्यक्तियों को उत्साह से युक्त कर्म को नहीं देता है, जो दस्युओं को मारने वाला है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

दधानान–धा+शानच्। द्वितीया का बहुवचन।

अमन्यमानान्–मन+(श्यन्)+(मुक्)+शानच्=मन्यमान। न+मन्यमान= अमन्यमान।

जघान–हन् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

शर्धते–शृधु (शृध)+ शतृ=शर्धत्, चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

शर्वा–शृध+क्यप्+टाप्=शृध्या।

हन्ता–हन्+तृच्=हन्तृ। प्रथमा का एकवचन।

विशेष–मैक्डानल के अनुसार 'शरु' का अर्थ 'बाण' 'अमन्यमानान्' का अर्थ 'पापफल की प्राप्ति की आशा न करने वाले', 'शर्धते' का अर्थ 'क्षमा करना' और 'शृध्या' का अर्थ 'उद्दण्डता' है।

छन्द की पूर्ति के लिये 'मह्येनो' को 'महि एनी' और 'शर्वा' को 'शरु आ' पढ़ना चाहिये।

११. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यः। शम्बरम्। पर्वतेषु। क्षियन्तम्। चत्वारिंश्याम्।
शरदि। अनुऽअविन्दत्। ओजायमानम्। यः अहिम्।
जघान। दानुम्। शयानम् सः। जनासः। इन्द्रः॥११॥

अन्वय–यः पर्वतेषु क्षियन्तम् शम्बरम् चत्वारिंश्याम् शरदि अन्वविन्दत्, यः ओजायमानम् अहिम् दानुम् शयानम् जघान, जनासः! सः इन्द्रः।

सायण–यः पर्वतेषु क्षियन्तं इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगृहासु निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं साम्राविनमसुरं चत्वरिंश्या शरदि चत्वारिंशे सम्वत्सरे अन्वविन्दत् अन्विष्यालभतः। लब्ध्वा च य ओजायमानम्। कर्तुः क्यङ् सलोपश्च। ओजसोऽप्सरसो नियमिति सकारलोपः। बलमाचरन्महिमाहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान्, स इन्द्रो नाहमिति।

शब्दार्थ–शम्बरम्=शम्बर नाम के असुर को। **क्षियन्तम्**=निवास करने वाले। **चत्वारिंश्याम्**=चालीसवीं। **शरदि**=शरद ऋतु में। **अन्वविन्दत्**=खोज कर पा लिया था। **ओजायमानम्**=बल का प्रदर्शन करते हुए। **अहिम्**=प्रहार करने वाले। **दानुम्**=दनु के पुत्र असुर को। **शयानम्**=सोते हुये को, लेटे हुये को।

हिन्दी अनुवाद–जिसने अपने डर से पर्वतों में छिप कर निवास करने वाले शम्बर नाम के असुर को चालीसवीं शरद् ऋतु में (चालीसवें वर्ष में) खोज कर पा लिया था और जिसने बल का प्रदर्शन करते हुए, प्रहार करने वाले उस दनु के पुत्र असुर को सोते हुए को या लेटे हुए को मार डाला था, हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

क्षियन्तम्–क्षि+शतृ=क्षियत्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

चत्वारिंश्याम्–चत्वारिंशताम् पूरणः अर्थ में 'तस्य पूरणे डट्'। चत्वारिंशत्+ड+ङीप्=चत्वारिंशी सप्तमी का एकवचन।

शयानम्–शी+शानच्=शयान्।

ओजायमानम्–ओजस्+क्यङ्+शानच्= ओजायमान। 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' का लोप।

दानुम्–दनोः अपत्यम् अथ में दनु+अण्।

विशेष–सायण ने 'अहि' का अर्थ 'हन्ता' किया है परन्तु मैक्डानल ने दैत्य (dragon) किया है।

इस मन्त्र में दिवोदास की कथा का संकेत है, जिसमें इन्द्र ने उसको शम्बर असुर से बचाया था। शम्बर के अनेक दुर्गों का वर्णन ऋग्वेद में आया है, जिनको इन्द्र ने नष्ट कर दिया था। इन्द्र के अनेक शत्रुओं में शम्बर का नाम आता है। कुछ विद्वान् शम्बर और वृत्र को पर्यायवाची मानते हैं तथा कुछ के अनुसार ये दोनों असुर अलग-अलग हैं।

'शयानम्' का अर्थ वर्षा के या झरनों के जलों को रोकने वाला' भी किया गया है। तिलक ने 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' पुस्तक में 'चत्वारिंश्या शरदि' पर विशेष विवेचना की है और इसका अर्थ 'शरद् ऋतु की चालीसवीं तिथि' किया है। छन्द की पूर्ति के लिये 'शरद्यन्व०' को 'शरदि अन्व पढ़ना चाहिये।

१२. यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर् द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यः सप्तऽरश्मिः। वृषभः। तुविष्मान्। अवऽअसृजत्। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्। यः। रौहिणम्। अस्फुरत्। वज्रऽबाहुः। द्याम्। आऽरोहन्तम् सः। जनासः। इन्द्रः॥१२॥

अन्वय–सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् यः सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत्। वज्रबाहुः य द्याम् आरोहन्तम् रौहिणम् अस्फुरत, जनासः सः इन्द्रः।

सायण–यः सप्तरश्मिः सप्तसंख्याकाः पर्जन्या रश्मयो यस्य। ते च रश्मयो वराहवःऽस्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेघाश्चेतीति ये चेमे शिमिविद्विषः पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभिरिति तैत्तिरीयारण्यके ह्याम्नाताः। वृषभो वर्षकस्तुविष्मान् बुद्धिमान्बलवान्वा सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धूनपः सर्तवे सरणाय अवासृजत् अवसृष्टवान्। यद्वा गङ्गाद्याः सप्त मुख्याः नदीरसृजत्। यश्च वज्रबाहुः सन् द्यां दिवमारोहन्तं रौहिणमसुरं अस्फुरत् जघान। स्फुर स्फुरणे तुदादिः।

शब्दार्थ–**सप्तरश्मिः**=सात प्रकार के मेघों का नियन्ता। **वृषभः**=वर्षा करने वाला। **तुविष्मान्**=शक्तिशाली, बुद्धिमान्। **अवासृजत्**=प्रवाहित किया था। **सर्तवे**=बहने के लिये। **सप्त**=बहने वाले। **सिन्धून्**=जलों को। **रौहिणम्**=रौहिण नाम के असुर को। **अस्फुरत्**=मारा था। **वज्रबाहुः**=वज्र को बाहु में उठा कर। **आरोहन्तम्**=चढ़ते हुये।

हिन्दी अनुवाद–सात प्रकार के मेघों के नियन्ता, वर्षा करने वाले, शक्तिशाली

या बुद्धिमान् जिसने बहने के स्वभाव वाले जलों को बहने के लिये प्रवाहित किया था और वज्र को बाहु में उठाकर जिस इन्द्र ने द्युलोक में चढ़ते हुये रौहिण नाम के असुर को मारा था, हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

तुविष्मान्–'तु गतौ' धातु से 'असुच्' प्रत्यय =तुविष्। तुविष+मतुप्।

सर्तवे–'सृ' धातु से 'तुमुन्' के अर्थ में वैदिक प्रयोग।

अस्फुरत्–स्फुर् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आरोहन्तम्–आ+रुह्+शतृ=आरोहत्। द्वितीया का एकवचन।

विशेष–मैक्डानल ने 'सप्तरश्मिः वृषभः' का अर्थ 'सात लगामों वाला बैलः' और पीटर्सन ने 'सात रस्सियों वाला बैल' किया है। मैक्डानल और पीटर्सन ने 'सप्त सिन्धु' का अर्थ सात नदियां किया है। सायण ने 'रश्मि' का अर्थ 'मेघ' किया है। वह इन्द्र सात पर्जन्यों का नियन्ता है। तैत्तिरीय आरण्यक में वे सात मेघ इस प्रकार गिनाये गये है-वराहव, स्वतपस्, विद्युन्महस्, धूपि, श्वापि, गृहमेध, शिमिविद्विष्।

१३. द्यावा॑ चिदस्मै पृथि॒वी न॑मेते॒ शुष्मा॑च्चिदस्य॒ पर्व॑ता भयन्ते।
यः सोम॒पा नि॑चि॒तो वज्र॑बाहु॒र् यो वज्र॑हस्तः स ज॑नास॒ इन्द्रः॑॥

पद-पाठः द्यावा॑। चि॒त्। अ॒स्मै॒। पृ॒थि॒वी इति॑। न॒मे॒ते॒ इति॑। शुष्मा॑त्। चि॒त्। अ॒स्य॒। पर्व॑ताः। भ॒य॒न्ते॒। यः। सो॒म॒ऽपाः। नि॒ऽचि॒तः। वज्र॑बाहुः। यः। वज्र॑ऽहस्तः। सः। ज॒ना॒स॒ः। इन्द्र॑ः॥१३॥

अन्वय–अस्मै द्यावा चित् पृथिवी नमेते, अस्य शुष्मात् पर्वताः चित् भयन्ते। यः सोमपाः निचितः वज्रबाहुः, यः वज्रहस्तः, जनासः सः इन्द्रः।

सायण–अस्मै इन्द्राय द्यावा पृथिवी। इतरेतरपेक्षया द्विवचनं प्रमित्रयोर्वरुण-योरिति वत्। नमेते स्वयमेव प्रह्वीभवतः। णमु प्रह्वत्वे। कर्म कर्तरि न दुहस्नुमां यक् चिणाविति यकः प्रतिषेधः। चिदपि च अस्येन्द्रस्य शुष्माद् बलात् पर्वता भयन्ते बिभ्यति। यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः। यद्वा अन्येभ्योऽपि देवेभ्यो दृढाङ्गः। वज्रबाहुः वज्रसदृशबाहुः। यश्च वज्रहस्तः वज्रयुक्तः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम्।

शब्दार्थ–नमेते=प्रणाम करने के लिये झुक जाते हैं। **शुष्मात्**=बल से। **भयन्ते**=भय खाते हैं। **सोमपाः**=सोमरस का पान करने वाला। **निचितः**=दृढ़ अङ्गों वाला। **वज्रबाहुः**=वज्र के समान कठोर भुजा वाला। **वज्रहस्त**=वज्र को हाथ में धारण करने वाला।

हिन्दी अनुवाद–इस इन्द्र के लिये द्युलोक और पृथिवी लोक भी प्रणाम करने के लिये स्वयं झुक जाते हैं। इसके बल से पर्वत भी भय खाते हैं। जो इन्द्र सोम रस का पान करने वाला है, दृढ़ अङ्गों वाला है, वज्र के समान कठोर भुजाओं वाला है, और वो हाथ में वज्र को धारण किये हुये है, हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

द्यावादिस्मै पृथिवी–द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्री। द्वन्द्व समास। वैदिक व्यत्यय के अनुसार समस्त पदों के बीच में 'चिदस्मै' पद आ गये हैं।

भयन्ते–'भी भये' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन में वैदिक प्रयोग। लोक में 'बिभ्यति' रूप होगा।

सोमपाः–सोमं पिबति अर्थ में सोम+पा+क्विप्।

निचितः–नि+चि+क्त।

विशेष–सायण ने 'निचित' का अर्थ 'दृढ़ अङ्गों वाला' किया है। परन्तु मैक्डानल ने इस शब्द का अर्थ 'जाना गया' किया है। वे 'सोमपानिचितः' को समस्त पद मान कर इसका अर्थ 'जो सोमपान करने वाला जाना गया है' करते हैं। पीटर्सन और मैक्डानल ने 'वज्रबाहुः और वज्रहस्तः' को एक ही अर्थ का सूचक माना हैं

१४. यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः॥

पद-पाठः यः। सुन्वन्तम्। अवति। यः। पचन्तम्। यः। शंसन्तम्।
यः शशमानम्। ऊती। यस्य। ब्रह्म। वर्धनम्। यस्य।
सोमः। यस्य। इदम्। राधः। जनासः। इन्द्रः॥१४॥

अन्वय–यः सुन्वन्तम् अवति, यः पचन्तम्, यः ऊती शंसन्तम्, यः शशमानम्, ब्रह्म यस्य वर्धनम्, यस्य सोमः, यस्य इदम् राधः, जनासः सः इन्द्रः।

सायण–यः सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वन्तं यजमानमवति रक्षति। यश्च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्तं यश्च ऊती उतये। सुपां सुलुगिति (पा० ७. १. १९) चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। स्वरक्षायै शस्त्राणि शंसन्तं यश्च शशमानमवति। स्तोत्रं कुर्वाणं रक्षति। ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं यस्य वर्धनं वृद्धिकरं भवति। तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति। यस्य चेदमस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणमन्नं वृद्धिकरं भवति स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम्।

शब्दार्थ–सुन्वन्तम्=सोम रस निकालने वाले को। **अवति**=रक्षा करता है। **पचन्तम्**=हवियों को पकाने वाले की। **शंसन्तम्**=स्तुति करने वाले को। **शशमानम्**=स्तोत्र

पढ़ने वाले की, यज्ञ करने वाले की। **ऊती**=रक्षा करने के लिये। **ब्रह्म**=ब्रह्म नामक स्तोत्र। **वर्धनम्**=बढ़ाने वाला। **राधः**=पुरोडाश आदि अन्न।

हिन्दी अनुवाद–जो सोम का रस निकालने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो पुरोडोश आदि हवियों को पकाने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो रक्षा करने के लिये स्तुति करने वाले यजमान की रक्षा करता है, जो स्तोत्र पढ़ने वाले या यज्ञ करने वाले यजमान की रक्षा करता है, वृद्धि करने वाले ब्रह्म नामक स्तोत्र जिसको बढ़ाते हैं, सोम रस जिसका बढ़ाने वाला है, यह सब पुरोडाश आदि जिसके हैं, हे असुरो! वही इन्द्र है।

व्याकरण–

सुन्वन्तम्–सु+शतृ (श्नु का आगम और न के उ को व्) द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

पचन्तम् शंसन्तम्–पच् और शंस् धातु+शतृ=पचत् और शंसत्। द्वितीया का एकवचन।

शशमानम्–शंस्+कानच्।

ऊती–'अव रक्षणे' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय और निपातनात् 'ऊति'। चतुर्थी का एकवचन वैदिक रूप।

वर्धनम्–वृध्+ल्युट (अन) वर्धन।

राधः–राध्+असुन्=।

विशेष–सायण ने 'शशमानम्' का अर्थ 'स्तोत्र पढ़ने वाला' पीटर्सन एवं मैक्डानल ने 'यज्ञ को सम्पन्न करने वाला' (who has prepared the sacrifice) किया है। 'शशमानम्' का मूल अर्थ to work, to labour या to be active है। 'ऊती' को तृतीया का एकवचन मान कर इसका अर्थ 'सहायता से' भी किया गया है।

१५. यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥

पद-पाठः यः। सुन्वते। पचते। दुध्रः। आ। चित्। वाजम्। दर्दर्षि। सः। किल।
असि। सत्यः। वयम्। ते। इन्द्र। विश्वह। प्रियासः। सुऽवीरासः।
विदथम्। आ। वदेम॥१५॥

अन्वय–दुध्रः यः सुन्वते पचते चित् वाजम् आदर्दर्षि, किल सः सत्यः असि। इन्द्र! वयम् ते प्रियासः सुवीरासः विश्वह विदथम् आ वदेम।

सायण–इदानीमृषि: साक्षात् कृतमिन्द्रं प्रति प्रबूते। हे इन्द्र! यो दुध्रो दुर्धरः सन् सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यजमानाय वाजमन्नं बलं वा आदर्दर्षि भृशं प्राययसि स तादृशस्त्वं सत्यो यथार्थभूतोऽसि। न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि। किलोकि प्रसिद्धाः। ते तव प्रियासः सुवीरासः कल्याणपुत्रपौत्रा सन्तो वयं विश्वह सर्वेष्वहः सु विदथं स्तोत्रम् आवेदम ब्रूयाम।

शब्दार्थ–सुन्वते=सोम का अभिषव करने वाले के लिये। **पचते**=हवियों को पकाने वाले के लिये। **दुध्र**=दुर्धर, असह्य प्रभाव वाला। **वाजम्**=बल, अन्न। **दर्दर्षि**=देता है। **विश्वह**=सब दिनों में। **प्रियासः**=प्रिय होते हुये। **सुवीरासः**=उत्तम पुत्र-पौत्रों से युक्त होते हुये। **विदथम्**=स्तुति को। **आवदेम**=अच्छी प्रकार से गाते रहें।

हिन्दी अनुवाद–दुर्धर अर्थात् असहय प्रभाव वाला होता हुआ जो इन्द्र सोम अभिषव करने वाले और पुरोडाश आदि हवियों को पकाने वाले यजमान के लिये बल या अन्न को प्रदान करता है, निश्चय से वह तू सत्य ही है, अर्थात् तेरी सत्ता वास्तविक है। हे इन्द्र! हम तुम्हारे प्रिय होते हुये उत्तम पुत्र-पौत्रों से युक्त होते हुये सब दिनों में अर्थात् सदा तुम्हारी स्तुति को अच्छी प्रकार से गाते रहें।

व्याकरण–

सुन्वते, पचते–सु+श्नु+शतृ, पच्+शतृ। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

दुध्रः–दुर्+धृ+क(अ) निपातनात् 'दुर्' के 'र्' का लोप।

दर्दर्षि–यङ् लुगन्त 'दृ' धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

सत्यः–अस्+शतृ। अस् के अ का लोप=सत्। सत्+य=सत्य।

प्रियासः, सुवीरासः–प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। वैदिक रूप। लोक में प्रियाः और सुवीराः होगा।

विश्वह–विश्वानि अहानि अर्थ में छान्दस रूप।

विदथम्–'विद्' धातु+अथच्। वैदिक निपातनात् रूप बना।

विशेष–पीटर्सन ने 'दुध्र' का अर्थ 'शक्तिशाली देवता' (mighty god) और मैक्डानल ने 'अति भयानक' (most fierce) किया है। मैक्डानल के अनुसार 'वाजम्' का अर्थ 'लूटा हुआ धन (booty) है, तथा 'वाजम् आदर्दर्षि' का अर्थ है–जो इन्द्र लूटे हुये धन को देवताओं को ज़बरदस्ती देता है।

इस अन्तिम मन्त्र में वर्णन है कि इस प्रकार गृत्समद ऋषि की स्तुतियों से प्रसन्न होकर इन्द्र उनके समक्ष उपस्थित हुये।

नद्यः सूक्त

(मण्डल ३, सूक्त-३३)

ऋषि-विश्वामित्र **देवता**-नद्यः **छन्द**-१-१२ तक त्रिष्टुप्, अन्तिम-अनुष्टुप्

१. प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥

पद-पाठः प्र। पर्वतानाम्। उशती। इति। उपऽस्थात्। अश्वे इवेत्यश्वेऽइव।
विसिते इति विऽसिते। हासमाने इति। गावाऽइव। शुभ्रे इति।
मातरा। रिहाणे इति।
विऽपाट्। शुतुद्री। पयसा। जवेते इति॥१॥

अन्वय-पर्वतानाम् उपस्थात् उशती, विषिते हासमाने अश्वे इव, मातरा रिहाणे शुभ्रे गावा इव, पयसा विपाट्छुतुद्री प्र जवेते।

सायणः-पर्वताना गिरीणां शैलानामुपस्थादुत्सङ्गन्निर्गत्योशती समुद्रगमनं कामयमाने। गमने दृष्टान्तः। अश्वे इव वडवे यथा विषिते मन्दुरातो विमुक्ते हासमाने अन्योन्यजवेन स्पर्धमाने। यद्वा हृष्यन्त्यावश्वे इव वडवे इव त्वरया गच्छन्त्यौ परस्परं हृष्य त्यौ। तथा गावेव शुभ्रे। यथा द्वौ गावौ शोभमानौ वर्तेते। तद्वच्छुभ्रं शोभमाने। किंच मातरा। यथा मातरौ धेनू रिहाणे। अन्तर्णीतसमर्थो लिहिः। वत्सं जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ शीघ्रं गच्छतस्तद्वत्समुद्रं गन्तुं जवाद् गच्छन्त्यौ पयसा संयुक्ते। विपाट् कूलविपाटनाद् विपाशनाद्वा विमोचनाद्वा विपाट्। शुतुद्री। शु क्षिप्रं तु तुन्ना तुलेव द्रवती गच्छतीति शुतुद्री। एतन्नामके नद्यौ प्रजवेते समुद्रं प्रति शीघ्रं गच्छतः। अत्र निरुक्तम्। पर्वतामुनापस्थादुपस्थानादुशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा विषणे इति वा हासमाने। हासतिः स्पर्धायां हर्षमाणे वा। गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्र्यौ पयसा प्रजवेते (नि०९-३९) इति। उशती। वश कान्तौ। अस्य शतुर्ङित्वाद् अहिज्यावयोत्यादिना सम्प्रसाणम्। विषिते। षिञ् बन्धने इत्यस्य कर्मणि निष्ठा। संहितायां परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसट्टेत्यादिना (पा० ८-३-७०) षत्वम्। गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतिस्वरः। हासमाने। हासितः स्पर्धाकर्मा हसे हसने वा। शानच्। लसार्वधातुकस्वरे कृते धातुस्वरः। रिहाणे लिह आस्वादने। स्वरितेत्त्वादुभयपदी शानच्। अदादित्वाच्छपो लुक्। लकारस्यः रेफश्छान्दसः। रेफमवलम्ब्यणत्वम्। चित्त्वादन्तोदात्तः। विपाट्। पट गतौ पश बाधनस्पर्शनयोरिति वा ण्यन्तावेतौ विपूर्वौ। शकारस्य व्रश्चादिना षत्वम्। शुतुद्री। छान्छसी रूपसिद्धिः। जवेते। जुङ् गतौ। भौवादिकः। ङित्त्वादात्मनेपदम्। आतो ङितः इतीयादेशः। निघातः।

शब्दार्थ–पर्वतानाम्=पर्वतों की। **उशती**=कामना करती हुई। **उपस्थात्**=गोद से, तलहटी से। **अश्वे इव**=घोड़ियों के समान। **विषिते**=खोली गई। **हासमाने**=परस्पर स्पर्धा करती हुई हिनहिनाती हुई। **गावा इव**=बछड़ियों के समान। **शुभ्रे**=शोभायान होते हुये। **रिहाणे**=चाटते हुये। **मातरा**=माता को। **विपाट् शुतुद्री**=विपाशा और शुतुद्री नाम की नदियां। **पयसा**=जल से युक्त होती हुई। **प्रजवेते**=अति वेग से जा रही है।

हिन्दी अनुवाद–पर्वतों की तलहटी से समुद्र की कामना करती हुई, घुड़साल से खोली गई और परस्पर स्पर्धा करती-हुई या हिनहिनाती हुई घोड़ियों के समान और माता को चाटने की इच्छा करती हुई शोभायमान बछड़ियों के समान, जल से भरी हुई विपाशा और शुतुद्री नाम की ये दो नदियां समुद्र की ओर अति वेग से जा रही हैं।

व्याकरण–

उशती–वश कान्तौ। वश्+शतृ (अत्)+डीप् (ई) 'ग्राहिज्या०' सूत्र से सम्प्रसारण होकर=उशती।

उपस्थात्–उपस्थीयते अत्र। उप+स्था+क (अ)=उपस्थ। पंचमी विभक्ति का एकवचन।

विषिते–वि+षिञ् बन्धने। वि+षि+क्त=विषित।

हासमाने–हास स्पर्धायां हर्षमाणे वा। हास+शानच्=हासमान।

शुभ्रे–शुभ कान्तौ। शुभ्+र=शुभ्र।

रिहाणे–लिह् आस्वादने। लिह्+शानच् (आन) 'ल' को छान्दस 'र' आदेश। न को ण होकर=रिहाण।

विपाट्–वि+पट गतौ, अथवा, वि+श बाधनस्पर्शनयोः। वि+पश्+णिच्+क्विप्=बिपाश्।

जवेते–जुङ् गतौ। आत्मनेदी। लट् लकार, प्रथम पुरुष द्विवचन।

विशेष–इस सूक्त सम्बन्ध में यह आख्यान प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषि सुदास नामक राजा के पुरोहित थे। पौरोहित्य से उनको प्रभूत धन प्राप्त हुआ। उस धन को लेकर वे अपने अनुयायियों के साथ विपाशा और शुतुद्री (व्यास और सतलुज) नदियों के संगम पर पहुंचे। उन्होंने नदियों के पार जाने की इच्छा की। परन्तु नदियों के अगाध जल को देखकर उन्होंने उनकी स्तुति की।

सायण ने 'उशती' की निष्पत्ति 'वश कान्तौ' से करके इसका अर्थ 'कामना करती हुई' किया है। पीटर्सन ने भी इसी प्रकार निष्पत्ति मानी है। परन्तु उसका अर्थ

है-कान्ति से सम्भृत (full of ardour) विषित=वि+सि to let loose लुई रेनु ने उशती का अर्थ 'joyful ones' किया है। सायण ने 'हास' धातु के दो अर्थ यास्क का अनुकरण करते हुये बताये हैं-स्पर्धा करना और प्रसन्न होना। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ 'दौड़ में दौड़ना' भी करते हैं। पीटर्सन के अनुसार 'ऋग्वेद' में 'हासमान्' पद का प्रयोग तीन स्थानों पर हुआ है और इसका भाव है-running a race। लुई रेनु ने यहां हासमाने को 'who rush in to the arena' किया है।

२. इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे॥

पद-पाठः इन्द्रेषिते इतीन्द्रऽइषिते। प्रऽसवम्। भिक्षमाणे। इति। अच्छ। समुद्रम्। रथ्याऽइव। याथः। समाराणे इति संऽआराणे। ऊर्मिऽभिः। पिन्वमाने। इति। अन्या। वाम्। अन्याम्। अपि। एति। शुभ्रे इति।।२।।

अन्वय-इन्द्रेषिते, प्रसवम् भिक्षमाणे, समाराणे, ऊर्मिभिः पिन्वमाने, शुभ्रे समुद्रम् अच्छ रथ्या इव याथः। वाम् अन्या अन्यम् अपि एति।

सायणः-हे नद्यौ इन्द्रेषिते इन्द्रेण प्रेषिते प्रसवं तस्येन्द्रस्यानुज्ञां भिक्षमाणे प्रार्थयमाने युवां समुद्रमच्छाभिमुख्येन याथः गच्छथः। तत्र दृष्टान्तः रथ्येवेति। यथा रथिनौ लक्ष्यं देशमभिगच्छतस्तद्वत्। किं कुर्वत्यौ। समाराणे परस्परं संगच्छन्त्यावूर्मिभिस्तरङ्गैः पिन्वमाने परिसरप्रदेशं संतर्पयन्त्यौ शुभ्रे शोभयाने। युवा समुद्रं गच्छथ इति पूर्वेणान्वयः। तथा वां युवयोर्मध्येऽन्यैकान्यामपरां नदीमप्येति। अपि गच्छति। परस्परमैक्यमापद्यत इत्यर्थः। इन्द्रेषिते। इष गतावित्यस्य कर्मणि निष्ठायास्तीषसहेत्यादिना इडागमः। तृतीया कर्मणीति पूर्वपदस्वरः। प्रसवम्। षू प्रेरण इत्यस्याप्। थाथादिस्वरः। रथ्येव। रथस्येमौ तस्येदमित्यर्थे रथाद्यदिति यत्प्रत्ययः। तित्स्वरितः। इवेन विभक्तलोपः। याथः यातेर्लटि रूपम्। समाराणे। ऋ गतावित्स्य लिट्। सपूर्वस्यार्तेः समोगमीत्यादिनात्मनेपदत्वात्तस्य कानजादेशः। ऋच्छत्यृतामिति गुणः। पिन्वमाने। पिवि सेचने। भूवादिः। लसार्वधातुकस्वरेण शानचोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः।

शब्दार्थ-इन्द्रेषित=इन्द्रके द्वारा भेजी गई। **प्रसवम्**=प्रेरणा की। **भिक्षमाणे**=याचना करती हुई। **समुद्रम् अच्छ**=समुद्र की ओर। **रथ्या इव**=रथारोहियों के समान। **याथः**=जाती हो। **समाराणे**=परस्पर मिलती हुई। **ऊर्मिभिः**=तरङ्गों से। **पिन्वमाने**=तृप्त करती हुई। **अन्या**=दूसरी। **वाम्**=तुम दोनों में से। **अन्याम्**=दूसरी में। **अपि एति**=भी जाती है।

हिन्दी अनुवाद-हे नदियो! इन्द्र के द्वारा भेजी गई, इन्द्र से प्रेरणा की

याचना करती हुई, परस्पर मिलती हुई और तरङ्गों से प्रान्त भूमियों को संतृप्त करती हुई, अर्थात् सींचती हुई शोभायमान होती हुई तुम दोनों समुद्र की ओर दो रथारोहियों के समान जाती हो। तुम दोनों में से अन्य एक दूसरी में भी जाती है अर्थात् मिल कर एक हो जाती हैं।

व्याकरण–

इन्द्रेषिते–इन्द्रेण इषिते। इष् गतौ। इष्+क्त, इट का आगम=इषित।

भिक्षमाणे–भिक्ष याच्ञायाम्। भिक्ष्+शानच्=भिक्षमाण।

प्रसवम्–प्र+षू प्रेरणे। प्र+सू+अ (अप्)=प्रसव।

रथ्या–रथस्य इदम्। 'तस्येदम्' अर्थ में 'रथाद्यत्' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय। रथ+य=रथ्य।

याथः– या गतौ। लट् लकार, मध्यम पुरुष, द्विवचन।

समाराणे–सम्+आ+ऋ गतौ। ऋ+आन (कानच्)। गुण होकर=अराण। सम+आ+अराण= समाराण।

पिन्वमाने–पिवि सेचने। पिव्+आन (शानच्)। ' seeking acceleration ' और लुई रेनू ने imploring (the signal of) the race' किया है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यहां पिन्वमाने का अर्थ फूलती हुई (swelling) है। पीटर्सन ने 'ऊर्मिभिः पिन्वती समाराणे' इस प्रकार अन्वय करके 'flowing together with swelling waves' अर्थ किया है। परन्तु लुई रेनु ने 'समाराणे को अलग तथा 'ऊर्मिभिः पिन्वमाने' को अलग विशेषण मान कर अर्थ किया है, When you have joined each other, swelling yourselves with waves.

३. अच्छा॒ सिन्धुं॑ मा॒तृत॑मामयासं॒ विपा॑शमु॒र्वीं सु॒भगा॑मगन्म।
व॒त्समि॑व मा॒तरा॑ संरिहा॒णे स॑मा॒नं योनि॒मनु॑ सं॒चर॑न्ती॥

पद-पाठः अच्छ॑। सिन्धु॑म्। मा॒तृऽत॑माम्। अ॒या॒स॒म्। विऽपा॑शम्। उ॒र्वीम्।
सु॒ऽभगा॑म्। अ॒ग॒न्म॒। व॒त्सम्ऽइ॑व। मा॒तरा॑। सं॒रि॒हा॒णे इति॑
स॒म्ऽरि॒हा॒णे। स॒मा॒नम्। योनि॑म्। अनु॑। सं॒चर॑न्ती इति॑ स॒म्ऽचर॑न्ती॥३॥

अन्वय–मातृतमाम् सिन्धुम् अच्छ अयासम्। उर्वीम्, सुभगाम् विपाशम्। मातरा वत्सम्। इव संरिहाणे समानम् योनिम् अनुसंचरन्ती।

सायण–हे नद्यौ मातृतमामतिशयेन मातरं सिन्धुं स्रवन्तीं शुतुद्रीं त्वामच्छाभिमुख्येनायासं विश्वामित्रोऽहं प्राप्तोऽभूवम्। उर्वीं महतीं सुभगां सौभाग्यवतीं विपाशं

त्वामगन्म वयं प्राप्ताः स्म। किं कुर्वत्यौ। मातरा मातरौ द्वे धेनू वत्समिव संरिहाणे। अन्तर्णीतसन्नर्थो लिहिः। जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ यथा वत्समनुगच्छतस्तद्वत्। समानमेकं योनिं स्थानं समुद्रमनु अभिलक्ष्य संचरन्ती सम्यक् चरन्त्यौ। युवामयासमिति पूर्वेणान्वयः। अयासम् या प्रापण इत्यस्य रूपम्। इडभावश्छान्दसः। अगन्म। गमेर्लङि बहुलं छन्दसीति शपो लुक्। म्वोश्चेति मकारस्य नकारः। निघातः। संचरन्ती। चरतिर्गत्यर्थः। तृतीयायुक्तत्वादात्मनेपदाभावः। शतुर्लसार्वधातुकस्वरेणानुदात्तत्वे कृते धातुस्वरः।

शब्दार्थ–सिन्धुम् अच्छ= नदी की ओर। **मातृतमाम्**=सर्वश्रेष्ठ माता। **अयासम्**=पहुंच गया हूं। **विपाशम्**=विपाशा की ओर। **उर्वीम्**= विशाल। **सुभगाम्**= सौभाग्यशालिनी। **अगन्म**=हम पहुंच गये हैं। **वत्सम्**=बछड़ा। **मातरा**=दो मातायें। **संरिहाणे**=चाटने की इच्छा करती हुई। **समानम् योनिम्**=एक ही स्थान। **अनु**=ओर। **संचरन्ती**=साथ-साथ जाती हुईं।

हिन्दी अनुवाद–विश्वामित्र कहते हैं कि मैं सर्वश्रेष्ठ माता, बहती हुई नदी (शुतुद्री) की ओर पहुंच गया हूं। हम विशाल और सौभाग्यशालिनी विपाशा नदी पर पहुंच गये हैं। हे नदियो! जिस प्रकार दो मातायें (गौयें) बछड़े को चाटने की इच्छा करती हुई उसकी ओर जाती हैं, उसी प्रकार तुम दोनों एक ही स्थान समुद्र की ओर साथ-साथ बहती हुई जा रही हो।

व्याकरण–

मातृतमाम्–अतिशयेन मातरम्। अतिशय अर्थ में तमप् प्रत्यय।

अयासम्–या प्रापणे। लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

सुभगाम्–शोभनः भगः यस्याः ताम्। बहुव्रीहि समास।

विशेष–सायण ने 'समानं योनिम्' का अर्थ 'एक स्थान समुद्र की ओर' किया है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान यहां योनि का अर्थ नदी का बहने या आश्रय स्थान (river bed) करते हैं। पीटर्सन और लुई रेनु के अनुसार इस वाक्य का अर्थ है-They flow along a comman bed पीटर्सन का कहना है कि 'योनि' पद का अर्थ सामान्यतः 'place of residence' है, परन्तु यहां 'bed' है।

४. एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति॥

पद-पाठः एना। वयम्। पयसा। पिन्वमानाः। अनु। योनिम्। देवऽकृतम्। चरन्तीः।
न। वर्तवे। प्रऽसवः। सर्गऽतक्तः। किम्ऽयुः। विप्रः। नद्यः। जोहवीति॥४॥

अन्वय–एना पयसा पिन्वमानाः वयम् देवकृतम् अनुचरन्तीः। सर्गतक्तः प्रसवः वर्तवे न। विप्रः नद्यः जोहवीति।

सायणः–एवं स्तुते नद्यौ विश्वामित्रं प्रत्यूचतः। एनैनेन पयसा पिन्वमानाः संतर्पयन्त्यो देवकृतं देवेनेन्द्रेण कृतं सन्दिष्टं योनिं स्थानं समुद्रमनु लक्ष्यीकृत्य चरन्तीर्गच्छन्त्यो वयमास्महे। द्वयोर्वहुवचन पूजार्थम्। तासामस्माकं सर्गतक्तः सर्गे गमने प्रवृत्तः प्रसवः उद्योगो न वर्तवे निवर्तनाय न भवति। किंयुः किमिच्छन्नसौ विप्रो ब्राह्मणो नद्यो नदीरस्मान् जोहवीति भृशमाह्वयति। एना इदं शब्दस्य तृतीयायाम् एनादेशः। सुपां सुलुगति तृतीयाया आजादेशः। ऊडिदमिति विभक्तेरुदात्तत्वम्। पिन्वमानाः। पिवि सेचने। देवकृतम्। तृतीया कर्मणीति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। वर्तवे। वृतु वर्तने। तुमर्थे तवेन्प्रत्ययः। नित्स्वरः। सर्गतक्तः। क्ते चेति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। किंयुः। किमिच्छन्। क्यचि 'मान्ताव्ययप्रतिषेधः' इति छान्दसत्वादत्र प्रतिषेधो न भवतीति क्यच्। क्याच्छन्दसीत्युप्रत्यः। प्रत्ययस्वरः। नद्यः। छान्दसो यणादेशः। जोहवीति। ह्वयो लङ्लुक्यभ्यस्तस्य चेति सम्प्रसारणे कृते गुणो यङ्लुकोरित्यभ्यासस्य गुणः। यङो वेतीडागमः। गुणः। निघातः।

शब्दार्थ-एना=इस। **वयम्**=हम। **पयसा**=जल में। **पिन्वमाना**=संतृप्त करती हुई। **देवकृतम्**=देव इन्द्र द्वारा बताये गये। **योनिम्**=स्थान। **अनु**=की ओर। **चरन्ती**=जाती हुई। **न**=नही हुई। **वर्तवे**=रुकने के लिये। **प्रसवः**=प्रेरणा (उद्योग) **सर्गतक्तः**=बहने में प्रवृत्त होता हुआ। **किंयुः**=क्या चाहता हुआ। **विप्रः**=ब्राह्मण। **नद्यः**=नदियों को। **जोहवीति**=बार--बार पुकारता है।

हिन्दी अनुवाद–विश्वामित्र द्वारा स्तुति की जाती हुई नदियां उत्तर देती हैं–इस जल से प्रान्तभूमियों को संतृप्त करती हुई हम देवराज इन्द्र द्वारा बताये स्थान समुद्र की ओर जा रही हैं। हमारा बहने में प्रवृत्त होता हुआ उद्योग रुकने के लिये नहीं है। क्या चाहता हुआ यह ब्राह्मण हम नदियों को बार-बार पुकार रहा है?

व्याकरण–

एना–इदम् शब्द। तृतीया विभक्ति के एकवचन में 'इदम्' की एन आदेश और विभक्ति को आ आदेश।

देवकृतम्–देवेन कृतम्। तृतीया तत्पुरुष समास। कृ+क्त=कृत।

वर्तवे–'वृ' धातु, तुमुन् के अर्थ में वैदिक तवेन् प्रत्यय। वृ+वे=वर्तवे।

प्रसवः–प्र+षू प्रेरणे। प्र+सू+अ (अप्)=प्रसव।

सर्गतक्तः–सर्गे तक्तः। सृज्+धञ्=सर्ग। तक्+क्त=क्त।

किंयुः–:किम् इच्छन्' अर्थ में :क्यच्' प्रत्यय। किम्+य। 'क्याच्छन्दसि' सूत्र

से उ प्रत्यय=किंयु।

जोहवीति–पुनः पुनः ह्वयते। यङ् प्रत्यय यङ् को लोप, द्वित्व, अभ्यास को 'ज' आदेश और गुण, सम्प्रसारण, इट् का आगम, गुण और अव आदेश होकर=जोहवीति।

विशेष–'पयसा पिन्वमानाः' का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों में 'swelling with water' किया है और 'योनि' का अर्थ 'river bed' किया है। इस स्थान पर बहने के लिये इन्द्र ने उन नदियों को निर्देश किया था। नदियां दो हैं, तथापि 'वयम्' में बहुवचन का प्रयोग आदर के लिये है। इस सूक्त में नदियां जब कुछ कहती हैं, तो अपने लिये बहुवचन का प्रयोग करती हैं।

सायण ने 'वर्तवे' पद को 'वृत+तवे' से निष्पन्न बताया है। सायण ने इस पद को 'वर्तवे' इस रूप से निष्पन्न बता कर अर्थ किया –निवर्तनाय (लौटने के लिये)। परन्तु पीटर्सन इस पद को 'वृ' to stop+तवे' से निष्पन्न बताते हैं।। यह अधिक उपयुक्त है। पीटर्सन ने 'सर्गतक्तः' को 'सृ to let loose तथा तक् 'to rush से निष्पन्न बताकर अर्थ किया है–dashing forward on account of the initial urge.

५. रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः।।

पद-पाठः रमध्वम्। मे। वचसे। सोम्याय। ऋतऽवरीः। उप। मुहूर्तम्। एवैः। प्र।
सिन्धुम्। अच्छ। बृहती। मनीषा। अवस्युः। अह्वे। कुशिकस्य। सूनुः।।५।।

अन्वय–ऋतावरीः मे सोम्याय वचसे एवैः मुहूर्तम् उपरमध्वम्। कुशिकस्य सूनुः अवस्युः सिन्धुम् अच्छ बृहती मनीषा प्र अह्वे।

सायणः–विश्वामित्रो नदीं प्रति ब्रुते। ऋतावरीः। ऋतमुदकं तद्वत्यो हे नद्यो यूयं मे विश्वामित्रस्य मम सोम्याय उत्तीर्याहं सोमं सम्पादयामि इत्येवं सोमसम्पादिने। वचसे। तदर्थमेवैः। पञ्चम्पर्थे तृतीया शीघ्रमनेभ्यो मुहूर्तं मुहूर्तमात्रपुरध्वम्। उपपूर्वो रमिरुपसंहारे वर्तते। क्षणमात्रं शीघ्रगमनादुपरता भव। सामान्येन नदीषूच्यमानासु समीहितं प्रयोजनमकुर्वतीषु पुरोवर्तिनीं शुतुद्रीं प्रति ब्रूते। कुशिकस्य राजर्षेः सूनुर्विश्वामित्रोऽहं बृहती महत्या मनीषा स्तुत्यावस्युरामनो। रक्षामिच्छन् सन् सिन्धुं शुतुद्रीं त्वामच्छाभिमुख्येन प्राह्वे। प्रकर्षेणाह्वयामि। अत्र निरुक्तम्। उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसंपादिन ऋतावरीर्ऋतवत्यः। ऋतमित्युदकनाम प्रत्यृतं भवति। मुहूर्तवैरयनैर्वा प्राभिह्वयामि। सिन्धु बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वावनाय कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव। इति (नि० २-२५)। रमध्वम्। रमु उपरमे। उपपूर्वाद् रमतेर्विभाषाकर्मकाम। (१-३-८५) इत्यात्मनेपदम्। ऋतावरीः। ऋतशब्दान्मत्वर्थे छन्दसीवनिपाविति वनिप्। वनो र चेति डीप्

रेफश्चान्तादेशः। वा छन्दसीति सवर्णदीर्घः। आमन्त्रितस्य पादादित्वात्षाष्ठिकमाद्युदात्तत्वम्। एवैः। इण् गतौ। इण्शीङ्भ्यां वन्। आर्धातुकलक्षणो गुणः। नित्स्वरः। बृहती मनीषा। उभयत्र तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः। अवस्युः। अवो रक्षणमिच्छन्। सुप आत्मनः क्यच्। न क्य इति नकारान्तस्य पदसंज्ञाया नियमितत्वादत्र सकारस्य रुर्न भवति। क्याच्छन्द-सीत्युत्प्रत्ययः। अह्वे। ह्वयतेर्लुङि सिच आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (पा० ३-१-५४) इत्यङादेशः। गुणः। निघातः।

शब्दार्थ–उपरमध्वम्=रुक जाओ। **मे**=मेरे। **वचसे**=कथन के निमित्त से। **सोम्याय**= सोम रस को सम्पादित करने के लिये। **ऋतावरीः**=जल से भरी हुई। **मुहूर्तम्**=क्षण भर के लिये। **एवैः**=अपनी गतियों से। **सिन्धुम् अच्छ**=शुतुद्री नदी की ओर अभिमुखहोकर। **बृहती**=महान्। **मनीषा**=स्तुति से। **अवस्युः**=रक्षा प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ। **प्राहे**=जोर से पुकार रहा हूं। **कुशिकस्य सूनुः**=कुशिक नामक राजर्षि का पुत्र।

हिन्दी अनुवाद–नदियों के पूछने पर विश्वामित्र कहते हैं–जल से भरी हुई हे नदियो! मुझ विश्वामित्र के सोम को सम्पदाति करने वाले कथन के निमित्त से ही तुम क्षण भर के लिये रुक जाओ। अर्थात् मैं आप से कह रहा हूं कि उस पार जाकर सोम का सम्पादन करूंगा, इसलिये क्षण भर के लिये रुक जाओ। तदनन्तर विश्वामित्र शुतुद्री नदी की ओर उन्मुख होकर कहते हैं–मैं कुशिक नामक राजर्षि का पुत्र विश्वामित्र रक्षा प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ तुम शुतुद्री नदी की ओर अभिमुख होकर अपनी महान् स्तुति से तुमको जोर से पुकार रहा हूं।

व्याकरण–

ऋतावरीः–'ऋतम् यस्याः सा' अर्थ में ऋत शब्द से मतुप् के अर्थ में 'छन्दसीव- निपौ' सूत्र से वनिप् प्रत्यय। ऋत+वन्। 'वनो र च' सूत्र से ङीप् और वन् के न को र आदेश। 'वा छान्दसि' से दीर्घ होकर=ऋतावरी।

एवैः–इण् गतौ 'इण्शीङ्भ्यां वन्' सूत्र से वन् प्रत्यय। इ+व। गुण होकर=एव। तृतीया का बहुवचन=एवैः। यहां पञ्चमी के अर्थ में तृतीया है।

मनीषा–मनसः ईषा=मनीषा। तृतीया के अर्थ में प्रथमा।

अवस्युः–'अवः आत्मन इच्छति' अर्थ में 'सुप आत्मनः क्यच्' क्यच् प्रत्यय। अवस्+य।। 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से उ प्रत्यय=अवस्युः।

विशेष–यहां सायण ने 'ऋतु' का अर्थ 'उदक' करके ऋतावरी' का अर्थ **'जल से भरी हुई'** किया है। सायण ने अपने अर्थ की पुष्टि यास्क के निरुक्त से की है-**'ऋतमित्युदकनाम'**। पीटर्सन ने 'ऋतु' का अर्थ 'आदरणीय पवित्र' मानकर

'ऋतावरी' का अर्थ 'holy one' किया है। लुई रेनु ने इस शब्द का अर्थ 'rite observers' किया है। उसके अनुसार 'ऋतु' का अर्थ 'वैदिक यज्ञ है।

सायण 'सोम्याय' पद से यह अभिप्राय लेते हैं कि ऋषि ने नदी के पार जाकर सोम का सम्पादन करना है, अतः उनका वचन 'सोम्य' है। यास्क ने भी 'सोम्याय' का अर्थ 'सोमसम्पादिने' किया है। पीटर्सन इससे यह अभिप्राय लेते हैं कि विश्वामित्र ऋषि अपने कथन के साथ सोम भी प्रदान कर रहे हैं। (my words that have accompanied with the Soma)। लुई रेनु सोम्याय में उपमा मानते हैं। विश्वामित्र के वचन सोम के समान मधुर हैं। [my sweet like the Soma]।

सायण ने 'मनीषा' का अर्थ 'स्तुति' किया है। पीटर्सन इसका अर्थ अभिलाषा (longing) करते हैं। लुई रेनु ने इसका अर्थ विचार (thought) किया है। यास्क के अनुसार 'मनीषा'का अर्थ 'स्तुति अथवा प्रज्ञा' है।

६. इन्द्रो॑ अ॒स्माँ अ॑रदद् वज्र॑बाहु॒रपा॑हन् वृ॒त्रं प॑रि॒धिं न॒दीना॑म्।
दे॒वो॑ऽनयत्सवि॒ता सु॑पा॒णिस्तस्य॑ व॒यं प्र॑स॒वे या॑म उ॒र्वीः॥

पद-पाठः इन्द्रः॑। अ॒स्मान्। अ॒र॒द॒त्। अपः। अ॒ह॒न्। वृ॒त्रम्। प॒रि॒ऽधिम्। न॒दीना॑म्। दे॒वः। अ॒न॒य॒त्। स॒वि॒ता। सु॒ऽपा॒णिः।तस्य॑। व॒यम्। प्र॒ऽस॒वे। या॒मः॒। उ॒र्वीः॥६॥

अन्वय–बज्रबाहुः इन्द्रः अस्मान् अरदत्। नदीनाम् परिधिम् वृत्रम् अपाहन्। सविता सुपाणिः देवः अनयत्। वयम् उर्वीः तस्य प्रस्वे यामः।

सायण–नद्यः प्रत्यूचुः। हे विश्वामित्र! वज्रबाहुः वज्रयुक्तो बाहुर्यस्यासौ वज्रबाहुः तादृशो बलवानिन्द्रो नदीरस्मानरदत्। रदतिः खनतिकर्मा। अखनत्। कथमखनत् उच्यते। नदीनां शब्दकारिणीनामपां परितो निहितम्। उदकमन्तः कृत्वा परितो वर्तमानम् इत्यर्थः तादृशं वृत्रम्। वृणोत्याकाशंमिमि वृत्रो मेघः। तं मेघमपाहन् जघान। तस्मिन् हत आपः पतिताः। ताभिर्गच्छतीभिर्वयं खाताः। एवं मेघहननद्वारेणाखनत्। न केवलमखनत् किं तर्हि। सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सुपाणिः शोभनहस्त उत्पत्तिस्थितिकर्तुत्वात्तादृशो देवो द्योतमान इन्द्रोऽस्मानानयत्। मेघभेदनं कृत्वोदकप्रेरणेन समुद्रमपूरयत्। तस्य तादृशसामर्थ्योपेतस्येन्द्रस्य प्रसवेऽभ्यनुज्ञायां वर्तमाना उर्वीरुदकैः प्रभुता वयं यामः गच्छामः। न तव वचनादुपरमामहे। उक्तार्थ यास्को ब्रवीति। इन्द्रोऽस्मानरदद्ब्रजबाहू रदतिः खनतिकर्मापाहन् वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम्। देवोऽनयत्सविता सुपाणिः कल्याणपाणिः। पाणिः पणायते पूजाकर्मणः। प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति तस्य वयं प्रसवे याम। उर्वीरुर्व्यः इति। (नि० २-२६)। अरदत्। रदतेर्लङि रूपम्। वज्रबाहुः बहुबीहौ पूर्वपदस्वरः। अहन् हन्तेर्लङि रूपम्। निघातः। परिधिम्। डुधाञ्

धारणपोषणयोरित्यस्मात्कर्मण्युपसर्गे घोः किरिति किप्रत्ययः। आतो लोपः कुदुत्तरपदस्वरः। अनयत्। नयतेर्लङि रूपम्। सुपाणिः। पण व्यवहारै स्तुतौ च। अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च (उ० ४.१३२) इति इण्। आयलुक्। बहुब्रीहौ नञ्सुभ्यामिति स्वरः। प्रसवे। षू प्रेरणे। ऋदोरबिति भावेऽप् प्रत्ययः। थाथघञ्क्तेत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। यामः। या प्रापण इत्यस्य लटि रूपम्। निघातः। उर्वीः। उरु शब्दाद्वोतो गुणवचनादिति डीप्। वा छन्दसीति सवर्णदीर्घः। प्रत्ययस्वरः।

शब्दार्थ–**इन्द्र**=इन्द्र ने। **अस्मान्**=हमको। **वज्रबाहुः**=भुजाओं में वज्र का धारण करने वाला। **अपअहन्**=मारा। **वृत्रम्**=वृत्र को। **परिधिम्**=घेर कर रोक लेने वाला। **नदीनाम्**=नदियों को। **देवः**=तेज से चमकता हुआ। **सविता**=प्रेरणा देने वाला। **सुपाणिः**=शोभन हाथों वाला। **अनयत्**=ले गया। **तस्य**=उसके। **वयम्**=हम। **प्रसवे**=प्रेरणा में। **यामः**=जाती हैं। **उर्वीः**=विशाल।

हिन्दी अनुवाद–नदियां प्रत्युत्तर देती हैं- हे विश्वामित्र! भुजाओं में वज्र को धारण करने वाले इन्द्र ने हमको खोदा। अर्थात् उसने खोदकर हमारे लिये मार्ग बनाया। नदियों को अर्थात् जलों को चारों ओर से घेर कर रोकने वाले वृत्र का इन्द्र ने वध किया। सबको प्रेरणा देने वाले और शोभन हाथों वाले तेज से दीप्तिमान् इन्द्र हमें इस मार्ग से ले गये। हम विशाल जल से भरी नदियां उसकी प्रेरणा से जाती हैं (बहती है)।

व्याकरण–

अरदत्–रद धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

वज्रबाहुः–वज्रः बाहौ यस्य स। बहुव्रीहि समास।

परिधिम्–परितः दधाति इति तम्। परि+धा। 'उपसर्गे घोः कि 'सूत्र के' कि प्रत्यय। परि+धा+इ (कि)=परिधि।

सुपाणिः–शोभनौ पाणी यस्य सः। 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इस धातु से 'अशिपणाय्यो रुडायलुकौ च' सूत्र से इण् प्रत्यय। पण्+इ (इण्) आदि अच् को वृद्ध होकर=पाणि।

उर्वीः–'उरु' शब्द से 'ओतो गुणवचनात्' सूत्र में 'डीष्' प्रत्यय। उरु+ई (ङीष) यणादेश होकर=उर्वी।

विशेष–इस मन्त्र में कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्र ने वज्र द्वारा खोद कर नदियों का मार्ग बनाया था। आकाश में स्थित मेघों के जल को वृत्र ने रोक रखा था। इन्द्र ने वृत्र का वध करके उन जलों को मुक्त किया और इससे नदियां जलों

से भर कर विशाल हो गई। वह इन्द्र ही नदियों को उनके मार्ग पर बहाता है और बहने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार नदियां विश्वामित्र से कह रही है कि हम इन्द्र के निर्देशन में बहती हैं। तुम्हारे कहने से कैसे रुकें?

सायण ने 'नदीनाम्' का अर्थ 'शब्दकारिणीनाम् अपाम्' किया है। परन्तु पीटर्सन और लुई रेनु इस शब्द का अर्थ नदियां (rivers) ही करते हैं। सायण ने देवः सविता और सुपाणिः, इन तीनों शब्दों को इन्द्र का विशेषण मान कर अर्थ किया। परन्तु ये दूसरे पाश्चात्य विद्वान सुपाणि और देवः को सविता का विशेषण मान कर अर्थ करते हैं-The god savitar of Beautiful hands, has led us.

७. प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यं१तदिन्द्रस्य कर्म यदहिं विवृश्चत्।
वि वज्रेण परिषदो जघानायन्नापोऽयनमिच्छमानाः।

पद-पाठः प्रऽवाच्यम् शश्वधा। वीर्यम्। तत्। इन्द्रस्य। कर्म। यत्। अहिम्। विऽवृश्चत्।
वि। वज्रेण। परिऽसदः। जघान। आयन् आपः। अयनम्। इच्छमानाः।।७।।

अन्वय–यत् अहिम् विवृश्चत्, इन्द्रस्य तत् वीर्यम् कर्म शश्वधा प्रवाच्यम्। परिषदः वज्रेण वि जघान। अयनम् इच्छमानाः आपः आयन्।

सायणः–सोऽमिन्द्रोऽहिं मेघं विवृश्वत् उदकप्रेरणार्थं जघानेति यत्कर्म छेदनरूपं तदिदं तस्येन्द्रस्य वीर्यं सामर्थ्यं शश्वधा सर्वदा प्रवाच्यम्। प्रकर्षेण वचनीयम्। तथा सः इन्द्रः परिषदः परितः सीदतः आसीनान् प्रतिबन्धकारिणोऽसुरान् वज्रेण विजघान। अथायनं स्थानमिच्छमाना इच्छन्त्य आप आयन् यान्ति। प्रवाच्यम्। वच परिभाषणे इत्यस्माद्दृहलोर्ण्यदिति ण्यत्। णित्त्वादुपधावृद्धिः। वचोऽशब्संज्ञायाम् (पा० ७-३-६७) इति कुत्वाभावः। व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम्। यद्वा वाचयतेरचो यत्। यतोऽनाव इति स्वरः। शश्वधा शश्च्छब्दात्स्वार्थे धाप्रत्ययस्यकारलोपश्च द्रष्टव्यः। विवृश्चत्। ओव्रश्चू छेदने। तुदादिः। लङि ग्रहिज्यावयीत्यादिना सम्प्रसारणम्। सह सुपेत्यत्र सहेति योगविभागत्समासः। समासस्वरः। परिषदः। क्विप्। संहितायां सदेरप्रतेरित षत्वम्। जघान। हन्तेर्लिटि णलि रूपम्। निघातः। आयन्। अथ गतावित्यस्य लङि रूपम्। पादादित्वादनिघातः। इच्छमानाः। इषु इच्छायामित्यस्माद् व्यत्ययेन शानच्। तस्य लसार्वधातुकस्वरे ऋते प्रत्ययस्वरः।

शब्दार्थ–प्रवाच्यम्=प्रंशसा करनी चाहिये। **शश्वधा**=सदा। **वीर्यम्**=पराक्रम से युक्त। **तत्**=उस। **इन्द्रस्य**=इन्द्र का। **कर्म**=कार्य। **यत्**=जो। **अहिम्**=मेघ के आवरक वृत्र को। **विवृश्चत्**=काट डाला। **वज्रेण**=वज्र से। **परिषदः**=चारों ओर से एक स्थित हुये। **वि जघान**=विशेष रूप से मार दिया आयन् आगे बढ़े। **आपः**=जल। **अयनम्**=स्थान को। **इच्छमानाः**=चाहते हुये।

हिन्दी अनुवाद–विश्वामित्र कहते हैं-इन्द्र ने जो मेघों के आवरक वृत्र को काट डाला, तो इन्द्र के उस पराक्रम से युक्त कार्य की प्रंशसा करनी चाहिये। उस इन्द्र ने जलों को चारों ओर से रोक कर स्थित हुये असुरों को विशेष रूप से मार डाला। तदनन्तर स्थान की (आगे बढ़ने के मार्ग की) अभिलाषा करते हुये जल आगे बढ़े।

व्याकरण–

प्रवाच्यम्–प्र+वच परिभाषणे। 'ऋहलोर्ण्यत' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय। उपमा को वृद्धि होकर=प्रवाच्य।

शश्वधा–शश्वत्+शब्द। स्वार्थ में धा प्रत्यय तथा त को लोप।

परिषदः–परिसीदन्ति अर्थ में परि+सद्+क्विप्। संहितायां सदेरप्रतेः से को ष=परिषद्। द्वितीया विभक्ति का बहुवचन=परिषदः।

जघान–हन् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आयन्–अय गतौ, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

अयनम्–इ+अन (ल्युट)। गुण और अयादेश होकर=अयनम्।

विशेष–सायण ने 'प्रवाच्यम्' का अर्थ 'प्रकर्षेण वचनीयम्' किया है। पीटर्सन और लुई रेनु इसका अर्थ must be proclaimed करते हैं। 'परिषदः' का अर्थ ग्रासमान ने surrounding or besiegning गेल्डनर ने barrier लुई रेनु ने barriers और पीटर्सन ने barriers of waters किया है। 'अयनम्' शब्द का अर्थ सायण ने–स्थान, ग्रासमान ने path or way, गेल्डनर और लुई रेनु ने– out let तथा पीटर्सन ने barriers of water किया है।

८. **ए॒तद्व॒चो॑ जरित॒र्मापि॑ मृष्ठा॒ आ यत्ते॒ घोषा॒नुत्त॑रा यु॒गानि॑।**
उ॒क्थेषु॑ का॒रो॒ प्रति॑ नो जुषस्व॒ मा नो॒ नि कः॑ पुरुष॒त्रा नम॑स्ते॥

पद-पाठः एतत्। वचः॑। ज॒रि॒तः॒। मा। अपि॑। मृष्ठा॒ः। आ। यत्। ते॒।
घोषा॑न्। उत्ऽत॑रा। यु॒गनि॑। उ॒क्थेषु॑। का॒रो॒ इति॑। प्रति॑। नः॒।
जु॒षु॒स्व॒। मा। नः॒। नि। कृ॒रिति॑ कः। पु॒रु॒ष॒ऽत्रा। नमः॑। ते॒॥८॥

अन्वय–जरितः यत् ते वचः आ घोषान् एतत् मा अपि मृष्ठाः। कारो आ उत्तरा युगानि उक्थेषु नः प्रति जुषस्व। पुरुषत्रा नः नि मा कः। ते नमः।

सायणः–नद्यः प्रसङ्गादिन्द्रस्तोत्रं कृत्वा विश्वामित्रं प्रत्यूचुः। जरितः स्तोतर्हे विश्वामित्र ते त्वदीयं यत्संवादात्मकं वचस्त्वं मनीषा इत्यादि घोषानुद्घोषयन्वर्तसे तद्वचो मापि मृष्ठाः मा विस्मार्षीः। किं कारणम्। उत्तरा युगान्युत्तरेषु याज्ञिकेषु युगेष्वहः सूक्थेषु।

कारो शस्त्राणां कर्तस्त्वं नोऽस्मान्प्रति जुषस्व। संवादात्मकेन तेन वाक्येन प्रतिसेवस्य। इदानीं नोऽस्मान् पृरुषत्रा पुरुषेषु मा नि कः। उक्तिप्रत्युक्तिरूपसंवादवाक्याध्यानेन नितरां। पुंवत् प्रागल्भ्यं मा कार्षीः। ते तुभ्यं नमः। मृष्ठाः। मृजूष् शुद्धावित्यस्य लङि व्यत्ययेनात्मनेपदम्। अदादित्वाच्छपो लुक्। व्रश्चादिना षत्वम्। निघातः। घोषान्। घुषिर् संशब्दन इत्यस्य शतरि सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वादतो गुण इति पररूपत्वाभावः। सवर्णदीर्घः शतुर्लसार्वधातुकस्वरे कृते धातुस्वरः। युगानि। युजिर् योगे। उञ्छादिषु घञन्तत्वेन निपातनागुणत्वम्। विशिष्टाविषयं च निपातनमिष्यते। कालविशेषे रथाद्युपकरणे चेति तत्र पाठादेवान्तोदात्तत्वम्। कालाध्वनोरत्यन्तसयोग इति द्वितीया। कारो। करोतेः कृवापाजिमीत्यादिनी उण् प्रत्ययः। आमन्त्रितत्वान्निघातः। कः। करोतेर्लुङि च्लेर्मन्त्रे घसेत्यादिना लुक्। हलङ्यादिना सिपो लोपः। न माङ्योग इत्यडभावः। पुरुषत्रा। देवमनुष्यपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलमिति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः।

शब्दार्थ–**एतत्**=इस। **वचः**=वचन को। **मा अपि मृष्ठाः**=मत भूलो। **जरितः**=हे स्तुति करने वाले। **यत्**=जो। **ते**=तुम्हारे। **आघोषान्**=उच्च स्वर घोषित करते हुये। **उत्तरा युगानि**=उत्तरवर्ती युगों तक। **उक्थेषु**=स्तुति गीतों में। **कारो**=हे सूक्तों की रचना करने वाले। **नः प्रति**=हमारी। **जुषस्व**=सेवा करो। **नः**=हमारे प्रति। **नि मा कः**=बहुत अधिक प्रगल्भता का आचरण मत करो। **पुरुषत्रा**=पुरुषों के मध्य में। **नमः ते**=तुमको नमस्कार।

हिन्दी अनुवाद–विश्वामित्र के स्तुति वचनों को सुनकर नदियां कहती हैं-हे स्तुति करने वाले विश्वामित्र! जो तुम्हारा वचन है, इसको उच्च स्वर से घोषित करते हुये यह मत भूलो। हे सूक्तों की रचना करने वाले कवि! उत्तरवर्ती यज्ञों के दिनों में अपने स्तुति गीतों में हमारी सेवा करो अर्थात् हमारी प्रशंसा करो। पुरुषों के मध्य में हमारे प्रति बहुत अधिक प्रगल्भता का आचरण मत करो। तुमको नमस्कार है।

व्याकरण–

घोषान्–'घुषिर् संशब्दने' धातु से शतृ प्रत्यय। घुष+अत्। अट् का आगम। घुष+अत्। गुण होकर, छान्दस पररूपत्व का अभाव तथा सवर्णदीर्घ=घोषात्। प्रथमा विभक्ति का एकवचन=घोषान्।

युगानि–'युजिर् योगे' धातु से 'घञ्'। युज+अ। निपातनात् गुण का अभाव और कुत्व होकर=युग।

उक्थेषु–वच्+थ। सम्प्रसारण और कुत्व होकर=उक्थ।

कारो–कृ धातु। 'कृत्वापाजिमिस्वादि०' सूत्र से उणदि उण् प्रत्यय। कृ+उ। वृद्धि होकर कारु। संबोधन का एकवचन=कारो।

पुरुषत्रा–पुरुषेषु अर्थ में पुरुष शब्द से 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' सूत्र से सप्तमी के अर्थ में त्रा प्रत्यय=पुरुषत्रा।

विशेष–इस मन्त्र का अन्वय पाश्चात्य विद्वनों ने दूसरे प्रकार से किया है। पीटर्सन का अर्थ इस प्रकार से है–एतद् वचः जरितः मापि मृष्ठाः=Do not forget these words, O Singer. आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि So that future generations might listen to thee। उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व=Have kindly feelings to us in thy songs, O poet. मा नो नि कः=Do not let us down amongst men नमः ते=Bow unto thee.

'जरितः' पद का अर्थ सायण ने स्तोतः किया है, परन्तु पीटर्सन और लुई रेनु इसका अर्थ गायक (singer) करते हैं। दोनों अर्थों का भाव प्रायः समान ही है। 'उत्तरानि युगानि' का अर्थ सायण ने 'उत्तरवर्ती युगों में होने वाले यज्ञ' किया है। परन्तु पीर्टसन और लुई रेनु दोनों ही इसका अर्थ future generations करते हैं। सायण ने 'आघोषान्' का अर्थ 'घोषित करते हुये' किया है। सायण का अनुसरण करते हुये ग्रासमान ने आ+घुष् का अर्थ–'May hear किया है। 'जुषस्व' के अर्थ करने में भी अन्तर है। सायण के अनुसार इसका 'सेवस्व' है, लुई रेनु के अनुसार–praise है और पीटर्सन के अनुसार 'have kindly fellings' है। पीटर्सन ने इस पद की निष्पत्ति 'जुष to show affection to' से की है।

सायण ने 'मृष्ठाः' को 'मृजूष् शुद्धौ' से निष्पन्न माना है, परन्तु पीटर्सन इसे 'अपि+मृष् to forget से निष्पन्न मानते हैं।

९. ओ षु स्व॑सारः का॒रवे॑ शृणोत य॒यौ वो॑ दू॒राद॑न॑सा॒ रथे॑न।

नि षू न॑मध्व॒ं भव॑ता सुपा॒रा अ॑धोअ॒क्षाः सिन्ध॑वः स्रो॒त्याभि॑ः।

पद-पाठः ओ इति॑। स्व॒सा॒रः॒। का॒रवे॑। शृ॒णो॒त॒। य॒यौ व॒ः। दू॒रात्। अन॑सा। रथे॑न।

नि। सु। न॒म॒ध्व॒म्। भव॑त। सु॒ऽपा॒राः। अ॒धः॒ऽअ॒क्षाः। सि॒न्ध॒वः॒। स्रो॒त्याभिः।९॥

अन्वय–ओ स्वसारः सिन्धवः! कारवे सु शृणोत। अनसा रथेन दूरात् वः ययौ। सुनिनमध्वम्। सुपाराः भवत। स्रोत्याभिः अधो अक्षाः।

सायणः–विश्वामित्रो नदीः प्रत्युवाच। स्वसारः भगिन्यः। सिन्धवो हे नद्यः कारवे स्तोत्रं कुर्वाणस्य मम वचनं सु सुष्ठु ओ शृणोत शृणुतैव। अनसा शकटेन रथेन च सह दूराद्विप्रकृष्टाद्देशाद्वो युष्मान्ययौ। प्राप्तोऽस्मि। यूयं सु सुष्ठु नि नमध्वम्। आत्मनां स्वयं प्रह्वा भवतः। तथा सुपाराः। रथादीनां तीरात्सुखेनावरोहणारोहणे यथा स्यातां तथा शोभनरोधसश्च भवत। किं च यूंय स्रोत्याभिः स्रवणशीलाभिरद्भिरधोअक्षा

रथाङ्गस्याक्षस्याधस्ताद्भवत। यदापोऽक्षस्याधस्ताद्भवन्ति तदा रथादीनि नेतुं शक्यन्ते। तस्मात्तत्परिमाणोदका भवतेत्यर्थाभिप्रायः। ओ इति प्रगृह्यसंज्ञा। शृणोत श्रु श्रवण इत्यस्य लोटि तप्रत्ययस्य तप्तनप्तनथनाश्चेति तवादेशः। पित्त्वाद्गुणः। निघातः। ययौ या प्रापणे इत्यस्य भूतमात्रे लिट्युत्तमे णल्यात औ णल इत्यौकारः। एकादेश्वरः। वः। युष्मच्छब्दस्य द्वितीयाया बहुवचनस्य वस्नसाविति वसादेशः। षूः। निपातस्येति संहितायां दीर्घः। नमध्वम्। णमु प्रह्वत्वे शब्दे चेत्यस्य कर्मकर्तरि न दुहस्नुनमा चक्तिणविति प्रतिषेधाद्यगभावः। अक्ष शब्दोऽशू व्याप्तौ इत्यस्मादशेर्देवने (उ० ३-६५) इति सप्रत्ययान्तः। कृदुत्तपदप्रकृतिस्वरः। सिन्धवः। आमन्त्रितत्वान्निघातः। स्रोत्याभिः। स्रोतः शब्दात्स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ (पा० ४-४-११३) इति ड्यप्रत्ययः। डित्त्वाट्टिलोपः। प्रत्यस्वरः।

शब्दार्थ–स्वसारः=बहनो। **कारवे**=स्तोत्रों की रचना करने वाले कवि के लिये। **सुशृणोत**=अच्छी प्रकार सुनो। **ययौ**=पहुंचा हूं। **वः**=तुम्हारे पास। **दूरात्**=दूर से। **अनसा**=बैलगाड़ी से। **रथेन**=रथ से। **सु निनमध्वम्**=अच्छी प्रकार झुक जाओ। **भवत**=हो जाओ। **सुपाराः**=अच्छी प्रकार पार होने योग्य। **अधो अक्षाः**=अक्ष के नीचे **सिन्धवः**=नदियो। **स्रोत्याभिः**=बहते हुये जलों से।

हिन्दी अनुवाद–नदियों द्वारा अनुमति पाकर विश्वामित्र कहते हैं-ओ बहनो नदियो! स्तोत्रों की रचना करने वाले कवि के वचन को अच्छी प्रकार सुनो। मैं बैलगाड़ी से दूर से तुम्हारे पास पहुंचा हूं। तुम अच्छी प्रकार स्वयं झुक जाओ और अच्छी प्रकार पार होने योग्य हो जाओ। तुम अपने बहते हुये जलों से मेरे रथ के अक्ष के नीचे हो जाओ। अर्थात् जब नदियों के जल रथ के अक्ष के नीचे हो जायेंगे तब रथ आदि पार ले जाये जा सकेंगे।

व्याकरण–

शृणोत–श्रु धातु, लोट् लकार, मध्यम् पुरुष, बहुवचन। शृणुत। 'तप्तनप्तथनाश्च' से त को तप् आदेश तथा पित् होने के कारण गुण=शृणोत।

ययौ–या प्रापणे। लिट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। यहां 'भूतमात्रे लिट्यत्तमे णल्यात और णलः' से णल् को औ आदेश।

वः–युष्मद् शब्द, द्वितीया का बहुवचन। युष्मद को वस् आदेश।

षू–निपात को संहिता में दीर्घ हुआ।

अधोअक्षाः–अक्षस्य अधः भवाः। अधर शब्द को 'पूर्वापराधराणामसि०' सूत्र से अध् आदेश और असि प्रत्यय होकर अधः।

स्रोत्याभिः–स्रोतसि भवाः। 'स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ' सूत्र से ड्य प्रत्यय।

स्रोतस्+ड्य (य) डित् होने से टि का लोप। स्त्रीलिङ्ग में टाप्=स्रोत्या।

विशेष–'स्रोत्या' का अर्थ पीटर्सन ने धारा (steam) किया है। इस मन्त्र में स्तुतियों से प्रसन्न नदियों से ऋषि कहते हैं कि हे बहनो! तुम अपना जल इतना कम कर लो कि वह रथ के अक्षो से ऊपर न आवे तथा मैं अच्छी प्रकार पार हो जाऊं।

१०. आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते।

पद-पाठः आ। ते कारो इति। शृणवाम। वचांसि। ययाथ। दूरात्। अनसा। रथेन। नि! ते। नंसै। पीप्यानाऽइव। योषा। मर्यायऽइव। कन्या। शश्वचै। त इति ते।। १०।।

अन्वय–कारो! ते वचांसि आ शृणवाम। अनसा रथेन दूरात् ययाथ। पीप्याना योषा इव, शश्वचै मर्याय कन्या इव ते नि नंसै।

सायणः–नद्यः पूर्वं विश्वामित्रवाक्यं प्रत्याख्यायानया ऋचा तस्य वाक्यमाशुश्रुवः। कारो स्तोत्रं कुर्वाण हे विश्वामित्र ते तव वचांसीमानि वाक्यान्याशृणवाम। शुणुमः। तव समीहितं प्रयोजनं कुर्म इत्यर्थः। अनसा शकटेन रथेन च सह ययाथ। यतो दूरादागतोऽसि। वयं च ते त्वदर्थं नि नंसै। नीचैर्ननाम। प्रत्येकविवक्षयात्रैकवचनम्। रथेन गन्तुम् गाधोदका भवामेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्त। पीप्यानेव योषा। पीप्याना पुत्र स्तनं पाययन्ती योषा माता यथा प्रह्वीभवति। दृष्टान्तान्तरम्। यथा कन्या युवतिर्मर्यायेव मुनष्याय पित्रे भ्रात्रे वा शश्वचै परिष्वजनाय नम्रा भवति तद्वत् ते प्रह्वीभवासः। ते इति पुनरुक्तिरादरार्था। एतामृचं यास्क एवं व्याचष्टे। आशृणवाम ते कारो वचनारि याहि दूरादनसा च रथेन च निननाम ते पाययमानेव योषा पुत्रं मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निननाम इति वा (नि० २-२७) इति। कारो संबुद्धौ शाक्ल्यस्येतौ (पा० १-१-१६) इति प्रगृह्यसंज्ञा। शृणवाम। श्रु श्रवण इत्यस्य लोट्याडुत्तमस्य पिच्चेत्याडागमः। पित्त्वाद्गुणः। निघातः। ययाथ। या प्रापण इत्यस्य भूतमात्रे लिटि थल्येकाच उपेदशऽनुदात्तादितीट्प्रतिषेधः। लित्स्वरः। अनसा। सहार्थे तृतीया। नंसै! नमु प्रह्वत्व इत्यस्य लेट्युत्तमे लेटि सिब्बहुलमिति सिप्। वैतोऽन्यत्रेत्यैकारादेशः। निघातः। पीप्यानेव। पीङ् पाने इत्यस्यान्तर्भावितण्यर्थस्य लिटि कानचि रूपम्। चित्स्वरः। योषा। यु मिश्रणे वृतृवदिहनीत्यादिना (उ० ३-६२) स प्रत्ययः। यौतीति योषा। वृषादित्वादाद्युदात्तः। शाश्वचै। ष्वञ्ज। परिष्वङ्ग इत्यस्मात्संपदादिलक्षणो भावे क्विप् पृषोदरादित्वाटरूपसिद्धिरन्तोदात्तश्च।

शब्दार्थ– ते=तुम्हारे। **कारो**=स्तोत्रों की रचना करने वाले हे कवि। **शृणवाम**=सुनती हैं। **वचांसि**=वचनों को। **ययाथ**=पहुंचे हो। **दूरात्**=दूर से। **अनसा**=बैलगाड़ी से। **ते**=तुम्हारे लिये। **निनंसै**=बहुत अधिक झुकती हुई। **पीप्याना**=दूध पिलाती हुई। **योषा**=स्त्री। **मर्याय**=मनुष्य के लिये। **कन्या**=कन्या। **शश्वचै**=आलिङ्गन करने वाले के लिये।

हिन्दी अनुवाद–विश्वामित्र की प्रार्थना को स्वीकार करके नदियां कहती हैं-स्तोत्रों की रचना करने वाले हे कवि! हम तुम्हारे वचनों को अच्छी प्रकार से सुन रही हैं। तुम रथों से और बैलगाड़ियों से दूर से पहुंचे हो। जिस प्रकार बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री नम्र हो जाती है, और जिस प्रकार आलिङ्गन करने वाले मनुष्य के लिए (प्रेमी के लिये)कन्या नम्र हो जाती है, उसी प्रकार हम तुम्हारे लिए झुक जाती हैं।

व्याकरण–

शुणवाम–श्रु धातु लोट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन शृ+णु+म। 'आडुत्तमस्य पिच्च' से आट् का आगम। शृ+णु+आ+म। पित् होने से गुण, अव् आदेश=शृणवाम।

नंसै–णमु प्रह्वत्वे। लेट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। प्रत्येक के अर्थ में एकवचन।

पीप्याना–पीङ्पाने। अन्तर्भावितण्यर्थ। लिट् लकार के अर्थ में कानच् प्रत्यय। पी+आन (कानच्)। द्वित्व और यणादेश=पीप्यान। स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय=पीप्याना

योषा–यु मिश्रणे। यौति अर्थ में 'वृतवदिहनि०' से औणदिक स प्रत्यय। यु+स। गुण, स को मूर्धन्य ष, टाप् होकर=योषा।

शश्वचै–ष्वञ्च् परिष्वङ्गे। क्विप् प्रत्यय होकर पृषोदरादि गण में पाठ होने से शश्वचै।

विशेष–सायण ने 'पीप्याना' शब्द को 'पीङ् पाने' से निष्पन्न बताया है। परन्तु पीटर्सन इसे 'प्या-प्यै to swell with milk' से निष्पन्न करके पीप्याना का अर्थ (sucking her baby) बताते हैं। दोनों का भाव एक ही है। पीटर्सन ने 'शश्वचै' पद को 'श्वञ्च् to bend से निष्पन्न माना है। सायण ने मर्याय और 'शश्वचै' दोनों पदों में अलग-अलग अन्वय मानकर अर्थ किया है जैसे कन्या मर्याय–पिता, भाई आदि मनुष्य के लिये और 'शश्वचै' आलिङ्गन करने वाले प्रेमी के लिये झुकती है। परन्तु पीटर्सन और लुई रेनु ने 'शश्वचै' को 'मर्याय' का विशेषण मानकर lover या young lover अर्थ किया है।

११. यदुङ्ग त्वा भरताः संतरेयुर्गव्यन्ग्राम इषित इन्द्रजूतः।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम्॥

पद-पाठः यत्। अङ्ग। त्वा। भरताः। सम्ऽतरेयुः। गव्यन्। ग्रामः। इषितः। इन्द्रऽजूतः।
अर्षात्। अह। प्रऽसवः। सर्गऽतक्तः। आ। वः। वृणे। सुऽमतिम्। यज्ञियानाम्॥११॥

अन्वय–अङ्ग यत् त्वा भरता: संतरेयु:। गव्यन् इषित: इन्द्रजूत: ग्राम: अर्षात्। सर्गतक्त: प्रसव: अह यज्ञियानाम् व: सुमतिम् आवृणे।

सायण:–विश्वामित्रो नदी प्रत्युवाच। अङ्गेत्यामन्त्रेण। हे नद्यो यद्यस्माद् युष्मभिरुत्तितीर्षोर्ममोत्तरणमभ्यनुज्ञातं तस्माद् भरता भरतकुलजा मदीया: सर्वे त्वा परस्परमेकतामापन्नां नदीं त्वा संतरेयु:। सम्यगुत्तीर्णा भवेय:। तदेव विशिनष्टि। गव्यन् गा उदकानि तरीमुमिच्छन्निषितस्त्वयाभ्यनुज्ञात इन्द्रजूतो युष्याकं प्रवर्तकेनेन्द्रेण च प्रेरितो ग्रामो भरतानां संघोऽर्षात् संतरेत्। यत: सर्गतक्तो गमनाय प्रवृत्त: प्रसवस्तेषामुद्योगोऽह पूर्वं युष्माभिरनुज्ञात:। अहं तु यज्ञियानां यज्ञार्हाणां वा युष्माकं सुमतिं शोभनां स्तुतिमा वृणे। सर्वत: संभजे। भरता:। भरतशब्दादुत्सादित्वादञ्। तस्य यञ्ञोश्चेति लुक्। अतच् प्रत्ययस्वर:। संतरेयु:। तरतेर्लिङि जुसि रूपम्। झेर्लसार्वधातुकस्वरे धातुस्वर:। तिङि चोदात्त्वति इति गतेर्निघात:। गव्यन्। गा आत्मन इच्छन्। सुप क्यच्। एकादेशस्वर:। ग्राम:। ग्रसतेरा च। (उ० १-१४१) इति मन्प्रत्यय: आकारादेशश्च। नित्स्वर:। इन्द्रजूत: जू इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थ:। श्रयुक: कितीति निष्ठायामिट् प्रतिषेध: तृतीया कर्मणीति पूर्वपदप्रकृतिस्वर:। अर्षात्। ऋ गतावित्यस्य लेटि तिपि सिब्बहुलमिति सिप्। लेटोऽडागम:। एकाच इतीट्प्रतिषेध:। गुण:। प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वर:। वृणे। वृङ् संभक्तवित्यस्य लटि रूपम्। यज्ञियानाम्। यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञाविति घ प्रत्यय:। प्रत्ययस्वर:।

शब्दार्थ–**यत्**=क्योंकि। **अङ्ग**=हे। **त्वा**=तुमको । **भरता:**=भरत कुल के। **संतरेयु:**=अच्छी प्रकार पार कर लें। **गव्यन्**=जलों को पार करने की अभिलाषा करता हुआ। **ग्राम:**=भरतवंशियों का समूह। **इषित:**=अनुमति पाया हुआ। **इन्द्रजूत:**=इन्द्र से प्रेरित किया गया। **अर्षात्**=पार कर जावे। **अह**=पहले ही। **प्रवस:**=प्रेरणा (बहाव)। **सर्गतक्त:**=बहने में प्रवृत्त होता हुआ। **व:**=तुम्हारी। **आ वृणे**=मांग रहा हूं। **सुमतिम्**=उत्तम बुद्धि को (अनुमति को)। **यज्ञियानाम्**=पूजा के योग्य।

हिन्दी अनुवाद–नदियों द्वारा अनुमति पाकर विश्वामित्र उनको पुन: कहते हैं- हे नदियो! क्योंकि तुमने मुझको पार उतरने की अनुमति दे दी है, इसलिये ये मेरे अनुयायी भरत कुल के जन तुमको पार कर लें। तदनन्तर जलों को पार करने की इच्छा करता हुआ, तुमसे अनुमति पाया हुआ और तुम्हारे प्रवर्तक इन्द्र से प्रेरित किया जाता हुआ, भरतवंशियों का समूह तुमको पार कर ले। बहने में प्रवृत्त होते हुये तुम्हारे बहाव ने इसकी पहले ही अनुमति दे दी है। पूजा के योग्य तुम्हारी उत्तम बुद्धि (अनुमति) को मैं मांग रहा हूं।

व्याकरण– **भरता:**–भरतस्य अपत्यम् पुमान्। 'उत्सादिभ्योऽञ्' सूत्र में अञ् प्रत्यय का लोप=भरत। बहुवचन में=भरता:।

गव्यन्–गा आत्मन इच्छन्। क्यच् प्रत्यय। गो+य। अव आदेश होकर=गव्य। शतृ प्रत्यय=गव्यत्। प्रथमा विभक्ति एकवचन=गव्यन्।

तरेयुः–तृ धातु विधिलिङ् प्रथम पुरुष, बहुवचन।

इषितः–इष्+क्त। इट् का आगम=इषित।

इन्द्रजूतः–इन्द्रेण जूतः। जू गतौ। जू+क्त=जूत।

ग्रामः–ग्रस धातु। 'ग्रसतेरा च' सूत्र से मन् प्रत्यय तथा आ आदेश=ग्राम।

अर्षात्–ऋ गतौ। लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रसव–प्रसव+षू+अप्=प्रसव।

सर्गतक्तः–सर्गे तक्तः। सृज्+घञ=सर्ग। तक्+क्त=तक्त।

यज्ञियानाम्–यज्ञाय अर्हति। 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' सूत्र से घ प्रत्यय तथा घ को इय आदेश=यज्ञिय।

विशेष–अङ्ग शब्द का प्रयोग आमन्त्रण के लिये किसी प्रिय को सम्बोधित करके किया जाता है। 'भरताः' पद का प्रयोग भरतवंशियों के लिये किया गया है। सायण ने 'गव्यन्' का अर्थ किया है–'गा उदकनि तरीतुमिच्छन्=जलों को पार करने की इच्छ करता हुआ। 'उसने यहां' 'गो' का अर्थ 'जल' माना है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत इससे भिन्न है। पीटर्सन ने 'गो' का अर्थ गौ (cow) करके 'गव्यन्' का अर्थ going in search of cows किया। लुई रेनु के अनुसार इस पद का अर्थ है–going for booty सायण के अनुसार 'ग्राम' शब्द का अर्थ समूह (भरतों का समूह) है। पीटर्सन ने इसका अर्थ 'a clan, a band, a host' किया है।

'सर्गतक्तः प्रसवः' पदों का अन्वय सायण ने 'ग्राम' पद से किया तथा इनका अर्थ किया–गमनाय प्रवृत्तस्तेषामुद्योगः=चलने के लिये प्रवृत्त होता हुआ इनका उद्योग। अर्थात् हे नदियों! यहां भरतों का समूह चला जा रहा है। तुम इनको पार हो जाने दो। परन्तु 'सर्गतक्तः प्रसवः' पदों का प्रयोग चतुर्थ मन्त्र में हुआ, जहां इनका अन्वय नदियों के साथ किया गया था और अन्वय नदियों के साथ करने में अर्थ अधिक सङ्गत होता है। यही अर्थ पीटर्सन और लुई रेनु ने किया है। पीटर्सन ने अर्थ किया है 'there may thy current flow, dashing with its initial urge' लुई रेनु ने अर्थ क्रिया है–Then thy current will flow fast again. ये विद्वान् सायण के विपरीत 'अह' का अर्थ 'तदनन्तर' करते हैं।

१२. अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।
प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम्॥

पद-पाठः अतारिषुः। भरताः। गव्यवः। सम्।अभक्त। विप्रः। सुऽमतिम्। नदीनाम्। प्र। पिन्वध्वम्। इषयन्तीः। सुऽराधाः। आ। वक्षणाः। पृणध्वम्। यात। शीभम्।।१२।।

अन्वय–गव्यवः भरताः अतारिषु। विप्रः नदीनाम् सुमतिम् सम् अभक्त। इष्यन्तीः सुराधाः प्र पिन्वध्वम्। वक्षणाः आपृणध्व्। शीभम् यात।

सायणः–गव्यवो गा आत्मन इच्छन्तो भरताः भरतकुलजाः सर्वेऽतारिषुः तां नदीं समतरन् विप्रो मेधावी विश्वामित्रो नदीनां सुमतिं शोभनां स्तुतिं समभक्त समभजत। यूयं तु यथापूर्वमिषयन्तीः कुल्यादिद्वादानान्नं कुर्वाणा अत एव सुराधाः शोभनधनोपेता यूयं वक्षणाः कृत्रिमसरितः कुल्याः प्र पिन्वध्वं प्रकर्षेण तर्पयत्। आ पृणध्व्। ताः सर्वतः पूरयत च। शीभं शीघ्रं गच्छत च। अतारिषुः। तृ प्लवनतरणयोरित्यस्य लुङि सिचि वृद्धि परस्मैपदेष्विति वृद्धिः। अडागमस्वरः। गव्यवः। सुपः क्यच्। क्याच्छन्सीत्युप्रत्ययः तस्य स्वरः। अभक्त। भज सेवायामित्यस्य लुङि सिचो झलो झलीति लोपः। पदादित्वादनिघातः। पिन्वध्वम् पिवि सेचन इत्यस्य लोटि रूपम्। निघातः इषयन्तीः। इषं कुर्वत्यः। तत्कारोतीति णिच्। णाविष्ठवत्प्रतिपंदिकस्ये- तीष्ठवद्भावाटेट्रिति टिलोपः। वा छन्दसीति सवर्णदीर्घः। प्रत्ययस्वरः। पृणध्व्। पृण प्रीणने। लोटि रूपम्। व्यत्ययेनात्नेपद्। वाक्यभेदादनिघातः। यात। या प्रापण इत्यस्य लोटि रूपम् अत्रापि न निघातः। शीभृ कत्थने श्लाघ्यतेऽनेन तद्वानिति करणे घञ्। ञित्सवरः।

शब्दार्थ–अतारिषु=पार उतर गये। **भरताः**=भरत कुल में उत्पन्न हुये। **गव्यवः**=जलों को पार करने की इच्छा करते हुये। **सम् अभक्त**=प्राप्त किया। **सुमतिम्**=उत्तम बुद्धि को (अनुमति को) **विप्रः**=ब्राह्मण ऋषि विश्वामित्र ने। **नदीनाम्**=नदियों के। **प्र पिन्वध्वम्**=संतृप्त करो। **इषयन्तीः**=अन्न को उत्पन्न करती हुई। **सुराधाः**=शोभन धन से युक्त होती हुई। **वक्षणाः**=तटवर्ती प्रदेशों को। **आपृणध्वम्**=चारों ओर से अच्छी प्रकार सिञ्चित कर दो। **यात**=चलो (बहो)। **शीभम्**=शीघ्रता से।

हिन्दी अनुवाद–नदियों की अनुमति पाकर भरतों सहित उनको पार करके विश्वामित्र कहते हैं-हे नदियो! जलों को पार करने की इच्छा करते हुये भरत कुल के जन तुम नदियों के पार उत्तर गये। मुझ ब्राह्मण ऋषि विश्वामित्र ने तुम नदियों की उत्तम बुद्धि (अनुमति) को प्राप्त कर लिया है। अन्नों को उत्पन्न करती हुई और इस प्रकार शोभन धन से युक्त होती हुई तुम सबको संतृप्त करो और तटवर्ती प्रदेशों को चारों ओर से अच्छी प्रकार सिञ्चित कर दो। इसके अनन्तर शीघ्रता से बहो।

व्याकरण–

अतारिषुः– तृ प्लवनतरणयोः। लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

गव्यवः–गा आत्मन इच्छति। क्यच् प्रत्यय करके=गव्य। 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से प्रत्यय=गव्यु। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन=गव्यवः।

अभक्त–भज् सेवायाम् लुङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

पिन्वध्म्–पिवि सेचने। लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

इषयन्तीः–इषं कुर्वन्ति इति ताः। इष्+णिच्+शतृ+डीप्। नुम का आगम=इषयन्ती।

सुराधाः–शोभनं राधः यासां ताः।

पृणध्वम्–पृण प्रीणने। लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

शीभम्–शीभृ कत्थने। शीभ्यते अनेन। कारण कारक में घञ्।

विशेष–पहले मन्त्र के सदृश ही पीटर्सन ने 'गव्यवः' का अर्थ cow seeking तथा लुई रेनु ने 'going for booty किया है। सायण ने 'वक्षणाः'को 'पिन्वध्वम्' का कर्म मानकर अन्वय किया–इषयन्तीः, सुराधाः वक्षणाः प्र पिन्वध्वम्=अन्नों को 'पिन्वध्वम्=अन्नों को उत्पन्न करती हुई और इस प्रकार शोभन धनों से युक्त होती हुई तुम नहरों को भर दो। उसने 'वक्षणाः' का अर्थ 'कृत्रिमसरितः कुल्या (नहरें) किया है। परन्तु यह अर्थ संगत नहीं बैठता। वेंकटमाधव ने 'वक्षणाः' का अर्थ 'कुलानि तटों को किया है। अभिप्राय यह है कि नदियां दोनों तटों, अर्थात् तटवर्ती प्रदेशों को सिञ्चित करें। इस अवस्था में 'वक्षणाः' पद 'पृणध्वम्' का कर्म होगा। पाश्चात्य विद्वानों के अर्थ कुछ भिन्न है। पीटर्सन का अर्थ इस प्रकार है– इषयन्तीः=giving new life, सुराधाः=bringing excellent gifts, प्र पिन्वध्वम्=swell forth. वक्षणा=river bed, आपृणध्वम्= overflow। लुई रेनु का अर्थ इस प्रकार है– इषयन्तीः rich in help, सुराधा, सुराधाः=generous one, प्र पिन्वध्वम्=swell thy selves. वक्षणाः आपृणध्वम्=swell up thy breasts.

'शीभम्' का अर्थ सभी व्याख्याताओं ने 'शीघ्रता से' किया है। सायण ने इस शब्द की निष्पत्ति 'शीभृ कत्थने=प्रशंसा करना से बताई है। यदि धातु का अर्थ ग्रहण किया जावे तो 'शीभम् यात' का अर्थ होगा–'प्रशंसनीय रूप से बहो।

१३. उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।

मादुष्कृतौ व्येनसाघ्न्यौ शूनमारताम्॥१३।

पद-पाठः उत्। वः। ऊर्मिः। शम्याः। हन्तु। आपः। योक्त्राणि। मुञ्चत। मा। अदुःऽकृतौ। विऽएनसा। अघ्न्यौ। शूनम्। आ। अरताम्॥१३॥

अन्वय– वः ऊर्मि शम्याः उत् हन्तु। आपः योक्त्राणि मुञ्चत। वि एनसा अदुःकृतौ अघ्न्यौ शूनम् मा आ अरताम्।

सायणः—पूर्वमुत्तितीर्षुर्विश्वामित्रो नदीरुक्त्वाधुनोत्तितीर्षुः पुनराह। हे नद्यो वो युष्माकमूर्मिस्तरङ्गः शम्या युग्यकटपार्श्वादिसंलग्ना रज्जव उदूर्ध्वं यथा भवन्ति तथा हन्तु गच्छतु। स तरङ्गो रज्जूनामधो गच्छत्वित्यभिप्रायः। तथा हे आपो यूयं योक्त्राणि ता रज्जूर्मुञ्चत। यथा न स्पृशन्ति तथा यान्त्वित्यभिप्रायः। व्येनसा विगतपापे अत एवादुष्कृतौ कल्याणकर्मकारिण्यौ अघ्न्यावघ्न्ये न केनापि तिरस्कारणीये विपाट्छुतुद्र्यौ शूनं समृद्धिं। आरताम् आगच्छताम्। एवं विश्वामित्रो नदीः स्तुत्वा ताभिरनुज्ञातोऽतरदिति। ऊर्मिः। ऋ गतौ। अर्तेरूच्चेति मिप्रत्ययः। ऊरित्ययमादेशो धातोः। ऋच्छतीत्यूर्मिः। प्रत्ययस्वरः। शम्याः। शमु उपशमे। पोरदुधादिति यत्प्रत्ययः। यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वम्। हन्तु। इन हिंसागत्योरित्यस्य लोटि रूपम्। निघातः। योक्त्राणि। युजिर् योगे । करणे दाम्नीशसयुयुजेत्यादिना ष्ट्रन् प्रत्ययः। नित्स्वरः। मुञ्चत। मुच्लृ मोक्षणे। निघातः। अदुष्कृतौ। इसुसोः सामर्थ्ये इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। व्येनसा। बहुव्रीहौ पूवपदस्वरः। सुपोः डोदेशः। अघ्न्यौ। हन् हिंसागत्योरित्यस्य नञपूर्वस्याघ्न्यादयश्चेति निपातनाद्यक्। कित्त्वादुपधालोपः। होहन्तेरिति घत्वम्। सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वादत्रौङः शीभावाभावः। एकादेशस्वरः। शूनम्। श्वयतेर्नपुंसके भाव क्त इति क्तः। यजादित्वात्। सम्प्रसारणम्। हल इति दीर्घत्वम्। ओदितश्चेति निष्ठानत्वम्। निष्ठा च द्व्यजनादित्याद्युदात्तः। अरताम्। ऋ गतावित्यस्य लुङि च्लेः सर्तिशास्त्यर्तिभ्य- श्चेत्यडादेशः। ऋदृशोऽङि गुणः। नमाङ्योग इत्यडभावः। निघातः।

शब्दार्थ—**उत्**=ऊपर की ओर। **वः**=तुम्हारी। **ऊर्मिः**=लहरें। **शम्याः**=बैलों को जुए में बांधने वाली रस्सियां। **हन्तु**=जावे। **आपः**=हे जलो। **योक्त्राणि**=रस्सियों को। **मुञ्चत**=छोड़ दो। **मा**=मत। **अदुष्कृतौ**=कोई बुरा काम न करने वाले। **व्येनसा**=पाप न करने वाले। **अघ्न्यौ**=न वध किये जा सकने वाले बैल। **शूनम् आरताम्**=हानि पहुंचाओ।

हिन्दी अनुवाद—हे नदियो! तुम्हारी लहर बैलों को जुए से बांधने वाली रस्सियों से ऊपर रहें, इस प्रकार बहो। हे बैलो! तुम रस्सियों को छोड़ दो। पाप न करने वाले, कोई बुरा काम न करने वाले और वध न किये जा सकने वाले इन बैलों को हानि न पहुंचाओ।

व्याकरण—

ऊर्मि—ऋ गतौ। 'अर्तेरूच्च' से 'ऋ' को 'ऊ' ओदश और मि प्रत्यय। रपरत्व होकर धातु को ऊर् आदेश होगा। ऊर्+मि=ऊर्मि।

शम्या—शमु उपशमे। 'पोरदुपधात्' सूत्र से यत् प्रत्यय। शम्+य+टाप्=शम्या।

हन्तु— हन् हिंसागत्यौः। लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

योक्त्राणि–युजिर् योगे। 'दाम्नीशसयुयुज०' सूत्र से ष्ट्रन प्रत्यय। युज्+त्र। गुण और ज् को क् होकर=योक्त्र।

अदुष्कृतौ–न+दुस्+कृत। 'इसुसोः सामर्थ्ये' सूत्र से षत्व=अदुष्कृत।

व्येनस–विगतम् एनः ययोः तौ। विभक्ति को डा आदेश।

अघ्न्यौ=इन् हिंसागत्योः। यक् प्रत्यय। न+हन्+य। उंपधा का लोप होकर 'हो हन्तेः०' सूत्र से घत्व=अघ्न्य।

शूनम्=शिव+क्त। सम्प्रसारण, दीर्घ तथा निष्ठा के त को न=शून।

अरताम्–ऋ गतौ। लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन।

विशेष–इस मन्त्र के गान के सम्बन्ध में सायण का कथन है कि नदी को पार करने की इच्छा करने वाले ऋषि विश्वामित्र ने पहले नदी की स्तुति की। तदनन्तर नदी से अनुमति पाकर इस मन्त्र को गाकर वे पार उतर गये। पीटर्सन का कथन है कि वैदिक जन गहरी नदियों को पार करते समय इस मन्त्र का उच्चारण करते थे।

ओल्डनबर्ग का इसके सम्बन्ध में कथन है कि विश्वामित्र के नदी के पार उतरने के बाद नदियां पुनः पूरे वेग से बहने लगीं। इसी समय उनका एक शत्रु रथ पर आया और नदियों को पार करने लगा। परन्तु उसका यह प्रयास व्यर्थ रहा और उसका रथ नष्ट हो गया। उस समय ऋषि विश्वामित्र के इस मन्त्र-गान ने निरपराध बैलों के प्राणों की रक्षा की।

सायण ने 'शम्या' का अर्थ 'जुए में बांधने वाली रस्सी' किया है। वेङ्कटमाधव ने भी यही अर्थ किया है। परन्तु पीटर्सन इसका अर्थ 'जुए की कीली' (yoke pin) करते हैं और लुई रेनु ने इसका अर्थ 'चक्र की कीली (axle-pin) किया है। सायण ने 'अदुष्कृतौ', 'व्येनसा' और 'अघ्न्यौ' को नदियों का विशेषण बताया है। उसका अर्थ इस प्रकार है–व्येनसा=पापों से रहित, अदुष्कृतौ= अत एव कल्याण कर्म करने वाली, अघ्न्यौ=किसी से तिरस्कृत न की जा सकने वाली विपाट् और शुतुद्री नदी, शूनम्=समृद्धि को, आरताम्=प्राप्त करे। इस व्याख्या में सायण 'मा' पद को छोड़ गये हैं। वेङ्कटमाधव ने भी इन पदों को नदियों का विशेषण बताया है। परन्तु उसनें 'मा' पद को छोड़ा नही। उसके अनुसार–शूनम् मा आरताम्=हे नदियो! तुम वृद्धि को प्राप्त मत होओ, यह अर्थ होगा। पाश्चात्य भाष्यकारों ने वैदिक परम्पराओं के अनुसार 'अघ्न्य' पद का अर्थ बैल करके 'अदुष्कृतौ' और 'व्येनसा' को उसको विशेषण बताकर अर्थ किया– May not the harmless and innocent bullocks suffer privations. 'अघ्न्यौ पद में पुल्लिङ्ग है, अतः इसका बैल अर्थ करना अधिक उपयुक्त है। यदि कवि को इस पद को नदी के विशेषण के रूप में प्रयुक्त करना अभिप्रेत होता तो वे उसको स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त करते।

वरूण सूक्त

(मण्डल - ७ सूक्त - ८६)

ऋषि - वसिष्ठ देवता - वरूण छन्दः - त्रिष्टुप्

१ **धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।**

प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ।।

पद-पाठः धीरा ।तु ।अस्य ।महिना ।जनूंषि ।वि ।यः ।तस्तम्भ ।रोदसी इति ।चित् । उर्वी इति ।प्र ।नाकम् ।ऋष्वम् ।नुनुदे ।बृहन्तम् ।द्विता ।नक्षत्रम् ।पप्रथत् ।च ।भूम ।।१ ।।

अन्वय - अस्य महिना जनूषि तु धीरा। यः उर्वी रोदसी चित् वि तस्तम्भ । बृहन्तम् नाकम् नक्षत्रम् ऋष्वं द्विता प्रनुनुदे भूम च पप्रथत् ।

संस्कृत - व्याख्या - अस्य वरूणस्य जनूंषि जन्मानि महिना महिम्ना तु क्षिप्रं धीराः धीराणि धैर्यवन्ति भवन्ति। यः वरूण उर्वी विस्तीर्णे रोदसी चित् द्यावापृथिव्यौ अपि वि तस्तम्भ विविधं स्तब्धे स्वकीये स्थाने स्थिते अकरोत्। यश्च बृहन्तं महान्तं नाकं स्वर्गम् आदित्यं नक्षत्रं च ऋष्वं दर्शनीयं द्विता द्विविधं च प्र नुनुदे प्रेरयति स्म। भूम भूमिं च यः पप्रथत् विस्तारितवान् ।

शब्दार्थ - धीरा- धैयशाली बन जाते हैं। **महिना**- महिमा से। **जनूंषि** - जन्म लेने वाले प्राणी। **वितस्तम्भ** - विविध प्रकार से धारण किये हुये हैं। **उर्वी** - विस्तीर्ण। **नांकम्**- स्वर्ग लोक को। **ऋष्वम्**-दर्शनीय रूप से। **प्रनुनुदे**- प्रेरित किया है। **बृहन्तम्**- महान्। **द्विता**- दो प्रकार से। **नक्षत्रम्**- नक्षत्रों को। **पप्रथत्** - विस्तृत बनाया है। **भूम** - भूमि को।

हिन्दी अनुवाद - इस वरूण की महिमा से जन्म लेने वाले प्राणी शीघ्र धैर्यशाली बन जाते हैं, जो वरूण विस्तीर्ण द्युलोक और पृथिवी लोक को भी विविध प्रकार से धारण किये हुये है और जिस वरूण ने महान् स्वर्ग लोक को या आदित्य को एवं नक्षत्रों को दर्शनीय रूप से दो प्रकार से प्रेरित किया है, तथा जिसने भूमि को विस्तृत बनाया है।

व्याकरण -

महिना - महतो भावः अर्थ में मह् + इमनिच् (इमन्) तृतीया का एकवचन-महिम्ना छान्दसो वर्णलोपो च' नियम से वर्णलोप - महिना ।

तस्तम्भ - 'स्तम्भ' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

ऋष्वम् - 'ऋषि गतौ' से व प्रत्यय। ऋष् + व - ऋष्व। दृष्टिगोचर हुई वस्तु ऋष्व कहाती है।

नुनुदे - 'नुद्' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन।

पप्रथत् – 'प्रथ्' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार धीरा - बुद्धिमान् (**intelligent**), महिमा - शक्ति से (**by the might**), ऋष्व - ऊँचा (**high**) और बृहन्तम् - विस्तृत (**lofty**)।

२ **उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत् कदा न्व१न्तर्वरूणे भुवानि ।**

किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ।

पद-पाठः उत । स्वया । तन्वा । सम् । वदे । तत् ।

कदा । नु । अन्तः । वरूणे । भुवनानि ।

किम् । मे । हव्यम् । अहृणानः । जुषेत ।

कदा । मृळीकम् सुऽमनाः । अभि । ख्यम् ।। २ ।।

अन्वय – स्वया तन्वा संवदे उत तत् । कदा नु वरूणे अन्तः भुवानि । अहृणानः में हव्यम् किम् जुषेत। सुमनाः कदा मृळीकम् अभिख्यम् ।

संस्कृत-व्याख्या – उत इति विचिकित्सायां किं स्वया स्वकीयया तन्वा शरीरेण संवदे सह वदनं करोमि आहोस्वित् तत् तेन वरूणेन सह संवदे इति। कदा नु वरूणे देवे अन्तःभुवानि अन्तर्भूतो भवानि चित्ते संलग्नो भवानि इत्यर्थः । मे मदीयं हव्यं स्तोत्रं हविर्वा अहृणानः अक्रुध्यन् वरूणः किं केन हेतुना जुषेत सेवेत। सुमनाः शोभनमनस्कः अहं कदा कस्मिन् काले मृळीकं सुखयितारम् अभिख्यम् अभिपश्येयम् ।

शब्दार्थ – **उत** - क्या। **स्वया** - अपने। **तन्वा** - शरीर से। **संवदे** - साथ बातचीत करूँ। **तत्** - उस वरूण के साथ । **अन्तःभुवानि** - अन्तःकरण में स्थान प्राप्त करूँ। **हव्यम्** - स्तोत्र, हवि। **अहृणानः** - क्रुद्ध न होता हुआ। **जुषेत** - सेवन करेगा। **मृळीकम्** - सुख देने वाले । **सुमनाः** - प्रसन्न मन वाला । **अभिख्यम्** - देखूँगा ।

हिन्दी अनुवाद – वरूण की स्तुति करता हुआ ऋषि इस प्रकार कह रहा है कि क्या मैं अपने शरीर के साथ बात-चीत करूँ अथवा उस वरूण के साथ बातचीत करूँ ? मैं कब निश्चय से वरूण देवता के अन्तःकरण में स्थान प्राप्त करूँ ? क्रुद्ध न होता हुआ वरूण मेरे स्तोत्र या हवि का क्या सेवन करेगा ? प्रसन्न मन वाला होता हुआ मैं किस समय सुख देने वाले वरूण को देखूँगा।

व्याकरण –

वदे - वद् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन । वैदिक रूप ।

भुवानि - भू धातु, लोट् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन । वैदिक रूप ।

अहृणानः - हृणीङ् + शानच् । 'ई' का लोप-हृणान । न + हृणान - अहृणान ।

जुषेत – जुष् धातु, विधिलिङ्, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

अभिख्यम् – अभि + चक्षिङ् (ख्या) लुङ् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल ने 'मृळीकम् अभिख्यम्' का अर्थ किया है – दया को प्राप्त करूँगा । (**perceive his mercy**) ।

३ पृच्छे तदेनो वरूण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।

समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ।।

पद-पाठः पृच्छे । तत् । एनः । वरूण । दिदृक्षु । उपो इति । एमि । चिकितुषः । विऽपृच्छम् । समानम् । इत् । मे । कवयः । चित् । आहुः । अयम् । ह । तुभ्यम् । वरूणः । हृणीते ।। ३ ।।

अन्वय – वरूण ! दिदृक्षु तत् एनः पृच्छे । विपृच्छम् चिकितुषः उपो एमि । कवयः मे समानम् इत् चित् आहुः । ह अयम् वरूणः तुभ्यम् हृणीते ।

संस्कृत-व्याख्या – वरूण ! हे वरूण ! दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुरहं तदेनः पापं पृच्छे त्वा पृच्छामि, विपृच्छं विविधं प्रष्टुं चिकितुषः विदुषः जनान् उपो एमि उपागाम् येनाहं तव पाशेन बद्धः तत्पापं न में कथय इत्यर्थः । ते कवयः क्रान्तदर्शिनः जनाः में महां समानम इत् चित् समानेनैव रूपेण आहुः अकथयन् । किमाहुस्तदाह । हे स्तोतः । ह निश्चयेन अयं वरूणः तुभ्यं त्वत्कृते हृणीते क्रुध्यति ।

शब्दार्थ – पृच्छे – पूछता हूँ । **एनः** – पाप के विषय में । **दिदृक्षु** – देखने की इच्छा वाला । **उपो एमि** – समीप जाता हूँ । **चिकितुषः** – विद्वानों के । **विपृच्छम्** – विविध प्रकार से पूछने के लिये । **समानम्** – समान रूप से । **कवयः** – क्रान्तदर्शी विद्वानों ने । **आहुः** – बताया है । **ह** – निश्चय से । **हृणीते** – कुपित है ।

हिन्दी अनुवाद – हे वरूण ! तुमको देखने की इच्छा वाला अथवा मैंने कौनसा पाप किया है जिसके कारण तुमने मुझको अपने पाशों से बाँधा उस पाप को जानने की इच्छा वाला मैं तुमसे उस पाप के विषय में पूछता हूँ । उस पाप के सम्बन्ध में विविध प्रकार से पूछने के लिये मैं विद्वानों के समीप जाता हूँ । उन क्रान्तदर्शी विद्वानों ने मुझको समान रूप से ही बताया कि हे स्तोता ! निश्चय से यह वरूण ही तुझ पर कुपित है ।

व्याकरण – दिदृक्षु – दृश् + सन् + उ – दिदृक्षु । प्रथमा विभक्ति एक वचन । विसर्गों का छान्दस लोप ।

पृच्छे – प्रच्छ् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन । वैदिक रूप ।

विपृच्छम् – वि + प्रच्छ् + अम् – विपृच्छम् ।

चिकितुषः – कित् + क्वसु – चिकित्वस् । द्वितीया विभक्ति, बहुवचन ।

विशेष –मैक्डानल ने 'कवयः' का अर्थ 'ऋषि' (**sages**) किया है।

४ किमाग॑ आस वरूण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम् ।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर ईयाम् ।।

पद-पाठः किम् ।आग॑ः ।आस ।वरूण ।ज्येष्ठम् ।यत् ।स्तोतार॑म् ।
जिघांससि ।सखा॑यम् ।प्र ।तत् ।मे ।वोचः । दुःऽदभ ।
स्वधाऽवः ।अव॑ ।त्वा ।अनेनाः ।नम॑सा ।तुरः ।इयाम् ।।४ ।।

अन्वय – वरूण ! किम् ज्येष्ठम् आगः आस यत् सखायम् स्तोतारम् जिघांससि ? दूळभ स्वधावः तत् मे प्र वोचः ।अनेनाः तुरः नमसा त्वा अव इयाम् ।

संस्कृत-व्याख्या – हे वरूण !ज्येष्ठम् अधिकं किम् आगः आस कोऽपराधो मया कृत आसीत् यत् येन आगसा सखायं मित्रभूतं स्तोतारं स्तुतिं कुर्वन्तं जिघांससि हन्तुमिच्छसि। हे दुळभ ! दुर्दभः ! अन्यैर्बाधितुमशक्य स्वधावः तेजस्विन् वरूण ! तत आगः मे मह्यं प्रवोचः प्रब्रूहि, येन प्रायश्चितं कृत्वा अनेनाः अपापः सन्नहं त्वरमाणः शीघ्रं नमसा नमस्कारेण हविषा वा त्वाम् अव इयाम् उपगच्छयेम्।

शब्दार्थ – आगः – पाप। **आस** – था। **ज्येष्ठम्** – बड़ा। **स्तोतारम्** – स्तुति करते हुए मुझको। **जिघांससि** – मारना चाहते हो। **सखायम्** – मित्र होते हुये । **प्रवोचः** – बताओ। **दूळभ** – शत्रुओं द्वारा अधृष्य। **स्वधावः** – तेजस्वी। **अनेनाः** – पाप से रहित होता हुआ। **नमसा** – नमस्कार द्वारा, हवि द्वारा। **तुरः** – शीघ्र ही। **अव इयाम्** – पास आ सकूँ, प्राप्त कर सकूँ।

हिन्दी अनुवाद – **हे वरूण देव ! मेरा कौनसा बड़ा पाप था, जिसके कारण तुम मित्र होते हुये और स्तुति करते हुवे भी मुझको मारना चाहते हो। हे शत्रुओं द्वारा अघृष्य एवं तेजस्वी वरूण ! उस पाप के सम्बन्ध में मुझे बताओ, जिससे कि उस पाप का प्रायश्चित्त करके पाप से रहित होकर मैं शीघ्र ही नमस्कार या हवि द्वारा तुम्हारे पास आ सकूँ या तुम को प्राप्त कर सकूँ।**

व्याकरण –

आस – 'अस्' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।वैदिक रूप ।

जिघांससि – 'हन् + सन्' – जिघांस् ।लट् लकार, मध्यम पुरूष, एकवचन ।

दूळभ – दुर् + दम्भ् + खल् – दूळभ ।वैदिक रूप ।

इयाम् – 'इ' धातु विधिलिङ्, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार ज्येष्ठ-प्रमुख (**chief**), दूळभ – जिसे ठगा न जा सके ।(**hard to deceive**), स्वधावः – आत्मनिर्भर (**self dependent**) और नमसा – पूजा करके (**with adoration**)।

५ अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन्पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ।।

पद-पाठः अव ।द्रुग्धानि ।पित्र्या ।सृज ।नः ।अव ।या ।वयम् ।चकृम तनूभिः ।
अव ।राजन् ।पशुऽतृपम् ।न ।तायुम् ।सृज ।वत्सम् ।न ।दाम्नः ।वसिष्ठम् ।।५ ।।

अन्वय – पित्र्या नः द्रुग्धानि अवसृज ।वयम् तनूभिः या चकृम अव ।राजन् ! पशुतृपम् तायुम न दाम्नः वत्सम् न वसिष्ठम् अव सृज ।

संस्कृत-व्याख्या – हे वरूण ! पित्र्या पितृतः प्राप्तानि नः अस्मदीयानि द्रुग्धानि द्रोहान् बन्धनहेतुभूतान् अवसृज विमुञ्च ।वयं च या यानि द्रोहजातानि तनूभिः शरीरैः चकृम कृतवन्तः स्म तानि अवसृज ।हे राजन् ! राजमान वरूण ! पशुतृपं न तायुं स्तैन्यप्रायश्चित्तं कृत्वा पश्चात् घासादिभिः पशूनां तर्पयितारं स्तेनमिव दाम्नः रज्जोः वत्सं न वत्समिव वसिष्ठं मां पापात् बन्धनाद्वा अवसृज विमुञ्च ।

शब्दार्थ – **द्रुग्धानि** – द्रोह आदि पापों को।**पित्र्या** – पिता आदि पूर्वजों के समय में किये गये।**अवसृज** – छोड़ दो ।**चकृम** – किये हैं।**तनूभिः** – अपने शरीरों से ।**पशुतृपम्** – पशुओं को तृप्त करने वाले।**तायुम् न** – चोर के समान।**वत्सम् न** – बछड़े के समान।**दाम्नः** – रस्सी से बँधे हुये।**वसिष्ठम्** – मुझ वसिष्ठ को, धनों को वश में रखने वाले मुझ को।

हिन्दी अनुवाद – हे वरूण ! पिता आदि पूर्वजों के समय से किये गये हमारे द्रोह आदि पापों को छोड़ दो अर्थात् क्षमा कर दो। हमने अपने इन वर्तमान शरीरों द्वारा जो द्रोह किये हैं, उनको भी क्षमा कर दो। हे प्रकाशमान या सबके स्वामी वरूण ! पहले पशुओं को चुरा कर फिर प्रायश्चित्त कर घास आदि द्वारा पशुओं को तृप्त करने वाले चोर के समान और रस्सी से बँधे हुये बछड़े के समान, वसिष्ठ को अथवा धनों को वश में रखने वाले मुझ को पाप से छुड़ा दो अर्थात् क्षमा कर दो।

व्याकरण –

पित्र्या – पितृ + यत् – पित्र्य ।द्वितीया का बहुवचन। वैदिक रूप ।

द्रुग्धानि – द्रुह + क्त – द्रुग्ध ।द्वितीया का बहुवचन ।नपुंसकलिङ्ग ।

चकृम – कृ धातु, लिट् लकार, उत्तम पुरूष, बहुवचन ।

वसिष्ठम् – 'अतिशयेन वशी' अर्थ में वशिन् + इष्ठन् = वसिष्ठ ।

विशेष – मैक्डानल ने 'पशुतृपम्' का अर्थ 'पशुओं को चुराने वाला चोर' (**cattle stealing thief**) किया है।

६ न स स्वो दक्षो वरूण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥

पद-पाठः न । सः । स्वः । दक्षः । वरूण । ध्रुतिः । सा । सुरा । मन्युः । विऽभीदकः । अचित्तिः । अस्ति । ज्यायान् । कनीयसः । उपऽआरे । स्वप्नः । चन । इत् । अनृतस्य । प्रऽयोता ।

अन्वय – वरूण ! सः स्वः दक्षः न सा ध्रुतिः सुरा, मन्युः विभीदकः, अचित्तिः । कनीयसः उपारे ज्यायान् अस्ति । स्वप्नः चन इत् अनृतस्य प्रयोता ।

संस्कृत-व्याख्या – हे वरूण ! स स्वो दक्षः पुरूषस्य स्वभूतं तद् बलं पापप्रवृत्तो कारणं न भवति । किं तर्हि तदाह ध्रुतिः स्थिरा दैवगतिः उत्पत्तिसमये निर्मिता सा च ध्रुतिः सुरा प्रमादकारिणी, मन्युः क्रोधः गुर्वादिविषयः, विभीदकः द्यूतसाधनोऽक्षः अचित्तिः अज्ञानं च आपत्तिकारणम् । अपि च, कनीयसः अल्पस्य उपारे उपागते समीपे ज्यायान् अधिकः श्रेष्ठः ईश्वरः अस्ति, स एव पापे प्रवर्तयति इत्यर्थः । एवं सति स्वप्नश्चन स्वप्नोऽपि अनृतस्य पापस्य प्रयोता प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति । इत् पादपूरणः । अतो दैवगतो मेऽपराधः क्षन्तव्यः इति भावः ।

शब्दार्थ – **स्वः** – अपना । **दक्षः** – बल । **ध्रुतिः** – उत्पत्ति के समय उत्पन्न हुई दैवगति । **सुरा** – उन्मादक पदार्थ । **मन्युः** – क्रोध । **विभीदकः** – जुआ । **अचित्तिः** – अज्ञान । **ज्यायान्** – बड़ा, ईश्वर । **कनीयसः** – अल्प शक्ति वाले साधनहीन मनुष्य से । **उपारे** – निकट आने पर । **स्वप्नः** – स्वप्न, मानसिक भावना ।

हिन्दी अनुवाद – **हे वरूण ! मनुष्य का वह अपना बल पाप की ओर प्रवृत्ति में कारण नहीं होता किन्तु ध्रुति अर्थात् उत्पत्ति के समय उत्पन्न हुई दैवगति ही उस पाप का कारण होती है। वह ध्रुति सुरा अर्थात् उन्मादक पदार्थो से होती है, क्रोध से होती है, जुये से होती है और अज्ञान से होती है। अल्प शक्ति वाले या साधनहीन मनुष्य के पाप की प्रवृत्ति के निकट आने पर उससे बड़ा या ईश्वर जो उसके पास है उसको पाप में प्रवृत्त कराता है या उसकी रक्षा करता है। स्वप्न भी अर्थात् मानसिक भावनायें भी पाप की प्रयोक्ता होती हैं।**

व्याकरण –

ध्रुति – ध्रु + क्तिन् ।

अचित्तिः + चित् + क्तिन् – चित्ति । न + चित्ति – अचित्ति ।

कनीयसः – अल्प + ईयसुन् । अल्प को कन् आदेश – कनीयस । षष्ठी का एकवचन।

ज्यायान् – अयमनयोः अतिशयेन प्रशस्यः अर्थ में प्रशस्य + ईयसुन् । प्रशस्य शब्द को ज्य तथा ईयसुन् के ई को आ आदेश – ज्यायस् । प्रथमा का एकवचन ।

प्रयोता – प्र + यु + तृच् – प्रयोतृ । प्रथमा का एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार दक्षः – चारित्रदोष (**seduction**)। इस मन्त्र के अन्तिम दो पदों का मैक्डानल के अनुसार अर्थ इस प्रकार है – छोटे के किये गये पापों का जिम्मेदार बड़ा है। नींद भी पाप से रक्षा नहीं करती (**the elder is in the offence of the younger; not even sleep is the warder of wrong**)।

७ **अरं दासो न मीळहुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।**

अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ।।

पद-पाठः अरम् ।दासः ।न ।मीळहुषे ।कराणि ।अहम् ।देवाय ।भूर्णये ।अनागाः ।

अचेतयत् ।अचितः ।देवः ।अर्यः ।गृत्सम् ।राये ।कविऽतरः ।जुनाति ।।

अन्वय – मीळहुषे भूर्णये देवाय अनागाः अहम् अरम् कराणि । दासः न । अर्यः देवः अचितः अचेतयत् । कवितरः गृत्सम् राये जुनाति ।

संस्कृत-व्याख्या –मीळहुषे सेक्त्रे कामानां वर्षित्रे वा भूर्णये जगतो भर्त्रे देवाय दानादिगुणयुक्ताय वरूणाय अनागाः अपापः सन् अहम् अरम् अलम् कराणि परिचरणं करवाणि ।दासः न भृत्य इव। यथा दासः स्वस्वामिने परिचरति सम्यक् । अर्यः स्वामी स देवः अचितः अजानतोऽस्मान् अचेतयत् प्रज्ञापयतु। कवितरः प्राज्ञतरो देवः वरूणः 'गृत्सं स्तोतारं च राये धनाय जुनाति प्रेरयतु।

शब्दार्थ – अरम् – पर्याप्त रूप से ।**दासः न** – दास के समान। **मीळहुषे** – सींचने वाले, कामनाओं को पूरा करने वाले। **कराणि** – सेवा करता हूँ। **देवाय** – दान आदि दिव्य गुणों से युक्त। **भूर्णये** – जगत् का भरण-पोषण करने वाले। **अनागाः** निष्पाप होता हुआ। **अचेतयत्** – ज्ञान प्रदान करे। **अचितः** – अज्ञानी हम उपासकों को। **अर्यः** – सबका स्वामी। **गृत्सम्** – स्तुति करने वाले को। **राये** – धन के लिये। **कवितरः** – बहुत अधिक ज्ञानी। **जुनाति** – प्रेरित करे।

हिन्दी अनुवाद – सींचने वाले अर्थात् कामनाओं को पूरा करने वाले, जगत् का भरण-पोषण करने वाले और दान आदि दिव्य गुणों से युक्त वरूण देवता की मैं निष्पाप होता हुआ बहुत अधिक सेवा उसी प्रकार से करता हूँ, जिस प्रकार एक दास अपने स्वामी की सेवा करता है। सबका स्वामी वह वरूण देव अज्ञानी हम उपासकों को ज्ञान प्रदान करे। बहुत अधिक ज्ञानी वह वरूण अपनी स्तुति करने वाले को धन के लिए प्रेरित करे अर्थात् उसको धन प्रदान करे।

व्याकरण –

भूर्णये – भृ + क्तिन् ।'ऋ' को छान्दस 'उर्' आदेश, दीर्घ 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' से णत्व – भूर्णि । चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

कराणि – कृ धातु, लोट् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन। वैदिक रूप।

अचेतयत् – णिजन्त चित् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन।

जुनाति – जु धातु, लट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार भूर्णि = क्रुद्ध (**angry**), गृत्सम् – अनुभवी व्यक्ति (**exprienced man**) और जुनाति = शीघ्रता करता है (**speeds**)।

८ **अयं सु तुभ्यं वरूण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।**
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

पद-पाठः अयम्। सु। तुभ्यम्। वरूण। स्वधाऽवः। हृदि। स्तोमः।
उपऽश्रितः। चित्। अस्तु। शम्। नः। क्षेमे। शम्। ऊँ इति।
योगे। नः। अस्तु। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः॥८॥

अन्वय – स्वधावः वरूण! तुभ्यम् अयम् स्तोमः हृदि चित् सु उपश्रितः अस्तु। नः क्षेमे शम् उ योगे नः शम् अस्तु यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात।

संस्कृत-व्याख्या – हे स्वधावः अन्नवान् वरूण! तुभ्यं त्वदर्थ क्रियमाणः अयम् एतत्सूक्तात्मकं स्तोमः स्तोत्रं हृदि त्वदीये हृदये सु सुष्ठु उपश्रितः उपगतोऽस्तु। चित् इति पूरकः। नः अस्मदीये क्षेमे रक्षणे शम् उपद्रवाणां शमनम् अस्तु। योगे च नः अस्मदीये प्रापणे शमु शमनमेवास्तूपद्रवाणाम्। नः अस्मान् स्वस्तिभिः अविनाशैः कल्याणैः पात रक्षत।

शब्दार्थ – **तुभ्यम्** – तुम्हारे लिये। **स्वधावः** –अन्न को धारण करने वाले। **स्तोमः** – स्तोत्र। **सु उपश्रितः** – अच्छी प्रकार से प्राप्त। **शम्** – विघ्नों की शान्ति। **क्षेमे** – प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने में। **उ** – और। **योगे** – अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति में। **पात** – रक्षा करो।

हिन्दी अनुवाद – अन्न को धारण करने वाले हे वरूण! तुम्हारे लिये किया गया यह स्तोत्र तुम्हारे हृदय में अच्छी प्रकार से प्राप्त होवे। हमारे प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने में विघ्नों की शान्ति होवे और अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति में विघ्नों की शान्ति होवे। तुम हमारी सदा कल्याणों के द्वारा रक्षा करो।

व्याकरण –

उपश्रितः – उप + श्रि + क्त – उपश्रित।

पात – पा धातु, लोट् लकार मध्यम पुरूष बहुवचन।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार स्वधावः = आत्मनिर्भर (**self dependent**)। क्षेमे शम् = प्राप्त की रक्षा (**prosperity in possession**) और योगे शम् – अप्राप्त की रक्षा (**prosperity in aquisition**)।

पुरुष-सूक्त

(मण्डल १०, सूक्त ९०)

ऋषि–नारायण देवता–पुरुष, छन्दः अनुष्टुप्, अन्तिम में त्रिष्टुप

१. **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।**

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

पद-पाठः सहस्रऽशीर्षा। पुरुषः सहस्रऽअक्षः। सहस्रऽपात्।

सः। भूमिम्। विश्वतः। वृत्वा। अति। अतिष्ठत्। दशऽअङ्गुलम्।।१।।

अन्वयः–पुरुषः सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात्। सः भूमिम् विश्वतः वृत्वा दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत्।

सायण–सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा। सहस्रशब्स्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः। यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तः पातितत्वात्तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम्। एवं सहस्रक्षित्वं सहस्रपादत्वं च। स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतो वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशमत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यस्थितः। दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः।

शब्दार्थ–सहस्रशीर्षाः=हजारों सिर वाला। **सहस्राक्षः**=हजारों आंखों वाला। **सहस्रपात्**=हजारों पैरों वाला। **विश्वतः**=चारों ओर से। **वृत्वा**=व्याप्त करके। **अति अतिष्ठत्**=पार करके स्थित है। **दशाङ्गुलम्**=दस अङ्गुल परिमाण में।

हिन्दी अनुवाद–यह परम पुरुष विराट् परमेश्वर (अनन्त) सिर वाला, हजारों आंखों वाला और हजारों पैरों वाला है। यह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके दस अंगुल प्रमाण में ब्रह्माण्ड को पार करके स्थित है। अर्थात् यह परम पुरुष ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किये हुये है।

व्याकरण–

सहस्रशीर्षा–सहस्रं शिरांसि यस्य स।

सहस्राक्षः–सहस्रं अक्षीणि यस्य स। सहस्र+अक्षि। समासान्त 'षच्' प्रत्यय और 'टि' का लोप=सहस्राक्ष।

सहस्रपात्–सहस्रं पादाः यस्य। सहस्र+पाद। "पादस्य लोपोऽहत्स्या- दिभ्यः" सूत्र से 'पाद' के 'अ' का लोप।

पुरुषः–पुरि शेते अर्थ में पुर्+शी+क। वैदिक निपातनात् रूप बनता है।

दशाङ्गुलम्–दशानाम् अङ्गुलीनाम् समाहारः। दश+अङ्गुली। समासान्त। 'अच्' प्रत्यय और 'टि' का लोप=दशाङ्गुल।

विशेष–'दशाङ्गुल' पद का ऋग्वेद में अन्यत्र प्रयोग नहीं हुआ। उव्वट ने इस पद का अर्थ दस इन्द्रियां अथवा दस अंगुली के प्रमाण का हृदय प्रदेश या नासिका का अग्रभाग', किया है। 'पुरुष' का सायण ने–'प्राणियों की समष्टि के रूप में स्थित ब्रह्माण्डशरीरी विराट् पुरुष, उव्वट ने–'नाराण नाम वाला पुरुष' और महीधर ने–'अव्यक्त महद् आदि से विलक्षण चेतन 'पुरुष' अर्थ किये हैं। 'भूमि' पद का अर्थ उव्वट के अनुसार 'भुवनकोष की भूमि' और महीधर के अनुसार 'ब्रह्माण्ड लोकों की भूमि या पञ्च महाभूत' है।

'वृत्वा के स्थान पर कुछ स्थानों पर 'स्पृत्वा' का पाठ भी मिलता है।

छन्द के आग्रह से 'वृत्यात्यतिष्ठत्' को 'वृत्वा अत्यतिष्ठत्' पढ़ना चाहिये।

२. **पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।**
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

पद-पाठः पुरुषः। एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भव्यम्।
उत। अमृतऽत्वस्य। ईशानः। यत्। अन्नेन। अतिऽरोहति॥२॥

अन्वय–इदम् सर्वम् पुरुष एव। यत् भूतम् यत् च भव्यम्। उत अमृतत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति।

सायण–यदिदं वर्तमानं जगत् तत्सर्वं पुरुष एव। यच्च भूतमतीतं जगद्यच्च भव्यं भविष्यज्जगत्तदपि पुरुष एव। यथास्मिन्कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः। उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्यायमीशानः स्वामी। यद्यस्मात् कारणादन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेनातिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात्प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः।

शब्दार्थ–भूतम्=हो चुका है। **भव्यम्**=होगा। **अमृतत्वस्य**=देवताओं का, अमरत्व का। **ईशानः**=स्वामी है। **अन्नेन**=अन्न से, भोग्य पदार्थों से। **अतिरोहति**=बढ़ता है।

हिन्दी अनुवाद–यह सब कुछ दृश्यमान वर्तमान जगत् पुरुष ही है। जो कुछ हो चुका है, अर्थात् भूतकालीन और जो कुछ होगा अर्थात् भविष्यत् कालीन जगत् भी पुरुष ही है और वह पुरुष देवताओं का अथवा अमरत्व का स्वामी है। जो पुरुष अन्न अर्थात् प्राणियों के भोग्य पदार्थों के कारण बढ़ता है अर्थात् इस दृश्यमान जगत् रूप अवस्था को प्राप्त होता है।

व्याकरण–

भव्यम–भूत+यत्=भव्य।

ईशानः–ईश्+शानच्=ईशान।

अमृतत्वस्य–न+मृ+क्त=अमृत। अमृतस्य भावः अर्थ में त्व प्रत्यय।

विशेष–''यदन्नेनातिरोहति' का पीटर्सन ने अर्थ किया है–What ever is nourished or increased by food। 'अमृतत्वस्य ईशानः' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। 'अमृत' का अर्थ 'जल', 'सुधा' और 'मोक्ष' भी है। जो पुरुष 'जल का' या 'सुधा का' या 'मोक्ष का' स्वामी है।

छन्द के आग्रह से 'भव्यम्' को 'भवियम्' पढ़ना चाहिये।

३. **एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।**
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

पद-पाठः एतावान्। अस्य। महिमा। अतः। ज्यायान्। च। पुरुषः।
पादः। अस्य। विश्वा। भूतानि। त्रिऽपात्। अस्य। अमृतम्। दिवि॥

अन्वय–एतवान् अस्य महिमा। पुरुषः च अतः ज्यायान्। विश्वा भूतानि अस्य पादः। अस्य त्रिपात् अमृतम् दिवि।

सायण–अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान्सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अतो महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोऽशः। अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूपममृतं विनाशरहितं सद्दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मोत्याग्नायातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं। ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पाद- त्वोपन्यासः।

शब्दार्थ–एतावान्=इतनी। **ज्यायान्**=अधिक विराट् है। **पादः**=चौथाई अंश। **विश्वा**=सम्पूर्ण। **भूतानि**=प्राणी। **त्रिपात्**=तीन चौथाई। **अमृतम्**=अविनाशी रूप से। **दिवि**=द्युलोक में।

हिन्दी अनुवाद–इतनी इसकी महिमा है, अर्थात् भूत-भविष्यत् वर्तमान कालत्रयवर्ती यह समग्र जगत् इसकी महिमा मात्र है, इसका स्वरूप नहीं। और इसलिये यह पुरुष तो इससे भी अधिक विराट् ही है। सम्पूर्ण प्राणी अर्थात् यह समग्र जगत् तो इसका केवल पाद (चौथाई अंश) है। इसके तीन पाद (तीन चौथाई अंश) अविनाशी

रूप से द्युलोक में अर्थात् स्वप्रकाश रूप में अवस्थित रहते हैं।

व्याकरण–

एतावान्– एतद्+मतुप्। 'आसर्वनाम्नः' सूत्र से आकार आदेश।

महिमा–महत्+इमनिच्=महिमन्। प्रथमा का एकवचन।

ज्यायान्–अयमनयोः अतिशयेन प्रशस्यः अर्थ में 'ईयसुन' प्रत्यय होकर ''ज्य च'' सूत्र से प्रशस्य के स्थान पर 'ज्य' आदेश और 'ईयसुन' के 'ई' की 'आ' आदेश।

त्रिपात्–त्रयाणां पादानां समाहार। ''पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः'' सूत्र से 'पाद' के 'अ' का लोप।

विशेष–मैक्डानल के 'दिवि' का अर्थ 'स्वर्गलोक में और पीटर्सन ने 'आकाश में' किया है।

छन्द के अनुरोध में 'महिमातो' को महिमा अतो पढ़ना चाहिये।

४. **त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्। पुनः।**

ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभि।।

पद-पाठः त्रिऽपात्। ऊर्ध्वः। उत्। ऐत्। पुरुषः।

पादः। अस्य। इह। अभवत्। पुनरिति।

ततः। विष्वङ्। वि। अक्रामत्।

साशनानशने इति। अभि।।४।।

अन्वय–त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्वः उदैत्। अस्य पादः इह पुनः अभवत्। ततः साशनानशने अभि विष्वङ् व्यक्रामत्।

सायण–योऽयं त्रिपात्पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयमूर्ध्व उदैत्। अस्माज्ञान-कार्यात्संसाराद्बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्यास्य सोऽयं पादो लेशः सोऽयमिह मायायां पुनरभवत्। सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तम्-विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदिति। ततो मायायामगात्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान। किं कृत्वा। साशनानशने अभिलक्ष्य भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातम्। अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्। तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः।

शब्दार्थ–त्रिपात्=तीन पादों वाला। **ऊर्ध्वः**=जगत् से ऊपर। **उदैत्**=उठा हुआ

है। **इह**=इस भौतिक जगत् के रूप में। **पुनः**=बार-बार। **अभवत्**=होता है। **विष्वङ्**=विविध रूपों वाला। **विअक्रामत्**=व्याप्त करके स्थित है। **साशनानशने**=भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले चेतन और अचेतन।

हिन्दी अनुवाद—संसार से ऊपर तीन पादों वाला यह विराट् पुरुष जगत् से ऊपर उठा हुआ है अर्थात् विश्व के गुण-दोषों से रहित है। इसका एक पाद इस भौतिक जगत् के रूप में बार-बार होता है, अर्थात् इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होते रहते हैं। इसके बाद अर्थात् सृष्टि उत्पन्न होने पर भोजन करने वाले और भोजन न करने वाले अर्थात् चेतन अचेतन जगत् को लक्ष्य करके विविध रूपों वाला पुरुष व्याप्त करके स्थित है।

व्याकरण—

साशनानशने—अश्+ल्युट् (अन)=अशन। अशनेन सहितः। अशनेन रहितः अनशनः। साशनश्च अनशनश्च साशनानशने।

विष्वङ्—विषु सर्वत्र अञ्चति अर्थ में विषु+अञ्च्+क्विप्।

उदैत्—उत्+ई, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

व्यक्रामत्—वि+क्रम्, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष—'साशनशने' का अर्थ महीधर ने 'स्वर्ग और मोक्ष', मैक्डानल ने 'खाने वाले और न खाने वाले' एवं पीटर्सन ने 'सजीव और निर्जीव संसार' किया है।

५. **तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।**
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥

पद-पाठः तस्मात्। विऽराट्। अजायत। विऽराजः। अधि। पुरुषः।
सः। जातः। अति। अरिच्यत। पश्चात्। भूमिम्। अथो इति। पुरः॥५॥

अन्वय—तस्मात् विराट् अजायत। विराजः अधि पुरुषः। सः जातः अत्यरिच्यत। पश्चात् भूमिम् अथो पुरः।

सायण—विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते। तस्मादादिपुरुषाद्विराड् ब्रह्माण्डदेहोऽजायत उत्पन्नः। विविधनि राजन्ते वस्तून्यवेति विराट्। विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषस्तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमानजायत। सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स एव स्वकीयया मायमा विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति—स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च

सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययेति। स जातो विराट्पुरुषोऽत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्। विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चाद् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज। पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि।

शब्दार्थ–विराट्=ब्रह्माण्ड देह, व्यक्त, जगत्। **अधिपुरुष**=जीवात्मा। **अत्यरिच्यत**=सबसे आगे बढ़ गया। **पुरः**=शरीरों को।

हिन्दी अनुवाद–उस आदिपुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह, व्यक्त जगत्) उत्पन्न हुआ। ब्रह्माण्ड देह का आश्रय लेकर उससे पुरुष (जीवात्मा) उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही सबसे आगे बढ़ गया अर्थात्, पशु, पक्षी मनुष्य आदि के रूप में चेतनता को प्राप्त करके अन्य जगत् से बढ़कर था। पश्चात् उस पुरुष ने भूमि और शरीरों को बनाया।

व्याकरण–

विराट्–विशेषेण राजत अर्थ में–वि+राज्+क्विप्।

अत्यरिच्यत–अति रिचिर् (रिच्) धातु, कर्मकारक में लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

पुरः–पूर्यन्ते सप्तभिः धातुभिः अर्थ में पुर्+क्विप्। द्वितीया विभक्ति का बहुवचन।

विशेष–सायण ने 'भूमिम्' के साथ 'ससर्ज' क्रिया का अध्याहार किया है। परन्तु पीटर्सन के अनुसार 'भूमिम्' को 'अत्यरिच्यत' क्रिया का ही कर्म मानना चाहिये। उव्वट ने 'पुरः' का अर्थ 'शरीर' अथवा 'चार' प्रकार के 'भूत' किया है। यहां द्वितीय पाद में 'पुरुष' को वेदान्त के जीव का रूप कहा गया है, ऐसा सायण का विचार है।

६. **यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत।**

व॒स॒न्तो अ॑स्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः।

पद-पाठः यत्। पुरु॑षेण। ह॒विषा॑। दे॒वाः। य॒ज्ञम्। अत॑न्वत।

व॒स॒न्तः। अ॒स्य॒। आ॒सी॒त्। आज्य॑म्। ग्री॒ष्मः। इ॒ध्मः। श॒रत्। ह॒विः।।६।।

अन्वय–यत् देवाः पुरुषेण हविषा यज्ञम् अतन्वत वसन्तः अस्य आज्यम् आसीत्, ग्रीष्म्: इध्मः, शरत् हविः।

सायण–यद्यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं

बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरनन्तसंभवात्पुरुषस्वरूपमेव मनसा हष्ट्विेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञमतन्वत अन्वतिष्ठन् तदानीमस्य यज्ञस्य वसन्ते वसन्तर्तुरे-वाज्यमाजीत्। तमेवाज्यत्वेन संकल्पितवन्तः इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्म आसीत् तमेवेघ्मत्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः। शरद्धविरासीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन संकल्पिवन्त इत्यर्थः। पुर्वपुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन संकल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन संकल्प इति द्रष्टव्यम्।

शब्दार्थ–पुरुषेण हविषा=पुरुष रूप हवि के द्वारा। **अतन्वत**=किया। **आज्यम्**=घृत। **इध्मः**=ईंधन। **हविः**=हवन।

हिन्दी अनुवाद–जब, अर्थात् सृष्टि के रचना क्रम के इस प्रकार प्रारम्भ होने पर देवताओं ने सृष्टि के क्रम को आगे बढ़ाने के लिये पुरुष हवि द्वारा यज्ञ को (सृष्टि रचना रूपी यज्ञ को, मानसिक यज्ञ को) किया अर्थात् आगे सृष्टि की रचना का आरम्भ किया तो वसन्त ऋतु इस यज्ञ का घृत था, ग्रीष्म ईंधन हुआ और शरद् ऋतु हवि बनी। अर्थात् विभिन्न ऋतुयें उत्पन्न हुईं।

व्याकरण–

यत्–यह 'यदा' का वैदिक रूपान्तर है।

अतन्वत–'तनु विस्तारे' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आज्यम्–'अञ्ज्' से ''ऋहलोर्ण्यत्'' सूत्र से ण्यत् प्रत्यय।

इध्मः–इन्ध् धातु से निपातनात् बनता है।

विशेष–उव्वट के अनुसार यहां वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुयें सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों को अभिव्यञ्जित करती हैं। अर्थात् इन तीन गुणों द्वारा सृष्टि की रचना हुई। यहां सृष्टि की रचना को यज्ञ का रूपक दिया गया हैं

७. तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः।
तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये॥

पद-पाठः तम्। य॒ज्ञम्। ब॒र्हिषि॑। प्र। औ॒क्ष॒न्। जा॒तम्। अ॒ग्र॒तः।
तेन॑। दे॒वाः। अ॒य॒ज॒न्त॒। सा॒ध्याः। ऋष॑यः। च॒॥७॥

अन्वय–अग्रतः जातम् तम् पुरुषम् बर्हिषि प्रौक्षन्। तेन देवाः ये च साध्याः ऋषयः च अयजन्त।

सायण–यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे

प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह। अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तम् तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पुरुष इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त, मानसं यागं निष्पादिवतन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्या सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये सन्ति वे सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः।

शब्दार्थ–बर्हिषि=मानसिक यज्ञ में, यज्ञ की वेदी पर। **प्रौक्षन्**=जल छिड़का। **अगतः**=सबसे पहले। **अयजन्त**=यजन किया। **साध्याः**=सृष्टि-उत्पत्ति के साधनभूत प्रजापति।

हिन्दी अनुवाद–सबसे पहले अर्थात् सृष्टि से पूर्व उत्पन्न हुये, यजनीय या यज्ञ रूप उस पुरुष रूप पशु पर यज्ञ की वेदी पर देवताओं ने जल छिड़का अर्थात् जल छिड़क कर पवित्र किया। उस प्रोक्षित पुरुष रूप पशु से देवताओं ने साध्य अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के साधनभूत प्रजापति आदियों ने और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने यजन किया।

व्याकरण–

प्रौक्षन्–प्र+उक्ष् सेचने, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

साध्याः–साध्+ण्यत्=साध्य।

अयजन्तः–यज् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विशेष–सायण और महीधर के अनुसार 'साध्य' शब्द का अर्थ है–सृष्टि उत्पादन करने के योग्य प्रजापति आदि। परन्तु पीटर्सन ने इसका अर्थ किया है–देवताओं की विशेष श्रेणी (A class of devine beings, probably ancient devine sacrificers) ग्रिफिथ ने भी यही अर्थ किया है।

छन्द के आग्रह से 'साध्याः' को 'साधियाः'। पढ़ना चाहिये।

८. **तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ः संभृ॑तं पृष॒दा॒ज्यम्।**

प॒शून्तांश्च॑क्रे वा॒य॒व्या॑नार॒ण्यान्ग्रा॒म्याश्च॒ ये।

पद-पाठः तस्मा॑त्। य॒ज्ञात्। स॒र्व॒ऽहु॒तः॑। सम्ऽभृ॑तम्। पृ॒ष॒त्ऽआ॒ज्यम्।

प॒शून्। तान्। च॒क्रे॒। वा॒य॒व्या॑न्। आ॒र॒ण्यान्। ग्रा॒म्याः। च॒। ये।।८।।

अन्वय–सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यम् संभृतम्। वायव्यान्, ये च ग्राम्याः तान् पशूनू चक्रे।

सायण–सर्वहुतः सर्वव्यापकः पुरुषो यस्मिन्यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुतः। तादृशा-तस्मात्पूर्वोक्तान्मानसद्यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रिताज्यम् सम्भृतं सम्पादितम्। दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वं सम्पादितमित्यर्थः। तथा वायव्यान् वायुदेवता कांल्लोकप्रसिद्धा-नारण्यान्पशूंश्चक्रे। पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेव्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः। अन्तरिक्ष देवत्याः खलु वै पशवः। वायव एवैतान्परिददाति इति।

शब्दार्थ–सर्वहुतः–जिसमें सभी कुछ आहुत कर दिया जाता है। **संभृतम्**=उत्पन्न हुआ। **पृषदाज्यम्**=दही से युक्त घी। **वायव्यान्**=वायु में विचरण करने वाले। **आरण्यान्**= जंगलों में रहने वाले। **ग्राम्यान्**=गांवों में रहने वाले।

हिन्दी अनुवाद–जिस यज्ञ में सभी कुछ अथवा सब का आत्मरूप पुरुष आहुत कर दिया जाता है, ऐसे उस यज्ञ से दही से युक्त घी, उत्पन्न हुआ अर्थात् बनाया गया और उसने वायु या अन्तरिक्ष में विचरने वाले पशु अर्थात् पक्षी, जंगलों में रहने वाले हरिण आदि पशु और जो गांवों में रहने वाले अश्व, गौ आदि पशु हैं, वे भी बनाये।

व्याकरण–

सर्वहुतः–सर्व+हु+क्विप्=सर्वहुत्। पञ्चमी का एकवचन।

संभृतम्–सम्+भृ+क्त=संभृत।

पृषदाज्यम्–पृषत् च आज्यम् च तयोः समाहारः।

वायव्यान्–वायु+यत्=वायव्य।

आरण्यान्–अरण्य+ण (अ) =आरण्य।

ग्राम्याः–ग्राम+यत्=ग्राम्य।

विशेष–सायण ने 'यज्ञ' का अर्थ 'मानस यज्ञ' और महीधर ने 'पुरुषमेघ यज्ञ' किया है। छन्द के आग्रह से 'पृषदाज्यम्' को 'पृषदाजियम्' और 'ग्राम्याः' को 'ग्रामियाः' पढ़ना चाहिये।

९. तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ ऋ॒चः सामा॑नि जज्ञिरे।

छन्दां॑सि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द् यजु॒स्तस्मा॑दजायत॥

पद-पाठः तस्मा॑त्। य॒ज्ञात्। स॒र्व॒ऽहु॑तः। ऋच॑ः। सामा॑नि ज॒ज्ञि॒रे।

छन्दां॑सि। ज॒ज्ञि॒रे। तस्मा॑त्। यजुः॑। तस्मा॑त्। अ॒जा॒य॒त।

अन्वय–सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे। तस्मात् छन्दांसि तस्मात् यजुः अजायत।

सायण–सर्वहुतस्तस्मात्पूर्वोक्ताद्यज्ञादृचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्माद् यज्ञाच्छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्माद्यज्ञाद्यजुरप्यजायत।

शब्दार्थ–ऋचः=ऋग्वेद। **सामानि**=सामवेद। **जज्ञिरे**=उत्पन्न हुये। **छन्दांसि**=गायत्री आदि छन्द। **यजुः**=यजुर्वेद।

हिन्दी अनुवाद–जिस यज्ञ में सभी कुछ अर्थात् सबका आत्मरूप पुरुष आहूत कर दिया जाता है, ऐसे यज्ञ से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुये। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुये, उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

व्याकरण–

ऋचः–ऋच्+क्विप्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

सामानि–षो (सो)+मनिन्=सामन्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। नपुंसकलिङ्ग।

जज्ञिरे–'जनी प्रादुर्भावे' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

यजुः–यज्+उस्।

अजायत–'जनी प्रादुर्भावे' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष–इस मन्त्र से विदित होता है कि इस सूक्त की रचना के समय तक ऋक्, साम, और यजुः इन तीनों वेदों का संकलन हो चुका था। इसमें अर्थवेद का उल्लेख नहीं है। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'छन्दांसि' पद अथर्ववेद का सूचक है। इस प्रकार इस मन्त्र में चारों वेदों की उत्पत्ति का वर्णन आ जाता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ऋक्, साम और यजुः पद संज्ञा वाचक न होकर प्रकार वाचक है। इनसे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद, इन तीन वेदों का कथन न करके तीन प्रकार के मन्त्रों का कथन किया गया है। ऋचायें और साम गायत्री आदि छन्दों में निबद्ध हैं तथा यजुष् गद्यात्मक है।

१०. तस्मादश्वा अजायन्त ये केचोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः।

पद-पाठः तस्मात्। अश्वाः। अजायन्त। ये के। च। उभयादतः।
गावः। ह। जज्ञिरे। तस्मात्। तस्मात्। जाताः। अजावयः॥

अन्वय–तस्मात् अश्वाः अजायन्त। ये के च उभयादतः। तस्मात् ह गावः जज्ञिरे। तस्मात् अजावायः जाताः।

सायण–तस्मात्पूर्वोक्तद्यज्ञादश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के चाश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्चोभयादत ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्माद्यज्ञाद् गावश्च जज्ञिरे। किंच तस्माद्यज्ञादजावयश्च जाताः।

शब्दार्थ–अजायन्त=उत्पन्न हुये। **उभयादतः**=ऊपर नीचे दोनों ओर दान्तों वाले। **अजावयः**=भेड़ें और बकरियां।

हिन्दी अनुवाद–उस यज्ञ से घोड़े उत्पन्न हुये और जो घोड़ों के अतिरिक्त ऊपर नीचे दोनों ओर दान्तों वाले गधे, खच्चर आदि पशु हैं, वे उत्पन्न हुये। उस यज्ञ से गौवें उत्पन्न हुईं और उस यज्ञ से बकरियां और भेडें उत्पन्न हुईं।

व्याकरण–

उभयादतः–उभयतः दन्ताः येषां ते अर्थ में, उभय+दन्त। 'उभय' के अन्तिम 'अ' को दीप और 'दन्त' को 'दत्' आदेश। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

अजावयः–अजाश्च अवयश्च अजावयः। द्वन्दसमास।

विशेष–छन्द के आग्रह से 'चोभयादतः' को 'च उभयादतः' पढ़ना चाहिये।

११. यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।

मुखं॒ किम॑स्य॒ कौ बा॒हू का ऊ॒रू पादा॑ उच्येते।

पद-पाठः यत्। पुरु॑षम्। वि। अद॑धुः। क॒ति॒धा। वि अ॒क॒ल्प॒य॒न्।

मुख॑म्। किम्। अ॒स्य॒। कौ। बा॒हू इति॑। कौ।

ऊ॒रू इति॑। पादौ॑। उ॒च्ये॒ते॒। इति॑।११।।

अन्वय–यत् पुरुषम् व्यदधुः, कतिधा व्यकपयन्? अस्य मुखम् किम् कौ बाहू, कौ ऊरू पादौ उच्येते?

सायण–प्रश्नेनात्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यद्यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पादितवन्तस्तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैर्व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत्। कौ बाहू अभूताम्। का ऊरू। कौ च पादावुच्येते। प्रथमः सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चान्मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः।

शब्दार्थ–व्दयधुः=विभाजित किया। **कतिधा**=कितने रूपों में। **व्यकल्पयन्**=

विविध प्रकार से कल्पित किया। **ऊरू**=जांघें। **उच्येते**=कहे जाते हैं।

हिन्दी अनुवाद–प्रजापति के प्राण रूप देवताओं ने जब उस विराट् रूप पुरुष को विभाजित किया तो उसको कितने रूपों में विविध रूप से कल्पित किया? इस पुरुष का मुख कौन सा था, कौन सी भुजायें थीं, कौन सी जंघायें थीं और कौन से पैर कहे जाते हैं?

व्याकरण–

व्यदधुः–वि+धा, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

कतिधा–कति+धा।

विशेष–छन्द के आग्रह से 'व्यदधुः' को 'वि अदधुः' और 'व्यकल्पयन्' को 'वि अकल्पयन्' पढ़ना चाहिये।

१२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः। कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायतः।

पद-पाठः ब्राह्मणः। अस्य। मुखम्। आसीत्। बाहू इति। राजन्यः। कृतः।

ऊरू इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्यः। पत्ऽभ्याम्। शूद्रः। अजायत।।१२।।

अन्वय–अस्य मुखम् ब्राह्मणः आसीत्। बाहू राजन्यः कृतः। अस्य यद् ऊरू तद् वैश्यः। पद्भ्याम् शूद्रः अजायत।

सायण–इदानीं पूर्वोक्तप्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति। अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषो मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान्पुरुषः स बाहूकृतः। बाहूत्वेन निष्पादितः। बाहूभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत्तदानीमस्य प्रजापतेर्यदुरू तद्रूपो वैश्यः सम्पन्नः। ऊरूभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान्पुरुषोऽजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तियुर्जः संहितायां सप्तमकाण्डे स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीतेत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये।

शब्दार्थ–**अस्य**=इस पुरुश का। **राजन्यः**=क्षत्रिय। **ऊरू**=जांघें। **पदभ्याम्**=पैरों से।

हिन्दी अनुवाद–इस पुरुष का मुख ब्राह्मण हुआ अर्थात् ब्राह्मण इसके मुख से उत्पन्न हुए। भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया, अर्थात् क्षत्रिय इसकी भुजाओं से उत्पन्न हुये। जो इसकी जांघे थीं वे वैश्य इस पुरुश की जांघों से उत्पन्न हुये और इसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये।

व्याकरण–

ब्राह्मण–ब्रह्मन्+अण्।

राजन्यः–राजन् शब्द से 'राजश्वसुराद्यत्' से यत् प्रत्यय।

विशेष–आर्यों के समाज की रचना का, चार वर्णों के विकास का स्पष्ट संकेत ऋग्वेद के इसी मन्त्र में मिलता है। यजुर्वेद में इसका और भी विस्तृत वर्णन है। अवेस्ता में भी इसी प्रकार से वर्णों का विभाजन दिखाया गया है।

छन्द के आग्रह से 'राजन्यः' को 'राजनियः' पढ़ना चाहिये।

१३. चन्द्रमा मनसो जातश् चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।

पद-पाठः चन्द्रमाः। मनसः। जातः। चक्षोः। सूर्यः। अजायत।
मुखात्। इन्द्रः। च। अग्निः। च। प्राणात्। वायुः। अजायत।१३।।

अन्वय–मनसः चन्द्रमाः जातः, चक्षोः सूर्यः अजायत, मुखात् इन्द्रः च अग्नि चः, प्राणात् वायु अजायत।

सायण–यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशवः ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह। प्रजापतेर्मनसः सकाशाच्चन्द्रमा जातः। चक्षोश्च चक्षुषः सूर्योऽप्यजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पुन्नौ। अस्य प्राणाद्वायुरजायत।

शब्दार्थ–मनसः=मन से। **जातः**=उत्पन्न हुआ। **चक्षोः**=आंख से। **अजायत**=उत्पन्न हुआ।

हिन्दी अनुवाद–इस प्रजापति रूप पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, आंख से सूर्य उत्पन्न हुआ, मुख से इन्द्र और अग्नि उत्पन्न हुये और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

व्याकरण–

चक्षोः–'चक्षु' शब्द, पञ्चमी विभक्ति, एकवचन। वैदिक रूप है। लोक में 'चक्षुषः' रूप होगा।

विशेष–मन में शान्ति, आंखों में प्रकाश, मुख अर्थात् वाणी में शक्ति और पवित्रता तथा प्राणों में वायु का आना परम पुरुष द्वारा ही उत्पन्न किये गये हैं।

छन्द के आग्रह से 'चाग्निश्च' को 'च अग्निश्च' पढ़ना चाहिये।

१४. नाभ्या आसीदुन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

पुद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्॥

पद-पाठः नाभ्याः। आसीत्। अन्तरिक्षम्। शीर्ष्णः। द्यौः। सम्। अवर्तत।

पुत्भ्याम्। भूमिः। दिशः। श्रोत्रात्। तथा। लोकान्। अकुल्पयन्॥१४॥

अन्वय–नाभ्याः अन्तरिक्षम् शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत। पद्भ्याम् भूमिः, श्रोत्रात् दिशः, तथा लोकान् अकल्पयन्।

सायण–यथा चन्द्रादीन्प्रजापतेर्मनः प्रभृतिभ्योऽकल्पयंस्तथान्तरिक्षादींल्लोका-न्प्रजापतेर्नाभ्यादिभ्यो देवा अकल्पयन् उत्पादितवन्तः। एतदेव दर्शयति। नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेरन्तरिक्षमासीत्। शीर्ष्णः शिरसो द्यौः समवर्तत उत्पन्ना। अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिरुत्पना। अस्य श्रोत्राद्दिश उत्पन्नाः।

शब्दार्थ–नाभ्या=नाभि से। **शीर्ष्णोः**=सिर से। **सतवर्तत**=उत्पन्न हुआ। **अकल्पयन्**=रचना की।

हिन्दी अनुवाद–उस प्रजापति रूप परम पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक बना, सिर से द्युलोक उत्पन्न हुआ, दोनों पैरों से भूमि उत्पन्न हुई और कानों से दिशायें उत्पन्न हुई। इस प्रकार उस पुरुष से देवताओं ने लोकों की रचना की।

व्याकरण–

नाभ्याः–नाभि शब्द, पञ्चमी विभक्ति, एकवचन।

शीर्ष्णः–शिरस् शब्द को वैदिक 'शीर्षन्' आदेश। पञ्चमी विभक्ति का एकवचन।

समवर्तत–सम्+वृत् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

लोकाँ अकल्पयन्–'लोक' शब्द का अर्थ 'खुला स्थान' (open space) है। ऋग्वेद में 'लोक' शब्द से पहले 'उ' पद का प्रायः प्रयोग हुआ है। इससे पहले केवल एक स्थान ऐसा है जहां 'उ' नहीं लगाया गया और इस मन्त्र में इसको नहीं लगाया गया। इस प्रकार 'उलोक' का अर्थ है–'विस्तृत लोक'। प्रतीत होता है कि 'उ' पद 'उरु' पद का संक्षिप्त रूप है छन्द की दृष्टि से 'द्यौः' के स्थान पर दियौ पढ़ना चाहिये।

१५. सुप्तास्यासन् परिधयुस् त्रिः सुप्त सुमिधः। कृताः।

देवा यद्युज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पुशुम्।

पद-पाठः सप्त। अस्य। आसन्। परिऽधयः। सप्त। सम्ऽइधः। कृताः।

देवाः। यत्। यज्ञम्। तन्वानाः। अबध्नन्। पुरुषम्। पशुम्।।१५।।

अन्वय–यज्ञं तन्वाना यत् देवाः पुरुषम् पशुम् अबध्नन्, अस्य परिधयः, सप्त आसन् त्रिः सप्त समिधः कृताः।

सायण–अस्य सांकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्तछंदांसि परिधय आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधयः उत्तरवेदिकास्त्रयः आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः अत एवाम्नायतेन पुरस्तात्परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन्पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्तीति। तत एत आदित्यसहिताः सप्तपरिधयोऽत्र सप्तछन्दोरूपः। तथा समिधस्त्रिः सप्त त्रिगुणिताः सप्तसंख्याका एकविंशतिः कृताः। द्वादशमासाः पंचर्तवः त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः (तै० सं० ५.१.१०३) इति श्रुताः पदार्थाः एकविंशतिदारुयुक्तेन्धनत्वेन भाविताः। यद्यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपाः यज्ञं तन्वानाः मानसं यज्ञं कुर्वाणाः पशुमबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र यत्पुरुषेण हविषेत्युक्तम्।

शब्दार्थ–तन्वानाः=सम्पादन करते हुये। **अबध्नन्**=बांधा।

हिन्दी अनुवाद–सृष्टि उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ का सम्पादन करते हुये देवताओं ने विराट् पुरुष रूपी पशु को बांधा, अर्थात् स्वीकार किया तो इस यज्ञ की सात परिधियां और इक्कीस समिधायें बनाई गईं।

व्याकरण–

परिधयः–परि+धा+कि=परिधि। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

समिधः–सम्+इन्ध्+क्विप्=समिध्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

कृताः–कृ+क्त।

तन्वानाः–तनु+उ+शानच्=तन्वान्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

अबध्नन्–बन्ध् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

विशेष–यज्ञ वेदी के चारों ओर जो चढ़ने-उतरने के लिये सीढ़ियां बनाई जाती हैं उनको परिधि कहते हैं। सामान्यतः वे परिधियां तीन होती है, परन्तु इस मन्त्र में सात परिधि कही गई हैं। सायण ने गायत्री आदि सात छन्दों को सात परिधि माना है। अथवा आहवनीय यज्ञ की तीन, उत्तर वेदिका की तीन और आदित्य की प्रतिनिधि रूप एक, इस प्रकार सात परिधियां है। ये दोनों अर्थ महीधर ने भी स्वीकार किये हैं। २१ समिधायें कही गई हैं–१२ महीने, ५ ऋतुयें, ३ लोक और आदित्य।

कुछ समालोचकों का विचार है कि भारतवर्ष में प्राचीनकाल में पुशओं की बलि देने का सूत्रपात इसी मन्त्र से हुआ था। यज्ञों के विधान में पशुओं का और मनुष्य का भी वध करने का विधान पाया जाता है। उसका संकेत इस मन्त्र में है। वस्तुतः इस मन्त्र में 'पशु' शब्द का अर्थ जानवर (animal) नहीं है। 'पश्यतीति पशुः' इस व्युत्पति के अनुसार सर्वद्रष्टा परमेश्वर पुरुष को पशु कहा गया है। इस मन्त्र का अर्थ है कि सर्वद्रष्टा परम पुरुष को देवताओं ने अपने विचारों में बांधा है।

१६. य॒ज्ञेन॑। य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास् तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑ः सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः॥

पद-पाठः य॒ज्ञेन॑। य॒ज्ञम् अ॒ज॒य॒न्त॒। दे॒वाः। तानि॑। धर्मा॑णि। प्र॒थमानि॑। आ॒स॒न्।
ते। ह॒। नाक॑म्। म॒हि॒मान॑ः। स॒च॒न्त॒। यत्र॑। पूर्वे॑। सा॒ध्याः। सन्ति॑। दे॒वाः॥१६॥

अन्वय–देवाः यज्ञेन यज्ञम् अजयन्त। तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। महिमानः ते ह नाकं सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति।

सायण–पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति। देवाः प्रजापतिप्राणरूपाः यज्ञेन तथोक्तेन मानसेन संकल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात्पूजनात्यानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यान्यासन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातनाः विराडुपास्तिसाधका देवा सन्ति तिष्ठन्ति तन्नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानस्तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति।

शब्दार्थ–यज्ञेन=संकल्प रूप मानस यज्ञ के द्वारा। **यज्ञम्**=परम पुरुष रूप प्रजापति का। **अयजन्त**=यजन किया था। **धर्माणि**=नियम, सृष्टि उत्पत्ति के वधान। **प्रथमानि**=सबसे मुख्य। **नाकम्**=दिव्य स्वर्ग को। **महिमान**=महिमा को प्राप्त करने वाले। **पूर्वे**=प्राचीन काल के। **साध्याः**=सिद्धि को प्रात करने वाले। **सचन्त**=प्राप्त करते हैं।

हिन्दी अनुवाद–देवताओं ने उस संकल्प रूप मानस यज्ञ के द्वारा उस यज्ञ रूप परम पुरुष प्रजापति का यजन (पूजन) किया था। उससे उत्पन्न हुये उनके धर्म (नियम, या सृष्टि उत्पत्ति के विधान) सबसे मुख्य हुये। महिमा को प्राप्त करने वाले वे देवता उस दिव्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहाँ प्राचीन काल में सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवता रहते हैं।

व्याकरण– अयजन्त–यज् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

धर्माणि–धृ+मनिन् (मन)=धर्म। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

नाकम्–कमिति सुखम्। न+क:=अक:=दु:खम्। अक:=नाक:=सुखम्।

महिमान:–महत्+इमनिच्=महिमन्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

सचन्त–षच् (सच्) लङ् लकार, प्रथम पुरुष का बहुवचन। वैदिक रूप है। धातु के पूर्व का 'अ' लुप्त है। वर्तमान के अर्थ में लङ् लकार।

साध्या:–साध्+ण्यत्=साध्य।

विशेष–मैक्डानल के अनुसार यहां पुरुष की यज्ञ के रूप में उसी प्रकार कल्पना की गई है, जैसे पुराणों में विष्णु की है। सायण और महीधर ने 'महिमान:' का अर्थ किया है–विराट् के उपासक महात्मा। मैक्डानल के अनुसार इसका अर्थ है–यज्ञ में निहित शक्तियां।

छन्द की पूर्ति के लिये इस मन्त्र में 'प्रथमान्यास्न' को 'प्रथमानि आसन्' तथा 'साध्या:' को साधिया: पढ़ना चाहिये।

हिरण्यगर्भ सूक्त

(मण्डल–१०, सूक्त–१२१)

ऋषि–हिरण्यगर्भ **देवता**–क संज्ञक प्रजापति **छन्द:**–त्रिष्टुप्।

१. हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥

पद-पाठ: हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ:। सम्। अ॒व॒र्त॒त। अग्रे॑। भू॒तस्य॑। जा॒त:। पति॑:। एक॑:। आ॒सी॒त्। स:। दा॒धा॒र। पृ॒थि॒वीम्। द्याम्। उ॒त। इ॒माम। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒॥१॥

अन्वय–हिरण्यगर्भ: अग्रे समवर्तत। जात: भूतस्य एक: पति: आसीत्। पृथिवीम् उत इमाम् द्याम् दाधार। कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण–हिरण्यगर्भ: हिरण्मयाण्डभूतस्य गर्भभूत: प्रजापतिर्हिरण्यगर्भ:। यद्वा हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। अग्रे प्रपञ्चोत्पत्ते: प्राक् समवर्तत। मायाध्यक्षात्सिसृजो: परमात्मन: समजायत। यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भस्तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मणं उत्पत्ते: तदुपहितोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते। स च जातो जातमात्र एव एकोऽद्वितीय: सन् भूतस्य विकारजास्य ब्रह्माण्डादे: सर्वस्य जगत: पतिरीश्वर आसीत्। न केवलं पतिरासीदेव अपि तर्हि स हिरण्यगर्भ:

पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवमुत अपि च इमामस्माभिर्दृश्यमानां पुरोवर्तिनीं इमां भूमिम्। यद्वा। पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम अन्तरिक्षं दिवं भूमिं च दाधार धारयति। कस्मै। अत्र किं शब्दो–निर्ज्ञातस्वरूपत्वात्प्रजापतौ वर्तते। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः। 'कमेर्डः' इति 'ड' प्रत्ययः। यद्वा कं सुखम् तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदाय अहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्युचे यदीदं ब्रहीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत् इत्यादिकं ब्राह्मणमत्रानुसंधेयम्। यदासौ किं शब्दस्तदा सर्वनामत्वात्स्मैभावः सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्। 'सावेकाच' (पाणिनि ३.१.१६५) इति प्राप्तस्य 'न गोश्वन्सावर्वर्णेति' प्रतिशेधः (पाणिनि ६.१. १८२)। क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यमिति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कं प्रजापतिं देवाय देवं दानादिगुणयुक्तं हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपा- रूपेणैककपालात्मकेन पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम। विधतिः परिचरणकर्मा।

शब्दार्थ–हिरण्यगर्भः=परमात्मा का हिरण्यगर्भ रूप। **समवर्तत**=उत्पन्न हुआ। **जातः**=उत्पन्न होते ही। **भूतस्य**=सभी प्राणियों को। **दाधारः**=धारण किये हुये हैं। **कस्मै**=सुख स्वरूप, 'क' इस नाम वाले। **हविषा**=हवि के द्वारा। **विधेम**=पूजन करते हैं।

हिन्दी अनुवाद–परमात्मा का वह हिरण्यगर्भ रूप सबसे पहले, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व उत्पन्न हुआ था। उत्पन्न होते ही वह सभी प्राणियों का एकमात्र स्वामी हुआ। वह पृथिवी और द्युलोक को धारण किये हुये है। सुख स्वरूप अथवा 'क' इस नाम वाले दिव्य गुणों से युक्त उस हिरण्यगर्भ का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण–

हिरण्यगर्भः–हिरण्यस्य हिरणमस्य गर्भः। षष्ठी तत्पुरुष समास।

हिरण्य–हिरण्य+मयट्। 'हिरण्य' के 'य' और 'मयट्' के 'म' का छान्दस लोप।

समवर्तत–सम्+वृ धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

दाधार–धृ धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कस्मै–'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' से द्वितीया के अर्थ में चतुर्थी। किम्+उ=क। चतुर्थी का एकवचन।

विशेष–हिरण्यगर्भ की व्याख्या अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है।

सायण के अनुसार सुवर्णमय अण्डे के गर्भ से बना प्रजापति अथवा सुवर्णमय अण्डे को गर्भ में धारण करने वाला प्रजापति हिरण्यगर्भ है। पीटर्सन ने हिरण्यगर्भ का अर्थ सुवर्णबीज किया है। 'समवर्तत' का सायण ने 'उत्पन्न हुआ' महीधर ने 'स्वयं' शरीरधारी हुआ और उव्वट ने 'सर्वप्रथम शरीर धारण किया' अर्थ किये हैं।

'कस्मै' शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार की गई है। १. हिरण्यगर्भ प्रजापति को छोड़कर हम किस देव का पूजन करें? अर्थात् उस हिरण्यगर्भ का ही पूजन करते हैं। २. 'क' अर्थात् अनिर्ज्ञात रूप प्रजापति का पूजन करते हैं। ३. सुखस्वरूप प्रजापति का पूजन करते हैं। ४. 'क' संज्ञक प्रजापति का पूजन करते हैं।

इस हिरण्यगर्भ सूक्त द्वारा और पुरुष सूक्त द्वारा ऋग्वेद में एकदेववाद की स्थापना की गई है। इस सूक्त का ऋषि हिरण्यगर्भ कहा गया है, जबकि इसमें हिरण्यगर्भ प्रजापति की स्तुति है। हिरण्यगर्भ को देवता मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

२. य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यस्य॑ च्छा॒याऽमृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥

पद-पाठः यः। आ॒त्म॒ऽदाः। ब॒ल॒ऽदाः। यस्य॑। विश्वे॑। उ॒प॒ऽआस॑ते। प्र॒ऽशिष॑म्। यस्य॑। दे॒वाः। यस्य॑। छा॒या। अ॒मृत॑म्। यस्य॑। मृ॒त्युः। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॥२॥

अन्वय—यः आत्मदाः, बलदा, यस्य प्रशिषम् विश्वे उपासते, यस्य देवाः। अमृतम् यस्य छाया, मृत्युः यस्य। कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण—यः प्रजापतिः आत्मदाः आत्मनां दाता। आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते। यथाग्नेः सकाशद्विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत। यद्वा आत्मनां शोधयिता। दैप् शोधने। आतो मनिन्निति विच् (पाणिनि ३.२.७४) बलदाः। बलस्य च दाता शोधयिता वा। यस्य च प्रशिषं प्रकृष्टं शासनमाज्ञां विश्वे सर्वे प्राणिनः उपासते प्रार्थयन्ते सेवन्ते वा। यथा देवा अपि यस्य प्रशानसनमुपासते। अपि च अमृतममृतत्वम्। भावप्रधानो निर्देशः। यद्वा मृतं मरणं नास्त्यस्मिन्नित्यमृतं सुधा। तदपि यस्य प्रजापतेः छाया छायेव वशवर्ति भवति। मृत्युर्यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति। तस्मै कस्मै देवायेत्यादि समानं पूर्वेण। हविषा पुरोडाशात्मनेति तु विशेषः।

शब्दार्थ—आत्मदा=आत्माओं का देने वाला। **उपासते**=मानते हैं। **प्रशिषम्**=शासन को। **अमृतम्**=अमृतत्व, दिव्य लोक। छाया के समान वशवर्त्ती।

हिन्दी अनुवाद—जो हिरण्यगर्भ प्रजापति आत्माओं का अर्थात् जीवन का देने वाला है और बल का देने वाला है, जिसके शासन को सभी प्राणी मानते हैं जिसके शासन को देवता भी मानते हैं, अमृतत्व या दिव्यलोक जिसके छाया के समान वशवर्ती

हैं और मृत्यु भी छाया के समान जिसकी वशवर्ती है। सुख-स्वरूप या 'क' संज्ञक गुण सम्पन्न उस हिरण्यगर्भ का हम हवि द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण-

आत्मदाः-आत्मनं ददाति अर्थ में आत्मन्+दा+क्विप्। अथवा आत्मन्+दैप् शोधने+क्विप्।

बलदाः-बलं ददाति अर्थ में-बल+दा+क्विप्=बलदा।

उपासते-उप+आस् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

प्रशिषम्-प्र+श्+क्विप् ''शास इदङ्हलोः'' सूत्र से 'इत्व' और ''शासिवसिघसीनां च'' सूत्र से 'स' को 'ष्' आदेश। प्रशिष्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

अमृतम्-न मृतं मरणम् अस्मिन् पद् अमृतम् मोक्षः।

विशेष-सायण ने 'आत्मदाः' का अर्थ 'आत्माओं को देने वाला का शोधन करने वाला', महीधर और उव्वट ने 'स्वयं को देने वाला या उपासकों को आयु प्रदान करके वाला', एवं पीटर्सन ने 'प्राण या श्वास को देने वाला' किया है। उव्वट और महीधर के अनुसार 'बलदाः' का अर्थ 'मुक्ति-भुक्ति-प्रदात्ता' है। 'यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युंः' का अर्थ उव्वट और महीधर ने किया है-'जिसकी कृपा अमृत रूप मोक्ष का हेतु है और अकृपा मृत्यु रूप आवागमन का हेतु है।

छन्द के अनुरोध से 'छायामृतम्' को सन्धिच्छेद करके 'छाया अमृतम्' पढ़ना चाहिये।

३. यः प्रा॒ण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैक॒ इद्राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑।
य ईशे॑ अ॒स्य द्वि॒पद॒श्चतु॑ष्पदः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥

पद-पाठः यः प्रा॒ण॒तः। निऽमि॒ष॒तः। म॒हि॒ऽत्वा। एकः॑। इत्। राजा॑। जग॑तः। ब॒भूव॑।
यः। ईशे॑। अ॒स्य। द्वि॒ऽपदः॑। चतुः॑ऽपदः। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॥३॥

अन्वय-यः एकः इत् महित्वा प्राणतः निमिषतः जगतः राजा बभूव। यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे। कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण-यो हिरण्यगर्भः प्राणतः प्रश्वसतः निमिषतः अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः। अत्रापि पूर्ववद्विभक्तिरुदाता। जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्त महित्वा महत्त्वेन। माहात्म्येन एक इत् अद्वितीय एव सन् राजा बभूव ईश्वरो भवति। अस्य परिदृश्यमानस्य द्विपपदः पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः चतुष्पदः गवाश्वादेश्च यः प्रजापतिरीशे ईष्टे। द्वौ पादौ यस्य स द्विपात्। संख्या सु पूर्वस्येति पादशब्दस्यन्त्यलोपः समासान्तः। भ संज्ञायां पादः पदिति पद्भावः स्वरवर्जमेषैव चतुष्पद इत्यत्रापि प्रक्रिया। ईदृशो यः प्रजापतिः तस्मै। कस्मा इत्यादि सुबोधम्। हविषा हृदयाद्यद्यात्मनेत्ययमत्र विशेषः।

शब्दार्थ–प्राणतः=श्वास-प्रश्वास लेने वाले। **निमिषतः**=पलकों का संचाजन करने वाले। **महित्वा**=महिमा से। **जगतः**=गतिशील जगत् का। **ईशे**=स्वामी है। **द्विपदः**=दोपायों का। **चतुष्पदः**=चौपायों का।

हिन्दी अनुवाद–जो हिरण्यगर्भ प्रजापति अकेला ही अपनी महिमा से श्वास-प्रश्वास लेने वाले और पलकों का संचालन करने वाले सम्पूर्ण गतिशील जगत् का राजा हुआ है, जो दृश्यमान जगत् के दो पैरों वाले मनुष्य आदि प्राणियों तथा चार पैरों वाले गाय घोड़ा आदि पशुओं का स्वामी है, सुखस्वरूप अथवा 'क' संज्ञक उस हिरण्यगर्भ प्रजापति का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण–

प्राणतः–प्र+अन प्राणने+शतृ=प्राणत्। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

निमिषतः–नि+मिष्+शतृ=निमिषत्। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

महित्वा–महत्+त्व=महित्त्व। तृतीया का एकवचन। वैदिक रूप।

ईशे–ईश् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष एक वचन। वैदिक रूप।

द्विपदः–द्वौ पादौ यस्य अर्थ में द्विपाद्। षष्ठी का एकवचन। पाद को पद आदेश।

चतुष्पदः–चत्वारः पादाः यस्य=चतुष्पाद्। षष्ठी विभक्ति का एकवचन।

विशेष–'प्राणतः' और 'निमिषतः' का अर्थ 'सोने वाले और जागने वाले' भी लिया जा सकता है।

छन्द के आग्रह से 'महित्वैकः' को 'महित्वा एकः' तथा 'ईशे अस्य' को ईशेऽस्य पढ़ना चाहिये।

४. यस्ये॒मे हि॒मव॑न्तो महि॒त्वा यस्य॑ समु॒द्रं र॒सया॑ स॒हाहुः।
यस्ये॒माः प्र॒दिशो॒ यस्य॒ बा॒हू कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥

पद-पाठः यस्य॑। इ॒मे। हि॒मऽव॑न्तः। म॒हि॒ऽत्वा। यस्य॑। स॒मु॒द्रम्। र॒सया॑। स॒ह। आ॒हुः। यस्य॑। इ॒माः। प्र॒ऽदिशः॑। यस्य॑। बा॒हू इति॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॥४॥

अन्वय–इमे हिमवन्तः यस्य महित्वा आहुः, रसया सह समुद्रम् यस्य, इमाः प्रदिशः यस्य, बाहू यस्य, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण–हिमा अस्मिन्सन्तीति हिमवान्। तेन बहुवचनान्तेन सर्वे पर्वता लक्ष्यन्ते। यथा छत्रिणो गच्छन्तीति। हिमवन्तो हिमवदुपलक्षिता इमे दृश्यमानाः सर्वे पर्वता प्रजापतेर्महित्वा महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमित्याहुः। तेन सृष्टवात् तद्रूपेणावस्थानाद्वा। तथा

रसया। रसो जलम्। तद्वती रसा नदी। अर्शआदित्वादच्। जातावेकवचनम्। सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमित्याहुः कथयन्ति सृष्ट्यभिज्ञाः। यस्य चेमाः प्रदिशः प्राच्यारम्भाः आग्नेय्याद्याः कोणदिश ईशितव्याः। तथा बाहू। वचनव्यत्ययः बाहवो भुजाः। भुजवत्प्राधान्युक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः। तस्मै कस्मै इत्यादि समानं पूर्वेण।

शब्दार्थ–हिमवन्त=बर्फीले पर्वत। **महित्वा**=महिमा को। **रसया सह**=नदियों के साथ। **प्रदिशः**=प्रधान दिशायें (पूर्व आदि चार)। **बाहू**=बाहू के समान कोण दिशायें (आग्नेय आदि चार)।

हिन्दी अनुवाद–ये बर्फीले पर्वत उस हिरण्यगर्भ प्रजापति की महिमा को कहते हैं, नदियों सहित समुद्र जिसकी महिमा को कहते हैं, ये प्रधान दिशायें (पूर्व आदि चार दिशायें) और बाहू के समान कोण दिशायें (आग्नेय आदि चार कोण दिशायें) जिसकी महिमा को कहती हैं, सुख स्वरूप या 'क' संज्ञक दिव्य गुण सम्पन्न उस हिरण्यगर्भ का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण–

हिमवन्तः–हिम+मतुप्=हिमवत्। प्रथमा विभक्ति का एकवचन।

रसया–रसः जलम् अस्य अस्ति=रस+अच् (मतुप् अर्थ में)+ टाप्=रसा। तृतीया विभक्ति का।

विशेष–इस मन्त्र में उव्वट और महिधर ने अर्थ किया है–ये हिमालय आदि पर्वत जिसकी महिमा से हैं ऐसा विद्वान कहते हैं। पीटर्सन के अनुसार–ये हिमयुक्त पर्वत उसके हैं (His are these snowy hills) पीटर्सन ने रसा का अर्थ 'रसा नाम की नदी' किया है तथा 'इमाः' का अर्थ ये दिशायें एवं 'प्रदिशः' का अर्थ 'दिशाओं के कोण' किया है। उसने सायण कृत 'प्रदिशः- की व्याख्या को स्वीकार नही किया।

छन्द की पूर्ति के लिये 'यस्येमे' को 'यस्य इमे' और 'यस्येमाः' को 'यस्य इमाः' पढ़ना चाहिये।

५. येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥

पद-पाठः येन॑। द्यौः। उ॒ग्रा। पृ॒थि॒वी। च॒। दृ॒ळ्हा। येन॑। स्व॒रिति स्वः॑। स्त॒भि॒तम्। येन॑। नाकः॑। यः। अ॒न्तरि॑क्षे। रज॑सः। वि॒ऽमानः॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒॥५॥

अन्वय–येन द्यौः उग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितम्, येन नाकः, य अन्तरिक्षे रजसः विमानः, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण–येन प्रजापतिना द्यौः अन्तरिक्षम् उग्रा उद्गूर्णं विशेषागहनरूपं वा।

पृथिवी भूमिश्च दृढ़ा येन स्थिरीकृता। स्वः स्वर्गश्च येन, स्तभितं स्तब्धं कृतम्। यथा अधो न पतति तथोपर्यवस्थापितभित्यर्थः। ग्रसितस्कभितस्तभितेति निपात्यते। तथा नाक आदित्यश्च येनान्तरक्षि स्तभितः। यश्चान्तरिक्षे रजसः उदकस्य विमानो निर्माता। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्।

शब्दार्थ–उग्रा=ऊपर उठाया हुआ है। **दृढ़ा**=स्थिर कर दिया है। **स्वः**=स्वर्गलोक को। **स्तभितम्**=ऊपर थामा हुआ है। **नाकः**=सूर्य को। **रजसः**=जलों को। **विमानः**=बनाने वाला है।

हिन्दी अनुवाद–जिस हिरण्यगर्भ प्रजापति ने द्युलोक को ऊपर उठाया हुआ है और पृथिवी को स्थिर कर दिया है,, जिसने स्वर्ग लोक को ऊपर थामा हुआ है और सूर्य को ऊपर अन्तरिक्ष में थामा है, जो आकाश में जलों को बनाने वाला है, सुख स्वरूप अथवा 'क' संज्ञक दिव्य गुण सम्पन्न उस हिरण्यगर्भ प्रजापति का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण–

दृळ्हा–दृह्+क्त+टाप्=दृळ्हा।

उग्रा-उद्+गुरी उद्यमने+क(अ)+टाप्=उग्रा।

स्तभितम्-स्तम्भ् धातु से 'क्त' होकर निपातनात् निष्पन्न किया है।

विमानः-विविधं मानं निर्माण यस्य सः विमानः। विमानः। वि+मा+ल्युट् (अन)।

विशेष-सायण ने 'उग्रा' को पृथिवी का विशेषण मानकर अर्थ किया है- उठी हुई या गहन। उव्वट और महीधर ने इस शब्द का अर्थ किया है-वृष्टि देने वाली। पीटर्सन ने 'उग्रा' को 'द्यौः' का विशेषण मानकर 'महान्' अर्थ किया है। 'स्वः' का अर्थ सायण ने 'स्वर्ग', महीधर ने 'आदित्य मण्डल' और पीटर्सन ने 'विस्तृत आकाश' किया है। 'नाकः' का अर्थ सायण ने 'आदित्य' और महीधर ने 'स्वर्गलोक' किया है।

छन्द के अनुरोध से 'स्वः' को 'सुवः' पढ़ना चाहिये।

६. यं क्रन्द॑सी॒ अव॑सा तस्तभा॒ने अ॒भ्यैक्षे॑तां॒ मन॑सा॒ रेज॑माने।

यत्राधि॒ सूर॒ उदि॑तो वि॒भाति॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥

पद-पाठः यम्। क्रन्द॑सी इति॑। अव॑सा। त॒स्त॒भा॒ने इति॑। अ॒भि। ऐक्षे॑ताम्। मन॑सा। रेज॑मा॒ने इति॑। यत्र॑। अधि॑। सूरः॑। उत्ऽइ॑तः। वि॒ऽभाति॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒॥६॥

अन्वय–अवसा तस्तभाने रेजमाने क्रन्दसी यम् मनसा अभ्यैक्षेताम्, यत्र अधि सूरः उदितः विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण–क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ। श्रूयते हि। यदरोरीत्तदनयो रोदस्त्वम् (तै० ब्रा० २.२.९.४) इति ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थं प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ यं प्रजापतिं मनसा बुद्ध्याभ्यैक्षेताम् आवयोर्महत्त्वमनेन इत्यभ्यपश्येताम्। ईक्ष दर्शने। लङ्यडादित्वादाद्युदात्तत्वम्। कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ रेजमाने राजमाने दीप्यमाने। यत्राधि यस्मिन्नाधारभूते प्रजापतौ सूरः सूर्यः उदितः उदयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते। तस्मै कस्मा इत्यादि सुज्ञानम्।

शब्दार्थ–**क्रन्दसी**=द्युलोक। **अवसा**=रक्षा करने के हेतु से। **तस्तभाने**=स्थिर किये गये हैं। **ऐक्षेताम्**=देखते हैं। **रेजमाने**=प्रकाशमान होते हुये। **सूरः**=सूर्य। **विभाति**=शोभायमान होता है।

हिन्दी अनुवाद–संसार की रक्षा करने के हेतु से निर्माण करने के लिये स्थिर किये गये और प्रकाशमान होते हुये द्युलोक और पृथिवी लोक जिस हिरण्यगर्भ प्रजापति को अपने मन से देखते हैं, अर्थात् हमारी महिमा उसी से है इस प्रकार देखते हैं, जिस प्रजापति को आधार बना कर सूर्य उदय होकर प्रकाशित होता है, सुखस्वरूप या 'क' संज्ञक दिव्य गुण सम्पन्न उस प्रजापति का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण–

अवसा–अव्+असुन=अवस्। तृतीया का एकवचन।

क्रन्दसी–क्रन्द्+असुन=क्रन्दस्। स्त्रीलिंग में प्रथमा का एकवचन।

अवसा–अव्+असुन=अवस। तृतीया का एकवचन।

तस्तभने–स्तम्भ्+कानच्+टाप्=तस्तभाना। प्रथमा का द्विवचन।

रेजमाने–राज्+कानच्+टाप्=रेजमाना। 'फणाञ्च सप्तानाम्' नियम से एत्व और अभ्यास का लोप।

अभ्यैक्षेताम्–अभि+ईस् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, द्विवचन।

उदितः–उत्+इ+क्त=उदितः।

विशेष–द्युलोक और पृथिवी लोक के द्वारा प्रजापति ने क्रन्दन किया था, अतः इसको 'क्रन्दसी' कहा जाता है। मैक्समूलर का मत है कि यदि 'क्रन्दसी' को हटा कर 'रोदसी' पाठ कर दिया जावे तो अर्थ अधिक स्पष्ट होगा, जैसा कि अथर्ववेद के ४.२.३ मन्त्र में है।

सायण से 'अयसा' का अर्थ 'रक्षा के लिए' किया है, परन्तु उव्वट और

महिधर ने इसका अर्थ 'हविष् रूप अन्न से' किया है। 'रेजमाने' का अर्थ सायण ने 'दीप्यमान', महीधर ने 'शोभित होते हुये और उव्वट ने 'कांपती हुई' किया है।

७. आपो॑ ह॒ यद्बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न्गर्भं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम्।
ततो॑ दे॒वाना॒ं सम॑वर्त॒तासु॒रेकः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥

पद-पाठः आपः॑। ह॒। यत्। बृ॒ह॒तीः। विश्व॑म्। आय॑न्। गर्भ॑म्। दधा॑नाः। ज॒नय॑न्तीः। अ॒ग्निम्। ततः॑। देवाना॑म्। सम्। अ॒वर्त॒त। असुः॑। एकः॑। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॥७॥

अन्वय–यत् गर्भम् दधानाः अग्निम् जनयन्तीः बृहतीः आपः ह विश्वम् आयन्, ततः देवानाम् एकः असुः समवर्तत। कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण–बृहतीः बृहत्यो महत्यः। अग्निम्। उपलक्षणमेतत्। अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादिभूतजातं जनयन्तीः जनयन्त्यः तदर्थं गर्भं हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधानाः धारयन्त्य आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्वं जगद् व्याप्नुवन्। यत् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनावस्थिताः ततो गर्भभूतात्प्रजापतेर्देवादीनां प्राणात्मको वायुरजायत। अथवा। लिङ्गवचनयोः व्यत्ययः। उक्तलक्षणा या आपः विश्वमावृत्य स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽद्वितीयो असुः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम। कस्मै कस्मा इत्यादि गतम्।

शब्दार्थ–आपः=जलों ने। **बृहतीः**=महान्। **आयन्**=व्याप्त किया हुआ था। **गर्भम्**=हिरण्यगर्भ रूप प्रजापति को। **जनयन्तीः**= उत्पन्न करते हुये। **देवानाम्**=देवाताओं का, इन्द्रियों का। **समवर्तत**=उत्पन्न हुआ। **असुः**=प्राणभूत वायु।

हिन्दी अनुवाद–जिस हिरण्यगर्भ रूप प्रजापति को गर्भ के रूप में धारण करते हुये, अग्नि को (अग्नि के उपलक्षण से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इन पञ्च महाभूतों को ग्रहण किया जाता है) उत्पन्न करते हुये महान् जलों ने निश्चय ही सृष्टि के प्रारम्भ में सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किया हुआ था, इसके बाद देवताओं (इन्द्रियों) का एक प्राणभूत वायु उत्पन्न हुआ। सुख स्वरूप अथवा 'क' संज्ञक उस हिरण्यगर्भ प्रजापति का हम हवि द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण–

बृहतीः–'बृहती' शब्द प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। वैदिक रूप है। लोक में 'बृहत्यः' रूप होगा।

दधानाः–धा+शानच्+टाप्=दधाना।

जनयन्ती–णिजन्त जन् धातु+शतृ+ङीप्=जनयन्ती।

आयन्–'इण् गतौ' धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन।

विशेष–पीटर्सन ने 'गर्भ'का अर्थ 'बीज' किया है। इस मन्त्र के तीसरे पाद में दो वर्ण अधिक हैं, जिससे छन्द की शिथिलता प्रकट होती है।

८. यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

पद-पाठः यः। चित्। आपः। महिना। परिऽअपश्यत्।
दक्षम्। दधानाः। जनयन्तीः। यज्ञम्।
यः। देवेषु। अधि। देवः। एकः। आसीत्।
कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥८॥

अन्वय–यः चित् यज्ञम् जनयन्तीः दक्षम्ः आपः महिना पर्यपश्यत् यः देवेष्वधि एकः देवः आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण–यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं जनयन्तीः उत्पादयन्ती तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना बर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधाना धारयित्रीः। ईदृशीरापः व्यत्ययेन प्रथमा। आपः प्रलयकालीना महिना महिम्ना। छान्दसो मलोपः। स्वमाहात्म्येन यश्च प्रजापतिः पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान्। यश्च देवेष्वधि देवेषु मध्ये देवः तेषामपीश्वरः सन् एकः अद्वितीयः आसीत् भवति। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्।

शब्दार्थ–**महिना**=महिमा से। **पर्यपश्यत्**=देखता है। **दक्षम्**=दक्ष प्रजापति को। **दधानाः**=धारण करते हुये। **जनयन्तीः**=उत्पन्न करते हुये। **देवेषु अधि**=देवताओं के बीच में।

हिन्दी अनुवाद–जो हिरण्यगर्भ प्रजापति सृष्टि उत्पत्ति रूप यज्ञ को उत्पन्न करने वाले और सृष्टि उत्पत्ति में दक्ष प्रजापति को धारण करने वाले जलों को अपनी महिमा से देखता है, और जो सभी देवताओं के मध्य में उनका स्वामी अद्वितीय देव है, सुख स्वरूप अथवा 'क' संज्ञक उस प्रजापति का हम हवि के द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण–

आपः–यहां द्वितीया के अर्थ में प्रथमा हुई है। 'अपः' अर्थ होता है।

आसीत्–वर्तमानकाल में लङ्लकार है।

विशेष–सृष्टि के आदि में जल रूप ही था, ऐसा अनेक स्थानों पर लिखा मिलता है। ऋग्वेद के १०।१२९।३ में लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सब समुद्र

सदृश था, जिसमें प्रकाश नहीं था।

'दक्ष' का अर्थ सायण ने 'प्रपञ्च रूप से वृद्धि करने वाले प्रजापति', महीधर ने 'कुशल प्रजापति' और पीटर्सन ने 'शक्ति या बल' किया हैं। 'यज्ञ' का अर्थ सायण 'यज्ञ से उपलक्षितं विकार समूह', महीधर ने 'सृष्टि यज्ञ' और पीटर्सन ने 'यज्ञ' किया है।

ग्रासमान के अनुसार तीसरे पाद में से 'एक' पद को हटा देना चाहिये, क्योंकि 'मैत्रायणी संहिता' में ऐसा ही पाठ है।

९. **मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।**

यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

पद-पाठः मा। नः। हिंसीत। जनिता। यः पृथिव्याः।

यः। वा। दिवम्। सत्यऽधर्मा। जजान।

यः। च। अपः। चन्द्राः। बृहतीः। जजान।

कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।।९।।

अन्वय—नः मा हिंसीत् यः पृथिव्याः जनिता, यः वा सत्यधर्मा दिवम् जजान यः च चन्द्राः बृहतीः अपः जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सायण—स प्रजापतिः नोऽस्मान् मा हिंसीत् मा बाधताम्। यः पृथिव्याः भूमेः जनिता जनयिता स्रष्टा। यो वा यश्च सत्यधर्मा सत्यमवितथं धर्मः जगतो धारणं यस्य तादृशः प्रजापतिर्दिवमन्तरिक्षोपलक्षितान्सर्वांल्लोकान् जजान जनयामास। यश्च बृहतीः महती चन्द्राः आह्लादिनीः अपः उदकानि जजान जनयामास। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्।

शब्दार्थ—भा हिंसीत्=हिंसा न करे। **जनिता**=उत्पन्न करने वाला। **दिवम्**=द्युलोक को। **सत्यधर्मा**=सत्य नियमों को धारण करते हुये, वास्तविक धारण क्षमता से युक्त। **चन्द्राः**=आनन्द प्रदान करने वाले। **बृहती**=महान्।

हिन्दी अनुवाद—यह हिरण्यगर्भ प्रजापति हमारी हिंसा न करे, पृथिवी लोक का उत्पन्न करने वाला है और जिसने सत्य नियमों का धारण करते हुये वास्तविक धारण क्षमता से युक्त होकर द्युलोक को उत्पन्न किया था और जिसने आनन्द प्रदान करने वाले महान् जलों को उत्पन्न किया। सुख स्वरूप अथवा 'क' संज्ञक उस प्रजापति का हम हवि द्वारा पूजन करते हैं।

व्याकरण—

हिंसीत्—'हिंस्' धातु, लुङ् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन। ''न माङ्योगे'' सूत्र

से 'म' के योग में 'अट' का अभाव।

जनिता–जन्+णिच्+तृच्। 'इट्' का आगम 'जनिता मन्त्रे' नियम से 'णिच्' का लोप=जनितृ। प्रथमा विभक्ति का एकवचन। लोक में 'जनयिता' रूप होगा।

सत्यधर्मा–सत्यः धर्मः यस्य सः। बहुब्रीहि समास। सत्य+धर्म+अनिच्= सत्यधर्मन्। प्रथमा का एकवचन।

चन्द्राः–'चदि आह्लादे' धातु से 'अच्' और 'नुम्' का आगम स्त्रीलिंग में चन्द्रा। द्वितीया का बहुवचन।

जजान–णिजन्त जन् धातु लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विशेष–'सत्यधर्मा' का अर्थ सायण ने 'जगत्' को धारण करने वाले रूप सत्य धर्म वाला, उव्वट ने 'सत्य का धारक', महीधर ने 'सत्य को धारण करने या कराने वाला', और पीटर्सन ने 'सच्चा और विश्वस्त' किया है। आपश्चन्द्राः का अर्थ सायण के अनुसार 'आह्लादक जल', उव्वट के अनुसार 'मनुष्य और काम्य जल', महीधर के अनुसार 'जगत् के कारण आह्लादक जल' और पीटर्सन के अनुसार दैदीप्यमान जल' है।

१०. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।

पद-पाठः प्रजापते। न। त्वदेतान्यन्यो। विश्वा। जातानि। परि। ता। बभूव।
यत्कामास्ते। जुहुमस्तन्नो। अस्तु। वयं। स्याम। पतयो। रयीणाम्।१०।।

अन्वय–प्रजापते! त्वत् अन्यः एतानि विश्वा जातानि ता न परिबभूव। यत् कामाः ते जुहुमः तत् नः अस्तु। वयम् रयीणाम् पतयः स्याम।

सायण–हे प्रजापते। त्वत् त्वत्तोऽन्यः कश्चित् एतानि इदानीं वर्तमानानि विश्वा विश्वानि। सर्वाणि जातानि प्रथमविकारभाञ्जि ता तानि सर्वाणि भूतजातानि न परिबभूव न परिगृह्णाति। न व्याप्नोति। त्वमेवैतानि परिगृह्य स्त्रष्टुं शक्नोषीति भावः। परिपूर्वो भवति परिग्रहार्थः। वयं च यत्कामाः यत्फलं कामयमानाः ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रचच्छामः। तत्फलं नोऽस्माकमस्तु भवतु। तथा वयं च रयीणां धनानां पतयः ईश्वराः स्याम भवेम।

शब्दार्थ–प्रजापते=हिरण्यगर्भ रूप प्रजापते। **विश्वा जातानि**=सम्पूर्ण उत्पन्न हुये पदार्थों को। **परिबभूव**=व्याप्त किये हुये है। **यत्कामाः**=जिस फल की कामना करते हुये। **जुहुमः**=आहुति देते हैं। **पतयः**=स्वामी। **रयीणाम्**=ऐश्वर्यों के।

हिन्दी अनुवाद–हे हिरण्यगर्भ प्रजापति! तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई भी इन

विद्यमान सम्पूर्ण उत्पन्न हुए पदार्थों को और उन सारे भूतकालीन पदार्थों को व्याप्त किये हुये नहीं है। अर्थात् तुम ही इन सबको व्याप्त करते हो। जिस फल की कामना करते हुये हम तुम्हारे लिये आहुतियां देते हैं, वह फल हमें प्राप्त हो। हम ऐश्वर्यों के स्वामी होवें।

व्याकरण–

विश्वा, ता–वैदिक रूप हैं। विभक्ति का लोप हुआ है। लोक में विश्वानि और तानि रूप बनते हैं।

जातानि–जन्+क्त=जात। नपुंसकलिङ्ग में द्वितीया का बहुवचन।

जुहुमः–हु धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

विशेष–'परिबभूव' का अर्थ सायण ने 'परिग्रहण करके सृष्टि की रचना करने में समर्थ है या व्याप्त किये हुये है, उव्वट ने 'होता है' और पीटर्सन ने 'शासन करता है' किया है। 'जुहुमः' का अर्थ सायण के अनुसार 'हवि प्रदान करते हैं' तथा पीटर्सन के अनुसार 'पुकारते हैं'।

ऋग्वेद में छः मन्त्र ऐसे हैं जिनके पद-पाठ और संहिता-पाठ एक से हैं। इनमें से एक मन्त्र यह है। संहिता-पाठ और पद पाठ एक होने से कुछ समालोचकों का यह विचार है कि इस मन्त्र को पद-पाठ का प्रचलन होने के बाद जोड़ा गया है।

छन्द को पूरा करने के लिये 'त्वदेतान्यन्यो' को 'त्वदेतानि अन्यो' और 'स्याम' को 'सियाम' के रूप में पढ़ना चाहिये।

वाक् सूक्त

(मण्डल-१०, सूक्त-१२५)

ऋषि-वाक् **देवता**-परमात्मा छन्दः-दूसरे मन्त्र में जगती और सबमें त्रिष्टुप्।

१. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहविश्वनोभा॥

पद-पाठः अहम्। रुद्रेभिः। वसुऽभिः। चरामि। अहम्। आदित्यैः। उत। विश्वऽदेवैः। अहम्। मित्रावरुणा। उभा। बिभर्मि। अहम्। इन्द्राग्नी इति अहम्। अश्विना। उभा॥१॥

अन्वय–अहम् रुद्रेभिः चरामि वसुभिः। अहम् आदित्यैः उत विश्वदेवैः। अहम्

मित्रावरुणा उभा बिभर्मि। अहम् इन्द्राग्नी अहम् उभा अश्विना।

सायण–अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यद् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती **रुद्रेभी** रुद्रैरेकादशभिः। इत्थं भावे तृतीया। तदात्मना चरामि। एवं वसुभिरित्यादौ तत्तदात्मना चरामीति योज्यम्। तथा मित्रावरुणा मित्रं च वरुणं च उभा-उभौ अहमेव ब्रह्मीभूता बिभर्मि धारयामि। इन्द्राग्नी अप्यहमेव धारयामि। उभा उभौ अश्विना अश्विनौ अप्यहमेव धारयामि। मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं संदृश्यते। माया च जगदाकारेण विवर्तते। तददृश्यमायाया आधारत्वेन असङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिः।

शब्दार्थ–**रुद्रेभिः**=ग्यारह रुद्रों के रूप में। **वसुभिः**=आठ वसुओं के रूप में। **चरामि**=विचरण करती हूँ। **आदित्यैः**=बारह आदित्यों के रूप में। **विभर्मि**=धारण करती हूँ।

हिन्दी अनुवाद--जगत् के कारण रूप ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करती हुई अम्भृण ऋषि की पुत्री मैं वाक् ग्यारह रुद्रों के रूप में विचरण करती हूँ, मैं आठ वसुओं के रूप में विचरण करती हूँ। मैं बारह आदित्यों के रूप में और विश्वदेवों के रूप में विचरण करती हूँ। मैं इन्द्र और अग्नि को धारण काती हूँ और दोनों अश्विनी देवताओं को धारण करती हूँ।

व्याकरण–

रुद्रेभिः–तृतीया का बहुवचन वैदिक रूप है। लोक में 'रुद्रैः' रूप होगा।

मित्रावरुणा, उभा, अश्विना–द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में वैदिक रूप हैं। विभक्ति के स्थान पर 'आ' हुआ है। लोक में मित्रावरुणौ, उभौ और अश्विनौ रूप बनेंगे।

बिभर्मि–भृ धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

विशेष–इस सूक्त में वाक् या वाणी की महत्ता का वर्णन किया गया है। अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन वाणी है। इस सूक्त को इस प्रकार कहा गया है कि वाक् स्वयं को ब्रह्म रूप में प्रतिपादित करके अपनी महत्ता का वर्णन कर रही है। यह हो सकता है कि इस सूक्त का ऋषि कोई और हो और उसने वाणी पर ऋषित्व का आरोप किया हो।

प्राचीन भाष्यकारों के अनुसार, जैसा कि सायण ने लिखा है, महर्षि अम्भृण की पुत्री वाक् ब्रह्मविद्या में निष्णात थी। सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म या परमात्मा से तादात्म्य का अनुभव करती हुई उसने अपनी इस प्रकार स्तुति की है कि वह ही सम्पूर्ण जगत् की अधिष्ठान रूप से स्वामिनी है।

छन्द के अनुरोध से 'चराम्यहम्' को 'चरामि अहम्' और 'बिभर्म्यहम्' को 'बिभर्मि अहम्' पढ़ना चाहिए।

२. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥

पद-पाठः अहम्। सोमम्। आहनसम् बिभर्मि। अहम्। त्वष्टारम्। उत। पूषणम्। भगम्। अहम्। दधामि। द्रविणम्। हविष्मते। सुप्रऽअव्यै। यजमानाय। सुन्वते॥२॥

अन्वय–आहनसम् सोमम् अहम् बिभर्मि। अहम् त्वष्टारम्, पूषणम् उत भगम्। अहम् हविष्मते सुप्राव्ये सुन्वते यजमानाय द्रविणम् दधामि।

सायण–आहनसमाहन्तव्यमभिषोत्वयं सोमं यद्वा शत्रूणामाहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोममहमेव बिभर्मि। तथा त्वष्टारमुत अपि च पूषणं भगं च अहमेव बिभर्मि। तथा हविष्यते हविर्भियुक्ताय सुप्राव्ये शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे तर्पयित्रे सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते। ईदृशाय यजमानाय द्रविणं धनं यागफलरूपमहमेव दधामि। एतच्च ब्रह्मणः फलदातृत्वं फलमत उपपत्तेरित्यधिकरणे भगवता भाष्यकारणे समर्थितम्।

शब्दार्थ–सोमम्=सोम रस को, सोम देवता को। **आहनसम्**=कूट पीस कर अभिषवन करने योग्य, शत्रुओं का वध करने वाले। **त्वष्टारम्**=निर्माण करने वाले देवता को। **पूषणम्**=पोषण करने वाले सूर्य देवता को। **भगम्**=ऐश्वर्य के देवता भग को। **द्रविणम्**=यज्ञ के फल रूप धन को। **हविष्मते**=हवि से युक्त, हवि प्रदान करने वाले। **सुप्राव्ये**=देवताओं के लिये सुन्दर हवि पहुंचाने वाले। **सुन्वते**=सोम का अभिषव करने वाले।

हिन्दी अनुवाद–कूट पीस कर अभिषवन (निचोड़ने) योग्य सोम रस को अथवा शत्रुओं का वध करने वाले द्युलोक में विद्यमान सोम देवता को मैं ही धारण करती हूं। मैं त्वष्टा (निर्माण करने वाला देवता), पूषा (पोषण करने वाला सूर्य देवता और भग (भग नामक ऐश्वर्य का देवता या ऐश्वर्य) के लिये सुन्दर हवि पहुंचाने वाले और सोम का अभिषव करने वाले यजमान के लिये यज्ञ के फल रूप धन को धारण करती हूं।

व्याकरण– आहनसम्–आ+हन् धातु से वैदिक असुन (अस्) प्रत्यय=आहनस्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

त्वष्टारम्–त्वक्ष्+तृच्=त्वष्टृ। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

हविष्मते–हविष्+मतुप्=हविष्मत्। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

सप्राव्ये–सु+प्र+अव् धातु से "अवितृस्तृतन्त्रिभ्यः' उणादि सूत्र से 'ई' प्रत्यय=**सुप्रावी**। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

सुन्वते–सू+(श्नु)+शतृ=सुन्वत्। चतुर्थी का एकवचन।

विशेष–'आहनसम्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर किया गया है। इसका अर्थ प्रायः 'मारने वाला' किया गया है। सोमलता को कूटकर, पीटकर और निचोड़ कर सोमरस निकाला जाता है। अतः उस अर्थ में 'आहनस्' पद का प्रयोग हो सकता हैं। तथापि सायण ने इसका अर्थ 'आहन्तारम्' भी किया है। यह अर्थ पश्चिमी विद्वानों को भी स्वीकार है।

'सुप्रावी' का अर्थ सायण ने 'देवताओं क लिये हवि पहुंचाने वाला', पीटर्सन ने 'धार्मिक' और रॉथ ने 'बहुत सतर्क, उत्साही' (very attentive, zealous) किया है।

छन्द के अनुरोध से 'बिभर्म्यहम्' को 'बिभर्मि अहम् और 'सुप्राव्ये' को 'सुप्राविये' पढ़ना चाहिये। इस प्रकार पाठ करने पर प्रथम पाद में एक वर्ण की कमी बनी रहती है।

३. **अ॒हं रा॒ष्ट्री॑ सं॒गम॑नी॒ वसू॑नां चिकि॒तुषी॑ प्रथ॒मा य॒ज्ञिया॑नाम्।**
तां मा॑ दे॒वा व्य॑दधुः पुरु॒त्रा भूरि॑स्थात्रां॒ भूर्या॑वे॒शय॑न्तीम्॥

पद-पाठः अ॒हम्। रा॒ष्ट्री॑। स॒म्ऽगम॑नी। वसू॑नाम्। चि॒कि॒तुषी॑। प्र॒थ॒मा। य॒ज्ञिया॑नाम्।
ताम्। मा॒। दे॒वाः। वि। अ॒द॒धुः। पु॒रु॒ऽत्रा। भूरि॑ऽस्थात्राम्। भूरि॑। आ॒ऽवे॒शय॑न्तीम्॥३॥

अन्वय–अहम् राष्ट्री वसूनाम् संगमनी चिकितुषी यज्ञियानाम् प्रथमा। ताम् भूरिस्थात्राम् भूरि आवेशयन्तीम्। मा देवा पुरुत्रा व्यदधुः।

सायण–अहं राष्ट्री ईश्वरनामैतत्। सर्वस्य जगत् ईश्वरीं। तथा वसूनां। धनानां संगमयित्री उपासकानां प्रापयित्री। चिकितुषी यत्साक्षात्कर्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञानवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती। अत एव यज्ञियानां यज्ञार्हाणां प्रथमा मुख्या। या एवं गुणविशिष्टाऽहं तां मां भूरिस्थात्रां बहुभावेन प्रपञ्चात्मनावतिष्ठमानम् भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातानि आवेशयन्तीं जीवभावेन आत्मानं प्रवेशयन्तीं ईदृशीं मां पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुः देवा विदधाति कुर्वन्ति। उक्तप्रकारेण वैश्वरूप्येणावस्थानात्। यद्यत्कुर्वन्ति तत्सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः।

शब्दार्थ–राष्ट्री=जगत् की ईश्वरी। **संगमनी**=प्राप्त कराने वाली। **वसूनाम्**=धनों की। **चिकितुषी**=ज्ञान से सम्पन्न, ब्रह्म को जानने वाली। **प्रथमा**=सबसे प्रमुख। **यज्ञियानाम्**=यजन करने योग्य व्यक्तियों में। **व्यदधुः**=रखा है। **पुरुत्रा**=विभिन्न स्थानों

में। **भूरिस्थात्राम्**=अनेक रूपों में अवस्थित। **भूर्यावेशवन्तीम्**=बहुत सी वस्तुओं को अपने अन्दर आवेशित करने वाली।

हिन्दी अनुवाद—मैं सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी हूं, धनों को प्राप्त कराने वाली हूं, खोज करने वाली, ज्ञान से सम्पन्न या ब्रह्म को जानने वाली हूं, और यजन करने योग्य व्यक्तियों को अपने अन्दर आवेशित करने वाली मुझको देवताओं ने विभिन्न स्थानों में रखा है। अर्थात् भिन्न देवताओं की जो पूजा की जाती है, वह वस्तुतः मेरी ही पूजा है।

व्याकरण—

राष्ट्री—राजते अर्थ में राज् दीप्तौ+ष्ट्रन् (उणादि ४.१५९)= राष्ट्र। 'राष्ट्र' शब्द से मतुप् अर्थ में इनि। स्त्रीलिंग में राष्ट्री।

संगमनी—सम्+गम्+ल्युट् (अन)+ ङीप्।

चिकितुषी—कित्+क्वसु+ङीप्।

यज्ञियानाम्—यज्ञम् अर्हति अर्थ में यज्ञ+घ (इय)=यज्ञिय।

व्यदधुः—वि+धा धातु लङ्लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

पुरुषा—पुरु+त्रल्+टाप्=पुरुत्रा।

भूरिस्थात्राम्—भूरि+स्था+तृच+टाप्। लोक में 'ङीप्' होकर 'भूरिस्थात्री' रूप होगा।

भूर्यविशयन्तीम्—भूरि+आ+णिजन्त विश् धातु+शतृ+ङीप्।

विशेष—रॉथ, ग्रासमान और लुडविग ने 'चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम' का अर्थ 'देवताओं को सबसे पहले जानने वाली' (The first to know the gods) किया है।

छन्द के अनुरोध से 'व्यदधुः' को 'वि अदधुः' और 'भूर्यावेशयन्तीम्' को 'भूरि आवेशयन्तीम्' पढ़ना चाहिये।

४. मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति य प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।।

पद-पाठः मया। सः। अन्नम्। अत्ति। यः। विऽपश्यति। यः। प्राणिति। यः। ईम्। शृणोति। उक्तम्। अमन्तवः। माम्। ते। उप। क्षियन्ति। श्रुधि। श्रुत। श्रद्धिऽवम्। ते। वदामि।।४।।

अन्वय–यः अन्नम् अत्ति यः मया, यः विपश्यति, यः प्राणिति, यः ईम् उक्तम् शृणोति। ये माम् अमन्तवः उपक्षियन्ति। श्रुत! श्रुधि। श्रद्धिवम् ते वदामि।

सायण–योऽन्नमत्ति स भोक्तृशक्तिरूपया मयैवान्नमत्ति। यश्च विपश्यति आलोकयतीत्यर्थः। यश्च प्राणिति श्वासोच्छ्वासरूपं व्यापारं करोति सोऽपि मयैव। यश्चोक्तं शृणोति। य ईदृशीमन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते अमन्तवः अमन्यमानाः अजानन्तः उपक्षियन्ति उपक्षीणाः संसोरण हीनाः भवन्ति। मामन्तवः मद्विषयज्ञानरहिता इत्यर्थः। हे श्रुत विश्रुत सखे श्रुधि मया वक्ष्यमाणं शृणु। किं तच्छ्रोतव्यम् श्रद्धिवम्। श्रद्धिः श्रद्धा तया युक्तम्। श्रद्धायत्नेन लभ्यमित्यर्थः। ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु के तुभ्यं वदामि उपदिशामि।

शब्दार्थ–**अन्नम् अत्ति**=अन्न को खाता है, सांसारिक भोगों को भोगता है। **प्राणिति**=श्वास लेता है। **अमन्तवः**=न मानने वाले, न जानने वाले। **उपक्षियन्ति**=हीनता को प्राप्त होते हैं। **श्रुधि**=सुनो। **श्रुत**=विद्वान्। **श्रद्धिवम्**=श्रद्धा से प्राप्त होने योग्य वचन को।

हिन्दी अनुवाद–इस जगत् में जो भी व्यक्ति अन्न को खाता है, अर्थात् सांसारिक भोगों को भोगता है, वह मेरे द्वारा ही अन्न का भोग करता है, जो देखता है, वह मेरे द्वारा ही देखता है, जो श्वास लेता है, वह मेरे द्वारा लेता है और जो भी कहे गये वचन को सुनता है, वह मेरे द्वारा सुनता है। जो व्यक्ति इस प्रकार से अन्तर्यामी रूप से अवस्थित मुझको नहीं जानते या मानते, वे संसार में हीनता को प्राप्त होते हैं। हे विद्वान् मित्र! सुनो श्रद्धा से प्राप्त होने योग्य वचन का मैं उपदेश देती हूं।

व्याकरण–

प्राणिति–प्र+अन् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अत्ति–अद् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अमन्तकः–न+मेन् धातु से औणदिक 'तु' प्रत्यय=अमन्तु। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

श्रुधि–'श्रु' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

क्षियन्ति–क्षि धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

श्रद्धिवम्–श्रत् सत्यं दधाति अर्थ में श्रत्+धा+कि=श्रद्धिः अस्य अस्ति अर्थ में प्रत्यय=श्रद्धिव।

विशेष–सायण के अर्थ को स्वीकार करते हुये भी पाश्चात्य विद्वानों ने अन्वय दूसरी प्रकार से करके यह अर्थ किया है-जो देखता है, जो श्वास लेता है और जो सुनता है, वह मेरे द्वारा अन्न को खाता है।

लुडविग, रॉथ ग्रासमान ने 'श्रुत' पद को सायण के समान सम्बोधन न मानकर लोट् लकार, मध्यम पुरुष का एकवचन माना। इसके साथ ही उन्होंने कहा कि 'श्रुतिश्रद्धिवम्' को एक पद मानकर इसमें कर्मधारय समास मानना चाहिये और 'श्रुतं च तद् श्रद्धिवं च तत्' इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये। इस प्रकार इस पद का अर्थ होगा-जो प्राचीन परम्परा श्रुत और श्रद्धा के योग्य है (What old tradition bids believe)।

छन्द के अनुरोध से 'सो अन्नम्' को 'सोऽन्नम्' और 'शृणोत्युक्तक्' को शृणीति उक्तम्' पढ़ना चाहिये।

५. **अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।**
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

पद-पाठः अहम्। एव। स्वयम्। इदम। वदामि। जुष्टम्। देवेभिः। उतः। मानुषेभिः। यम्। कामयै।तम्ऽतम्। उग्रम्। कृणोमि। तम्। ब्रह्माणम्। तम्। ऋषिम्। तम्। सुऽमेधाम्॥५॥

अन्वय-अहम् स्वयम् एव देवेभिः उत मानुषेभिः जुष्टम् इदम् वदामि। यम् कामये तम् तम् उग्रम् कृणोमि। तम् ब्रह्माणं, तम् ऋषिम् तम् सुमेधाम्।

सायण-अहं स्वयमेवेदं वस्तुं ब्रह्मात्मकं वदामि उपदिशामि। देवेभिः देवैरिन्द्रादिभिरपि जुष्टं सेवितमुत अपि च मानुषेभिः मनुष्यैरपि जुष्ट्म्। ईदृग्वस्त्वात्मिकाहं यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं पुरुषमुग्रं कृणोमि। सर्वेभ्योऽधिकं करोमि। तमेव ब्रह्माणं स्त्रष्टारं करोमि। तमेव ऋषिमतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि। तमेव सुमेधां शोभनप्रज्ञं च करोमि।

शब्दार्थ-जुष्टम्=सेवित। **कामये**=चाहती हूं। **उग्रम्**=प्रचण्ड, सर्वश्रेष्ठ। **ब्रह्माणम्**=सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्मा। **ऋषिम्**=भूत-भविष्य का द्रष्टा ऋषि। **सुमेधाम्**=उत्तम बुद्धि वाला।

हिन्दी अनुवाद-मैं स्वयं ही इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा और मनुष्यों के द्वारा सेवित इस ब्रह्म का उपदेश करती हूं। मैं जिस पुरुष को चाहती हूं, उस उस को प्रचण्ड या सर्वश्रेष्ठ बना देती हूं। उसको मैं सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्मा, भूत-भविष्य का द्रष्टा ऋषि और उत्तम बुद्धि वाला मनुष्य बना देती हूं।

व्याकरण-

जुष्टम्-जुष्+क्त=जुष्ट।

देवेभिः, मानुषेभिः-वैदिक रूप हैं। लोक में देवैः, मानुषैः रूप होंगे।

कृणोमि-वैदिक रूप है। लोक में 'करोमि' रूप होता है।

सुमेधाम्–वैदिक रूप है। लोक में 'सुमेधसम्' रूप बनेगा।

कामये–कम् धातु, लट् लकार उत्तम पुरुष् एकवचन।

विशेष–ब्रह्मा को सृष्टि की रचना करने की सामर्थ्य वाक् देवी की विशेष कृपा से ही प्राप्त हुई है। उसमें यह सामर्थ्य स्वाभाविक रूप से नही थी। अत: सभी देवता उस देवी की कृपा के इच्छुक रहते हैं। मनुष्यों को भी अप्रत्यक्ष ज्ञान की सामर्थ्य वाक् देवी की कृपा से प्राप्त होती है। उसी की कृपा से वे उत्तम बुद्धिशाली होते हैं।

६. **अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।**
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश।

पद-पाठः अहम्। रुद्राय। धनुः। आ। तनोमि। ब्रह्मऽद्विषे। शरवे। हन्तवै। ऊं इति।
अहम्। जनाय। सऽमदम्। कृणोमि। अहम्। द्यावापृथिवी इति। आ। विवेश।।६।।

अन्वय–ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै अहम् रुद्राय धनुः आतनोमि। अहम् जनाय समदम् कृणोमि। अहम् द्यावापृथिवी आविवेश।

सायण–पुरा त्रिपुविजयसमये रुद्राय रुदस्य। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महादेवस्य धनुश्चापमहमातनोमि ज्यया आततं करोमि। किमर्थम्। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे शरुं हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरं हन्तवै हन्तु हिसितुम्। उ शब्द: पूरक:। अहमेव समदम्। समानं माद्यत्यस्मिन्निति समत्संग्राम:। स्तोतृजनार्थं शत्रुभि: सह संग्राममहमेव कृणोमि करोमि। तथा द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं चान्तर्यामितया अहमेवाविवेश प्रविष्टवती।

शब्दार्थ–आतनोमि=प्रत्यञ्चा को चढ़ाती हूं। **ब्रह्मद्विषे**=ब्रह्म, वेदों या ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले। **शरवे**=हिंसक असुर के। **हन्तवै**=मारने के लिये। **समदम्**=युद्ध। **कृणोमि**=करती हूं। **आविवेश**=व्याप्त हो रही हूं।

हिन्दी अनुवाद–ब्रह्म से अर्थात् वेदों से या ब्राह्मणों से द्वेश करने वाले हिंसक त्रिपुरनिवासी असुरों को मारने के लिये मैं रुद्र के धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ाती हूं। अर्थात् रुद्र को मैं यह प्रेरणा देती हूं कि हिंसक असुरों को मारने के लिये वह धनुष पर प्रत्यञ्चा को चढ़ावे। मैं अपने जनों के लिये अर्थात् उनका कल्याण करने के लिए उनके लिये उनके शत्रुओं के साथ युद्ध करती हूं। अर्थात् उनको युद्ध के लिये प्रेरित करती हूं। मैं ही द्यु लोक और पृथिवी लोक में व्याप्त हो रही हूं।

व्याकरण–

रुद्राय–यहां वैदिक व्यत्यय से षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी है।

ब्रह्मद्विषे–ब्रह्म देष्टि अर्थ में ब्रह्म+द्विष्+क्विप्। चतुर्थी का एकवचन।

शरवे–'शृ हिंसायाम्' धातु से "शृस्वृस्निहि०" उणादि सूत्र में 'उ' प्रत्यय। शरु। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन।

कृणोमि–कृ धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एक वचन। वैदिक रूप।

हन्तवै–'हन्' धातु से 'तुमुन' के अर्थ में वैदिक 'तवै' प्रत्यय।

समदम्–समानं माद्यन्ति अस्मिन् अर्थ में स+मद्+क्विप्=समद्। द्वितीया विभक्ति का एकवचन।

विवेश–विश् धातु, लिट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

विशेष–पीटर्सन ने यहां 'ब्रह्म' का अर्थ परमात्मा और 'शरु' का अर्थ बाण किया है। उसके अनुसार यह अर्थ होगा–That his arrow may slain all that hate God.

छन्द के अनुरोध से 'कृणोम्यहम्' को 'कृणोमि अहम्' पढ़ना चाहिये।

७. **अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।**
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि॥

पद-पाठः अहं सुवे। पितरम्। अस्य। मूर्धन्। मम। योनिः। अप्ऽसु। अन्तरिति। समुद्रे। ततः। वि। तिष्ठे। भुवना। अनु। विश्वा। उत। अमूम्। द्याम्। वर्ष्मणा। उप। स्पृशामि॥७॥

अन्वय–अस्य मूर्धन्। पितरम् अहम् सुवे। समुद्रे अप्सु अन्तः मम योनिः। ततः विश्वा भुवना अनु वितिष्ठे। उत अमूम् द्याम् वर्ष्मणा उपस्पृशामि।

सायण–द्यौ पितेति श्रुतेः, पिता द्यौः। पितरं दिवमहं सुवे प्रसुवे जनयामि। आत्मनः आकाशः संभूत इति श्रुतेः (तै० आ० ८.१) कुत्रेति तदाह। अस्य परमात्मनः मूर्धन् मूर्धनि उपरि। परमाकारणभूते। तस्मिन् हि वियदादिकार्यजातं सर्वं वर्तते तन्तुषु तट इव। मम च योनिः कारणं समुद्रे। समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा। तस्मिन्नप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिष्वन्तर्मध्ये यद् भूतजातान्यनु प्रविश्य वितिष्ठे। यत ईदृग्भूताहमस्मि ततो हेतोर्विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूता भूतानि भूतजातान्यनु प्रविश्य वितिष्ठे। विविधं व्याप्य तिष्ठामि। "समप्रविभ्यःस्थः" इत्यात्मनेपदम् (पाणिनि १. ३२२)। उत अपि च अमूं द्यां विप्रकृष्टदेशेऽवस्थितं स्वर्गलोकम्। उपलक्षणमेतत्। एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयने देहेन उपस्पृशामि। यद्वा अस्य भूतस्य मूर्धन्मूर्धनि उपरि अहं पितरमाकाशं सुवे। समुद्र जलधौ अप्सु उदकेषु अर्न्मध्ये मम योनिः कारणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिर्वर्तते। यद्वा। समुद्रेऽन्तरिक्षेऽप्सु अम्भयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म चैतन्यं वर्तते। ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि

भुवनानि व्याप्नोमि। अन्यत्समानम्।

शब्दार्थ–सुवे=उत्पन्न करती हूं। **पिरम्**=द्युलोक को, आकाश को। **मूर्धन**=शिरोस्थानीय। **योनिः**=कारण रूप है। **अप्सु अन्तः**=व्यापनशील बुद्धियों, जलों में। **समुद्र**=परमात्मा में, समुद्र में। **अनुवितिष्ठे**=विविध रूपों से व्याप्त किये हुये हूं। **भुवना**=भुवनों में, पञ्च महाभूतों में। **विश्वा**=सम्पूर्ण **वर्ष्मणा**=सर्वत्र व्याप्त होने वाले कारणभूत शरीर से। **उपस्पृशामि**=स्पर्श कर रही हूं।

हिन्दी अनुवाद–इस ब्रह्म के शिरः स्थानीय द्यु लोक को अथवा इस ब्रह्म के सिर पर आकाश को मैं उत्पन्नकरती हूं। समुद्र अर्थात् परमात्मा में जो अप् अर्थात् व्यापनशील बुद्धियां हैं, उनमें मेरा ही कारण है। अथवा समुद्रों में, जलों में मैं ही कारण रूप से विद्यमान हूं। अथवा समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष और जलशरीर देवों में कारण हूं। इसलिये सम्पूर्ण भुवनों अर्थात् पञ्चमहाभूतों में प्रविष्ट होकर मैं ही उनको विविध रूप से व्याप्त किये हुये हूं और इस द्युलोक को मैं सर्वत्र व्यापक होते हुये अपने कारणभूत शरीर से स्पर्श कर रही हूं।

व्याकरण–

सुवे–षू (सू) धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

तिष्ठे–स्था धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

मूर्धन्–सप्तमी/विभक्ति का एकवचन। व्यत्यय से विभक्ति का वैदिक लोप।

वर्ष्मणा–वर्षति ददाति सुख-दुःखे जीवात्मने अर्थ में 'वृषु सेचने' धातु से मनिन् प्रत्यय। वृष=मनिन् (मन)=वर्ष्मन। तृतीया विभक्ति का एकवचन।

विश्वा भुवना–विश्व तथा भुवन शब्द (नपुंसकलिंग) द्वितीया विभक्ति। बहुवचन वैदिक रूप। लोक में विश्वानि और भुवनानि होगा।

विशेष–रॉथ ने 'वर्ष्मणा' की निष्पत्ति उसी प्रकार की है, जसे 'वर्षीयस्' और 'वर्षिष्ठ' की होती है। उसने 'वर्ष्मण' का अर्थ किया है–(१) Height, highest space (२) The crown (of the head)

छन्द से आग्रह से 'अप्स्वन्तः' को 'अप्सु अन्तः' और 'विश्वोता० को 'विश्वा उता' पढ़ना चाहिये।

८. अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥

पद-पाठः अहम्। एव। वातःऽइव। प्र। वामि। आऽरभमाणा। भुवनानि। विश्वा।
पुरः। दिवा। पुरः। एना। पृथिव्या। एतावती। महिना। सम्। बभूव॥८॥

अन्वय–अहम्। एव विश्वा भुवनानि आरभमाणा वात इव प्रवामि। दिवा परः एना पृथिव्या परः महिना एतावती संबभूव।

सायण–विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वमेव प्रवामि प्रवर्ते। वात इव। यथा वातः परेणाप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति। परो दिवा। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते यथाध इत्यधस्तादर्थे। यद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते। दिव आकाशस्य परस्तात्। एना पृथिव्या। 'द्वितीयाटौः स्वेन' इतीदम एनादेशः। अस्याः पृथिव्या परः परस्तात्। द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम्। एतदुपलक्षितात्सर्वस्माद्विकारजातात्पर-स्ताद्वर्तमाना सङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहं महिना। महिम्ना एतावती संबभूव। एतच्छब्देनोक्तं सर्वं परामुश्यते। सर्वजगदात्मनाहं संभूतास्मि। महिना इत्यत्र महच्छब्दादिमनिचि टेरिति टि लोपः। छान्दसो मकारलोपः।

शब्दार्थ–**वात इव**=वायु के समान। **वामि**=प्रवृत्त होती हूं। **आरभाणा**=उत्पन्न करती हुई। **भुवनानि**=लोकों को, पञ्च महाभूतों को। **दिवो परः**=द्युलोक से परे। **एना**=इस। **एतावती**=इतने बड़े परिमाण वाली। **महिना**=महिमा से। **संबभूव**=हो जाती हूं।

हिन्दी अनुवाद–मैं ही सारे लोकों को या पञ्च महाभूतों को उत्पन्न करती हुई वायु के समान प्रवृत्त होती हूं। अर्थात् वायु के समान व्याप्त हो जाती हूं। द्युलोक से परे और इस पृथिवी लोक से भी परे और इनको अतिक्रान्त करती हुई मैं अपनी महिमा से इतने बड़े परिमाण वाली हो जाती हं।

व्याकरण–

आरभमाणा–आ+रभ्+शानच्+टाप्।

एना–'इदम्' शब्द के स्थान पर 'एन' आदेश। तृतीया का एकवचन। वैदिक रूप। लोक में 'एनेन' बनेगा।

एतावती–एतत् परिमाणम् अस्याः अर्थ में एतद्+मतुप्+ङीप् (ई) ''आ सर्वनाम्नः'' सूत्र से 'एतद्' के 'द्' को आ आदेश। 'म' को 'व' आदेश।

महिना–'महत्' शब्द से 'इमनिच्' प्रत्यय। महत्+इमनिच्। 'टि' का और 'इमनिच्' के 'म' का लोप होकर मह+इन्=महिन्। तृतीया का एकवचन।

विशेष–इस मन्त्र के द्वारा ब्रह्म को जानने वाली वाक् देवी में लोकान्तरो और पञ्चमहाभूतों को सृजन करने की क्षमता अभिव्यक्त होती है।

छन्द के आग्रह से 'वाम्यारभमाणा' को 'वामि आरभमाणा' तथा 'पृथिव्यैतावती' को 'पृथिव्या एतावती' पढ़ना चाहिये।

बृहस्पति सूक्त

(मण्डल - ४, सूक्त - ५०)

ऋषि वामदेवः।। देवता बृहस्पतिः १ से ९। इन्द्राबृहस्पति १०-११ ।

छन्दः १-९ त्रिष्टुप्। जगती १०-११ ।।

साधारणतया इस सूक्त के तीन विभाग माने जा सकते हैं। पहले विभाग में (ऋचा १ से ६ तक) बृहस्पति के उस पराक्रम का ही वर्णन है जिससे वे बल के कारागार से देवों की गायों को मुक्त कर पाए। इसमें वास्तव में युद्ध करने वाले वीर थे इन्द्र; किन्तु इनके नाम का इन ऋचाओं में उल्लेख नहीं है। दूसरे विभाग में इहलोक के युद्धों में तथा और अवसरों पर बृहस्पति के पार्थिव प्रतिनिधि की, राजपुरोहित की, महिमा को राजाओं के हृदयों पर अंकित करने का प्रयत्न है। तीसरे विभाग में याग या यज्ञ के स्थल पर सोमपान के लिए प्रधान रूप से बृहस्पति को और उसके साथ इन्द्र को निमंत्रित किया गया है।

१. यस्तुस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्।।१।।

पद-पाठः यः। तुस्तम्भ। सहसा। वि। ज्मः। अन्तान्। बृहस्पतिः। त्रिऽसधस्थः। रवेण।
तम्। प्रत्नासः। ऋषयः। दीध्यानाः। पुरः। विप्राः। दधिरे। मन्द्रऽजिह्वम्।।१।।

हिन्दी अनुवाद–तीनों लोको में निवास करने वाले जिस बृहस्पति ने अपनी सामर्थ्य तथा सिंहगर्जना से पृथ्वी के अन्तों को एक-दूसरे से पृथक् कर रखा है, उस सरस रसना वाले बृहस्पति को उन पुरातन ऋषियों ने तथा कवियों ने अपने सभी लोगों का नेता निश्चित रूप से मान लिया।

विशेष–**वि-तस्तम्भ** 'भिन्न-भिन्न स्थानों पर रोककर रखा'। **त्रिषधस्थः**–वह जिसके आश्रयस्थान तीन (स्वर्ग, अन्तरिक्ष, तथा पृथ्वी) हों। इस उद्देश्य से अग्नि, सोम, विष्णु, तथा सरस्वती इन सभी को ऋग्वेद में **त्रिषधस्थ** कहा गया है। **रवेण**-**रव** अथवा **विरव** शब्द का अभिप्राय प्रायः 'मन्त्र के उच्चारण के ध्वनि' से होता है।

बृहस्पति के शस्त्रागार का यह एक प्रमुख शस्त्र है। **प्रत्नासः ऋषयः विप्राः** अर्थात् अङ्गिरस ऋषि; बृहस्पति इनके नेता हैं।

२. धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे।

पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम्॥२॥

पद-पाठः धुनऽइतयः। सुऽप्रकेतम्। मदन्तः। बृहस्पते। अभि। ये। नः। ततस्रे।

पृषन्तम्। सृप्रम्। अदब्धम्। ऊर्वम्। बृहस्पते। रक्षतात्। अस्य। योनिम्॥२॥

हिन्दी अनुवाद–हे बृहस्पते, जिन्होंने हमारे चित्रविचित्र वर्ण, चञ्चल तथा अजेय (धेनुओं के) झुण्ड के लिये अपने ध्वज खड़े किये, वे (पुरातन अङ्गिरस ऋषि) अपनी दौड़ से (आकाश को) निनादित कर रहे हैं तथा (कैद में रखी गायें) सहज रीति से से पहचानी जायँ, इसलिये अपना उन्माद प्रकट कर रहे हैं। हे बृहस्पते, इस (गायों के झुंड के) मूल स्थान की ध्यान से रक्षा करो।

विशेष–**धुना**=ध्वनन युक्त+**इतिः**=गमन है जिनका वे **धुनेतयः। धुनेतयः मदन्तः** (सन्ति) इसे मुख्य मानकर पहले दो या तीन पादों का अन्वय एक साथ ही करें। अथवा पहले तीन पादों से एक उपवाक्य बना है यह मानकर ऋ. १ के **पुरो दधिरे** (ते त्वां पुरो दधिरे) से इसे सम्बद्ध करें। किन्तु प्रस्तुत ऋचा में कवि ने बृहस्पति तथा उसके अनुयायियों को अर्थात् अङ्गिरस ऋषियों को अपने मन की आँखों के सामने प्रत्यक्ष खड़ा किया है, इसकी ओर ध्यान देकर इस ऋचा में विद्यमान वाक्य को वर्तमान काल की वाचक क्रिया (प्रत्यक्ष अथवा अध्याहृत) से जोड़ना अधिक युक्तियुक्त होगा। इसी पुरातन बल की गुहा में (निरुद्ध) गायों के समूह को कवि ने **अस्य** अर्थात् स्वयं उसके वर्तमानकालीन गायों को समूह की उत्पत्ति का स्रोत माना और बृहस्पति के सामने प्रत्यक्ष प्रार्थना की कि वह उनकी सुरक्षा करे। **अभि नः ऊर्वं च ततस्रे**–'हमारी और हमारी (गायों के) समूह की तरफ से अपने ध्वजों को फहराया'। **नः** में कवि पूर्वजों के साथ अपनी एकता की कल्पना कर रहा है। **अस्य** का सम्बन्ध कवि के वर्तमानकालीन गायों के समूह से है। **योनिम्**–उत्पत्ति स्थान, यहाँ अभिप्राय बलके कारागार में निरुद्ध गायों का समूह से। बृहस्पति को मन की आँखों के सामने रखकर कवि प्रार्थना कर रहा है–"वलकी गुहा में निरुद्ध गौएं भविष्य में सभी गायों की उत्पत्ति का स्रोत हैं, अतः उनकी सुरक्षा करो।" तीसरे पाद को **अभिततस्रे** के स्थान पर **रक्षतात्** से भी अन्वित करना संभव है। ऐसा करने से पूर्वार्ध में एक वाक्य होगा–'**धुनेतयः सन्ति**' और उत्तरार्ध में दूसरा वाक्य होगा–'**अस्य योनिं ऊर्वं रक्षतात्**'। **अभि+तंस्** का अर्थ है 'श्रेष्ठता के भाव से ध्वज को ऊपर उठाना, फहराना'। यहाँ **नः** का अभिप्राय होगा, 'हमारी ओर से'। इसके विपरीत १०.८९.१५ के '**शत्रूयन्तो अभि ये नस्ततस्रे**' में, जैसा कि **शत्रूयन्तः** विशेषण स्पष्ट है, **नः** का

अर्थ है 'हमारे विरुद्ध'। **अभि** उपसर्ग से प्रायः श्रेष्ठता का भाव सूचित होता है।

३. बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम्॥३॥

पद-पाठः बृहस्पते। या। परमा। पराऽवत्। अतः। आ। ते ऋतऽस्पृशः। नि। सेदुः।
तुभ्यम्। खाताः। अवताः। अद्रिऽदुग्धाः। मध्वः। श्चोतन्ति। अभितः। विऽरप्शम्॥३॥

हिन्दी अनुवाद–हे बृहस्पते, अत्यन्त दूर बसे हुए अति दूर स्थान से (यहाँ आकर) ये यज्ञ सम्पादन करने वाले (अङ्गिरस ऋषि) तुम्हारे लिये (यज्ञ करने के उद्देश्य से) आसनों पर विराजमान हुए हैं। खोदकर (सोम रस से) भरी ये खाइयाँ, पत्थरों से रगड़कर दोहित हुई हैं। इस लिये, मधुर सोमरस की वर्षा चारों ओर से रही है।

विशेष–इस ऋचा में भी कवि मन से वलकालीन अतीत में ही घूम रहा है। **ऋतुस्पृशः** ऋत को अर्थात् यज्ञ को स्पर्श करने वाले अर्थात् 'यज्ञ को संपन्न करने वाले'। **खाताः अवताः** 'खोदी हुई रस से पूर्ण खाइयाँ। सोमवल्ली पर यह एक रूपक है। इसीलिए इन्हें **अद्रिदुग्धा** 'पाषाणों की सहायता से दुहे गए' कहा गया है। यहाँ **दुग्धाः** पद से स्पष्ट है कि सोमवल्ली के टुकड़ों पर गाय के स्तन का आरोप भी कवि के लिए अभिप्रेत है। अङ्गिरसों के इस यश का वर्णन ऋग्वेद में अन्यत्र भी पाया जाता है।

४. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि॥४॥

पद-पाठः बृहस्पतिः। प्रथमम्। जायमानः। महः।
ज्योतिषः। परमे। विऽओमन्॥
सप्तऽआस्यः। तुविऽजातः। रवेण। वि।
सप्तऽरश्मिः। अधमत्। तमांसि॥४॥

हिन्दी अनुवाद–अत्युच्च स्वर्गलोक में महान् तेजोवलय से सर्वप्रथम जन्म ग्रहण करने वाले सात मुखों से विराजित तथा सात रज्जुखण्डों से रोका जाय, इतने जन्म से ही बलशाली बृहस्पति ने अपनी सिंहगर्जना से अन्धकारों को दूर भगा दिया।

विशेष–सप्तास्यः 'सात मुखों वाला' अर्थात् 'सातगुनी वक्तृता देने वाले मुख वाला'। अर्थ है 'अत्यन्त कुशल या प्रभावी वक्ता'। **रवेणसप्तरश्मिः** वह जिसके लिए सात रस्सियाँ या सात लगाम आवश्यक हों' अर्थात् अत्यन्त शक्तिमान्, ताकतवर (वृषभ या बैल)। इन्द्र को **सप्तरश्मिः वृषभः** कहा गया है। **अधमत् तमांसि**–क्योंकि

वह स्वयं ही एक बड़े तेजोगोल से उत्पन्न हुआ है।

५. स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।

बृहस्पतिरुस्त्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत्॥५॥

पद-पाठः सः। सुऽस्तुभा। सः। ऋक्वता। गणेन। वलम्। रुरोज। फलिऽगम्। रवेण।

बृहस्पतिः। उस्त्रियाः। हव्यऽसूदः। कनिक्रदत्। वावशतीः। उत्। आजत्॥५॥

हिन्दी अनुवाद—उस बृहस्पति ने ऋचा में तथा स्तोत्रों में प्रवीण (अङ्गिरस ऋषियों के) गण की सहायता से तथा अपनी सिंहगर्जना से शिलामय प्रकार रूपी बल नाम के असुर का भेदन किया। और पुनः पुनः गर्जना करके, (सोमरूपी) हव्य को अपने दूध से स्वादुता अर्पित करने वाली तथा बार-बार रम्भाने वाली गायों को बाहर निकाला।

विशेष—**वावशतीः** धातु है वाश्—'रँभाना'। यहाँ अर्थ होगा 'बृहस्पति की सिंह जैसी गर्जना को प्रतिध्वनित करने वाली'।

६. एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।

बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥६॥

पद-पाठः एव। पित्रे। विश्वऽदेवाय। वृष्णे। यज्ञैः। विधेम। नमसा। हविःऽभिः।

बृहस्पते। सुऽप्रजाः। वीरऽवन्तः। वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्॥६॥

हिन्दी अनुवाद—इस प्रकार हम अपने सभी देवों के इस प्रतिनिधि एवं पराक्रमी पिता का, यज्ञ, प्रणाम तथा हविर्द्रव्यों से पूजन करें। हे बृहस्पते, अच्छी सन्तान तथा वीर्यशाली अनुयायियों सहित हमें बहुविध संपदा के स्वामी होने दो।

विशेष—**विश्वदेव** यह बहुव्रीहि समास है—'वह जिसके वश में सभी देव हों'। ऋग्वेद ३.६२.४ में इस देवता को (बृहस्पति को) 'विश्वदेव्य' कहा गया है; वहाँ इसके माने हैं 'वह जिससे सभी देव संबद्ध हों'। प्रस्तुत ऋचा का चौथा पाद ही ऋग्वेद के अन्य तीन (५.५५, ८.४०, १०.१२१) सूक्तों की अन्तिम ऋचा के अन्तिम पाद के रूप में आया है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त के साथ-साथ केवल ८.४८ में अन्तिम ऋचा के अन्त में की गई प्रार्थना के रूप में आने के स्थान पर मध्यवर्तिनी प्रार्थना के रूप में दिखाई देता है। प्रस्तुत सूक्त में इस स्थान पर पाद के समावेश का कारण संभवतः यह है कि सिर्फ बृहस्पति की स्तुति एवं प्रार्थना यहीं पर समाप्त हुई है।

७. स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण।

बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्॥७॥

पद-पाठः सः। इत्। राजा। प्रतिऽजन्यानि। विश्वा। शुष्मेण। तस्थौ। अभि। वीर्येण। बृहस्पतिम्। यः सुऽभृतम्। बिभर्ति। वल्गुऽयति। वन्दते। पूर्वऽभाजम्।।७।।

हिन्दी अनुवाद–सर्व प्रथम (गौरव) संपादन करने वाले, तथा उत्तम (हविर्भागों से) सन्तुष्ट किए गए बृहस्पति को जो राजा हविर्द्रव्य समर्पण करता है तथा उसका स्तवन और वन्दन करता है, वह शारीरिक बल तथा वीर्य से अपने सभी प्रकार के विरोधियों की (सामर्थ्यो) पर विजय प्राप्त कर लेता है।

विशेष–**विश्वा प्रतिजन्यानि** इसके बाद **धनानि** अथवा **महांसि** का अध्याहार करें। **सुभृतं** का अर्थ है 'अन्यैः विप्रैः सुभृतम्'। **पूर्वभाजम्– पर्व एति पूर्वं (भागं) भजति।**

८. स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति।।८।।

पद-पाठः सः। इत्। क्षेति। सुऽधितः। ओकसि। स्वे। तस्मै। इळा। पिन्वते। विश्वऽदानीम्। तस्मै। विशः। स्वयम्। एव। नमन्ते। यस्मिन्। ब्रह्मा। राजनि। पूर्वः। एति।।८।।

हिन्दी अनुवाद–जिस राजा की राजसभा में उसका पुरोहित प्रथम सम्मान का भाजन होता है वही राजा अपने प्रासाद में सुस्थिर होकर चिरकाल तक निवास करता रहता है। केवल उसी के लिये ही सर्वकाल धन धान्य विपुलमात्रा में हो जाता है, तथा उसी के सामने उसके प्रजाजन स्वयं ही विनम्र हो जाते हैं।

९. अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः।।९।।

पद-पाठः अप्रतिऽहतः। जयति। सम्। धनानि। प्रतिऽजन्यानि। उत। या। सऽजन्या। अवस्यवे। यः। वरिवः। कृणोति। ब्रह्मणे। राजा। तम्। अवन्ति। देवाः।।९।।

हिन्दी अनुवाद–किसी प्रकार के विरोध का अनुभव न करते हुए वह राजा स्वपक्षीय तथा प्रतिपक्षीय राजाओं की सभी प्रकार की संपत्ति जीतने में शक्तिशाली होता है। साहाय्य की याचना करने वाले अपने पुरोहित को जो राजा सन्तुष्ट करता है, उसकी सुरक्षा देवता ही करते रहते हैं।

१०. इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषणवसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्।।१०।।

पद-पाठः इन्द्रः। च। सोमम्। पिबतम्। बृहस्पते। अस्मिन्। यज्ञे। मन्दसाना। वृषण्वसू इति वृषण्ऽवसू। आ। वाम्। विशन्तु। इन्दवः। सुऽआभुवः। अस्मे इति। रयिम्। सर्वऽवीरम्। नि। यच्छतम्।।१०।।

हिन्दी अनुवाद–हे बृहस्पते, तुम और इन्द्र दोनों ही प्रसन्न होकर हमारे इस यज्ञ में सोमपान करो। हे विपुलता की वृष्टि करने वाले धन के स्वामी, उत्तम परिचर्या करने वाले हमारे ये सोमबिन्दु आपके उदर में प्रविष्ट हो जायँ। अनन्तर आप हमें वीर्यशाली अनुयायियों से समन्वित सभी प्रकार की संपत्ति समर्पित कीजिए।

विशेष–स्वाभुवः–(**सु+आभू**)–'उत्कृष्ट रीति से परिचर्या (सेवा) करने वाले अथवा सहायता देने वाले'। **आभू**–'सब प्रकारों से पास रहने वाला, परिचारक, विश्वासपात्र सेवक'। दे० **आभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः** १.५१.९; तथा **स्वाभुवो जरणामश्नवन्त (सूरयः)** ७.३०.४।

११. बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः।।११।।

पद-पाठः बृहस्पते। इन्द्र। वर्धतम्। नः। सचा। सा। वाम्। सुऽमतिः। भूतु। अस्मे इति। अविष्टम्। धियः। जिगृतम्। पुरम्ऽधीः। जजस्तम्। अर्यः। वनुषाम्। अरातीः।।११।।

हिन्दी अनुवाद–हे बृहस्पते, हे इन्द्र, हमें समृद्ध बनाइए। आपकी वह कृपा हमारे ऊपर नित्य रहने दीजिए। हमारी स्तुतियों की रक्षा कीजिए। (हमारे यजमानों के मन में) दानबुद्धियों को जागृत कीजिए। हमारे शत्रु और विरोधकों की दुष्ट प्रवृत्तियाँ नष्ट कीजिए।

नासदीय सूक्त

(मण्डल-१०, सूक्त - १२९)

ऋषि - परमेष्ठी प्रजापति देवता-सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता, परमात्मा छन्द-त्रिष्टुप्

१ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ।।

पद-पाठः न । असत् । आसीत् । नो इति । सत् । आसीत् । तदानीम् । न । आसीत् । रजः । नो इति । विऽओम । परः । यत् । किम् । आ । अवरीवरिति । कुह ।कस्य ।शर्मन् ।अम्भः ।किम् ।आसीत् ।गहनम् ।गभीरम् ।।१ ।।

अन्वय - तदानीम् असत् न आसीत्, सत् नो आसीत्, रजः न आसीत्, व्योम नो यत् परः।

किम् आवरीवः ? कुह ? कस्य शर्मन् ? गहनम् गभीरम् अम्भः किम् आसीत् ?

सायण - तपसस्तन्महिनाजायतैकमित्यादिनाग्रे सृष्टि प्रतिपादयिष्यते । अधुना ततः प्रागवस्था निरस्तसमस्तप्रपञ्चा वा प्रलयावस्था सा निरूप्यते । तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तदसच्छशविषाणवन्निरूपाख्यं नासीत्। न हि तादृशात्कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः संभवति। तथा नो सन्नैव सदात्मवसत्त्वेन निर्वाच्यमासीत्। यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि संभवति। कुतस्तयोस्तादात्म्यमिति उभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः। ननु नो सदिति पारमार्थिकसत्त्वस्य निषेधः ।तर्ह्यात्मनाऽप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्ग ।अथोच्येत ।न ।आनीदवातमिति तस्य सत्त्वमग्रे वक्ष्यते। परिशेषान्मायाया एवात्र सत्त्वं निषिध्यत इति । एवमपि तदानीमिति विशेषणानर्थक्यं व्यवहारदशायामपि तस्याः पारमार्थिकसत्त्वाभावात्। अथ व्यावहारिकसतां पृथिव्यादीनां भावानां विद्यमानत्वात् कथं नो सदिति निषेधः ।तत्राह ।नासीद्रज इत्यादि।लोका रजांस्युच्यन्ते । (नि० ४-१९) इति यास्कः। अत्र च सामान्यापेक्षमेकवचनम् । व्योम्नो वक्ष्यमाणत्वात्तस्याधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्ता नासन्नित्यर्थः।तथा व्योमान्तरिक्षं तदपि नो नैवासीत् ।पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते।परशब्दाच्छान्दसोऽस्तातेरर्थेऽसि प्रत्ययः । परो व्योम्नः परस्तादुपरिदेशे द्युलोकप्रभृति सत्यलोकान्तं तदपि नासीदित्यर्थः । अनेन चतुर्दशभुवनगर्भं ब्रह्माण्डं स्वरूपेण निषिद्धं भवति।अथ तदावरकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धानि यानि वियदादिभूतानि तेषामवस्थानप्रदेशं तदावरणनिमित्तं चापेक्षमुखेन क्रमेण निषेधयति किमावरीवरिति । किमावरणीयं तत्त्वमावरकभूतजातमावरीवः। अत्यन्तमावृणुयात्। आवार्याभावात्तदावरकमपि नासीदित्यर्थः।वृणोतेर्यङ्लुडन्ताच्छान्दसे लङि् तिपि रूपमेतत् । यद्वा किमिति प्रथमैव ।किं तत्त्वमावरकमावृणुयात्।आवार्याभावादाव्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नीीदित्यर्थः ।आवृण्वत्ततत्वं कुह कुत्र देशेऽवस्थायावृणोति ।आधारभूतस्तादृशो देशोऽपि नासीदित्यर्थः ।कि शब्दात् सप्तम्यर्थे ह प्रत्ययः ।कुतिहोः ।(पा० ७-२-१०४) इति।प्रकृतेः क्वादेशः।कस्य शर्मन् कस्य वा भोक्तुर्जीवस्य शर्मणि सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणे वा निमित्ततभूते सति तदावरकं तत्त्वमावृणुयात् ।जीवानामुपभोगार्था हि सृष्टिः ।तस्यां हि सत्यां ब्रह्माण्डस्य भूतैरावरणं प्रलयदशायां च भोक्तारो जीवा उपाधिविलयात्प्रलीना इति कस्य कश्चिदपि भोक्ता न संभवतीत्यावरणस्य निमित्ताभावादपि तन्न घटत इत्यर्थः ।एतेन भोग्यप्रपञ्चवद्भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदानीं नासीदित्युक्तं भवति। किं शब्दादुत्तरस्य ङसः सावेकाच इति प्राप्तस्योदात्तत्वस्य न गोश्वन्सावर्णेति प्रतिषेधः ।सुपां सुलुगिति शर्मणः सप्तम्या लुक्।यद्यपि सावरणस्य ब्रह्माण्डस्य निषेधेन तदन्तर्गतमप्सत्त्वमपि निराकृतं तथाप्यापो वा इदमग्रे सलिमासीत्। (तै०स०-७-१-५-१)। इत्यादि श्रुत्या कश्चिदपां सद्भावमाशंकेत। तं प्रतयाचष्टेऽम्भः किमासीदिति। गहनं दुष्प्रवेशं गभीरं दुःस्थानमत्यगाधम् ईदृशमम्भः किमासीत्। तदपि नैवासीदित्यर्थः। श्रुतिस्त्ववान्तरप्रलयविषया।

शब्दार्थ – **असत्** – अभावात्मक तत्त्व। **सत्** – सत्तात्मक तत्त्व। **तदानीम्** – उस समय, सृष्टि उत्पत्ति से पहले प्रलय दशा में। **रजः** – पृथ्वी से लेकर पाताल पर्यन्त लोक। **व्योम** – अन्तरिक्ष। **परः** – अन्तरिक्ष से परे। **आवरीवः** – आवरण करने वाला तत्त्व। **कुह** – कहाँ। **कस्य** – किसकी। **शर्मन्** – संरक्षा में। **गहनम्** – दुष्प्रवेश्य। **गभीरम्** – अत्यन्त गहरा।

हिन्दी अनुवाद – उस अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति से पहले प्रलय दशा में असम् अर्थात् अभावात्मक तत्त्व नहीं था और सत्तात्मक तत्त्व भी नहीं था। रजः अर्थात् पृथिवी से लेकर पाताल पर्यन्त लोक नहीं थे। अन्तरिक्ष नहीं था और अन्तरिक्ष से परे भी जो कुछ है वह भी नहीं था। पुनः आवरण करने वाला तत्त्व क्या था ? वह आवरक तत्त्व कहाँ था और किसकी संरक्षा में था ? उस समय दुष्प्रवेश्य एवं अत्यन्त गहरा जल क्या था ? अर्थात् वे सब नहीं थे।

व्याकरण –

असत् – अस् + शतृ – सत्। न + सत् – असत्।

सत् – अस् + शतृ – सत्।

कुह – किम् + ह –कुह।

आवरीवः – आवृणोति इति आवरणो वा आवरिः। औणादिक 'ई' प्रत्यय। आ + वृ + ई – आवरी। मतुबर्थो 'व' प्रत्यय – आवरीव।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार रजस् – वायु (**air**); किम् आवरीवः – अपने अन्दर किसे रखता था (**what did it contain**); कस्य शर्मन् – किसकी संरक्षा में (**in whose protection**)

२ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

पद-पाठः न। मृत्युः। आसीत्। अमृतम्। न। तर्हि। न। रात्र्याः। अह्नः। आसीत्। प्रऽकेतः। आनीत्। अवातम्। स्वधया। तत्। एकम्। तस्मात्। ह। अन्यत्। न परः। किम्। चन। आस॥२॥

अन्वय – तर्हि मृत्युः न आसीत्, न अमृतम्, रात्र्याः अह्नः प्रकेतः न आसीत्। तत् आनीत् अवातम्, स्वधया, एकम्। ह तस्मात् अन्यत् किञ्चन न आस न परः।

सायण – ननूक्तस्य प्रतिसंहारस्य संहर्त्रपेक्षत्वात् स एव संहर्ता मृत्युर्विद्यत इत्यत आह। न मृत्युरासीदिति। ननु यदि स नासीत् तर्हि तदभावकृममृतममरणं प्राणिनामवस्थानं तदानीमपि स्यात् तत्राह। अमृतं न तर्हीति। तर्हि तस्मिन्प्रतिहारसमये। अयं भावः। सर्वेषा प्राणिनां परिपक्वं भोगहेतुभूतं सर्वं कर्म यदोपभुक्तमासीत् तदा भोगाभावान्निष्प्रयोजनमिदं जगदिति परमेश्वरस्य

मनसि संजिहीर्षा जायते। तथैव स मृत्युः सर्वं जगत्संहरत इति किमनेन मृत्युना संहर्त्रा तदभावकृतं वा कथममरणं स्यादिति। एतदेवाभिप्रेत्य कठैराम्नायते। यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनम् मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स। (क०उ० - २-२५) इति। नन्वेतस्य सर्वस्याधिकरणभूतः कालो विद्यत इत्यत आह। न रात्र्या इति। न रात्र्या अह्नश्च प्रकेतः प्रज्ञानमासीत्। तद्धेतुभूतयोः सूर्याचन्द्रमसोरभावात्। एतेनाहोरात्रनिषेधेन तदात्मको मासर्तुसंवत्सरप्रभृतिकः सर्वः कालः प्रत्याख्यातः। कयं तर्हि नो सदासीत्तदानीमिति कालवाची प्रत्ययः। उपचारादिति ब्रूमः। यथेदानीन्तननिषेधस्य कालोऽवच्छेकस्तथा मायापि तदवच्छेदहेमुरित्यवच्छेकत्वसाम्येनाकालेऽपि कालवाची प्रत्ययः। यदवादिष्म ब्रह्मणः परमार्थसत्त्वमग्रे वक्ष्यत इति तदिदानीं दर्शयत्यानीदिति। तत्सकलवेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्मतत्त्वमानीत् ।प्राणितवत् ।नन्वेवं प्राणनकर्तुर्जीवभावापन्नस्य ब्रह्मणः सत्त्वं स्यात् न विवक्षितस्य निरुपाधि ाकस्य ब्रह्मणः। अप्राणो ह्यमनाः शुद्ध इति तस्य प्राणसम्बन्धाभावात् तत्राहानीदवातमिति। अयमाशयः। आनीदित्यत्र धात्वर्थक्रिया तत्कर्ता तस्य च भूतकालसम्बन्ध इति त्रयोऽर्थाः प्रतीयन्ते। तत्र समुदायो न विधीयते यथाग्नेयोऽष्टाकपाल इति येन ब्रह्मणः सत्त्वं न स्यात् ।किं तर्ह्यनेन कर्तृत्वनूद्य भूतकालसत्तालक्षणो गुणो विधीयते दध्ना जुहोतीति वाक्यान्तरविहिताग्निहोत्रानुवादेन तत्र गुणविधानम्। तत्राप्यनेन कर्तृविशिष्टस्य न पूर्वकालसत्ता विधीयते तन्निषेधानुपपत्तिप्रसङ्गात्। अतोऽनेन कर्तृत्वेनेदानीन्तनेनोपलक्षितं यन्निरुपाधिकं परं ब्रह्म तस्यैव भूतकालसत्ता विधीयत इति न कश्चिद्दोष इति। नन्वीदृशस्य ब्रह्मणो मायया सह सम्बन्धसम्भवात्सांख्याभिमता स्वतन्त्रता सद्रूपा सत्त्वरजस्तमोगुत्मिका मूलप्रकृतिरेवाभिमतेति कथं नो सदिति निषेधः। तत्राह स्वधयेति। स्वस्मिन् धीयते ध्रियत आश्रित्य वर्तते इति स्वधा माया। तया तद्ब्रह्मैकमविभागापन्नमासीत्। सहयुक्तेऽप्रधाने। (पा० २-३-१९) इति तृतीया सहशब्दयोगाभावेऽपि सहार्थयोगे भवति वृद्धो यूना (पा १-२-६५) इति निपातनाल्लिङ्गात। अत्र प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां तस्याः स्वातन्त्र्यं निवार्यते। यद्यप्यसङ्गस्य ब्रह्मणस्तया सह सम्बन्धो न सम्भवति तथापि तस्मिन्नविद्यया तत्स्वरूपमिव सम्बन्धोऽप्यध्यस्यते यथा शुक्तिकायां रजतस्य। एतेन सद्रूपत्वमपि तस्याः प्रत्याख्यातम्। ननु यदि माया ब्रह्मणा सहाविभागापन्ना तर्हि तस्या अनिर्वाच्यत्वाद् ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति कथं तस्य सत्त्वमुक्तमानीदवातमिति। ब्रह्मणो वा सत्त्वात्तस्या अपि सत्त्वप्रसङ्ग इति कथं नोऽसदासीदिति सत्त्वप्रतिषेधः । मैवं। अयुक्तिदृष्टैक्यावभासेऽपि युक्त्या विविच्य मायांशस्यानिर्वाच्यत्वं ब्रह्मणः सत्त्वं च प्रतिपादितम्। ननु दृग्दृश्याविति द्वावेव पदार्थावानीदवातं स्वधयेति तौ चेदङ्गीक्रियते तत्किमपरमवशिष्यते नासीद्रज इत्यादिना प्रतिषिध्येत तत्राह तस्मादिति। तस्माद्ध तस्मात्खलु पूर्वोक्तान्मायासहिताद् ब्रह्मणोऽन्यत्किंचन किमपि वस्तु भूतभौतिकात्मकं जगन्नास। न बभूव। छन्दस्युभयथेति लिटः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भूभावाभावः। ननु तदानीमन्यस्य सत्त्वनिषेधो न शंक्यः असत्त्वे चाप्रसक्तत्वान्न निषेधोपयोग इत्यत आह पर इति। परः परस्तात् सृष्टेरूर्ध्वं वर्तमानमिदं जगत्तदानीं न बभूवेत्यर्थः। अन्यथोक्तरीत्या क्वचिदपि निषेधो न स्यादिति भावः।

शब्दार्थ – अमृतम् – मृत्यु का अभाव। **तर्हि** – उस समय। **प्रकेतः** – ज्ञान। **आनीत्** – प्राण से युक्त। **अवातम्** – क्रिया से शून्य। **स्वधया** – माया से। **एकम्** – अविभक्त एक रूप में। **तस्मात्** – उस माया युक्त ब्रह्म से। **अन्यत्** – भिन्न। **परः** – उससे परे।

हिन्दी अनुवाद – उस प्रलयकाल में मृत्यु नहीं थी और अमृत अर्थात् मृत्यु का अभाव भी नहीं था। रात्रि का और दिन का ज्ञान भी नहीं था। वह ब्रह्म तत्त्व ही प्राण से युक्त, अपनी क्रिया से शून्य और माया के साथ अविभक्त एक रूप में विद्यमान था। उस मायासहित ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं था और उससे परे भी कुछ नहीं था।

व्याकरण –

अह्नः – अहन् शब्द षष्ठी का एकवचन।

स्वधया – स्व + धा + क + टाप् – स्वधा। तृतीया का एकवचन।

प्रकेतः – प्र + कित् ज्ञाने + घञ्।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार आनीत् – श्वास लेने वाला (**one breathed**), अवातम् – वायु से रहित (**windless**), स्वधया – अपनी शक्ति से (**by its own power**)।

३ **तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम् ।**

तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑य॒तैक॑म् ॥

पद-पाठः तम॑: । आ॒सी॒त् । तमसा । गू॒ळ्हम् । अग्रे॑ । अ॒प्र॒ऽके॒तम् । स॒लि॒लम् । सर्व॑म् । आ॒: । इ॒दम् । तु॒च्छ्येन॑ । आ॒भु । अपि॑ऽहितम् । यत् । आसी॑त् । तम॑स: । तत् । म॒हि॒ना । अ॒जा॒य॒त॒ । एक॑म् ॥ ३ ॥

अन्वय – अग्रे तमसा गूळ्हम् तमः आसीत् । अप्रकेतम् इदम् सर्वम् सलिलम् आः । यत् आभु तुच्छ्येन अपिहितम् आसीत्, तत् एकम् तमसः महिना अजायत।

सायण – ननूक्तप्रकारेण यदि पूर्वमिदं जगन्नासीत्कथं तर्हि तस्य जन्म। जायमानस्य जनिक्रियायां कर्तृत्वेन कारकत्वात् कारकं च कारणावान्तरविशेष इति कारकस्य सतो नियतपूर्वक्षणवर्तित्वस्यावश्यंभावात्। अथैद्दोषपरिजिहीर्षया जनिक्रियायाः प्रागपि तद्विद्यत इत्युच्यते। कथं तस्य जन्म। अत आह। तमसा गूळ्हमग्र इति। अग्रे सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत्तमसा गूळ्हम्। यथा नैशं तमः सर्वपदार्थजातमावृणोति तद्वत् । आत्मतत्त्वस्यावरकत्वान्मायापरसंज्ञं भावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्यते। तेन तमसा निगूढं संवृतं कारणभूतेन तेनाच्छादितं भवति। आच्छादकात्तस्मात्तमसो नामरूपाभ्यां यदाविर्भवनं तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते। एतेन कारणावस्थायामसदेव कार्यमुत्पद्यत इत्यसद्वादिनोऽसत्कार्यवादिनो ये मन्यन्ते ते प्रत्याख्याताः। ननु कारणे तमसि तज्जगदात्मकं विद्यते चेत् कथं नासीद्रज इत्यादिनिषेध

ा:। तत्राह तम आसीदिति। तमो भावरूपाज्ञानं मूलकारणम् । तद्रूपता तदात्मनाम्। यतः सर्वं जगत्प्राक् तम आसीदतो निषिध्यत इत्यर्थः।नन्वारकत्वादावरकं तमः कर्तृ आवार्यत्वाज्जगत्कर्म। कथं तयोः कर्मकर्त्रोस्तादात्म्यम्।तत्राह।अप्रकेतमिति।अप्रकेतमप्रज्ञायमानम्।अयमर्थः।यद्यपि जगतस्तमसश्च कर्मकर्तृभावो यौक्तिको विद्यते तथापि व्यहारदशायामिव तस्यां दशायां नामरूपाभ्यां विसृष्टं न ज्ञायत इति तादत्म्यवर्णनम्। अत एव मनुना स्मर्यते। आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातलक्षणम्।अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः।(मनु० १.५) इति।कुतो वा न प्रज्ञायते तत्राह।सलिलम्।सल गतौ।औणदिक इलच्।इदं दृश्यमानं सर्वं जगत्सलिलं कारणेन सङ्गतमविभागपन्नमाः।आसीत्।अस्तेर्लङि तिपि बहुलं छन्दसीतीडभावे हल्ङ्ब्भ्य इति तिलोपे तिप्यनस्तेः। (पा० ८.२.७३) इति पर्युदासाद्दकाराभावः। यद्वा सलिलमिति लुप्तोपमम्। सलिलमिव। यथा क्षीरेणाविभागापन्नं नीरं दुर्विज्ञानं तथा तमसाविभागापन्नं जगन्न शक्यविज्ञानमित्यर्थः।ननु विविधविचित्ररूपभूयसः प्रपञ्चस्य कथमतितुच्छेन तमसा क्षीरेण नीरस्येवाभिभवः। तथा तमोऽपि बलवदित्येवोच्यते। तर्हि दुर्बलस्य जगतः सर्गसमयेऽपि नोद्भवसंभव इत्यत आह।तुच्छ्येनेति।आ समन्ताद्भवतीत्याभु तुच्छ्येन ।छान्दसो यकारोपजनः। तुच्छेन तुच्छकल्पेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपाज्ञानेनापिहितं छादितमासीत्।दधातेः कर्मणि निष्ठा।दधातेर्हिः।गतिरनन्तर इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्।एकमेकीभूतं कारणेन तमसाविभागतां प्राप्तमपि तत्कार्यजातं तपसः स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपस्य महिना माहात्म्येनाजायत।उत्पन्नम्। तमसः स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपत्वं चान्यत्राम्नायते।यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।(मु० उ० - १.१.९) इति।

शब्दार्थ – तमः – तमस् रूप मूल कारण।**तमसा** – अन्धकार से।**गूळ्हम्** – आच्छादित। **अग्रे** – पहले। **अप्रकेतम्** – अज्ञायमान। **तुच्छ्येन** – तुच्छ अभाव रूप अज्ञान से। **आभु** – व्यापक। **अपिहितम्** – आच्छादित। **तमसः** – संकल्प रूप तप की। **महिना** – महिमा से। **अजायत** – उत्पन्न हुआ।

हिन्दी अनुवाद – सृष्टि के उत्पन्न होने से पहले अर्थात् प्रलय की अवस्था में यह जगत् अन्धकार से आच्छादित था और यह जगत् अपने तमस् रूप मूल कारण में विद्यमान था। अज्ञायमान यह सम्पूर्ण जगत् उस समय सलिल रूप में था।अर्थात् उस समय कार्य और कारण दोनों मिले हुऐ थे।यह जो जगत् व्यापक एवं तुच्छ अभाव रूप अज्ञान से आच्छादित था तो वह कारण के साथ हुआ जगत् ईश्वर के संकल्प रूप तप की महिमा से उत्पन्न हुआ।

व्याकरण –

गूळ्हम् – गुह् + क्त – गूळ्ढ ।

अप्रकेतम् – प्र + कित् + अच् (अ) – प्रकेत। अविद्यमानः प्रकेतः यस्मिन् तत् – अप्रकेतम्।

तुच्छ्येन – तुच्छ शब्द का वैदिक रूप – तुच्छ्य। तृतीया का एकवचन।

आभु – आ समन्तात् भवति । आ + भू से निपातनात् ।

अपिहितम् – अपि + धा + क्त ।

महिना – महि । शब्द तृतीया का एकवचन । वैदिक रूप।

सलिलम् – सल् गतौ + इलच् ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार आ इदम् – अस्तित्व में आने वाले (**coming into being**)। तपस: महिना – गर्मी की शक्ति से (**through the power of heat**)।

४ कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।

पद-पाठः कामः । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत । अधि । मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् । सतः । बन्धुम् । असति । निः । अविन्दन् । हृदि । प्रतिऽइष्य । कवयः । मनीषा ।।

अन्वय – अग्रे तत् कामः सम् अवर्तत यत् मनसः अधि प्रथमम् रेतः आसीत् । सतः बन्धुम् कवयः मनीषा हृदि प्रतीष्य असति निरविन्दन् ।

सायणः – ननूक्तरीत्या यदीश्वरस्य पर्यालोचनं जगतः पुनरुत्पत्तौ कारणं तदेव किंनिबन्धनमित्यत आह कामस्तदग्र इति । अग्रेऽस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां परमेश्वरस्य मनसि कामः समवर्तत । सम्यगजायत । सिसृक्षा जातेत्यर्थः । ईश्वरस्य सिसृक्षा वा । किंहेतुकेत्यत आह मनस इति । मनसोऽन्तःकरणस्य सम्बन्धि वासनाशेषेण मायायां विलीने ऽन्तःकरणे समवेतम्। सामान्योपेक्षमेकवचनम्। सर्वप्राण्यन्तःकरणेषु समवेतमित्यर्थः। एतेनात्मनो गुणाधारत्वं प्रत्याख्यातम्। तादृशं रेतो भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं प्रथममतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म यद्यतः कारणात्सृष्टिसमये आसीत् अभवत् । भूष्णु वर्णिष्णववजायत परिपक्वं सत्फलोन्मुखमासीदित्यर्थः। तत्ततो हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः कर्माध्यक्षस्य परमेश्वरस्य मनसि-सिसृक्षाजायतेत्यर्थः। तस्यां च जातायां स्रष्टव्यं पर्यालोच्य ततः सर्वं जगत् सृजति। तथा चाम्नायते। सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति सो तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। (तै० आ० ८-६)। इति श्रुत्यातमनेत्थमवगमितेऽर्थे विद्वदनुभवत्यनुग्राहकत्वेन प्रमाणयति सत इति। सतः सत्त्वेनेदानीमनुभूयमानस्य सर्वस्य जगतो बन्धुं बन्धकं हेतुभूतं कल्पान्तरे प्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहं कवयः कान्तदर्शना अतीतानागतवर्तमानाभिज्ञा योगिनो हृदि हृदये निरुद्धया मनीषा मनीषया बुद्ध्या। सुपां सुलुगिति तृतीयाया लुक्। प्रतीष्य विचार्य। अन्येषामपीति सांहितिको दीर्घः। असति सद्विलक्षणेऽव्याकृते कारणे निरविन्दन्। निष्कृष्यालभन्त। विविच्याजानन्नित्यर्थः।

शब्दार्थ – **कामः** – सुष्टि उत्पन्न करने की इच्छा। **अग्रे** – सबसे पहले। **समवर्तत** – उत्पन्न हुई। **मनसः अधि** – मन में। **रेतः** – सृष्टि का बीज रूप कारण। **प्रथमम्** – सबसे पहला। **सतः** –अस्तित्व रूप में विद्यमान जगत् के। **बन्धुम्** – बन्धन के कारण को। **असति** – अभाव में। **निरविन्दन्** – खोज कर पाया। **हृदि** – हृदय में। **प्रतीष्य** – विचार कर। **कवयः** – क्रान्तदर्शी ऋषियों ने। **मनीषा** – बुद्धि से।

हिन्दी अनुवाद – सृष्टि की उत्पत्ति होने के समय सबसे पहले वह काम अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई, जो परमेश्वर के मन में सबसे पहला सृष्टि का बीज रूप कारण हुआ। अस्तित्व रूप से विद्यमान जगत् के बन्धन के कारण को क्रान्तदर्शी ऋषियों ने अपनी बुद्धि से हृदय में विचार कर भाव से विलक्षण अभाव में खोज कर पाया।

व्याकरण –

समवर्तत – सम् + वृत् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मनीषा – मनीषा शब्द, तृतीया का एकवचन। वैदिक रूप।

निरविन्दन् – निर् + विद् (विन्द्) धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

प्रतीष्य – प्रति + इष् इच्छायाम् + क्त्वा (ल्यप्)। वैदिक दीर्घ।

विशेष – मैक्डानल का अर्थ भी इसी प्रकार से है। उसने 'रेतस्' का अर्थ 'बीज' (seed) किया है।

५ **ति॒र॒श्चीनो॒ वित॑तो र॒श्मिरे॑षाम॒धः स्वि॑दा॒सी३दु॒परि॑ स्विदासी३त्।**
रे॒तो॒धा आ॑सन्महि॒मान॑ आसन्त्स्व॒धा अ॒वस्ता॒त्प्रय॑तिः प॒रस्ता॑त् ।।

पद-पाठः ति॒र॒श्चीनः॑। विऽत॑तः। र॒श्मिः। ए॒षा॒म्। अ॒धः। स्वि॒त्। आ॒सी॒३त्। उ॒परि॑। स्वि॒त्। आ॒सी॒३त्। रे॒तः॒ऽधाः। आ॒स॒न्। म॒हि॒मानः॑। आ॒स॒न्। स्व॒धा। अ॒वस्ता॑त्। प्रऽय॑तिः। प॒रस्ता॑त्।।५।।

अन्वय – एषाम् रश्मिः विततः तिरश्चीनः अधः स्वित् आसीत् उपरि स्वित् आसीत्? रेतोधाः आसन् महिमानः आसन् स्वधा प्रयतिः परस्तात्।

सायणः – एवमविद्याकामकर्माणि सृष्टेर्हेतुत्वेनोक्तानि। अधुना तेषां स्वकार्यजनने शैघ्र्यं प्रतिपाद्यते। येयं नासदासीदित्यविद्या प्रतिपादिता यश्च कामस्तदग्र इति कामो मनसो रेतः प्रथमं यदासीदिति यत्कर्मैषामविद्याकामकर्मणां विपदादिभूतजातानि सुजतां रश्मी रश्मसदृशो यथा सूर्यरश्मिरुदयानन्तरं निमेषमात्रेण युगपत् सर्वं जगद् व्याप्नोति तथा शीघ्रं सर्वत्र व्याप्नुवन् यः कार्यवर्गो विततो विस्तृत आसीत्। स्विदासीदिति वक्ष्यमाणमत्रापि सम्बध्यते। विचार्यमाणानाम्। (पा० ८-२-९७) इति प्लुतः। तत्रोदात्त इत्यनुवृत्तेः स चोदात्तः। स्विदिति वितर्के। स कार्यवर्गः

किं प्रथमतः तिरश्चीनस्तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थित आसीत् किंवाधोऽधस्तादासीत् । आहोस्विदुपर्युपरिष्ठात् किमासीत् ।उपरि स्विदासीदिति च (पा० ८-२-१०२) इति अनुदात्तः प्लुतः। आत्मनः आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः। (तै० आ० ८-१) इत्यादिकया पञ्चमीश्रुत्या तत उद्गातारं ततो होतारमितिवत्क्रमप्रतिपत्तौ सत्यामपि विद्युत्प्रकाशवत्सर्गस्य शीघ्रव्यापनेन तस्य क्रमस्य दुर्लक्षणत्वादेतेषु त्रिषु स्थानेषु प्राथम्यं कुत्रेति विचार्यते। एवं नाम शीघ्रं सर्वतो दिक्षु सर्गो निष्पन्नः इत्यर्थः। एतदेव विभजते। सृष्टेषु कार्येषु मध्ये केचिद्भावा रेतोधा रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवा आसन् अन्ये भावा महिमानः। स्वार्थिक इमनिच् ।महान्तो वियदादयो भोग्या आसन्। एवं मायासहितः परमेश्वरः सर्व जगत् सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः अयमेवार्थस्तैत्तिरीय के तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तै० आ० ८-६) इत्यारभ्य प्रतिपाद्यते। तत्र च भोक्तृभोग्योर्मध्ये स्वधा।अन्नामैतत्। भोग्यप्रपञ्चोऽवस्तादवरो निकृष्ट आसीत्।प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात्पर उत्कृष्ट आसीत्। भोग्यप्रपञ्च भोक्तृप्रपञ्चस्य शेषभूंत कृतवानित्यर्थः।विभाषा परावराभ्याम्। (पा० ५-३-२९) इति प्रथमार्थेऽस्तातिः । अस्ताति च। (पा० ५-३-४०) इतयवरशबदसयावादेशः।अवस्तादिति संहितायामीषाअक्षादित्वात् प्रकृतिभावः।

शब्दार्थ – तिरश्चीनः – तिरछा था। **विततः** – विस्तृत। **रश्मिः** – सूर्य की किरणों के समान व्यापकता का भाव। **अघः** – नीचे। **स्वित्** – क्या। **रेतोघाः** – बीज रूप कर्म को धारण करने वाले जीव रूप। **महिमानः** – आकाश आदि महान् रूप में प्रकृति रूप। **स्वधा** – भोग्य पदार्थ। **अवस्तात्** – निकृष्ट। **प्रयति** – भोक्ता पदार्थ। **परस्तात्** – उत्कृष्ट।

हिन्दी अनुवाद – **इन तीनों कारणों ('नासदासीत्' में कथित अविद्या, 'कामस्तदग्रे' में कथित संकल्प और 'मनस रेतः' में कथित सृष्टि का बीज रूप कारण) का सूर्य की किरणों के समान बहुत अधिक व्यापकता का भाव बहुत विस्तृत था। यह सब पहले क्या तिरछा था या मध्य में विद्यमान था क्या वह नीचे विद्यमान था अथवा क्या वह ऊपर विद्यमान था ? अर्थात् वह सब स्थानों पर समान भाव से उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार उत्पन्न हुए जगत् में कुछ पदार्थ बीज रूप कर्म को धारण करने वाले जीवरूप में थे और कुछ पदार्थ आकाश आदि महान् रूप में प्रकृति रूप थे। इस भोक्ता और भोग्य सृष्टि में भोग्य पदार्थ निकृष्ट समझा जाता है और नियमित करने वाला भोक्ता पदार्थ उत्कृष्ट माना जाता हैं।**

व्याकरण –

तिरश्चीनः – तिरस् + अञ्च् + ख (ईन) ।

विततः – वि + तन् + क्त ।

रेतोधाः – रेतः दधाति ।रेतस् + धा + क्विप् ।

महिमानः – महत् + इमनिच् – महिमन्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

प्रयतिः – प्र + यम् + क्तिन् ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार तिरश्चीनः – आरपार (**across**), विततः – फैला हुआ था (**was extended**), रश्मि – रस्सी (**cord**), महिमानः – शक्तियाँ (**powers**), स्वधा – अन्तः शक्ति (**energy**), प्रयतिः – मानसिक आवेग (**impulse**)। मैक्डानल के अनुसार पूरा अर्थ इस प्रकार है –

There cord was extended across : was there below or was there above ? There were impregnators, there were powers; there was energy below, there was impulse above.

६ को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।

पद-पाठः कः । अद्धा । वेद । कः । इह । प्र । वोचत् । कुतः । आऽजाता । कुतः । इयम् । विऽसृष्टिः । अर्वाक् । देवाः । अस्य । विऽसर्जनेन । अथ । कः । वेद । यतः । आऽबभूव ।।

अन्वय – कः अद्धा वेद, कः इह प्र वोचत्, इयम् विसृष्टिः कुतः आजाता। देवाः अस्य विसर्जनेन अर्वाक् । अथ कः वेद यतः आ बभूव।

सायणः – एवं भोक्तृभोग्यरूपेण सृष्टिः संग्रहेण प्रतिपादिता। एतावद्वा इदमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नाद इतिवत् । अथेदानीं सा सृष्टि दुर्विज्ञानेति न विस्तरेणाभिहितेत्याह । को अद्धेति । कः पुरुषोऽद्धा पारमार्थ्येन वेद । जानाति। को वेहास्मिंल्लोके प्र वोचत् । प्रब्रूयात् । इयं दृश्यमाना विसृष्टिर्विविधा भूतभौतिकक्तृभोग्यादिरूपेण बहुप्रकारा सृष्टिः कुतः कस्मादुपादानकारणात् कुतः कस्माच्च निमित्तकारणाजाता। समन्ताज्जाता। प्रादुर्भूता एतदुभयं सम्यक्को वेद को वा विस्तरेण वक्तुं शक्नुयादित्यर्थः। ननु देवा अजानन्तः । सर्वज्ञास्ते ज्ञास्यन्ति वक्तुं च शक्नुवन्तीत्यत आह। अर्वागति। देवाश्चस्य जगतो विसर्जनेन वियदादिभूतोत्पत्त्यनन्तरं विविधं यद्भौतिकं सर्जनं सृष्टिस्तेनार्वागर्वाचीनाः कृताः। भूतसृष्टेः पश्चाज्जाता इत्यर्थः। तथाविधास्ते कथं स्वोत्पत्तेः पूर्वकालीनां सृष्टिं जानीयुः। अजानन्तो वा कथं प्रब्रूयुः। उक्तं दुर्विजानत्वं निर्गमयति। अथैवं सति देवा अपि न जानन्ति किल। तद्व्यतिरिक्तः को नाम मनुष्यादिर्वेद यज्जगत्कारणं जानाति। यतः कारणात्कृत्स्नं जगदाबभूव अजायत।

शब्दार्थ – कः – कौन। **अद्धा** – वास्तविक रूप से। **वेद** – जानता है। **प्रवोचत्** – बता सकता है। **कुतः** – किस उपादान कारण से। **आजाता** – उत्पन्न हुई है। **कुतः** – किस निमित्त कारण से। **विसृष्टिः** – विविध प्रकार की सृष्टि। **अर्वाक्** – बाद के हैं। **विसर्जनेन** – सृष्टि के उत्पन्न होने से। **यतः** – जिस कारण से। **आ बभूव** – उत्पन्न हुआ है।

हिन्दी अनुवाद – कौन इस बात को वास्तविक रूप से जानता है और कौन इस लोक में सृष्टि के उत्पन्न होने का विवरण बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान

कारण से और किस निमित्त कारण से सब ओर से उत्पन्न हुई है। देवता भी इस विविध प्रकार की सृष्टि के उत्पन्न होने से बाद के हैं, अतः वे भी अपने से पहले की बात नहीं बता सकते। इसलिये कौन मनुष्य जानता है, जिस कारण से यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है।

व्याकरण -

प्रवोचत् - प्र + ब्रू या वच् धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। वैदिक रूप।

आजाता - आ + जन् + क्त + टाप्।

विसृष्टिः - वि + सृज + क्तिन्।

विसर्जनेन - वि + सृज्। ल्युट् (अन) - विसर्जन। तृतीया का एकवचन।

७ **इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।**
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

पद-पाठः इयम्। विऽसृष्टिः। यतः। आऽबभूव। यदि। वा। दधे। यदि। वा। न। यः। अस्य। अधिऽअक्षः। परमे। विऽओमन्। सः। अङ्ग। वेद। यदि। वा। न। वेद ॥

अन्वय - इयम् विसृष्टिः यतः आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। अस्य यः अध्यक्षः परमे व्योमन् अङ्ग सः वेद यदि वा न वेद।

सायण - उक्तप्रकारेण यथेदं जगत्सर्जनं दुर्विज्ञानमेवं सृष्टं तज्जगद्दुर्धरमपीत्याह। इयमिति। यत उपादानभूतात्परमात्मन इयं विसृष्टिर्विविधा गिरिनदीसमुद्रादिरूपेण विचित्रा सृष्टिराबभूव आजाता सोऽपि किल यदि वा दधे धारयति यदि वा न धारयति। एवं च को नामान्यो धर्तुं शक्नुयात्। यदि धारयेदीश्वर एव धारयेन्नान्य इत्यर्थः। एतेन कार्यस्य धारयितृत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मण उपादानकारणत्वमुक्तं भवति। तथा च पारमार्षं सूक्तम्। प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। (वेदा० १-४-२३) इति। यद्वा अनेनार्धर्चेन पूर्वोक्तं सृष्टेर्ज्ञानत्वमेव दृढयति। वेदेत्यनुवर्तते। इयं विविधा सृष्टिर्यत आबभूव आ समन्तादजायतेति को वेद। न कोऽपि। नास्त्येव जगतो जन्म कदाचिदनीदृशं जगदिति बहवो भ्रान्ता भवन्त्यपि। यतः। जनिकर्तुः प्रकृतिः। (पा० १-४-३०) इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चम्यास्तसिल्। यस्मात्परमात्मन उपादानभूतादाबभूव तं परमात्मानं को वेद। न कोऽपि। प्रकृतितः परमाणुभ्यो वा जगज्जन्मेति हि बहवो भ्रान्ताः। यथा स एवोपादानभूतः परमात्मा स्वयमेव निमित्तभतोऽपि सन् यदि वा देध विदध इदं जगत्ससर्ज यदि वा न ससर्ज। असन्दिग्धे सन्दिग्धवचनमेतच्छास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युरिति यथा। स एव विदधे। तं को वेद। अजानन्तोऽपि बहवो जडात्प्रधानादकर्तृकमेवेदं जगत्स्वयमजायतेति विपरीतंप्रतिपन्ना विदधतो विधानमजानन्तोऽपि। स एवोपादानभूत इत्यपि को वेद। न कोऽपि उपादानादन्यस्तटस्थ एवेश्वरो विदध इति हि बहवः प्रतिपन्नाः। देवा अपि यन्न जानन्ति तदर्वाचीनानामेषां तत्परिज्ञाने कैव कथेत्यर्थः। यद्येवं जगत्सृष्टिन्तदुरवबोधना तर्हि सा

प्रमाणपद्धतिमध्यास्त इत्याशङ्क्य तत्सद्भाव ईश्वरो वेदं प्रमाणयति। यो अस्येति । अस्य भूतभौतिकात्मकस्य जगतो योऽध्यक्ष ईश्वरः परम उत्कृष्टे उत्यभूते व्योमन् व्योम्न्याकाश आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे। यद्वा । अवतेस्तर्पणार्थादन्येभ्योऽपि दृश्यन्त इति मनिन्। नेड्वशि कृतीतीट्प्रतिषेधः।ज्वरत्वरेत्यादिना वकारोपधयोरूट्। सप्तम्या लुक् । न ङिसम्बुद्ध्योरिति न लोपप्रतिषेधः। व्योमनि विशेषेण तृप्ते । निरतिशयानन्दस्वरूप इत्यर्थः। यद्वा अवतिर्गत्यर्थः। व्योमनि विशेषेण गन्तव्ये। देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्न इत्यर्थः। अथवा अवतिर्ज्ञानार्थः। व्योमनि विशेषेण ज्ञातरि विशिष्टज्ञानात्मनि । ईदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः। श्रूयते हि सनत्कुमारनारदयोः संवादे। स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि। (छा० उ० ७-२४-१) ।इति । ईदृशो यः परमेश्वरः सो अङ्गेति प्रसिद्धौ। सोऽपि नाम वेद जानाति। यदि वा न वेद न जानाति। को नामान्यो जानीयात् । सर्वज्ञ ईश्वर एव तां सृष्टिं जानीयात् नान्य इत्यर्थः।

शब्दार्थ – **विसृष्टिः** – विविध प्रकार की सृष्टि। **दधे** – धारण किये हुये। **अध्यक्षः** – स्वामी ईश्वर। **परमे व्योमन्** – उत्कृष्ट सत्यरूप आकाश के सदृश अपने प्रकाश में या स्वरूप में। **अङ्ग** – हे प्रिय श्रोताओ।

हिन्दी अनुवाद – यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस प्रकार उपादान और निमित्त कारण से उत्पन्न हुई है, यह कारण अर्थात् ईश्वर ही सृष्टि को धारण किये हुये है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई धारण किये हुये नहीं है। इस सृष्टि को जो स्वामी ईश्वर उत्कृष्ट सत्य रूप आकाश के सदृश अपने प्रकाश में या आनन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित है। हे प्रिय श्रोताओ ! यह सुख स्वरूप परमात्मा ही उसको जानता है । उसके अतिरिक्त इसको कोई नहीं जानता है।

व्याकरण –

विसृष्टिः – वि + सृज् + क्तिन् ।

दधे – धा धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

व्योमन् – सप्तमी विभक्ति एकवचन, वैदिक रूप।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार दधे – निर्मित किथा (**founded**) , परमे व्योमन् – उच्चतम अन्तरिक्ष में (**in the highest heaven**), अध्यक्षः – खोजने वाला (**Surveyor**)।

❋ ❋ ❋

द्वितीयं घटकम्

विष्णु-सूक्त

(मण्डल - १, सूक्त - १५४)

ऋषि - दीर्घतमा, देवता - विष्णु छन्द - त्रिष्टुम्

१ **विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।**
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ।।

पद-पाठः विष्णोः । नु । कम् । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यः । पार्थिवानि । विऽममे । रजांसि । यः । अस्कभायत् । उत्ऽस्थम् । विऽचक्रमाणः । त्रेधा । उरुऽगायः ।।

अन्वय - विष्णोः वीर्याणि नु कम् प्रवोचम्, यः पार्थिवानि रजांसि विममे, यः त्रेधा विचक्रमाणः उरुगायः उत्तरम् सधस्थम् अस्कभायत् ।

सायण - हे नराः ! विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कम् अतिशीघ्रं प्रवोचं ब्रवीमि । अत्र यद्यपि नु कम् इति पदद्वयं तथापि यास्केन नवोत्तराणि पदानीत्युक्तत्वात् । (निघण्टु ३-१२) शाखान्तरे एकत्वेन पाठाच्च इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कम् इति पदद्वयम् । कानि तानीति तत्राह - यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीन्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे । अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः । तथा च मन्त्रान्तरम् - यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यस्यां परमस्यामुत स्थः (ऋग् १/१०८/९) । तैत्तिरीयेऽपि 'योऽस्यां पृथिव्यामस्यायुषे' त्युपक्रम्य यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्यामिति (तै० सं० १/२/१२/१) तस्माल्लोकत्रयस्य पृथिविशब्दवाच्यत्वम् । किं च यश्च उत्तरमुद्गततरम् अतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतं अन्तरिक्षं अस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान् ! निर्मितवानित्यर्थः । अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति । यद्वा यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान् । रजःशब्दो लोकवाची लोकाः रजांस्युच्यन्त इति यास्केनोक्तत्वात् (निघण्टु ४/३/१९) किं च यश्च उत्तरमुद्गततरम् उत्तरभाविनं सधस्यं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोसप्तकं अस्कभायत् स्कम्भितवान् सृष्टवानित्यर्थः । स्कम्भेः 'स्तम्भस्तुम्भु' इति विहितस्य श्नः छन्दसि शायजपीति व्यत्ययेन शायजादेशः (पाणिनि ३/१/४८) । अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि रजांसि

भूरादिलोकत्रयं विममे इत्यर्थः । भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः । भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरेषां लोकानां तत्कारणत्वात् । किं च यश्चोत्तरमुत्कृष्टरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतं, अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वम् । सधस्थमुपासकानां सहस्थानं सत्यलोकम् अस्कभायत् स्कम्भिवान् ध्रुवं स्थापितवान् । किं कुर्वन् त्रेधा विचक्रमाणः त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान् क्रममाणः । विष्णोस्त्रेधाः क्रमणम् इदम् । विष्णुर्विचक्रमे' (१/२२/१७ ऋक्) इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धम् । अत एवोरूगाय उरूभिर्महद्भिर्गीयमानः, अति प्रभूतं गीयमानो वा । य एवं कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्रवोचम् ।

शब्दार्थ – विष्णुः – व्यापनशील विष्णु देवता । **नु** – शीघ्र । **वीर्याणि** – वीर कार्यों को। **प्रवोचम्** – कहता हूँ। **पार्थिवानि** – पृथ्वी सम्बन्धी । **रजांसि** – रजःकणों को, लोकों को। **विममे** – विशेष रूप से बनाया । **अस्कभायत्** – स्तम्भित किया, आधार रूप से बनाया। **उत्तरम्** – अति उत्कृष्ट । **सस्धस्थम्** – साथ रहने का स्थान । **विचक्रमाणः** – लांघते हुये । **त्रेधा** – तीन प्रकार से, या तीन डगों में। **उरुगायः** – महान् पुरूषों से स्तुति किया जाता हुआ।

हिन्दी अनुवाद – **हे मनुष्यो ! मैं व्यापनशील विष्णु देवता के वीर कार्यों को बहुत शीघ्र कहता हूँ, जिस विष्णु ने पृथिवी सम्बन्धी रजःकणों अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य आदि विशेष लोकों की विशेष रूप से रचना की। और जिस विष्णु ने तीन प्रकार से या तीन डगों में अपने बनाये हुए लोकों को लांघते हुए एवं महान् पुरूषों से स्तुति किये जाते हुए होकर ऊँचे या अति उत्कृष्ट तीनों लोकों के आश्रयभूत साथ रहने के स्थान को स्तम्भित किया, आधार रूप से बनाया ।**

व्याकरण –

विष्णोः – 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से विष् + नु – विष्णु । षष्ठी विभक्ति का एकवचन ।

वीर्याणि – वीर् + यत् = वीर्य । नपुंसकलिंग, द्वितीया विभक्ति, बहुवचन ।

प्रवोचम् – 'प्र+ वच्' धातु, लङ् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन । छान्दस अट् का अभाव। वर्तमानकाल में 'लङ्' का प्रयोग ।

पार्थिवानि – पृथिवी + अण् – पार्थिव ।

अस्कभायत् – 'स्कम्भ' धातु लङ् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन । यहाँ 'श्ना' को वैदिक 'शायच्' आदेश हुआ । लोक में 'अस्कभ्नात्' रूप होगा।

विचक्रमाणः – वि + क्रम्' से लिट् के अर्थ में 'कानच्' प्रत्यय

त्रेधा – वि + मा धातु लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

उरुगायः – 'उरूभिः गीयते' अर्थ में उरू + गै + अच् (अ) – उरूगाय ।

उत्तरम् – उत् + तरप् – उत्तर ।

सधस्थम् – सह + स्था + क – सधस्य ।

विशेष – 'त्रेधा विचक्रमाणः का अर्थ पीटर्सन ने 'तीन डगों में परिक्रमा करते हुये किया है। छन्द की पूर्ति के लिये 'वीर्याणि' एवं 'त्रेधा' उच्चारण करना चाहिये।

२ **प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।**

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।।

पद-पाठः प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः ।

यस्य । उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ।।

अन्वय – यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति तत् विष्णुः वीर्येण प्रस्तवते, भीमः कुचरः गिरिष्ठाः मृगः न ।

सायण – यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते । स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते । स्तूयते सर्वैः । कर्मणि व्यत्ययेन शप् । वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः, मृगो न सिंहादिरिव । यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनक कुचरः कुत्सितहिंसादिकर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते । अस्मिन्नर्थे निरूक्तं-मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा। मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठा। मृगः मार्ष्टेर्गतिकर्मणः । भीमो बिभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव । कुचर इति चरतिकर्म कुत्सिततमथ चेद्देवताभिधानं क्वायं न चरतीति वा। गिरिष्ठा गिरिस्थायी गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा (नि० १-२०) । इति तद्वदयमपि मृगः शत्रूणां भीमः भयानकः सर्वेषां भीत्युपादानभूतः। परमेश्वराद् भीतिर्भीषास्माद् वातः पवते (तै० आ० ८.८.१) इत्यादिषु श्रुतिषु प्रसिद्धा। किं च कुचरः शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्त्ता कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी। यद्वा गिरिमन्त्रदिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः । किं च यस्य विष्णोरूरूषु विस्तीर्णेषु त्रिसंख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अधिक्षियन्ति आश्रित्य निवसन्ति स विष्णुः स्तूयते।

शब्दार्थ – **प्रस्तवते** – स्तुति किया जाता है। **भीमः** – भयानक । **कुचरः** – कुत्सित हिंसा आदि कार्य करने वाला, स्वतन्त्रता पूर्वक भूमि पर विचरण करने वाला । **गिरिष्ठाः** – पर्वतों में रहने वाला । **उरुषु** – विस्तीर्ण । **विक्रमणेषु** – डगों में । **अधिक्षियन्ति** – निवास करते हैं।

हिन्दी अनुवाद – **जिस विष्णु के लम्बे तीन डगों में सम्पूर्ण लोक आ जाते हैं या आश्रय लेकर निवास करते हैं, उस विष्णु की वीर कार्यों से स्तुति उसी प्रकार की जाती है, जिस प्रकार भयानक, कुत्सित हिंसा आदि कार्य करने वाले या स्वतन्त्रता पूर्वक भूमि पर विचरण करने वाले, पर्वत आदि उन्नत प्रदेशों में रहने वाले एवं विरोधियों को ढूंढ कर मारने वाले सिंह आदि**

की स्तुति की जाती है।

व्याकरण -

स्तवते – 'स्तु' धातु से कर्म कारक में लट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन। व्यत्यय से 'यक्' के स्थान पर 'शप्' हुआ। वैदिक रूप। लोक में स्तूयते रूप होगा।

कुचरः – कु + चर् + ट।

मृगः – मार्ष्टि गच्छति अन्विषति अर्थ में मृज् + क – मृग। अथवा मृ + गम् + अ – मृग।

गिरिष्ठाः – गिरिषु तिष्ठति अर्थ में – गिरि + स्था + स्विप्।

विश्वा – विश्व पद प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। लोक में 'विश्वानि' बनेगा।

वीर्येण – वीर् + यत् – वीर्य। तृतीया विभक्ति, एकवचन – वीर्येण।

विक्रमणेषु – वि + क्रम् + ल्युट् (अन) – विक्रमण। सप्तमी विभक्ति, बहुवचन – विक्रमणेषु।

अधिक्षियन्ति – अधि + क्षि, लट् लकार, प्रथम पुरूष, बहुवचन।

विशेष – सायण ने 'कुचरः' का अर्थ 'कुत्सित हिंसा आदि कर्म करने वाला' किया है। पीटर्सन के अनुसार इसका अर्थ है – स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने वाला। सायण के अनुसार 'गिरिष्ठाः का अर्थ उन्नत प्रदेश में रहने वाला' है। पीटर्सन और मैक्डानल ने इसका अर्थ 'पर्वतों में विचरण करने वाला' किया है। सायण ने 'स्तवते' को कर्मवाच्य में मानकर 'स्तूयते' अर्थ किया, परन्तु पीटर्सन इसे ठीक नहीं मानता। उसके अनुसार यह कर्तृवाच्य ही हैं। विष्णु स्वयं अपने कार्यों की प्रशंसा करता है – **Vishnu praises, makes loud boast of his deeds**। 'वीर्येण' को उसने क्रिया-विशेषण मानकर **might** अर्थ किया। ग्रासमान ने 'तत्' को 'प्रस्तवते' का कर्म माना और 'वीर्येण' का अर्थ **might** किया – **Undertakes the glorious mighty deeds.** ।'

छन्द के आग्रह से 'वीर्येण' को वीरियेण और 'विक्रमणेष्वधि' को सन्धि तोड़कर 'विक्रमणेषु अधि' पढ़ना चाहिये।

३ प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥

पद-पाठः प्र। विष्णवे। शूषम्। एतु। मन्म। गिरिऽक्षिते। उरुऽगायाय। वृष्णे। यः। इदम्। दीर्घम्। प्रऽयतम्। सधऽस्थम्। एकः। विऽममे। त्रिऽभिः। इत् पदेभिः॥ ३॥

अन्वयः – यः इदम् दीर्घम् प्रयतम् सधस्थम् एकः त्रिभिः पदेभिः विममे, गिरिक्षिते उरुगायाय वृष्णे विष्णवे मन्म शूषम् प्र एतु ।

सायण – विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषमस्मत् कृत्यादिजन्यं बलं महत्वं मन्म मननं स्तोत्रे मननीयं शूषं बलं वा विष्णुमेतु प्राप्नोतु। कर्मणः सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी । कीदृशाय । गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते । उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय वृष्णे वर्षित्रे कामानाम् । एवं महानुभावं शूषं प्राप्नोतु। कोऽस्य विशेषः – यो विष्णुरिदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घमतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयमेक इत् एक एव अद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान् ।

शब्दार्थ – शूषम् – बल । **प्र एतु** – प्राप्त होवे । **मन्म** – मननीय, स्तुति के योग्य। **गिरिक्षिते** – वाणियों में निवास करने वाले, उन्नत प्रदेश में रहने वाले । **वृष्णे** – कामनाओं को पूर्ण करने वाले। **दीर्घम्** – विस्तृत । **प्रयतम्** – नियमों में बंधा हुआ। **सधस्थम्** – सबका सम्मिलित रहने का स्थान। विममे – नाप लिया था।

हिन्दी अनुवाद – जिस विष्णु ने इस दृश्यमान अति विस्तृत नियमों में बंधे हुए सबके सम्मिलित स्थान लोकत्रय को अकेले ही तीन डगों में नाप लिया था, उस वाणियों में निवास करने वाले या उन्नत प्रदेश में रहने वाले, बहुतों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले, कामनाओं को पूर्ण करने वाले और सर्वव्यापक विष्णु के लिये हमारा यह मननीय या स्तुति के योग्य बल, जो हमारे कृत्यों से उत्पन्न हुआ है, प्राप्त होवे ।

व्याकरण –

शूषम् – शूष् + घञ् ।

मन्म – मन् + मनिन् ।

गिरिक्षिते – गिरि + क्षि + क्विप् – गिरिक्षित् । गिरौ क्षयति अर्थ में ।

उरुगायाय – उरुभिः गीयते तस्मै । उरु + गा + यक् – उरूगाय । चतुर्थी विभक्ति, एकवचन – उरुगायाय।

प्रयतम् – प्र + यम् + क्त – प्रयत ।

सधस्थम् – सह + स्था + क – सधस्थ । 'सह' के 'ह' को 'ध' आदेश ।

विममे – वि + मा, धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

वृष्णे – वृष् + कनिन् (अन्) – वृषन् वेद में चतुर्थी का एकवचन ।

विशेष – उरुगायाय पद में 'गा' का अर्थ सायण ने 'गान करना' किया है। परन्तु पीटर्सन ने इसका अर्थ 'गमन करना' किया है और 'उरुगायाय' का अर्थ बड़े-बड़े पद वाला बैल

(**wide pacing bull**) किया है। 'शूषम्' की निष्पत्ति रॉथ के अनुसार 'श्वस्' धातु से होती है और इसका अर्थ **Piping sound** है।

छन्द पूर्ति के लिए 'शूषम्' को 'शु उषम्' उच्चारण करना चाहिये।

४ **यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।**

य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ।।

पद-पाठः यस्य ।त्री ।पूर्णा ।मधुना ।पदानि ।अक्षीयमाणा ।स्वधया ।मदन्ति ।

यः ।ऊँ इति ।त्रिऽधातु ।पृथिवीम् ।उत ।द्याम् ।एकः ।दाधार ।भुवनानि ।विश्वा ।।४ ।।

अन्वय – यस्य मधुना पूर्णा त्री पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति, य उ एकः पृथिवीम् द्याम् उत त्रिधातु विश्वा भुवनानि दाधार ।

सायण – यस्य विष्णोः मधुना मधुरेण दिव्यामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपणानि अक्षीयमाणा स्वधया अन्नेन मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान् । य उ य एव पृथिवीं प्रख्यातां भूमिं द्यामुत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दश लोकांश्च। यद्वा पृथिवीशब्देन अधोवर्तीन्यतलवितलादिसप्तभुवनानि उपात्तानि । द्यु शब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि। एवं चतुर्दशलोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि। त्रिधातु त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु । पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा। दाधार धृतवान् । तुजादित्वादभ्यासदीर्घत्वम् । उत्पादितवानित्यर्थः। छान्दोगारण्यके । तत्तेजोऽसृजत तदन्नमसृजत ता आप ऐक्षंतेति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा हन्ताहमिमास्तस्रो देवतास्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीत्यादिना त्रिवृत्करणसृष्टिरूपपादिता । छा० उ० ६.२.३-३.३ । यद्वा । त्रिधातु कालत्रयं गुणत्रयं वा दाधारेत्यन्वयः।

शब्दार्थ – पूर्णा – भरे हुये । **मधुना** – दिव्य अमृत से। **अक्षीयमाणा** – क्षीण न होते हुये। **स्वधया** – अन्न के द्वारा । **मदन्ति** – आनन्दित करते हैं। **त्रिधातु** – पृथिवी-जल-तेज इन तीनों धातुओं से युक्त। **उत** – और। **दाधार** – धारण करता है।

हिन्दी अनुवाद – जिस विष्णु के दिव्य अमृत से भरे हुए तीन पद कभी क्षीण न होते हुए अन्न के द्वारा आनन्दित करते हैं, और जो अकेला ही विस्तृत भूलोक को, द्यु लोक और अन्तरिक्ष लोक को, तीन धातुओं-पृथिवी, जल, तेज से युक्त बनाता हुआ सभी लोकों को धारण करता है।

व्याकरण-

त्री – 'जस्' का लोप और 'त्रि' को दीर्घ। वैदिक रूप। लोक में 'त्रीणि' होगा।

अक्षीयमाणा – क्षि + यक् + (मुक् का आगम) + शानच् – क्षीयमाण । न + क्षीयमाण – अक्षीयमाण ।

पूर्णा – लोक में पूर्णानि होगा ।

मदन्ति – 'मदी हर्षे' धातु 'लट् लकार' प्रथम पुरूष, बहुवचन। लोक में 'मदयन्ति' या 'माद्यन्ति' रूप होगा।

त्रिधातु – त्रयाणां धातूनां समाहारः ।

विश्वा – वैदिक रूप । लोक में 'विश्वानि' होगा ।

द्याम् – द्यो शब्द, द्वितीया का एकवचन ।

दाधार – धृ धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन। वर्तमान काल में लिट् ।

विशेष – सायण ने 'स्वधा' का अर्थ 'अन्न' किया है। परन्तु वेदों में अनेक स्थानों पर इस शब्द के प्रयोग को देखकर रॉथ ने अनेक अर्थ बताये – **accustomed place, home, comfort, contentment, sweet drink, oblation** ।

छन्द के आग्रह से सन्धि तोड़कर पदान्यक्षीयमाणा को 'पदानि अक्षीयमाणा' पढ़ना चाहिये।

५ **तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।**
उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ।।

पद-पाठः तत् । अस्य । प्रियम् । अभि । पाथः । अश्याम् । नरः । यत्र । देवऽयवः । मदन्ति । उरुऽक्रमस्य । सः । हि । बन्धुः । इत्था । विष्णोः । पदे । परमे । मध्वः । उत्सः ।।५ ।।

अन्वय – अस्य प्रियम् तत् पाथः अभि अश्याम्, यत्र देवयवः नरः मदन्ति । उरुक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्वः उत्सः । इत्था सः हि बन्धुः ।

सायण – अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं तत् सर्वैः प्रसिद्धं पाथः अन्तरिक्षं (नि० ६. ७) अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः । अभि अश्यां व्याप्नुयामित्यर्थः । तदेव विशेष्यते – यत्र स्थाने देवयवः देवं द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मने इच्छन्तः यज्ञदानादिभिः प्राप्तुमिच्छन्तो नराः मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति तदश्यामित्यन्वयः । पुनरपि तदपि विशेष्यते – उरुक्रमस्य सर्वं जगद् आक्रममाणस्य विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमेश्वरस्य परमे उत्कृष्टे पदे स्थाने मध्वः मधुरस्य उत्सः निष्यन्दो भवति। तदश्याम् – यत्र क्षुतृष्णा जरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति । इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां सुकृतिनां बन्धुभूतः तस्य पदं प्राप्तवता न च पुनरावृत्तेः। न च पुनरावर्तते इति श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम्। हि शब्दः सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः ।

शब्दार्थ – पाथः – लोक को । **अभि अश्याम्** – प्राप्त करूँ । **देवयवः** – विष्णु देवता के भक्त। **मदन्ति** – आनन्दित होते हैं। **उरूक्रमस्य** – परम पराक्रम वाले, महान् डगों वाले। **इत्था** –

इस प्रकार से। मध्वः -मधुर अमृत का। उत्सः - स्रोत।

हिन्दी अनुवाद – इस विष्णु के प्रिय उस लोक को (मैं) प्राप्त करूँ, जहाँ उस विष्णु देव के भक्त जन आनन्द का अनुभव करते हैं। परम पराक्रम वाले अथवा महान् डगों वाले सर्वव्याप्क विष्णु के परम स्थान में मधुर अमृत का स्रोत है। इस प्रकार से वह विष्णु निश्चय से सबका बन्धु है।

व्याकरण -

अश्याम् - अश् धातु, आशीर्लिङ्, उत्तम पुरूष, एकवचन ।

पाथः - पा + असुन् (थुट् का आगम) ।

देवयवः - देव + यु + क्विप् - देवयु । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन ।

मदन्ति - मद् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरूष, बहुवचन ।

इत्था - 'इत्थम्' का वैदिक रूप ।

मध्वः - 'मधु' शब्द षष्ठी विभक्ति का एकवचन । लोक में 'मधुनः' बनेगा।

विशेष - लौकिक संस्कृत में 'पाथस्' का अर्थ जल है। सायण ने ऋग्वेद १/४७/३३ में, पाथस् का अर्थ स्नान किया है। पिशेल ने इत्था का अर्थ 'अत्र' किया है और 'इत्था बन्धुः' का अर्थ किया है - यह मित्रों का समाज है (**This is the society of friends**)।

६ **ता वां वास्तूंन्युश्मसि गमंध्यै यत्र गावो भूरिंशृङ्गा अयासः ।**
अत्राह तदुंरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवं भाति भूरिं ।।

पद-पाठः ता । वाम् । वास्तूंनि । उश्मसि । गमंध्यै । यत्रं । गावंः । भूरिंऽशृङ्गाः । अयासंः । अत्रं । अहं । तत् । उरुऽगायस्यं । वृष्णंः । परमम् । पदम् । अवं । भाति । भूरिं ।।६ ।।

अन्वय - यत्र भूरिशृङ्गाः गावः अयासः, वाम् ता वास्तूनि गमध्यै उश्मसि। अत्र अह उरुगायस्य वृष्णः तत् परमम् पदम् भूरि अव भाति ।

सायण - हे पत्नीयजमानौ ! वां युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै युवयोर्गमनाथ उश्मसि कामयामहे। तदर्थं विष्णुं कामयामहे इत्यर्थः । **तानि कानीत्याह** - यत्र येषु वास्तुषु गावो रश्मयो भूरिशृङ्गाः अत्यन्तोन्नताः बहुभिराश्रयणीया वा । अयासः अयना गन्तारोऽतिविस्तृताः । यद्वा यासः गन्तारः, अतादृशाः अत्यन्तप्रकाशयुक्ता इत्यर्थः। अत्राह - अत्र खलु वास्त्वाध.रभूते द्युलोके उरूगायस्य बहुभिर्महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य वृष्णः कामानां वर्षितुर्विष्णोस्तत् तादृशं सर्वत्र पुराणादिषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धं परमं निरतिशयं पदं स्थानं भूरि अतिप्रभूतमवभाति स्वमहिम्ना स्फुरति। यत्र

गाव: भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेयं प्रभवतीति सत:। शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा। अयासोऽयना: तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागते: परमं पदं परार्ध्यस्थमवभाति भूरि स्वमहिम्ना स्फुरति। पाद: पद्यते (नि० २-७) इति।

शब्दार्थ – वास्तूनि – निवास योग्य स्थान या लोक । **उश्मसि** – कामना करते हैं। **गमध्यै** – जाने के लिये। **गाव:** – गौवें, किरणें। **भूरिशृङ्गा:** – बड़े ऊँचे सीगों वाली, अनेक प्रकार से फैलने वाली। **अयास:** – निवास करती हैं, प्रकाश से युक्त हैं। **अह** – निश्चय से। **अवभाति** – प्रकाशित हो रहा है। **भूरि** – अत्यधिक ।

हिन्दी अनुवाद – हे यजमान और हे यजमान पत्नी ! जहाँ बड़े बड़े ऊंचे सींगों वाली गौवें अथवा अनेक प्रकार से फैलने वाली किरणें निवास करती हैं या अत्यधिक प्रकाश से युक्त हैं, तुम दोनों के उन निवास योग्य स्थानों या लोकों पर जाने के लिये हम कामना करते हैं। यहाँ निश्चय ही महान् जनों से या बहुतों से स्तुति किये जाने वाले और कामनाओं को पूरा करने वाले विष्णु देव का परम पद या सर्वोत्कृष्ट अन्तरिक्ष लोक अत्यधिक रूप से प्रकाशित हो रहा है।

व्याकरण –

ता – वैदिक रूप है। लोक में 'तानि' होगा ।

गमध्यै – 'गम्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में वैदिक 'अध्यैन्' प्रत्यय ।

वाम् – युवयो: का रूप है।

उश्मसि – 'वश् कान्तौ' धातु, लट् लकार, उत्तम पुरूष, बहुवचन । छान्दस रूप ।

अयास: – 'इण् गतौ' + अच् – अय । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन वैदिक रूप ।

अवभाति – अव + भा धातु लट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

विशेष – सायण ने यहाँ 'वाम् का अर्थ 'यजमान और उसकी पत्नी' किया है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इस अर्थ को ठीक नहीं माना। उनके अनुसार यहाँ 'विष्णु' और उसके साथी 'इन्द्र' इन दो देवताओं को ग्रहण करना चाहिये। 'अयास:' का अर्थ मैक्डानल ने 'द्रुतगामी' (**nimble**) एवं पीटर्सन ने 'अविश्रान्त' (**unresting**) किया है। मैक्डानल और पीटर्सन के अनुसार 'भूरिशृङ्गा: गाव:' का अर्थ 'अनेक सींगों वाली गौवें, है।

रूद्र सूक्त

(मण्डल -२, सूक्त-३३)

ऋषि - गृत्समद देवता - रूद्र छन्दः - त्रिष्टुप्

१ आ ते॑ पितर्मरुतां सु॒म्नमे॑तु मा न॒ः सुर्यस्य स॒ंदृशो॑ युयोथाः ।

अ॒भि नो॑ वी॒रो अर्वति क्षमेत॒ प्र जा॑येमहि रुद्र प्र॒जाभि॑ः ।।

पद-पाठः आ । ते॒ । पि॒तः॒ । म॒रू॒ता॒म् । सु॒म्नम् । ए॒तु॒ । मा । न॒ः । सूर्यस्य । स॒म्ऽदृशः । यु॒यो॒था॒ः । अ॒भि । न॒ः । वी॒रः । अर्वति । क्ष॒मे॒त॒ । प्र । जा॒ये॒म॒हि॒ । रू॒द्र॒ । प्र॒जाऽभिः॑ । ।१ ।।

अन्वय – मरूताम् पितः ते सुम्नम् आ एतु । नः सूर्यस्य संदृशः मा युयोथाः । अर्वति नः वीरः अभिक्षमेत । रूद्र ! प्रजाभिः प्रजायेमहि ।

संस्कृत-व्याख्या – हे मरूतां पितः मरूत्संज्ञकानां देवानामुत्पादक रूद्र ! ते त्वदीयं सुम्नम् अस्मभ्यं दातव्यं सुखम् आ एतु आगच्छतु । तथा त्वम् नः अस्मान् सूर्यस्य भानोः संदृशः संदर्शनात् मा युयोथाः मा वियुज्यस्व । अर्वति शत्रौ नः अस्माकं वीरः वीर्यवान् पुत्रादिः अभिक्षमेत समर्थो जायेत। अथवा वीरस्त्वं नोऽस्मान् अभिक्षमेत । हे रूद्र । प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिः प्रजायेमहि वयं प्रभूताः स्याम ।

शब्दार्थ – **मरूताम् पितः** = हे मरुत् नामक देवताओं के पिता। **सुम्नम्** – सुख । **आ एतु** – प्राप्त होवे । **संदृशः** – दर्शन से । **युयोथाः** – वियुक्त करो । **वीरः** – वीर पुत्र । **अर्वति** – शत्रुओं के सम्बन्ध में । **अभिक्षमेत** – अभिभव करने में समर्थ हो। **प्रजायेमहि** – वृद्धि को प्राप्त होवें। **प्रजाभिः** = सन्तानों के द्वारा ।

हिन्दी अनुवाद – हे मरुत् नामक देवताओं के पिता रूद्र ! तुम्हारे द्वारा हमें देने योग्य सुख हमको प्राप्त होवे। तुम हमें सूर्य के दर्शन से वियुक्त मत करो। शत्रुओं के सम्बन्ध में हमारे वीर पुत्र उनका अभिभव करने में समर्थ हों। हे रुद्र ! सन्तानों के द्वारा हम वृद्धि को प्राप्त होवें।

व्याकरण -

पितः – पितृ शब्द, सम्बोधन, एकवचन ।

एतु – इण् धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

युयोथाः – 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु, लङ् लकार, मध्यम पुरूष ए०व० । छान्दस रूप।

क्षमेत – क्षम् धातु, विधिलिङ्, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

जायेमहि – जन् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरूष, बहुवचन ।

विशेष – मैक्डानल ने 'सुम्नम्' का अर्थ 'सदिच्छा' (**goodwill**) किया है। उसने 'अर्वत्' का अर्थ घोड़ा करके तीसरे पाद की व्याख्या इस प्रकार की है – **May he hero be merciful to us in regard to our steeds.**

२ त्वादत्तेभी रूद्र शंतमेभिः शतंहिमा अशीय भेषजेभिः ।

व्य१स्मद्द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः ।।

पद-पाठः त्वाऽदत्तेभिः ।रूद्र ।शम्ऽतमेभिः ।शतम् ।हिमाः ।अशीय ।भेषजेभिः । वि ।अस्मत् ।द्वेषः । विऽतरम् ।वि ।अंहः ।वि ।अमीवाः ।चातयस्व ।विषूचीः ।।२ ।।

अन्वय – रूद्र ! त्वादत्तेभिः भेषजेभिः शतं हिमाः अशीय ।अस्मत् द्वेषः विचातयस्व, अंहः वितरम् अमीवाः वि विषूचीः ।

संस्कृत-व्याख्या – हे रूद्र ! त्वादत्तेभिः त्वया दत्तैः शंतमेभिः अतिशयेन सुखकरैः भेषजेभिः ओषधैः शतं हिमाः शतसंवत्सरान् अशीय व्याप्नुयाम् ।अपि च अस्मत् अस्मत्तः द्वेषः द्वेष्टृन् विचातयस्व विनाशय तथा अहः पापं वितरम् अत्यन्तं विचातयस्व, विषूचीः विविध प्रकारैः वपुषि व्याप्तान् अमीवाः रोगान् विषूचीः विषु नानाञ्चतीः कृत्स्नशरीरव्यापकान् रोगान् विचातयस्व अस्मत्तः पृथक्कृत्य विनाशय ।

शब्दार्थ – त्वादत्तेभिः – तुम्हारे द्वारा दी गई ।**शंतमेभिः** – अत्यधिक कल्याण करने वाली।**हिमाः** – हिमन्त ऋतुओं तक।**अशीय** – व्याप्त रहें।**द्वेषः** – द्वेष करने वालों को।**वितरम्** – अत्यधिक ।**अंहः** – पाप को ।**अमीवाः** – रोगों को ।**विचातयस्व** – नष्ट कर दो।**विषूचीः** – नाना प्रकार से शरीर में व्याप्त होने वाले ।

हिन्दी अनुवाद – हे रूद्र ! तुम्हारे द्वारा दी गई अत्यधिक कल्याण करने वाली औषधियों से हम सौ हेमन्त ऋतुओं तक अर्थात् सौ वर्ष तक व्याप्त रहें अर्थात् जीवित रहें। तुम हमसे द्वेष करने वालों को नष्ट कर दो, पाप को अत्यधिक नष्ट कर दो ।नाना प्रकार से शरीर में व्याप्त होने वाले रोगों को नष्ट कर दो ।

व्याकरण –

शंतमेभिः, भेषजेभिः – तृतीया के बहुवचन में वैदिक रूप है।लोक में शंतमैः, भेषजैः रूप बनेंगे।

त्वादत्तसेभिः – त्वया दत्तैः ।छान्दस रूप ।

अशीय – अश् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरूष, एकवचन ।

द्वेषः – द्विष् + विच् – द्वेष् ।द्वितीया का बहुवचन ।

विचातयस्व – णिजन्त चत् धातु लोट् लकार, मध्यम पुरूष, एकवचन ।

विशेष - मैक्डानल के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ कुछ भिन्न है। उसने 'शंतमेभि:' का अर्थ 'लाभदायक प्रभाव रखने वाली' (**most salutary**) 'द्विष:' का अर्थ 'घृणा करने वाले' (**hatred**) और 'अंह:' का अर्थ कष्ट (**distress**) किया है। उसके अनुसार 'विषूची:' विशेषण नहीं अपितु क्रिया, विशेषण है और 'अमीवा: विचातयस्व विषूची:' का अर्थ है - **Drive away diseases in all directions.**

३ **श्रेष्ठौ जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो ।**

पर्षि ण: पारमंहस: स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि ।।

पद-पाठ: श्रेष्ठ: । जातस्य । रूद्र । श्रिया । असि । तव:ऽतम: । तवसाम् । वज्रबाहो इति वज्रऽबाहो । पर्षि । न: । पारम् । अंहस: । स्वस्ति । विश्वा: । अभिऽइती: । रपस: । युयोधि ।।

अन्वय - रूद्र ! जातस्य श्रिया श्रेष्ठ: असि । वज्रबाहो ! तवसा तवस्तम: । न: अंहस: पारम् स्वस्ति पर्षि । रपस: विश्वा: अभीती: युयोधि ।

संस्कृत-व्याख्या - हे रूद्र ! जातस्य उत्पन्नस्य सर्वस्य जगत: मध्ये श्रिया ऐश्वर्येण श्रेष्ठ: प्रशस्यतम: असि भवसि, तथा हे वज्रबाहो बज्रायुधहस्त रुद्र ! तवसां प्रवृद्धानां बलशालिनां मध्ये तवस्तम: अतिशयेन प्रवृद्ध: बलशाली असि। स त्वम् न: अस्मान् अंहस: पापस्य पारं तीरं स्वस्ति क्षेमेण पर्षि पारय । तथा रपस: पापस्य विश्वा: सर्वा: अभीती: अभिगमनानि युयोधि पृथक् कुरू।

शब्दार्थ - जातस्य - उत्पन्न हुये इस सम्पूर्ण जगत् में । **श्रिया** - ऐश्वर्य से। **तवस्तम:** - सबसे अधिक बलशाली । **तवसाम्** - बलशाली व्यक्तियों में। **वज्रबाहो** - हे वज्र को हाथों में ध ारण करने वाले। **पर्षि** - पार करा दो। **अंहस** - पाप के। **स्वस्ति** - कल्याणपूर्वक। **विश्वा:** - सभी। **अभीती:** - आगमनों को। **रपस:** - पाप के। **युयोघि** - पृथक् कर दो।

हिन्दी अनुवाद - **हे रुद्र ! उत्पन्न हुये इस सम्पूर्ण जगत् में तुम अपने ऐश्वर्य से सबसे श्रेष्ठ हो। वज्र को हाथों में धारण करने वाले हे रुद्र ! तुम बलशाली व्यक्यिों में सबसे अधिक बलशाली हो । हमको तुम पाप के पार कल्याण पूर्वक पार करा दो और पाप के सभी आगमनों को हमसे पृथक् कर दो।**

व्याकरण -

जातस्य - जन् + क्त - जात । षष्ठी का एकवचन ।

तवस्तम: - तवस् + तमप् - तवस्तम ।

पर्षि - पृ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरूष, एकवचन, वैदिक रूप ।

अभीती: - अभि + इ + क्तिन् - अभीति । द्वितीया का बहुवचन ।

युयोधि – यु धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरूष, एकवचन, वैदिक रूप ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार 'श्रिया' का अर्थ 'यश' (glory) और 'रपस:' का अर्थ 'बुराइयाँ' (mischief) है।

४ **मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती ।**
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ।।

पद-पाठः मा ।त्वा ।रुद्र ।चुक्रुधाम ।नमः ऽभिः ।मा ।दुःस्तुती ।वृषभ ।मा ।सऽहूती। उत् ।नः ।वीरान् ।अर्पय ।भेषजेभिः ।भिषक्ऽतमम् ।त्वा ।भिषजाम् ।शृणोमि ।।४ ।।

अन्वय – रूद्र ! त्वा नमोभिः मा चुक्रुधाम ।वृषभ ! दुष्टुती मा सहूती मा ।नः वीरान् उत् भेषजेभिः अर्पय ।त्वा भिषजाम् भिषक्तमम् शृणोमि ।

संस्कृत-व्याख्या – हे रूद्र ! त्वा त्वाम् नमोभिः नमस्कारैर्हविभिर्वा मा चक्रुधाम मा क्रोधयाम। हे वृषभ ! कामानां वर्षितः दुष्टुती दुःस्तुत्या मा चुक्रुधाम । तथा सहूती सहूत्या विसदृशैरन्यैर्देवैः सह आह्वनेन मा क्रोधयाम । स त्वम् नः अस्माकं वीरान् पुत्रान् भेषजेभिः औषधैः उत् अर्पय उत्कृष्टं संयोजय ।हे रूद्र ! त्वा त्वां भिषजां चिकित्सकानां मध्ये भिषक्तमम् अतिशयेन भैषज्यकर्तारं शृणोमि ।

शब्दार्थ – चुक्रुधाम – क्रोधित करें। **नमोभिः** – अनुचित प्रकार से किये गये नमस्कारों से। **दुःस्तुतीः** – बुरी स्तुतियों द्वारा । **वृषभ** – कामनाओं की वर्षा करने वाले । **सहूती** – छोटे देवताओं के साथ तुम्हारा आह्वान करके । **वीरान्** – पुत्र आदि को । **अर्पय** – संयुक्त करो। **भिषक्तमम्** – सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक ।

हिन्दी अनुवाद – हे रूद्र ! हम तुमको अनुचित प्रकार से किये गये नमस्कारों से क्रोधित न करें। कामनाओं की वर्षा करने वाले हे रुद्र ! हम बुरी स्तुतियों द्वारा तुमको क्रोधित न करें और अन्य छोटे देवताओं के साथ तुम्हारा आह्वान करके तुमको क्रोधित न करें। तुम हमारे पुत्र आदि को ओषधियों से संयुक्त करो। हे रुद्र ! मैं तुमको चिकित्सकों में सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक सुनता हूँ।

व्याकरण –

चुक्रधाम – क्रुध् धातु लुङ् लकार, उत्तम पुरूष, बहुवचन ।

दुष्टुती – दुस् + स्तुति – दुष्टुती ।

सहूती – हे + क्तिन् – हूति ।समाना हूतिः – सहूति । तृतीया का एकवचन, वैदिक रूप।

भेषजेभिः – भेषज का तृतीया का एकवचन ।

अर्पय - णिजन्त ऋ धातु, लोट लकार, मध्यम पुरूष, एकवचन ।

विशेष - यहाँ मैक्डानल ने 'वृषभ' का अर्थ 'बैल' (**bull**) और 'वीर' का अर्थ 'योद्धा' (hero) किया है।

५ **हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी रूद्रं दिषीय ।**

ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै ।।

पद-पाठः हवींमऽभिः ।हवते ।यः ।हविःऽभिः ।अव ।स्तोमेभिः ।रूद्रम् ।दिषीय ।

ऋदूदरः ।सुऽहवः ।मा ।नः अस्यै ।बभ्रुः ।सुऽशिप्रः ।रीरधत् ।मनायै ।।६ ।।

अन्वय - यः हविर्भिः हवीमभिः हवते रूद्रम् स्तोमेभिः अवदिषीय ।ऋदूदरः सुहवः बभ्रुः सुशिप्रः अस्यै मनाये नः मा रीरधत् ।

संस्कृत व्याख्या - यः रूद्रः हविर्भिः चरूपुरोडाशादिभिः सहितैः, हवीमभिः आह्वानैः हवते आहूयते तं रूद्रं एतन्नामकं देवं स्तोमेभिः स्तोत्रैः अवदिषीय अवखण्डयामि अपगतक्रोधं करोमि इति भावः । ऋदूदरः मृदुमध्यः सुहवः शोभनाह्वानः बभ्रुः भर्ता बभ्रुवर्णो वा सुशिप्रः शोभनहनुः स रुद्रः अस्यै मनायै हन्मीति बुद्ध्या नः अस्मान् मा रीरधत् मा वशं नैषीत् ।

शब्दार्थ - **हवीमभिः** - आह्वानों से ।**हवते** - बुलाया या स्तुति किया जाता है।**स्तोमेभिः** - स्तुतियों के द्वारा ।**अवदिषीय** - खण्डित करता हूँ, क्रोधरहित करता हूँ। **ऋदूदरः** - कोमल उदर वाला।**सुहवः** - सुन्दर आह्वान के योग्य ।**बभ्रुः** - भरण पोषण करने वाला, भूरे रंग का। **सुशिप्रः** - सुन्दर हनु वाला।**रीरधत्** - हिंसा न करें।**मनायै** - मार डालूँ, इस विचार से।

हिन्दी अनुवाद - जिस रूद्र को चरू पुरोडाश आदि से युक्त हवियों वाले आह्वानों से बुलाया या स्तुति किया जाता है, उस रुद्र को मैं स्तुतियों के द्वारा खण्डित करता हूँ अर्थात् क्रोध रहित करता हूँ।कोमल उदर वाला, सुन्दर आह्वान के योग्य, भरण-पोषण करने वाला या भूरे रंग का और सुन्दर हनु वाला वह रुद्र देवता इस विचार से, कि मैं इसको मार डालूँ, वशीभूत होकर हम लोगों की हिंसा न करे।

व्याकरण -

हवते - ह्वे धातु (कर्मवाच्य), लट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

स्तोमेभिः - स्तोम शब्द, तृतीया विभक्ति, बहुवचन, वैदिक रूप ।

ऋदूदरः - ऋदु उदरं यस्य स ।

दिषीय - 'दिङ्' क्षये या 'दो' अवखण्डने धातु, लिङ् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन। वैदिक रूप है।

रीरधत् – 'रध् हिंसासंराद्धयो:' धातु, लिङ् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन का ण्यन्त रूप ।

विशेष – मैक्डानल ने 'ऋदूदर:' का अर्थ 'दयालु' (**Compessionate**) और 'सुशिप्र:' का अर्थ 'सुन्दर होठों वाला' (**fair lipped**) किया है।

६ उन्मा ममन्द वृषभो मरूत्वान् त्वक्षीयसा वयसा नाधमानस् ।

घृणीव छायामरपा अशीया विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ।।

पद-पाठः उत् । मा । ममन्द । वृषभः । मरूत्वान् । त्वक्षीयसा । वयसा । नाधमानस् ।

घृणिऽइव । छायाम् । अरपाः । अशीय । आ । विवासेयम् । रूद्रस्य । सुम्नम् ।। ६ ।।

अन्वय – वृषभ: मरूत्वान् नाधमानम् मा त्वक्षीयसा वयसा उत् ममन्द । अरपा: घृणीव छायाम् रुद्रस्य सुम्नम् अशीय । आविवासेयम् ।

संस्कृत व्याख्या – वृषभ: कामानां वर्षिता, मरूत्वान् मरूद्भिर्युक्तो रुद्र: नाधमानं याचमानं मा मां त्वक्षीयसा दीप्तेन वयसा अन्नेन उत् ममन्द उत्कर्षेण तर्पयतु । अपि चाहम् घृणीव छायाम् यथा सूर्य किरणसन्तप्त: छायां प्रविशति एवं रूद्रस्य सुम्नं सुखम् अरपा: अपाप: सन् अशीय व्याप्नुयाम् । तदर्थं तं रूद्रम् आविवासेयं परिचरेयम् ।

शब्दार्थ – **मा** – मुझको । **उत् ममन्द** – उत्कृष्ट रूप से तृप्त करे। **वृषभः** – कामनाओं की वर्षा करने वाला । **मरूत्वान्** – मरूत् नामक देवताओं से युक्त होता हुआ । **त्वक्षीयसा** – दीप्तिमान्। **वयसा** – अन्न से, आयु से । **नाधमानम्** – याचना करने वाले । **घृणी** – सूर्य की किरणों से सन्तप्त मनुष्य। **इव** – जैसे। **अरपाः** – पाप से रहित होता हुआ। **अशीय** – व्याप्त करूँ। **आविवासेयम्** – परिचर्या करूँ। **सुम्नम्** – सुख को।

हिन्दी अनुवाद – कामनाओं की वर्षा करने वाला और मरूत् नामक देवताओं से युक्त होता हुआ वह रुद्र याचना करने वाले मुझको दीप्तिमान् अन्न से या आयु से उत्कृष्ट रूप से तृप्त करे। पाप से रहित होता हुआ मैं, जिस प्रकार सूर्य से संतप्त मनुष्य छाया का आश्रय लेता है उसी प्रकार उस रूद्र के सुख को व्याप्त करूँ और इस सुख को प्राप्त करने के लिये रुद्र की परिचर्या करूँ।

व्याकरण –

मरुत्वान् – मरुत: अस्य सन्ति । मरुत् + मतुप् (वत्) – मरुत्वत्।

त्वक्षीयसा – त्वक्ष् + ईयसुन् – त्वक्षीयस्। तृतीया का एकवचन ।

ममन्द – मदि (मन्द्) धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

नाधमानम् – नाध् + (शप्) + (मुक्) + शानच् – नाधमान ।

अशीय – अश् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरूष, एकवचन ।

विवासेयम् – वि + वास् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरूष, एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल ने 'त्वक्षीयसा वयसा' का अर्थ 'ओजस्वी शक्ति (**Vigorous force**) किया है। उसके अनुसार 'अरपा:' का अर्थ 'अक्षत' (**unscached**) और 'सुम्न' का अर्थ 'सद्भावना' (**goodwill**) है।

७ क्व१॒स्य ते॑ मृळ॒याकु॒र्हस्तो॒ यो अस्ति॑ भेष॒जो जला॑षः ।

अ॒प॒भ॒र्ता रप॑सो॒ दैव्य॑स्या॒भी नु मा॑ वृषभ चक्षमीथाः ।।

पद-पाठः क्व॑ । स्यः । ते॒ । रु॒द्र॒ । मृ॒ळ॒याकुः॑ । हस्तः॑ । यः । अस्ति॑ । भे॒ष॒जः । जला॑षः ।
अ॒प॒ऽभ॒र्ता । रप॑सः । दैव्य॑स्य । अ॒भि । नु । मा॒ । वृ॒ष॒भ॒ । च॒क्ष॒मी॒थाः॒ ।।७ ।।

अन्वय – रुद्र ! ते मृळयाकुः स्यः हस्तः क्व यः भेषजः जलाषः अस्ति । वृषभ ! दैव्यस्य रपसः अपभर्ता मा नु अभिचक्षमीथाः ।

संस्कृत व्याख्या – हे रुद्र ! ते तब मृळयाकुः सुखयिता स्यः सः हस्तः करः क्व कुत्र वर्तते ? यः हस्तः भेषजः भैषज्यकृत् जलाषः सर्वेषां सुखकरः अस्ति भवति। तेन हस्तेन मां रक्ष इति भावः। वृषभ हे कामानां वर्षितः ! दैव्यस्य देवकृतस्य रपसः पापस्य अपभर्ता विनाशयिता भूत्वा मा मां नु क्षिप्रम् अभिचक्षमीथाः अभिक्षमस्व ।

शब्दार्थ – स्यः – वह । **मुळयाकुः** – सुख देने वाला । **भेषजः** – चिकित्सा करने वाला । **जलाषः** – सुखदायी। **अपभर्ता** – नष्ट करने वाला। **रपसः** – पाप का। **दैव्यस्य** – देवताओं के, इन्द्रियों के । **अभिचक्षमीथाः** – शीघ्र क्षमा कर दीजिये ।

हिन्दी अनुवाद – हे रुद्र ! तुम्हारा सुख देने वाला वह हाथ कहाँ है ? जो चिकित्सा करने वाला और सुखदायी है। इस हाथ से आप मेरी रक्षा करें। कामनाओं की वर्षा करने वाले हे रुद्र ! देवताओं द्वारा अथवा इन्द्रियों द्वारा किये गये पाप को नष्ट करने वाले होते हुये आप मुझको शीघ्र क्षमा कर दीजिये।

व्याकरण –

स्वः – सर्वनाम त्यद् शब्द, पुंल्लिङ्ग, प्रथमा का एकवचन ।

अपभर्त्ता – अप + भृ + तृच् ।

जलाषः – लडयोरभेदः नियम से 'जलं जडतां स्यति खण्डयति' अर्थ में जल + षो अन्तकर्मणि + क – जलाष ।

चक्षमीथा – 'क्षमूष् सहने' धातु आत्मनेपदी, लोट् लकार, म० पु०, ए०व०, वैदिक रूप ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार 'मृडयाकु:' का अर्थ 'दयालु' (**merciful**), 'जलाष:' का अर्थ 'ठण्डक देने वाला' (**cooling**) और 'रपस:' का अर्थ 'क्षत' (**injury**) है। देवों द्वारा होने वाले क्षत को रुद्र दूर करता है।

८ **प्र बभ्रवे वृषभाय शिवतीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि ।**
नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम ।।

पद-पाठः प्र । बभ्रवे । वृषभाय । शिवतीचे । महः । महीम् । सुऽस्तुतिम् । ईरयामि ।
नमस्य । कल्मलीकिनम् । नमःऽभिः । गृणीमसि । त्वेषम् । रुद्रस्य । नाम ।।

अन्वय – बभ्रवे वृषभाय शिवतीचे महः महीम् सुष्टुतिम् प्र ईरयामि । कल्मलीकिनम् नमोभिः नमस्य । रूद्रस्य त्वेषम् नाम गृणीमसि ।

संस्कृत व्याख्या – बभ्रवे विश्वस्य भर्त्रे बभ्रुवर्णाय वा वृषभाय कामानां वर्षित्रे शिवतीचे श्वैत्यमञ्चते रूद्राय महो महीं महतोऽपि महतीं सुष्टुतिं शोभनस्तुतिं प्र ईरयामि प्रकर्षेच्चारयामि । हे स्तोतः ! त्वं कल्मलीकिनं ज्वलन्तं रूद्रं नमोभिः नमस्कारैः नमस्य पूजय । वयं च रूद्रस्य देवस्य त्वेषं दीप्तं नाम गृणीमसि संकीर्तयामः ।

शब्दार्थ – बभ्रवे – भरण-पोषण करने वाले, भूरे रंग के । **शिवतीचे** – श्वेत रंग को धारण करने वाले । **महः महीम्** – महान् से भी महान् । **सुष्टुतिम्** – सुन्दर स्तुति का । **प्र ईरयामि** – उच्चारण करता हूँ। **नमस्य** – पूजन कर । **कल्मलीकिनम्** – कान्तिमान्। **गृणीमसि** – संकीर्तन करते हैं। **त्वेषम्** – प्रकाशमान।

हिन्दी अनुवाद – संसार का भरण-पोषण करने वाले या भूरे रंग के, कामनाओं की वर्षा करने वाले और श्वेत रंग को धारण करने वाले रूद्र के लिये हम महान् से भी महान् सुन्दर स्तुति का उच्च स्वर से उच्चारण करते हैं। हे स्तोता ! तुम तेजस्वी कान्तिमान् उस रुद्र का नमस्कारों के द्वारा पूजन करो। हम उस रूद्र के प्रकाशवान् नाम का संकीर्तन करते हैं।

व्याकरण –

शिवतीचे – 'शिवता वर्णे' धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय – शिवति । शिवतिम् अञ्चति अर्थ में 'क्विन्' प्रत्यय-शिवतीच्। चतुर्थी विभक्ति का एकवचन ।

ईरयामि – णिजन्त ईर् धातु, लट् लकार उत्तम पुरूष, एकवचन ।

कल्मलीकिनम् – कल्मलीक + इनि – कल्मलीकिन् । द्वितीया का एकवचन ।

गृणीमसि – 'गृ संशब्दने' धातु, लट् लकार, उत्तम पुरूष, बहुवचन। वैदिक रूप ।

विशेष – सायण ने 'महोमहीम्' का अर्थ किया है – महतोऽपि महतीम् । परन्तु मैक्डानल इससे सहमत नहीं हैं। वे 'महः' को रुद्र का और 'महीम्' को 'सुष्टुति' का विशेषण मान कर अर्थ करते हैं – 'महान् रुद्र की महान् स्तुति' (**a mighty enology of the mighty one**)। उनके अनुसार 'त्वेषम्' का अर्थ 'भयानक' (**terrible**) है।

९ स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः ।

ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ।।

पद-पाठः स्थिरेभिः । अङ्गैः पुरुऽरूपः । उग्रः । बभ्रुः । शुक्रेभिः । पिपिशे । हिरण्यैः । ईशानात् । अस्य भुवनस्य । भूरेः । न । वै । ऊँ इति । योषत् । रूद्रात् । असुर्यम् ।।

अन्वय – स्थिरेभिः अङ्गैः पुरुरूपः उग्रः बभ्रुः शुक्रेभिः हिरण्यैः पिपिशे । अस्य भुवनस्य भूरेः ईशानात् रूद्रात् असुर्यम् न उ वै योषत् ।

संस्कृत-व्याख्या – स्थिरेभिः स्थिरैः अङ्गैः अवयवैः युक्तः पुरुरूपः अष्टमूर्त्यात्मकैर्बहुभिः रूपैः उपेतः उग्रः तेजस्वी बभ्रुः भर्ता बभ्रुवर्णो वा रुद्रः शुक्रेभिः दीप्तैः हिरण्यैः हिरण्मयैरलङ्कारैः पिपिशे दीप्यते। ईशानात् ईश्वरात् अस्य भुवनस्य भूतजातस्य भूरेः रुद्रात् महादेवात् असुर्यम् बलं न वा उ योषत्, नैव पृथग्भवति ।

शब्दार्थ – **स्थिरेभिः** – दृढ़ । **पुरुरूपः** – यजमान आदि आठ मूर्तियों वाला । **उग्रः** – प्रचण्ड । **शुक्रेभिः** –दीप्तिमान् । **हिरण्यैः** – स्वर्णालङ्कारों से । **ईशानात्** –ईश्वर रुद्र से । **भूरेः** – पालन करने वाले । **असुर्यम्** – बल । **न योषत्** – अलग नहीं होता ।

हिन्दी अनुवाद – दृढ़ अङ्गों से युक्त, यजमान आदि मूर्तियों वाला, प्रचण्ड, पालन-पोषण करने वाला या भूरे रंग का वह रूद्र दीप्तिमान स्वर्णालङ्कारों से चमकता है। इस लोक का पालन करने वाले सबके ईश्वर रुद्र से बल निश्चय ही कभी अलग नहीं होता। अर्थात् वह सदा बलिष्ठ बना रहता है।

व्याकरण –

पिपिशे – 'पिश्' धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

असुर्यम् – 'असु क्षेपणे' धातु 'उरन्' प्रत्यय। अस् + उरन् (उर) – असुर। असुरे साधुः अर्थ में 'तत्र साधुः' से यत् प्रत्यय – असुर्य ।

योषत् – 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल ने 'भूरेः' को 'भुवनस्य' का विशेषण बताकर इसका अर्थ 'महान्' किया है (**great world**)। 'असुर्यम्' का अर्थ उसने दिव्य साम्राज्य (**devine dominion**) किया है।

१० अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ।।

पद-पाठः अर्हन् । बिभर्षि । सायकानि । धन्वं । अर्हन् । निष्कम् । यजतम् । विश्वऽरूपम् ।

अर्हन् । इदम् । दयसे । विश्वम् । अभ्वम् । न । वै । ओजीयः । रुद्र । त्वत् । अस्ति ।।

अन्वय – अर्हन् सायकानि धन्व विभर्षि । अर्हन् यजतम् विश्वरूपम् । निष्कम् अर्हन् इदम् विश्वम् अभ्वम् दयसे । रुद्र । त्वत् ओजीयः वै न अस्ति ।

संस्कृत-व्याख्या – हे रुद्र ! त्वम् अर्हन् योग्यः सन् सायकानि शरान् धन्व धनुश्च बिभर्षि धारयसि । अर्हन् योग्यः सन्नेव यजतं पूजनीयं विश्वरूपं अनेकैः रूपैः सम्पन्नं निष्कं स्वर्णहारं धारयसि । अर्हन् योग्यः सन्नेव इदं विश्वं सर्वम् अभ्वम् अतिविस्तृतं जगत् दयसे रक्षसि । हे रुद्र ! त्वत् त्वत्तः अन्यत् किञ्चित् ओजीयः ओजस्वितरः न वै निश्चयेन न वर्तते ।

शब्दार्थ – **अर्हन्** – योग्य होता हुआ । **विभर्षि** – धारण करते हो । **सायकानि** – बाणों को । **धन्व** – धनुष को । **यजतम्** – पूजनीय । **निष्कम्** – सोने का हार । **विश्वरूपम्** – अनेक रूपों से युक्त । **दयसे** – रक्षा करते हो । **विश्वम्** – सम्पूर्ण । **अभ्वम्** – अति विस्तृत जगत् । **ओजीयः** – अधिक ओजस्वी । **त्वत्** – तुमसे ।

हिन्दी अनुवाद – हे रुद्र ! योग्य होते हुये तुम बाणों और धनुष को धारण करते हो । योग्य होते हुये तुम पूजनीय और अनेक रूपों से युक्त सोने के हार को धारण करते हो । योग्य होते हुये तुम इस सारे अति विस्तृत जगत् की रक्षा करते हो । हे रुद्र ! तुम से अधिक ओजस्वी और कोई निश्चय से नहीं है ।

व्याकरण –

अर्हन् – अर्ह् + शतृ – अर्हत् । प्रथमा का एकवचन ।

यजतम् – यज् + अतच् – यजत । द्वितीया का एकवचन ।

दयसे – दय् धातु, लट् लकार, मध्यम पुरूष, एकवचन ।

ओजीयः – ओजस् + ईयसुन् – ओजीयस् ।

विशेष – मैक्डानल ने 'दयसे' का अर्थ 'शासन करना' और 'अभ्वम्' का अर्थ 'शक्ति' किया है । इस प्रकार तीसरे चरण का अर्थ इस प्रकार है **Worthy thou wieldest all this force.**

११ स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः ।।

पद-पाठः स्तुहि । श्रुतम् । गर्तऽसदम् । युवानम् । मृगम् । न । भीमम् । उपऽहत्नुम् । उग्रम् । मृळ । जरित्रे । रुद्र । स्तवानः । अन्यम् । ते अस्मत् । नि । वपन्तु । सेनाः ।।११।।

अन्वय – श्रुतम् गर्तसदम् युवानम् मृगम् न भीमम् उपहत्नुम् उग्रम् स्तुहि । रुद्र ! स्तवानः जरित्रे मृळ । ते सेनाः अस्मत् अन्यम् नि वपन्तु ।

संस्कृत-व्याख्या – हे स्तोतः श्रुतं विख्यातं रुद्रं गर्तसदं रथासीनं युवानं नित्यतरुणं मृगं न भीमं सिंहमिव भयङ्करम् उपहत्नुम् उपहन्तारम् उग्रम् उग्रस्वरूपं रुद्रं स्तुहि स्तुतिं कुरु । हे रुद्र ! त्वं स्तवानः अस्माभिः स्तूयमानः जरित्रे स्तोत्रे मह्यं मृळ सुखय । ते त्वदीयाः सेनाः अस्मदन्यम् अस्मद्व्यतिरिक्तं पुरुषं निवपन्तु निघ्नन्तु ।

शब्दार्थ – **स्तुहि** – स्तुति करो । **श्रुतम्** – प्रसिद्ध । **गर्तसदम्** – रथ पर आसीन । **युवानम्** – नित्य युवा । **मृगं न भीमम्** – सिंह के समान भयंङ्कर । **उपहत्नुम्** – शत्रुओं को मारने वाले । **उग्रम्** – उग्र स्वरूप वाले । **मृळ** – सुखी करो । **जरित्रे** – स्तुति करने वाले को । **स्तवानः** – स्तुति किया जाता हुआ । **अन्यम्** – दूसरे को । **निवपन्तु** – नष्ट कर दें ।

हिन्दी अनुवाद – **हे स्तोता ! तुम प्रसिद्ध, रथ पर आसीन, नित्य युवा, सिंह के समान भयङ्कर, शत्रुओं को मारने वाले, और उग्र स्वरूप वाले रुद्र देवता की स्तुति करो । हे रुद्र ! स्तुति किये जाते हुये तुम ! स्तुति करने वाले को सुखी करो । वे तुम्हारी सेनायें हमसे भिन्न दूसरों को अर्थात् हमारे शत्रुओं को नष्ट कर दें ।**

व्याकरण –

श्रुतम् – श्रु + क्त – श्रुत । गर्तसदम् – गर्ते सीदति । गर्त + सद् + अच् – गर्तसद ।

स्तवानः – स्तू + शानच् – स्तवान ।

वपन्तु – वप् धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

जरित्रे – 'जृ' + तृच् (इट् का आगम) – जरितृ । चतुर्थी का एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार 'मृगम्' पद 'उपहत्नुम्' का कर्म है और इसका अर्थ है – **That stays like a dread beast** । उसने 'सेनाः' शब्द का फैंक कर मारने वाला शस्त्र (**missilies**) किया है ।

१२ कुमारश्चित्पितरं वन्दमानं प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम् ।
भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणीषे स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे ।।

पद-पाठः कुमारः । चित् । पितरम् । वन्दमानम् । प्रति । ननाम । रुद्र । उपऽयन्तम् । भूरेः । दातारम् । सत्ऽपतिम् । गृणीषे । स्तुतः । त्वम् । भेषजा । रासि । अस्मे इति ।।

अन्वय – वन्दमानम् पितरम् कुमारः चित् रुद्र ! उपयन्तम् प्रति ननाम । भूरेः दातारम् सत्पतिम् गृणीषे । स्तुतः त्वम् भेषजा अस्मे रासि ।

संस्कृत व्याख्या – वन्दमानं आशीर्वचनं ददानं पितरं जनकं कुमारश्चित् यथा कश्चित् कुमारः प्रणमति तथैव हे रुद्र ! उपयन्तम् अस्मत्समीपमागच्छन्तं त्वां प्रति ननाम प्रणतोऽस्मि। अपि च भूरेः बहुनो धनस्य दातारं सत्पतिं सतां पालयितारम् एवंभूतं त्वां गृणीषे स्तौमि । स्तुतश्च त्वं भेषजानि अस्मे अस्मभ्यं रासि देहि।

शब्दार्थ – कुमार – बालक । **वन्दमानम्** – आशीर्वचन देते हुए। **प्रतिनानाम** – प्रणाम करता हूँ। **उपयन्तम्** – समीप आते हुये। **भूरेः** –बहुत अधिक के। **सत्पतिम्** – सज्जनों का पालन करने वाले। **गृणीषे** – स्तुति करता हूँ। **स्तुतः** – स्तुति किया गया। **रासि** – दो। **अस्मे** – हमें।

हिन्दी अनुवाद – आशीर्वचन देते हुये पिता को जिस प्रकार कोई बालक प्रणाम करता है, उसी प्रकार समीप आते हुये हे रुद्र ! मैं तुमको प्रणाम करता हूँ। बहुत से धन को देने वाले और सज्जनों की पालना करने वाले हे रुद्र ! मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ। हम से स्तुति किये गये तुम ओषधियों को हमें दो ।

व्याकरण –

वन्दमानम् – वन्द् + (शप्) + शानच् – वन्दमान । द्वितीया का एकवचन ।

उपयन्तम् – उप + इ + शतृ – उपयत् । द्वितीया का एकवचन ।

नानाम –नम् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन । पूर्व न को छान्दस दीर्घ ।

गृणीषे – गृ धातु, लट् लकार, उत्तम पुरूष, एकवचन । छान्दस रूप ।

सत्पतिम् – सतां पालयितारम् । षष्ठी समास ।

अस्मे – अस्मभ्यम् का वैदिक रूप ।

रासि – रा धातु, लट् लकार, मध्यम पुरूष, एकवचन।

विशेष – मैक्डानल ने 'सत्पतिम्' का अर्थ 'सच्चा प्रभु' (**The true lord**) किया है।

१३ या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शंतमा वृषणो या मयोभु ।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रूद्रस्य वश्मि ।।

पद-पाठः या । वः । भेषजा । मरुतः । शुचीनि । या । शम्ऽतमा । वृषणः । या । मयःऽभु। यानि । मनुः । अवृणीत । पिता । नः । ता । शम् । च । योः च । रुद्रस्य । वश्मि ।। १३ ।।

अन्वय – वृषणः मरुतः या वः भेषजा शुचीनि या शंतमा या मयोभु, यानि नः पिता मनुः अवृणीत, ता रुद्रस्य शम् च योः च वश्मि ।

संस्कृत व्याख्या – हे मरुतः ! वः युस्माकं या यानि भेषजा औषधानि शुचीनि शुद्धानि, हे वृषणः कामानां वर्षितारः मरुत् ! या यानि च भेषजानि शंतमा अतिशयेन सुखकराणि या यानि च भेषजानि मयोभु मयसः सुखस्य भावयितृणि, तथा च नः पिता मनुः अस्माकं पिता मनुः यानि भेषजानि अवृणीत वृतवान्, ता तानि रुद्रस्य देवस्य शं व योः च रोगाणाम् उपशमनं भयानां च पृथक्करणं तदुभयं वश्मि कामये ।

शब्दार्थ – **शुचीनि** – पवित्र, निर्मल । **शंतमा** – अत्यधिक सुख को देने वाली । **मयोभु** – कल्याण की भावना उत्पन्न करने वाली । **अवृणीत** – वरण किया था । **शम्** – रोगों को शान्त करने योग्य । **योः** – रोगों को दूर रखने के योग्य । **वश्मि** – चाहता हूँ ।

हिन्दी अनुवाद – **कामनाओं की वर्षा करने वाले हे मरुत् देवताओ ! जो तुम्हारी ओषधियाँ पवित्र या निर्मल हैं, जो अत्यधिक सुख को देने वाली हैं, जो कल्याण की भावना उत्पन्न करने वाली हैं और जिन ओषधियों को हमारे पिता मनु ने हमारे लिये वरण किया था, उन सभी ओषधियों को रुद्र देवता के सम्बन्ध से रोगों को शान्त करने योग्य और रोगों को दूर रखने योग्य दोनों प्रकार की ओषधियों को मैं चाहता हूँ ।**

व्याकरण –

वः – युष्माकम् का दूसरा रूप ।

या, भेषजा, शंतमा – प्रथमा विभक्ति, बहुवचन । वैदिक रूप । लोक में यानि, भेषजानि, शंतमानि रूप होगा ।

अवृणीत – वृ धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरूष, एकवचन ।

वश्मि – वश् धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

मयोभु – मयस् + भू + क्विप् ।

विशेष – मैक्डानल ने इस मन्त्र में 'शंतमा' का अर्थ 'स्वास्थ्यप्रद' (**Wholesome**), 'वृषण:' का अर्थ 'शक्तिशाली' (**Mighty ones**), 'मयोभु' का अर्थ 'लाभदायक' (**Beneficial**) और 'शम् यो:' का अर्थ (**Healiag and blessing**) किया है।

१४ परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् ।
अव स्थिरा मघवद्‌भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ।।

पद-पाठः परि । नः । हेतिः । रुद्रस्य । वृज्याः । परि । त्वेषस्य । दुःऽमतिः । मही । गात् ।
अव । स्थिरा । मघवत्ऽभ्यः । तनुष्व । मीढ्वः । तोकाय । तनयाय । मृळ ।।

अन्वय – रुद्रस्य हेतिः नः परिवृज्याः । त्वेषस्य मही दुर्मतिः परि गात् । मीढ्वः ! स्थिरा मघवद्भ्यः अवतनुष्व । तोकाय तनयाय मृळ ।

संस्कृत व्याख्या – रुद्रस्य महादेवस्य हेतिः आयुधं नः अस्मान् परिवृज्याः परिवर्जयतु । त्वेषस्य दीप्तस्य रुद्रस्य मही महती दुर्मतिः दुःख कारिणी बुद्धिः परिगात् अस्मान् वर्जयित्वा अन्यत्र गच्छतु । हे मीढ्वः सेचनसमर्थ रुद्र ! स्थिरा स्थिराणि स्वधनूंषि मघवद्भ्यः हविर्लक्षणसम्पन्नेभ्यः यजमानेभ्यः अवतनुष्व अवततज्यानि कुरु । तोकाय अस्मत्पुत्राय तनयाय अस्मत्पुत्राणां पुत्राय मृळ सुखं कुरु ।

शब्दार्थ – **हेतिः** – शस्त्र । **परिवृज्याः** – छोड़ दे । **त्वेषस्य** –दीप्तिमान् । **दुर्मतिः** – दुःख देने वाली बुद्धि । **मही** – महती । **परिगात्** – दूसरी जगह चली जावे । **स्थिरा** – दृढ़ । **मघवद्भ्यः** – हवि रूप धन से सम्पन्न यजमानों के प्रति । **तनुष्व** – विस्तृत करो । **मीढ्वः** – सेचन करने में समर्थ । **तोकाय** – पुत्रों के लिये । **तनयाय** – पुत्रों के पुत्रों के लिये । **मृळ** – सुखी करो ।

हिन्दी अनुवाद – रुद्र देवता का शस्त्र हमें छोड़ दे अर्थात् हमारी हिंसा न करे । दीप्तिमान् रुद्र की दुःख देने वाली महती बुद्धि हमें छोड़कर दूसरी जगह चली जावे । हे सुखों का सेचन करने में समर्थ रुद्र ! अपने दृढ़ धनुषों को हवि रूपी धन से सम्पन्न यजमानों के प्रति विस्तृत मत करो । हमारे पुत्रों और पुत्रों के पुत्रों को सुखी करो ।

व्याकरण –

वृज्याः – वृज् धातु, विधिलिङ्, प्रथम पुरूष, एकवचन, वैदिक रूप ।

गात् – गा धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

तोकाय – तुच् + घञ् – तोक । चतुर्थी का एकवचन ।

मीढ्वः – 'मिह् सेचने' धातु से क्वसु प्रत्यय ।

मघवद्भ्यः – मघ + मतुप् – मघवत् । चतुर्थी का बहुवचन ।

तनुष्व – तन् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

विशेष –मैक्डानल ने 'त्वेष' का अर्थ 'भयानक' (**Terrible**) और 'मीढ्व' का अर्थ 'उदार' (**Bounteous**) किया है ।

१५ एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि ।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।।

पद-पाठः एव । बभ्रो इति । वृषभ । चेकितान । यथा । देव । न । हृणीषे । न । हंसि ।
हवनऽश्रुत् । नः । रुद्र । इह । बोधि । बृहत् । वदेम । विदथे । सुऽवीराः ।। १५ ।।

अन्वय – बभ्रो वृषभ चेकितान देव यथा एव न हृणीषे न हंसि, हवनश्रुत् रुद्र इह नः बोधि । विदथे सुवीराः बृहत् वदेम ।

संस्कृत व्याख्या – हे बभ्रो ! जगतो भर्तः वृषभ कामानां वर्षितः चेकितान सर्वं जानन् देव द्योतमान रुद्र यथा येन प्रकारेण न ह्रणीषे न कुप्यसि न च हंसि न मारयसि एवं हवनश्रुत् आह्वानं शृण्वन् नः अस्मान् इह अस्मिन् देशे बोधि बुध्यस्व । विदथे यज्ञे गृहे वा सुवीराः शोभनपुत्राः सन्तः बृहतः प्रौढं त्वदींय स्तोत्रं वदेम उच्चारयाम ।

शब्दार्थ – **चेकितान** – सब कुछ जानने वाले । **हृणीषे** – क्रुद्ध होते हो । **हंसि** – मारते हो। **हवनश्रुत्** – आह्वानों को सुनने वाला । **बोधि** – जानो । **बृहत्** – अत्यधिक । **वदेम** – स्तुति को कहते हैं । **विदये** – यज्ञ में, घर में । **सुवीराः** – शोभन पुत्रों वाले हम ।

हिन्दी अनुवाद – **हे जगत् का पालन करने वाले, कामनाओं की वर्षा करने वाले, सब कुछ जानने वाले, दीप्तिमान् रुद्र ! जिस प्रकार से तुम हम पर क्रुद्ध नहीं होओ और हमें नहीं मारो, उस प्रकार से हमारे आह्वानों के सुनने वाले रुद्र ! इस स्थान पर स्थित हमें तुम जानो । यज्ञ में अथवा घर में शोभन पुत्रों वाले हम तुम्हारे प्रति अत्यधिक स्तुति कहते हैं।**

व्याकरण –

चेकितान – कित् ज्ञाने धातु से कानच् प्रत्यय ।

हृणीषे – हृणी धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

हवनश्रुत् – हवनं शृणोति इति स । हवन + श्रु + (तुक्) + क्विप् – हवनश्रुत् ।

बोधि – बुध् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

विशेष – मैक्डानल ने 'चेकितान' शब्द का अर्थ महायशस्वी (**far-famed**) और 'वृषभ' का अर्थ 'बैल' (**bull**) किया है। उसने 'इह' को 'विदथे' के साथ अन्वित करके 'इह विदथे' का अर्थ किया है – **at devine worship** ।

उषस् सूक्त

(मण्डल ४, सूक्त – ५१)

ऋषि – वामदेव देवता – उषा छन्दः – त्रिष्टुप्

१ इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात् ।

नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ।।

पद-पाठः इदम् । ऊँ इति । त्यत् । पुरुऽतमम् । पुरस्तात् । ज्योतिः । तमसः । वयुनऽवत् । अस्थात् । नूनम् । दिवः । दुहितरः । विऽभातीः । गातुम् । कृणवन् । उषसः । जनाय ।।१ ।।

अन्वय – इदम् उ त्यत् पुरुतमम् वयुनावत् ज्योतिः पुरस्तात् तमसः अस्थात्। नूनम् विभातीः दिवः दुहितरः उषसः जनाय गातुम् कृणवन्।

संस्कृत व्याख्या – इदम् उ पुरतो दृश्यमानं त्यत् तत् पुरुतमम् अत्यन्तप्रभूतम् ज्योतिः तेजः वयुनावत् प्रकृष्टकान्तिमत् अथवा प्रज्ञापकम् पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि तमसः अन्धकाराद् अस्थात् उदतिष्ठत्। एवं सति नूनं निश्चयेन दिवः आदित्यस्य दुहितरः दुहितृस्थानीयाः विभातीः विभानं कुर्वतीः उषसः जनाय स्तोत्रे यजमानाय गातुं गमनादिव्यापारसामर्थ्यं कृणवन् अकुर्वन्।

शब्दार्थ – **त्यत्** – वह। **पुरुतमम्** – अत्यधिक प्रकाशमान। **पुरस्तात्** – पूर्व दिशा में। **तमसः** – अन्धकार में से। **वयुनावत्** – प्रकृष्ट कान्ति अथवा प्रज्ञा से युक्त। **अस्थात्** – निकली है। **विभातीः** – प्रकाश करने वाली। **दिवः** – द्युलोक की। **दुहितरः** – पुत्रियाँ। **गातुम्** – गमन आदि क्रियाओं के सामर्थ्य को। **कृणवन्** – उत्पन्न कर चुकी है।

हिन्दी अनुवाद – सामने दिखाई देने वाली वह अत्यधिक प्रकाशमान प्रकृष्ट कान्ति अथवा प्रज्ञा से युक्त ज्योति पूर्व दिशा में अन्धकार में से निकली है। निश्चय से प्रकाश करने वाली द्युलोक की पुत्रियाँ उषायें स्तुति करने वाले यजमानों के लिये गमन आदि क्रियाओं के सामर्थ्य को उत्पन्न कर चुकी हैं।

व्याकरण –

दुहितरः – दोग्धि पितरौ अर्थ में दुह् + तृच् (इट् का आगम) – दुहितृ। अथवा दूरे हिता दुहिता।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार 'वयुनावत्' का अर्थ है, स्पष्टता से युक्त (**with clearness**) उसने 'पुरुतमम् और पुरस्तात्' का एक साथ अन्वय करके अर्थ किया है, पूर्व दिशा में बार-बार आने वाली उषा (**most frequent light in the east**)।

२ **अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।**
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥

पद-पाठः अस्थुः। ऊँ इति। चित्राः। उषसः। पुरस्तात्। मिताःऽइव। स्वरवः। अध्वरेषु।
वि। ऊँ इति। व्रजस्य। तमसः। द्वारा। उच्छन्तीः। अव्रन्। शुचयः। पावकाः॥

अन्वय – चित्राः उषसः उ पुरस्तात् अस्थुः अध्वरेषु मिताः स्वरवः इव। व्रजस्व तमसः द्वारा उ वि उच्छन्तीः शुचयः पावकाः अव्रन्।

संस्कृत व्याख्या – चित्राः चायनीयाः शलाघनीयाः उषसः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि अस्थुः तिष्ठन्ति। तत्र दृष्टान्त अध्वरेषु यज्ञेषु मिताः खाताः स्वरवः यूपाः इव। स्वरुशब्दः यूपच्छेदपतितप्रथमशकलवाची। ताः उषसः व्रजस्य वारकस्य तमसः अन्धकारस्य द्वारा द्वाराणि

वि उच्छन्तीः उत्सारयन्त्यः शुचयः दीप्ताः पावकाः शोधिकाः अव्रन् व्यावृण्यन् ।

शब्दार्थ – अस्थुः – स्थित हैं। **चित्राः** – प्रशंसनीय, सुन्दर। **मिताः** – गाड़े गये। **स्वरवः** – यूप। **अध्वरेषु** – यज्ञों में। **व्रजस्य** – आवृत करने वाले। **तमसः** – अन्धकार के। **द्वारा** – द्वारों को। **वि उच्छन्तीः** – हटाती हुई । **अव्रन्** – मार्गों को खोल दिया है। **शुचयः** – दीप्तिमान्। **पावकाः** – पवित्र करने वाली।

हिन्दी अनुवाद –प्रशंसनीय या सुन्दर उषायें उसी प्रकार से पूर्व दिशा में स्थित हैं, जिस प्रकार यज्ञों में गाड़े गये यूप प्रकाशित होते हैं। आवृत करने वाले अन्धकार के द्वारों को हटाती हुई दीप्तिमान् पवित्र करने वाली उन उषाओं ने मार्गों को खोल दिया है।

व्याकरण –

अव्रन् –'वृ' धातु लङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन । वैदिक रूप ।

विशेष – मैक्डानल ने 'चित्राः' का अर्थ किया है – प्रतिभाशाली (**brilliant**)। उसके अनुसार 'ब्रज' का अर्थ 'गोष्ठ' होकर इस प्रकार का भाव व्यक्त होता है –

They have unclosed the two doors of the pen of darkness.

३ **उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान्राधोदेयायोषसो मघोनीः ।**

अचित्रे अन्तः पणयः । ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ।।

पद-पाठः उच्छन्तीः ।अद्य ।चितयन्त ।भोजान् ।राधःऽदेयाय ।उषसः ।मघोनीः ।

अचित्रे ।अन्तरिति ।पणयः ।ससन्तु ।अबुध्यमानाः ।तमसः ।विऽमध्ये ।।३ ।।

अन्वय – अद्य उच्छन्तीः मघोनीः उषसः भोजान् राधोदेयाय चितयन्त ।अचित्रे तमसः विमध्ये अन्तः अबुध्यमानाः पणयः ससन्तु ।

संस्कृत व्याख्या – अद्य अस्मिन् उच्छन्तीः तमः विवासयन्त्यः मघोनीः धनवत्यः उषसः भोजान् भोजयितृन् यजमानान् राधोदेयाय सोमादिधनदानाय चितयन्त प्रज्ञापयन्ति । अचित्रे अयाचनीये तमसः अन्धकारस्य विमध्ये अत्यन्तगाढान्धकारे इति भावः पणयः वणिज इव अदातारः अन्तः अबुध्यमाना अज्ञानिनो जनाः ससन्तु स्वपन्तु।

शब्दार्थ – उच्छन्तीः – हटा देने वाली। **चितयन्त** – विचार कर रही हैं, ज्ञान करा रही हैं। **भोजान्** – भोजन वालों को । **राधोदेयाय** – धन देने के लिये । **मघोनीः** – धन सम्पन्न । **अचित्रे** – अपूजनीय, कुरूप। **अबुध्यमानाः** – अज्ञानी। **पणयः** – कञ्जूस पणि।

हिन्दी अनुवाद – आज इस दिन अन्धकार को हटा देने वाली उषायें धनसम्पन्न कराने वाले या भोजन कराने वाले अपने उपासकों को सोम आदि धन देने के लिये विचार कर रही हैं

या ज्ञान करा रही हैं। अपूजनीय या कुरूप प्रगाढ़ अन्धकार के अन्दर के अज्ञानी तथा दान न देने वाले कञ्जूस पणि सोते रहें।

विशेष – मैक्डानल ने 'भोजान्' का अर्थ 'उदार' (**liberals**), 'चितयन्त' का अर्थ 'प्रेरित करें' (**stimulate**) और 'पणयः' का अर्थ 'कञ्जूस मनुष्य' (**niggards**) किया है।

४ कुवित्स देवीः सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य ।
येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष ।।

पद-पाठः कुवित् । सः । देवीः । सनयः । नवः । वा । यामः । बभूयात् । उषसः । वः । अद्य । येन । नवऽग्वे । अङ्गिरे । दशऽग्वे । सप्तऽआस्ये । रेवतीः । रेवत् । ऊष ।।४ ।।

अन्वय – देवीः उषसः वः सनयः नवः यामः सः अद्य कुवित् बभूयात्। येन रेवतीः नवग्वे दशग्वे सप्तास्ये अङ्गिरे रेवत् ऊष ।

संस्कृत व्याकरण – हे देवीः द्योतमानाः उषसः ! वः युष्मान् सनयः पुराणः नवो वा यामः गमनसाधनः सः रथः अद्य अस्मिन् यागदिने कुवित् बहुवारं बभूयात् भवेत् यामः गमनसाधनः सः रथः अद्य अस्मिन् यागदिने कुवित् बहुवारं बभूयात् भवेत् गच्छेदित्यर्थः । येन रथेन हे रेवतीः धनवत्यः उषसः यूयं नवग्वे दशग्वे सप्तास्ये वा नामके अङ्गिरे अङ्गिरोनाम्नि मनुष्यसमुदाये रेवत् धनवत् यथा भवति तथा ऊष विभातं कृतवत्यः ।

शब्दार्थ – कुवित् – बहुत बार । **सनयः** – पुराना। **नवः** – नया। **यामः** – जाने का साधनभूत रथ। **अद्य** – आज इस यज्ञ के दिन । **नवग्वे** – नौ घोड़ों द्वारा जाने वाले। **दशग्वे** – दस घोड़ों द्वारा जाने वाले। **अङ्गिरे** – अङ्गिराओं में । **सप्तास्ये** – सात छन्द रूप मुखों वाले। **रेवती** – धनसम्पन्न। **रेवत्** – जिस प्रकार धन प्राप्त हो। **ऊष** – चमको।

हिन्दी अनुवाद – **हे दीप्तिमती उषाओ। तुम्हारा पुराना या नया जाने का साधनभूत वह रथ आज इस यज्ञ के दिन बहुत बार होवे अर्थात् उस रथ से तुम बहुत बार आओ। जिस रथ के द्वारा हे धन से सम्पन्न उषाओ ! तुम नौ घोड़ों द्वारा जाने वाले, दस घोड़ों द्वारा जाने वाले और सात छन्द रूप मुखों वाले अङ्गिराओं में जिस प्रकार धन की प्राप्ति हो, उस प्रकार से चमको अर्थात् अन्धकार को नष्ट करो।**

विशेष – मैक्डानल द्वारा इस मन्त्र की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से है। उसने इस मन्त्र का इस प्रकार अर्थ किया है –

Should this be an old course or a new for you today, O divine Dawns : (is it that) by which ye have shone wealth, ye wealthy ones, upon Navagva, Angira, and Dashagva the seven mouthed ?

५ यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः ।
प्रबोधयन्तीरुषसः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम् ।।

पद-पाठः यूयम् । हि । देवीः । ऋतयुक्ऽभिः । अश्वैः । परिऽप्रयाथ । भुवनानि । सद्यः । प्रऽबोधयन्तीः । उषसः । ससन्तम् । द्विऽपात् । चतुःऽपात् । चरथाय । जीवम् ।।५ ।।

अन्वय – देवीः उषसः ! यूयम् हि ऋतयुग्भिः अश्वैः ससन्तम् द्विपाच्चतुष्पात् जीवम् चरथाय प्रबोधयन्तीः सद्यः भुवनानि परिप्रयाथ ।

संस्कृत व्याख्या – हे देवीः द्योतमानाः उषसः यूयं हि खलु ऋतयुग्भिः यज्ञगामिभिः अश्वैः भुवनानि सद्यः परिप्रयाथ परितः प्रकृष्टं गच्छथ । किं कुर्वत्यः ससन्तं स्वपन्तं द्विपाच्चतुष्पात् मनुष्यगवादिलक्षणं जीवं चरथाय चरणाय प्रबोधयन्तीः प्रबोधयन्त्यः सत्यः परिप्रयाथ ।

शब्दार्थ – देवीः – दीप्तिमती । **ऋतयुग्भिः** – यज्ञ की ओर जाने वाले । **परिप्रयाथ** – चारों ओर प्रकृष्ट रूप से जाती हो । **सद्यः** – अतिशीघ्र । **प्रबोधयन्ती** – जगाती हुई । **ससन्तम्** – सोते हुये । **द्विपात्** – दोपायों को । **चतुष्पात्** – चौपायों को । **चरथाय** – गमन आदि व्यापार करने के लिये ।

हिन्दी अनुवाद – **हे दीप्तिमती उषाओ ! तुम निश्चय ही यज्ञ की ओर जाने वाले घोड़ों से, सोते हुये दोपायों (मनुष्य आदि जीवों) चौपायों (गाय आदि जीवों) को गमन आदि व्यापार करने के लिये जगाती हुई अतिशीघ्र भुवनों के चारों ओर प्रकृष्ट रूप से जाती हो।**

व्याकरण –

चरथाय – चर् + अथच् (अथ) – चरथ । चतुर्थी का एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल ने 'ऋतयुग्भिः अश्वैः का अर्थ किया है – उचित समय में जोते गये घोड़ों से (**with your steeds yoked in due time**)।

६ क्व स्विदासां कतमा पुराणी यया विधाना विदधुर्ऋभूणाम् ।
शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न वि ज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः ।

पद-पाठः क्व । स्वित् । आसाम् । कतमा । पुराणी । यया । विऽधाना । विऽदधुः । ऋभूणाम् । शुभम् । यत् । शुभ्राः । उषसः । चरन्ति । न । वि । ज्ञायन्ते । सऽदृशीः । अजुर्याः ।।

अन्वय – आसाम् कतमा क्वस्वित् पुराणी, यया ऋभूणाम् विधाना विदधुः । यत् शुभ्राः उषसः शुभम् चरन्ति सदृशीः अजुर्याः न विज्ञायन्ते ।

संस्कृत व्याख्या – आसाम् उषमां मध्ये क्व स्वित् अभूदद्य कतमा पुराणी पुरातनी यया ऋभूणां सम्बन्धीनि विधाना चमसादिनिर्माणानि विदधुः अर्कुवन् । यत् याश्च उषसः शुभ्राः

दीप्ताः शुभं चरन्ति शोभां दीप्तिं कुर्वन्ति ताः अजुर्याः अजीर्णाः नूतना इत्यर्थः न इव विज्ञायन्ते, यतः सदृशीः सर्वदा चैकरूपाः ।

शब्दार्थ – **क्वस्वित्** – कहाँ पर। **आसाम्** – इन उषाओं में। **कतमा** – कौनसी। **पुराणी** – पुरानी। **विधाना** – चमस आदि साधन। **विदधुः** – बनाये गये। **ऋभूणाम्** – ऋभु उपासकों के। **शुभम्** – शोभा को। **शुभ्राः** – चमकती हुई। **चरन्ति** – उत्पन्न करती हैं। **विज्ञायन्ते** – प्रतीत होती हैं। **अजुर्याः** – नवीन।

हिन्दी अनुवाद – इन उषाओं के मध्य कौन सी कहाँ पर ऐसी है, जो पुरानी हो तथा जिससे ऋभु नामक उषा के उपासकों के चमस आदि साधन स्वयं बनाये गये। जो उषायें चमकती हुई शोभा को उत्पन्न करती हैं, वे क्योंकि एक सी दिखाई पड़ती हैं, अतः वे नवीन नहीं प्रतीत होती हैं।

व्याकरण –

अजुर्याः – 'जॄ' धातु + यत्, उत्व, रपरत्व, दीर्घ का अभाव – जुर्य। न + जुर्य – अजुर्य।

विशेष – मैक्डानल ने 'चरन्ति' का अर्थ 'चलती हैं' और 'शुभम्' का अर्थ 'चमकदार मार्ग' करके इस प्रकार भाव व्यक्त किया है – **proceed on their shining course**।

७ **ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः ।**

यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवञ्छंसन्द्रविणं सद्य आप ।।

पद-पाठः ताः। घ। ता। भद्राः। उषसः। पुरा। आसुः। अभिष्टिऽद्युम्नाः। ऋतजातऽसत्याः। यासु। ईजानः। शशमानः। उक्थैः। स्तुवन्। शंसन्। द्रविणम्। सद्यः। आप ।।७ ।।

अन्वता – ताः घ ताः भद्राः उषसः पुरा आसुः। अभिष्टिद्युम्नाः ऋतजातसत्याः। यासु ईजानः उक्थैः शशमानः स्तुवन् शंसन् द्रविणम् सद्यः आप ।

संस्कृत व्याख्या – ताः घ इति प्रसिद्धौ यत् ताः उषसः उपकारिण्यः। ताः भद्राः कल्याणकारिण्यः उषसः पुरा पूर्वम् आसुः अभवन्। अभिष्टिद्युम्नाः अभिष्ट्या अभिगमनमात्रेण द्युम्नं धनं यासां ताः, ऋतजातसत्याः यज्ञार्थं जाताः सफलाश्च। यासु उषःसु ईजानः यागं कुर्वाणः, उक्थैः स्तोत्रैः शशमानः शंसमानः, स्तुवन् सामभिः स्तोत्रं निष्पादयन्, शंसन् मन्त्रगानं कुर्वन् द्रविणं धनं शीघ्रम् आप प्राप्नोति ।

शब्दार्थ – **घ** – प्रसिद्ध। **भद्राः** – उपकार करने वाली। **पुरा** – पहले। **आसुः** – थीं। **अभिष्टिद्युम्नाः** – पहुँचने मात्र से धनों को देने वाली। **ऋतजातसत्याः** – यज्ञ के लिये उत्पन्न हुई हैं और सत्य से फल को देने वाली हैं। **ईजानः** – यज्ञ करने वाला। **शशमानः** – प्रशंसा करने वाला। **उक्थैः** – स्तोत्रों से, ऋचाओं से। **स्तुवन्** – सामगान से स्तुति करने वाला। **शंसन्** – मन्त्रों

का गान करने वाला । **द्रविणम्** – धन को । **सद्यः** – शीघ्र । **आप** – प्राप्त कर लेता है ।

हिन्दी अनुवाद – वे प्रसिद्ध उषायें उपकार करने वाली हैं । वे कल्याणकारिणी उषायें पहले थीं । वे अपने पहुँचने मात्र से धनों को देने वाली हैं, जिस यज्ञ के लिये उत्पन्न हुई हैं और सत्य रूप से फल देने वाली हैं । जिन उषाओं के प्रति यज्ञ करने वाला, स्तोत्र या ऋचाओं से प्रशंसा करने वाला, सामगान से स्तुति करने वाला और मन्त्रों का गान करने वाला यजमान धन को शीघ्र प्राप्त कर लेता है ।

विशेष – मैक्डानल ने कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये हैं – अभिष्टिद्युम्नाः – सहायता करने में विख्यात (**splendid in help**), ऋतजातसत्याः – समय का सत्य ही पालन करने वाली (**punctually true**) और शशमानः – परिश्रमी (**strenuous**) ।

८ **ता आ चरन्ति समना पुरस्तात् समानतः समना पप्रथानाः ।**
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते ।।

पद-पाठः ताः । आ । चरन्ति । समना । पुरस्तात् । समानतः । समना । पप्रथानाः ।
ऋतस्य । देवीः । सदसः । बुधानाः । गवाम् । न । सर्गाः । उषसः । जरन्ते ।।८।।

अन्वय – ताः उषसः आ समना चरन्ति पुरस्तात् समानतः समनाः पप्रथानाः ऋतस्य सदसः बुधानाः देवीः जरन्ते गवाम् सर्गाः न ।

संस्कृत व्याख्या – ता उषसः आ सर्वतः चरन्ति, समना सर्वतः समाना पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि समानतः समानाद्देशाद् अन्तरिक्षात् समना सर्वतः पप्रथानाः प्रथमानाः ऋतस्य यज्ञस्य सदसः सदः ऋत्विग्धविरादिकमित्यर्थः बुधानाः बोधयन्त्य एवंभूताः उषसः जरन्ते, स्तूयन्ते गवाम् उदकानां सर्गाः सृष्टयः न इव ।

शब्दार्थ – समना – सब ओर समान रूप से । **समानतः** – अन्तरिक्ष रूप स्थान से । **पप्रथानाः**– विस्तृत होती हुई । **ऋतस्य** – यज्ञ के । **सदसः** – वेदी में स्थापित यज्ञ आदि को । **बुधानाः** – जतलाती हुई । **गवाम्** – जलों की, किरणों की । **न** – समान । **सर्गाः** – सृष्टियों की । **जरन्ते** – स्तुति की जाती हैं ।

हिन्दी अनुवाद – वे उषायें सब ओर समान रूप से विचरण करती हैं । पूर्व दिशा में अन्तरिक्ष रूप स्थान से चारों ओर से विस्तृत होती हुई यज्ञ को और वेदि में स्थापित हवि आदि को जतलाती हुई इन दीप्तिमान् उषाओं की उसी प्रकार स्तुति की जाती है, जिस प्रकार जलों या किरणों की सृष्टियों की स्तुति की जाती है ।

विशेष – मैक्डानल ने कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार से किये हैं – समना – एक रूप से (**equally**), बुधाना – जगती हुई (**waking**), ऋत – नियम (**seat of order**), गवाम् – गौओं के झुण्ड (**herds of kine**) और जरन्ते – क्रियाशील हैं (**are active**) ।

९ ता इन्वे॒३॑व स॑म॒ना स॑मा॒नीरमीतवर्णा उ॒षस॑श्चरन्ति ।
गू॒हन्ती॒रभ्व॒मसि॑तं॒ रुश॑द्भिः शु॒क्रास्त॒नूभि॒ः शुच॑यो रुचा॒नाः ।।

पद-पाठः ताः ।इत् ।नु ।ए॒व ।स॒म॒ना ।स॒मा॒नीः ।अमी॑तऽवर्णाः ।उ॒षस॑ः ।च॒र॒न्ति॒ ।
गू॒हन्तीः ।अभ्व॑म् ।असि॑तम् ।रुश॑त्ऽभिः ।शु॒क्राः ।त॒नूभि॑ः ।शुच॑यः ।रु॒चा॒ना ।।

अन्वय – ताः एव इत् उषसः नु समना समानीः अमीतवर्णाः अभ्वम् असितम् गूहन्तीः रुशद्भिः तनूभिः शुक्राः शुचयः रुचानाः चरन्ति ।

संस्कृत व्याख्या – ता एव उषसः इत् (पूरणार्थकम्), नु अद्य समना समाना एकध त्यर्थः समानीः एकरूपाः अमीतवर्णाः अहिंसितवर्णाः अथवा अपरिमितवर्णाः उषसः चरन्ति। किं कुर्वत्यःअभ्वम् अतिमहत् असितम् कृष्णं रूपं गूहन्तीः गोपयन्त्यः रुशद्भिः रोचमानैः तनूभिः शरीरैः शुक्राः दीप्ताः शुचयः शुद्धाः रुचानाः रोचमानाः सन्त्यः ।

शब्दार्थ – **समना** – समान होती हुई । **समानी** – एक से रूप वाली । **अमीतवर्णाः** – जिनका रूप प्रकट नहीं हुआ ऐसी, अपरिमित रूपों वाली । **गूहन्तीः** – छिपाती हुई । **अभ्वम्** – महान् । **असितम्** – काले रूप को, अन्धकार को । **रुशद्भिः** – दीप्तिमान् । **शुक्राः** चमकती हुई । **तनूभिः** – शरीरों से । **शुचयः** – पवित्र । **रुचानाः** – प्रकाशित होती हुई ।

हिन्दी अनुवाद – वे ही उषायें निश्चय से समान होती हुई, एक से रूप वाली, जिनका रूप नष्ट नहीं हुआ है ऐसी अथवा अपरिमित रूपों वाली, महान् काले रूप को अर्थात् रात्रि के अन्धकार को छिपाती हुई, दीप्तिमान् शरीर को चमकाती हुई, पवित्र और प्रकाशित होती हुई विचरण कर रही है।

विशेष – मैक्डानल ने 'अभ्वम् असितम्' का अर्थ किया है – काला दैत्य (**black monster**)।

१० र॒यिं दि॑वो दुहितरो वि॒भा॒तीः प्र॒जाव॑न्तं यच्छ॒ता॒स्मासु देवीः ।
स्यो॒नादा वः प्रति॒बुध्य॑मानाः सु॒वीर्य॑स्य पतयः स्याम ।।

पद-पाठः र॒यिम् ।दि॒वः ।दु॒हि॒त॒रः ।वि॒ऽभा॒तीः ।प्र॒जाऽव॑न्तम् ।य॒च्छ॒त॒ ।अ॒स्मासु॑ ।
दे॒वीः ।स्यो॒नात् ।आ ।व॒ः ।प्र॒ति॒ऽबुध्य॑मानाः ।सु॒ऽवीर्य॑स्य ।पत॑यः ।स्या॒म॒ ।।१० ।।

अन्वय – विभातीः दिवः दुहितरः अस्मासु प्रजावन्तम् रयिम् यच्छत । देवीः वः स्योनात् आ प्रतिबुध्यमानाः सुवीर्यस्य पतयः स्याम ।

संस्कृत व्याख्या – हे दिवो दुहितरः आदित्यस्य दुहितृस्थानीयाः विशेषेण भानं कुर्वत्यः अस्मासु प्रजावन्तम् पुत्राद्युपेतं रयिं धनं यच्छत दत्त । हे देवीः दीप्यमानाः उषसः स्योनात् सुखात् वः युष्मान् प्रतिबुध्यमानाः प्रतिबोधं प्राप्नुवन्तः वयं सुवीर्यस्य पुत्रादिसहितस्य धनस्य पतयः

पालकाः स्वामिनो वा स्याम भवेम।

शब्दार्थ – रयिम् – धन को। **दिवः** – प्रकाशमान सूर्य की। **दुहितरः** – पुत्रियाँ। **विभातीः** – प्रकाशित होने वाली। **प्रजावन्तम्** – पुत्र आदि से युक्त। **यच्छत** – प्रदान करो। **देवीः** दीप्तिशालिनी। **स्योनात्** – सुख से। **प्रतिबुध्यमानाः** – प्रतिबोधित होते हुये। **सुवीर्यस्य** – पुत्र आदि रूप उत्तम धन के। **पतयः** – पालक, स्वामी।

हिन्दी अनुवाद – प्रकाशित होने वाली प्रकाशमान सूर्य की पुत्रियो ! हे उषाओ ! हमें पुत्र आदि से युक्त धन को प्रदान करो। हे दीप्तिशालिनी उषाओ ! आपके द्वारा सुख से प्रतिबोधित होते हुये हम पुत्र आदि रूप उत्तम धन के पालक या स्वामी होवें।

विशेष – मैक्डानल ने कुछ शब्दों के इस प्रकार अर्थ किये हैं – स्योनात् प्रतिबुध्यमानाः – कोमल शय्या से जागते हुये (**awaking from our soft couch**), पतयः – स्वामी (**lords**) और सुवीर्यस्य – शक्तिशाली पुत्रों का समूह (**host of strong sons**)।

११ तद्वो॑ दिवो दुहितरो विभातीरुप॑ ब्रुव उषसो यज्ञकैतुः ।
वयं स्या॑म यशसो॒ जनेषु तद्द्यौश्च धत्तां पृथिवी च॑ देवी ।।

पद-पाठः तत् । वः । दिवः । दुहितरः । विऽभातीः । उप॑ । ब्रुवे । उषसः । यज्ञऽकैतुः ।
वयम् । स्याम । यशसः । जनेषु । तत् । द्यौः । च । धत्ताम् । पृथिवी । च देवी ।।

अन्वय – विभातीः दिवः दुहितरः उषसः ! यज्ञकेतुः वः तत् उप ब्रुवे । जनेषु वयम् यशसः स्याम। तत् द्यौः च पृथिवी च देवी धत्ताम्।

संस्कृत व्याख्या – हे दिवो दुहितरः उषसः ! विभातीः वः युष्मान् तत् वक्ष्यमाणं फलं यज्ञकेतुः यज्ञ एव केतुः प्रज्ञापकः यस्य सोऽहम् उपब्रुवे उपेत्य ब्रवीमि। वयं स्तुवन्त जनेषु अस्मत्समानेषु मध्ये यशसः कीर्तेः अन्नस्य वा स्वामिनः स्याम। तत् यशः द्यौः पृथिवी च देवी धत्ताम् धारयताम्।

शब्दार्थ – विभातीः – विशेष प्रकार के प्रकाशमान होती हुई। **उपब्रुवे** – समीप आकर कहता हूँ। **यज्ञकेतुः** – यज्ञ के ज्ञान को प्राप्त कराने वाला। **यशसः** – कीर्ति या अन्न के स्वामी। **धत्ताम्** – धारण करावें।

हिन्दी अनुवाद – विशेष प्रकार से प्रकाशमान होती हुई हे सूर्य की पुत्री रूप उषाओ ! यज्ञ से ज्ञान प्राप्त करने वाला मैं तुम्हें उसको (इस मन्त्र से प्राप्त होने वाले फल को) समीप आकर कहता हूँ। मनुष्यों में हम कीर्ति या अन्न को प्राप्त करें। उसे द्युलोक और पृथिवी देवी हमें धारण करावें।

विशेष – मैक्डानल ने 'यज्ञकेतु' का अर्थ 'यज्ञ जिसका झंडा है' (**whose banner is the sacrifice**) और 'यशसः' का अर्थ 'यशस्वी' (**famous**) किया है।

सविता-सूक्त

(मण्डल - ४, सूक्त - ५४)

ऋषि - वामदेव **देवता** - सविता **छन्द** - जगती, अन्तिम मन्त्र में त्रिष्टुप्

१ **अभूद्देवः सविता वन्द्यो नु न इदानीमह्न उपवाच्यो नृभिः ।**

वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत् ।।

पद-पाठः अभूत् । देवः । सविता । वन्द्यः । नु । नः । इदानीम् । अह्नः । उपऽवाच्यः । नृऽभिः । वि । यः । रत्ना । भजति । मानवेभ्यः । श्रेष्ठम् । नः । अत्र । द्रविणम् । यथा । दधत् ।।

अन्वय - सविता देवः अभूत् । नु नः वन्द्यः । इदानीम् अह्नः नृभिः उपवाच्यः । यः मानवेभ्यः रत्ना विभजति । अत्र नः श्रेष्ठम् द्रविणम् यथा दधत् ।

सायण - स सविता देवः अभूत् प्रादुरासीत् । असौ नु क्षिप्रमेव नोऽस्माकं वन्द्यः वन्दनीयो भवति । इदानीं यागकाले अह्नस्तृतीये सवने नृभिरस्मदीयैर्होतृभिः उपवाच्यः स्तुत्यो भवति । यः देवो मानवेभ्यः मनोरपत्येभ्यः यजमानेभ्यस्तेषामर्थाय रत्ना रमणीयानि धनानि विभजति सः देवः श्रेष्ठं प्रशस्यं द्रविणं गवादिलक्षणं धनं नः अस्मभ्यम् अत्रास्मिन् कर्मणि यथा दधत् दद्यादित्यर्थः तथा वन्द्य उपवाच्यश्चाभूदिति ।

शब्दार्थ - अभूत् - उत्पन्न हुये हैं। **सविता** - संसार को कर्मों में प्रेरित करने वाला देवता। **वन्द्यः** - वन्दनीय है। **इदानीम्** - अब, इस यज्ञ के समय में । **अह्नः** - दिन के (तृतीय सवन में) । **उपवाच्यः** स्तुति किये जाते हैं। **रत्ना** - रत्नों को, रमणीय पदार्थों को। **विभजति** - वितरित करता है। **द्रविणम्** - धन को। **आ दधत्** - धारण करावे ।

हिन्दी अनुवाद - **संसार को कर्मों में प्रेरित करने वाले सविता देवता प्रादुर्भूत हुये हैं। (शीघ्र ही) वे हमारे लिये वन्दनीय हैं। इस समय यज्ञ-काल में और दिन के तृतीय सवन में हमारे होताओं द्वारा वे स्तुति किये जाते हैं। जो सविता देवता मनुष्यों के लिये रत्नों को अर्थात् रमणीय पदार्थों को वितरित करते हैं, वे यहाँ यज्ञ के अवसर पर हमारे लिये श्रेष्ठ धन को धारण करावें।**

व्याकरण -

सविता - षू (सू) + तृच् (इट् का आगम) । गुण अवादेश - सवितृ ।

उपवाच्यः - उप + ब्रू (वच् आदेश) + ण्यत् । 'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से उपधा वृद्धि ।

वन्द्यः - वदि (वन्द) + यत् - वद्य । नुम् का आगम् - वन्द्य ।

उपवाच्यः -उप + वच् + ण्यत् (य) - उपवाच्य । धातु की उपधा को वृद्धि ।

रत्ना - रत्नानि का वैदिक रूप ।

मानवेभ्यः – मनोः अपत्यम् । मनु + अण् – मानव। चतुर्थी का बहुवचन ।

दधत् – 'धा' धातु लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष – 'सविता' शब्द की निष्पत्ति 'षुञ् अभिषवे' अथवा 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' से होती है। इसके अनेक अभिप्राय हैं – प्रकट होना, उत्पन्न होना, उत्पन्न करना, प्रेरित करना, आहुति देना, अधिकार सम्पन्न करना। 'प्रसवितृ' शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में होता है। छन्द की पूर्ति के लिये 'वन्द्या' 'वाच्यो' और 'मानवेभ्यः' को क्रमशः 'वन्दियों', 'वाचियो' और 'मानवेभियः' पढ़ना चाहिये।

२ **देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् ।**

आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः ।।

पद-पाठः देवेभ्यः । हि । प्रथमम् । यज्ञियेभ्यः । अमृतऽत्वम् । सुवसि । भागम् । उत्ऽतमम् । आत् । इत् । दामानम् । सवितः । वि । ऊर्णुषे । अनूचीना । जीविता । मानुषेभ्यः ।।

अन्वय – हि सवितः ! प्रथमम् यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः अमृतत्वम् उत्तमम् भागम् सुवसि । आत् इत् दामानम् व्यूर्णुषे मानुषेभ्यः अनूचीना जीविता ।

सायण – प्रथमं देवेभ्यो हि। हि शब्दः प्रसिद्धौ । देवेभ्यः यज्ञियेभ्यः यज्ञार्हेभ्यः अमृतत्वं तत्साधनमुत्तममुत्कृष्टतमं भागं सोमादिलक्षणं सुवसि अनुजानासि। आदिद् अनन्तरमेव दामानं हविषां दातारं हे सवितः ! वि ऊर्णुषे प्रकाशयसि । मानुषेभ्यः यजमानेभ्यः जीविता जीवितानि अनूचीना अनुक्रमयुक्तानि । पितृपुत्रपौत्रा इत्यनुक्रमः । ईदृशानि । जीवितानि पश्चाद् व्यूर्णुषे प्रकाशयसि ।

शब्दार्थ – यज्ञियेभ्यः – यज्ञ के भाग को प्राप्त करने वाले। **अमृतत्वम्** – अमरता को प्राप्त कराने वाले। **उत्तमम्** – सबसे उत्कृष्ट। **भागम्** – यज्ञ के भाग को। **सुवसि** – प्रदान करते हो। **आत् इत्** – इसके पश्चात्। **दामानम्** – हवि प्रदान करने वाले यजमान को। **व्यूर्णुषे** – प्रकाशित करते हो। **अनूचीना** – अनुक्रम युक्त। **जीविता** – जीवन ।

हिन्दी अनुवाद – यह प्रसिद्ध है कि हे सविता देवता ! तुम पहले तो यज्ञ के भाग को प्राप्त करने वाले देवताओं के लिये अमरता को प्राप्त कराने वाले सबसे उत्कृष्ट यज्ञ-भाग को प्रदान करते हो और उसके पश्चात् हवि प्रदान करने वाले यजमान को प्रकाशित करते हो तथा मनुष्यों के लिये अनुक्रम से युक्त अर्थात् पिता-पुत्र-पौत्र इस क्रम से जीवन को प्रकाशित करते हो अर्थात् जीवन प्रदान करते हो।

व्याकरण – यज्ञियेभ्यः – 'यज्ञभागम् अर्हति' अर्थ में 'यज्ञ' से 'यज्ञर्त्विग्भ्याम्' से घञ् प्रत्यय। 'घ' को इयादेश – यज्ञिय।

अमृतत्वम् – मृ + क्त – मृत । न + मृत – अमृत । अमृतस्य भावः – अमृत +त्व – अमृतत्व

दामानम् – दा + मनिन् – दामन् । द्वितीया विभक्ति का एकवचन ।

ऊर्णुषे – ऊर्णु धातु, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

मानुषेभ्यः –मनु + षुक् (ष्) + अञ् – मानुष । चतुर्थी का बहुवचन ।

अनूचीना – 'अन्वग् भवाः' अर्थ में अनु + अञ्च् + ख (ईन) – अनूचीन। द्वितीया विभक्ति का बहुवचन। लोक में 'अनूचीनानि' रूप होगा।

विशेष – पीटर्सन ने 'दामानम्' को 'भागम्' का विशेषण माना है और इस शब्द को 'दो अवखण्डने' धातु से निष्पन्न कहा है।

छन्द के अनुरोध से 'यज्ञियेभ्यः'' ऽमृतत्वम्', व्यूर्णषे', और 'मानुषेभ्यः' को क्रमशः 'यज्ञियेभियः', 'अमृतत्वम्', 'वि ऊर्णुषे, 'अनूचीना' और 'मानुषेभियः' पढ़ना चाहिए।

३ अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता ।
देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः ।।

पद-पाठः अचित्त्री । यत् । चकृम । दैव्ये । जने । दीनैः । दक्षैः । प्रऽभूती । पुरुषत्वता ।
देवेषु । च । सवितः । मानुषेषु । च । त्वम् । नः । अत्र । सुवतात् । अनागसः ।।

अन्वय – सवितः ! दैव्ये जने देवेषु च मानुषेषु च अचित्ती दीनैः दक्षैः प्रभूती पुरुषत्वता यत् चकृम, अत्र त्वम् नः अनागसः सुवतात् ।

सायण – हे सवितः ! वयमचित्ती अप्रज्ञया दैव्ये जने देवे त्वयि दीनैः दुर्बलैः पुत्रादिभिः ऋत्विग्भिर्वा तथा दक्षैः प्रवृद्धैबालैः प्रभूती ऐश्वर्यमदेनेति यावत् । पुरुषत्वता पुरुषवत्तया च यदागश्चकृम । न केवलं त्वय्येव कृतमपि तु देवेष्वन्येषु मानुषेषु चाज्ञानादिभिर्यच्चकृम नः कृतवतोऽस्मान् त्वमत्र अस्मिन् कर्मणि अनागसः अपापान् सुवतात् अनुजानीहि ।

शब्दार्थ – अचित्ती – अज्ञान से। **चकृम** – किया है (अपराध)। **दैव्ये** – दिव्य गुणों से युक्त आपके प्रति । **जने** – जन्म धारण करने वाले आपके प्रति । **दीनैः** – चतुरता से युक्त। **प्रभूती** – ऐश्वर्य के मद से। **पुरुषत्वता** – पौरुष के मद से। **देवेषु** – देवताओं के प्रति । **मानुषेषु** – सांसारिक मनुष्यों के प्रति । **सुवतात्** – बना दीजिये। **अनागसः** – अपराध रहित ।

हिन्दी अनुवाद – हे सविता देवता ! हमने दिव्य गुणों से युक्त जन्म धारण करने वाले आपके प्रति और अन्य देवताओं के प्रति एवं सांसारिक मनुष्यों के प्रति, अज्ञान से, दुर्बल अथवा बलशाली ऋत्विजों का, पुत्र आदियों के द्वारा अथवा ऐश्वर्य के मद से अथवा पौरुष के मद से जो कुछ भी अपराध किया है, इस यज्ञ में आप हमें उन अपराधों से अपराध रहित बना दीजिये।

व्याकरण –

अचित्ती – नञ् + चित् + क्तिन् । तृतीया विभक्ति का एकवचन, वैदिक रूप ।

चकृम – 'कृ' धातु, लिट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

दैव्ये – देव + यञ् – दैव्य । आदि स्वर को वृद्धि तथा अन्तिम स्वर का लोप ।

प्रभूती – प्र + भू + क्तिन् – प्रभूति । तृतीया का एकवचन । वैदिक रूप ।

अनागसः – न विद्यते आगः येषां ते । बहुव्रीहि समास । द्वितीया का एकवचन ।

पुरुषत्वता – पुरुष + त्व + तल् + टाप् ।

सुवतात् – 'षू (सू)' धातू, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

विशेष – ह्विटने के अनुसार 'दैव्ये जने' का अर्थ देवताओं का समूह (**The folk of goods**) है। पीटर्सन के अनुसार 'दीनैः' यह पद 'दक्षैः' का विशेषण है और 'दक्ष' का अर्थ है – बुद्धि। इस प्रकार यहाँ 'अपनी दुर्बल बुद्धियों से (**With feeble wit**) अर्थ होगा। उसके अनुसार यहाँ इस प्रकार अर्थ होगा – **Whatever we have done against the folk of the gods, as weak ones of ignorance, or as strong ones out of insolance**। 'पुरुषत्वता' पद का प्रयोग ऋग्वेद में एक ही अन्य मन्त्र ५/४८/५ में हुआ है।

छन्द के आग्रह से यहाँ 'दैव्ये', पुरुषत्वता' और 'त्वम्' को क्रमशः 'दैविये' 'पुरुषतुवता' और 'तुवम्' उच्चारण करना चाहिए।

४ न प्रमियें सवितुर्दैव्य॑स्य तद्यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति ।
यत्पृथिव्या वरिमन्ना स्वङ्गुरिर्वर्ष्मन्दिवः सुवति सत्यमस्य तत् ।।

पद-पाठः न । प्रऽमियें । सवितुः । दैव्य॑स्य । तत् । यथा । विश्वम् । भुवनम् । धारयिष्यति ।

यत् । पृथिव्याः । वरिमन् । आ । सुऽअङ्गुरिः । वर्ष्मन् । दिवः । सुवति । सत्यम् । अस्य । तत् ।।

अन्वय – सवितुः दैव्यस्य तत् न प्रमिये यथा विश्वम् भुवनम् धारयिष्यति । स्वङ्गुरिः पृथिव्याः वरिमन् यत् सुवति आ दिवः वर्ष्मन् अस्य तत् सत्यम् ।

सायण – सवितुः दैव्यस्य देवस्य तत्कर्म न प्रमिये प्रमीयेत प्रहिंस्येत हिंसार्हं न भवतीत्यर्थः । कृत्यार्थे केन् प्रत्ययः । यद्वा दैव्यस्येति व्यधिकरणे षष्ठी । सा च कर्मार्था दैव्यं कर्मेत्यर्थः । कथमहिंस्यमित्यत आह । यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति धारयति । विश्वधारणरूपं यत्कर्मास्ति तन्न प्रमिये । तथा स्वङ्गुरिः शोभनाङ्गुल्युपलक्षितहस्तो यद् यः पृथिव्या वरिमन्ना। आकारश्चार्थे। भूम्या उरुत्वे च सुवति प्रेरयति। तथा दिवः द्युलोकस्य वर्ष्मन् उरुत्वे च सुवति । अस्य देवस्य तदुक्तं कर्म सत्यमबाध्यमिति ।

शब्दार्थ – प्रमिये – नष्ट होता है। **तत्** – वह जगत्-धारण रूप कर्म। **दैव्यस्य** – देवता का। **यथा** – जिन कर्मों द्वारा। **धारयिष्यति** – धारण करता है। **वरिमन्** – श्रेष्ठता, उन्नति। **सु अङ्गुरिः** – सुन्दर किरणों रूपी अङ्गुलियों वाला। **वर्ष्मन्** – शरीरधारी। **सुवति** – प्रेरणा देता है।

हिन्दी अनुवाद – सबको उत्पन्न करने वाले या प्रेरणा देने वाले सविता देवता का वह जगत् धारण रूप कर्म कभी नष्ट नहीं होता, जिन कर्मों के द्वारा वह सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है। शोभन किरणों रूपी अङ्गुलियों वाला वह सविता देवता श्रेष्ठता या उन्नति के लिये जो प्रेरणा देता है और उच्च लोकों के निवासी शरीरधारियों के लिये प्रेरणा देता है, इसका वह कर्म वस्तुतः सत्य अर्थात् तीनों कालों में अबाध्य रूप से रहता है।

व्याकरण –

प्रमिये – प्र + मीञ् हिंसायाम् से कृत्य प्रत्यय के अर्थ में 'केन्' प्रत्यय। 'इयङ्' आदेश होकर – प्रमिये।

दैव्यस्य – देव + यञ् (स्वार्थ में) – दैव्य।

धारयिष्यति – धृ (णिजन्त) धातु, लृट् लकार, प्र० पु०, ए०व०। वर्तमान के अर्थ में लृट्।

वरिमन् – उरु + इमनिच्। 'उरु' को 'वर्' आदेश – वरिमन्।

स्वङ्गुरिः – शोभनाः अङ्गुरयो यस्य सः।

वर्ष्मन् – उरु + इमनिच्। 'उरु' को 'वर्ष्म्' आदेश 'इमनिच्' के 'इ' का लोप।

विशेष – 'वर्ष्मन्' का अर्थ ऊँचाई या उच्चतम प्रदेश (**height or hightest place**) भी होता है। ग्रासमान ने 'यथा' का अर्थ '**By which**' किया है। सत्यस्य तत्' का अर्थ है – **Surely that is his** अथवा **that work of his stands over.**

छन्द के आग्रह से 'दैव्यस्य' को 'दैवियस्य' और 'स्वङ्गुरिः' को 'सुवङ्गुरि', पढ़ना चाहिये।

५ **इन्द्रज्येष्ठान्बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।**
यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते॥

पद-पाठः इन्द्रऽज्येष्ठान्। बृहत्ऽभ्यः। पर्वतेभ्यः। क्षयान्। एभ्यः। सुवसि। पस्त्यऽवतः।
यथाऽयथा। पतयन्तः। विऽयेमिरे। एव। एव। तस्थुः। सवितरिति। सवाय। ते॥

अन्वय – सवितः ! इन्द्रज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः सुवसि एभ्यः पस्त्यावतः क्षयान्। यथा यथा पतयन्तः वियेमिरे एव एव ते सवाय तस्थुः।

सायण – हे सवितः ! इन्द्रज्येष्ठान् इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तस्त्वमेवं इन्द्रो वा ज्येष्ठः ज्यायान्

पूज्यो येषां ते तादृशाः । तानस्मान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्योऽप्यधिकान्सुवसि प्रेरयसि। यथा यथा पतयन्तः गच्छन्तः प्राणिनस्त्वया वियेमिरे विनियम्यन्ते त्वया ते तव सवाय अनुज्ञायै एवैव एवमेव नियमनमनतिक्रम्य तस्थुः तिष्ठन्ति ।

शब्दार्थ – **इन्द्रज्येष्ठान्** – परम ऐश्वर्य से युक्त तुम इन्द्र जिनके पूजनीय हो, इन्द्र जिनका पूजनीय है। **सुवसि** – प्रेरणा देते हो। **क्षयान्** – निवास स्थानों को। **पस्त्यावतः** – घरों से युक्त। **यथा यथा** – जैसे-जैसे। **पतयन्तः** – जीवन यापन करने वाले प्राणी । **वियेमिरे** – नियमों मे रहते हैं। **एव एव** – वैसे वैसे ही। **सवाय** – नियमों का पालन करने लिये । **तस्थुः** – अनुशासन में रहते हैं।

हिन्दी अनुवाद – हे सविता देवता ! परम ऐश्वर्य से युक्त तुम जिनके पूजनीय हो अथवा इन्द्र जिनका पूजनीय है ऐसे हमको तुम महान् पर्वतों से भी अधिक अर्थात् उनसे भी अधिक उन्नत रूप में प्रेरणा देते हो। इन यजमानों के लिये भवनों से युक्त अर्थात् विशाल निवास स्थानों को प्रेरित करते हो अर्थात् प्रदान करते हो। जैसे-जैसे जीवन यापन करने वाले प्राणी तुम्हारे लिये नियमों में रहते हैं, वैसे-वैसे ही वे तुम्हारे नियमों को पालन करने के लिये तुम्हारे अनुशासन में रहते हैं।

व्याकरण –

क्षयान् – 'क्षि निवासे' धातु से 'अच्' प्रत्यय – क्षय ।

पस्त्यावतः – 'पस्त्यं गृहम् अस्य अस्ति' अर्थ में पस्त्य + मतुप् । द्वितीया विभक्ति का बहुवचन।

पतयन्तः – णिजन्त 'पत्' धातु से शतृ प्रत्यय । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन । लोक में पातयन्तः या पतन्तः बनेगा।

वियेमिरे – वि + यम् धातु, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

तस्थुः – स्था धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

सवाय – सू (षू) + अप् – सब । गुण तथा अवादेश ।

विशेष – सायण ने 'पर्वतेभ्यः' शब्द के अर्थ में 'अधिकान्' का अध्याहार करके अर्थ किया है – तुम हमें पर्वतों से अधिक उच्च प्रेरणा देते हो। परन्तु पीटर्सन ने सायण की इस व्याख्या को पटुतापूर्ण मानते हुये भी पूर्ण नहीं माना। उसने 'अधिकान्' को 'क्षयान्' का विशेषण मानकर अर्थ किया – पर्वतों से अधिक ऊँचे निवासों को । आर्य जाति का विश्वास रहा है कि देवगण पर्वतों पर निवास करते थे। उनके लिए 'गिरिष्ठाः' 'गिरिक्षिते' विशेषणों का प्रयोग किया गया है। 'पतयन्तो वियेमिरे' का यह भी अर्थ किया गया है – गिरते हुए नियन्त्रण से बाहर होते हैं। पिशेल ने 'पतयन्तो वियेमिरे' का अर्थ किया है – **They spread out their wings**

while they flew। पहाड़ों के पंख होने का उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है।

छन्द के अनुरोध से 'पर्वतेभ्यः' और 'पस्त्यावतः' को क्रमशः 'पर्वतेभियः' और 'पस्तियावतः' पढ़ना चाहिए।

६ ये ते त्रिरहन्त्सवितः सवासो दिवेदिवे सौभगमासुवन्ति ।

इन्द्रो द्यावापृथिवी सिन्धुरद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत् ।।

पद-पाठः ये । ते । त्रिः । अहन् । सवितरिति । सवासः । दिवेऽदिवे । सौभगम् । आऽसुवन्ति। इन्द्रः । द्यावापृथिवी इति । सिन्धुः । अत्ऽभिः । आदित्यैः ।नः ।अदितिः ।शर्म ।यंसत् ।।६ ।।

अन्वय – सवितः ये ते सवासः अहन् त्रिः आसुवन्ति, दिवे दिवे सौभगम् । इन्द्रः द्यावापृथिवी अद्भिः सिन्धुः आदित्यैः अदितिः नः शर्म यंसत् ।

सायण – ये यजमानाः, हे सवितस्ते त्वदर्थं सवासः सवाः सोमा। द्वितीयार्थे प्रथमा। सोमान्। यद्वा सवासः सवनानि प्रातरादीनि प्रति त्रिरहन् अभिषुण्वन्ति। न केवलमेकस्मिन्नेवाहनि सवनत्रयेषु अपि ते दिवेदिवे प्रतिदिनं सौभगं सौभाग्यजनकमासुवन्ति अभिषुण्वन्ति। तेभ्यो नोऽस्मभ्यमिन्द्रः शर्म यंसत् यच्छतु। द्यावापृथिव्यौ च अद्भिर्विशिष्टा सिन्धुः सिन्ध्वभिमानिदेवता आदित्यैः सहितादितिश्च शर्म यंसत् ।

शब्दार्थ – त्रिःअहन् – दिन में तीन बार । **सवासः** – सवन करने वाले। **दिवेदिवे** – प्रतिदिन। **सौभगम्** – सौभाग्य को। **आसुवन्ति** – अभिषव करते हैं। **अद्भिःसिन्धुः** – जलों से विशिष्ट सिन्धु। **आदित्यैः अदितिः** – आदित्य गणों के साथ देवमाता। **शर्म** – कल्याण। **यंसत्** – प्रदान करे।

हिन्दी अनुवाद – सबको प्रेरणा देने वाले हे सविता देवता ! सवन करने वाले जो यजमान तुम्हारे लिये दिन में तीन बार सोम का अभिषव करते हैं अर्थात् प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और सायं सवन करते हैं और जो प्रतिदिन सौभाग्य को प्राप्त करने के लिये अभिषव करते हैं। इन्द्र, द्यावापृथिवी, जलों से विशिष्ट सिन्धु, आदित्य आदि गणों के साथ देवमाता अदिति हमारे लिये कल्याण प्रदान करें।

व्याकरण –

त्रिः – त्रि + सुच् (त्रिः वारम् अर्थ में) ।

अहन् – यहाँ सप्तमी विभक्ति का लोप छान्दस है।

अहन्त्सवितः – अहन् + सवितः । व्यञ्जन सन्धि के कारण मध्य में धुट् (ध् – त्) का आगम।

शर्म – शृ + मनिन् – शर्मन् ।

सवासः – प्रथमा का बहुवचन है। लोक में 'सवाः' रूप होगा ।

सौभगम् – सु + भग + अण् । सुभगस्य भावः अर्थ है।

दिवेदिवे – 'प्रतिदिनम्' के अर्थ में निपातनात् वैदिक अव्यय।

यंसत् – 'यम्' धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष – पीटर्सन ने 'सवासः' में प्रथमा के अर्थ में द्वितीया मानकर इसको कर्म माना है। उसने इसका अर्थ इस प्रकार किया है – जो तीन बार अभिषुत किये जाने वाले सोम का अभिषव करते हैं। 'यंसत्' में प्रत्येक कर्त्ता की अलग-अलग विवक्षा करके एकवचन का प्रयोग किया गया है।

अश्विनौ सूक्त

(मण्डल – ७, सूक्त – ७१)

ऋषि – वसिष्ठ | **देवता** – युगल अश्विनौ | **छन्दः** – त्रिष्टुप्

१ **अप स्वसुरुषसो नग्जिहीते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम् ।**

अश्वामघा गोमघा वां हुवेम दिवा नक्तं शरुमस्मद्युयोतम् ॥

पद-पाठः अप । स्वसुः । उषसः । नक् । जिहीते । रिणक्ति । कृष्णीः । अरुषाय । पन्थाम्।

अश्वऽमघा । गोऽमघा । वाम् । हुवेम । दिवा । नक्तम् । शरुम् । अस्मत् । युयोतम् ॥

अन्वय – स्वसुः उषसः नक् अपजिहीते । कृष्णीः अरुशाय पन्थाम् रिणक्ति । अश्वमघा गोमघा वाम् हुवेम। दिवानक्तम् अस्मत् शरुम् युयोतम् ।

सायण – स्वसुः स्वसृस्थानीयायाः उषसः सकाशात् नक् नक्तम् रात्रिः अपजिहीते अपगच्छति। कृष्णीः कृष्णवर्णा रात्रिः अरुषाय आरोचमानाय अह्ने सूर्याय वा पन्थाम् पन्थानं रिणक्ति रेचयति। हे अश्वमघा अश्वधनौ गौमघा गौधनौ अश्विनौ ! वां युवां हुवेम स्तुमः। दिवानक्तं दिवसे रात्रौ च सर्वदा अस्मत् अस्मत्तः शरुं हिंसकं युयोतं पृथक्कुरुतम् ।

शब्दार्थ – स्वसुः – बहन । **उषसः** – उषा से। **नक्** – रात्रि। **अपजिहीते** – दूर हो जाती है। **रिणक्ति** – खाली कर देती है। **कृष्णीः** – काली रात। **अरुषाय** – चमकते हुये सूर्य या दिन के लिये। **पन्थाम्** – मार्ग को। **अश्वमघा** – अश्वधन वाले । **गोमघा** – गोधन वाले। **हुवेम** – स्तुति करते है। **दिवानक्तम्** – दिन रात। **शरुम्** – हिंसा को। **युयोतम्** – दूर करो।

हिन्दी अनुवाद – बहिन उषा से रात्रि दूर हो जाती है। अर्थात् उषा के उदय होने के बाद रात्रि स्वयं हट जाती है। काले वर्ण की रात्रि चमकते हुये सूर्य या दिन के लिये मार्ग को खाली कर देती है। इसलिये हे अश्वधन वाले और गोधन वाले अश्विनीकुमारो ! तुम दोनों की हम स्तुति करते हैं। तुम दोनों दिन-रात हमसे हिंसा को दूर करो।

व्याकरण –

शरुम् – 'शृ हिंसायाम्' धातु से 'उ' प्रत्यय। शृ + उ – शुरु।

विशेष – मैक्डानल ने 'शुरु' का अर्थ 'बाण' (**arrow**) किया है।

२ **उपायातं दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता ।**

युयुतमस्मदनिराममीवां दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः ।।

पद-पाठः उपऽआयातम् । दाशुषे । मर्त्याय । रथेन । वामम् । अश्विना । वहन्ता । युयुतम् । अस्मत् । अनिराम् । अमीवाम् । दिवा । नक्तम् । माध्वी इति । त्रासीथाम् । नः ।। २ ।।

अन्वय – अश्विना दाशुषे मर्त्याय वामम् वहन्ता रथेन उपायातम् । अस्मत् अनिराम् अमीवाम् युयुतम् । माध्वी नः दिवानक्तम् त्रासीथाम् ।

सायण – हे अश्विनौ युवाम् उपायातम् अपागच्छतम् (अस्मदाह्वानं प्रति)। किमर्थमित्याह-दाशुषे हविषां दात्रे मर्त्याय यजमानय जनाय रथेन वामं वननीयं धनं वहन्ता वहन्तौ, अस्मत् अस्मत्तः अनिरां दारिद्र्यम् अमीवां रोगं च युयुतं पृथक्कुरुतम् । हे माध्वी मधुमन्तौ युवां नः अस्मान् दिवानक्तं अहर्निशं सर्वदा त्रासीथां रक्षतम्

शब्दार्थ – उपायातम् – आओ। **दाशुषे** – हवि प्रदान करने वाले। **वामम्** – सेवन के योग्य धन को। **वहन्ता** – वहन करते हुये। **युयुतम्** – पृथक् कर दो। **अस्मत्** – हमसे। **अनिराम्** – दरिद्रता को। **अमीवाम्** – रोग को। **माध्वी** – मधु से भरे हुये। **त्रासीथाम्** – रक्षा करो।

हिन्दी अनुवाद – हे अश्विनी देवताओ ! हवि प्रदान करने वाले यजमान मनुष्य के लिये सेवन के योग्य धन को वहन करते हुये रथ के द्वारा आओ। हमसे दरिद्रता और रोग को पृथक् करो। हे मधु से भरे हुये अश्विनी देवो ! हमारी दिन-रात रक्षा करो।

व्याकरण –

अनिराम् – न + इरा – अनिरा । इरा – अन्न।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार अनिरा – आलस्य (**languor**) और माध्वी – मधु प्रेमी (**lovers of honey**)।

३ **आ वां रथमवस्यां व्युष्टौ सुम्नायवो वृषणो वर्तयन्तु ।**

स्यूमगभस्तिमृतयुग्भिरश्वैराश्विना वसुमन्तं वहेथाम् ।।

पद-पाठः आ ।वाम् ।रथम् ।अवमस्याम् ।विऽउष्टौ ।सुम्नऽयवः ।वृषणः ।वर्तयन्तु।

स्यूमऽगभस्तिम् ।ऋतयुक्ऽभिः ।अश्वैः ।आ ।अश्विना ।वसुऽमन्तम् ।वहेथाम् ।।

अन्वय – अवमस्याम् व्युष्टौ सुम्नायवः वृषणः वाम् रथम् आवर्तयन्तु । अश्विना ! स्यूमगभस्तिम् वसुमन्तम् ऋतयुग्भिः अश्वैः आवहेथाम् ।

सायण – अवमस्याम् आसन्नायां व्युष्टौ व्युच्छन्न उषसि वाम् युवयोः रथं सुम्नायवः सुखेन योजयन्तोऽश्वाः वृषणः वृर्षकाः युवाम् आवर्तयन्तु । स्यूमगभस्तिं सुखरश्मिं वसुमन्तं प्रदेयधनयुक्तं रथं हे अश्विना अश्विनौ ! ऋतयुग्भिः उदकयुक्तैः अश्वैः आवहेथाम् ।

शब्दार्थ – वाम् – तुम दोनों के। अवमस्याम् – आगामी या निकटवर्ती । व्युष्टौ – प्रातःकाल में। सुम्नायवः – सुख से जोते जाने वाले, सुख देने वाले। वृषणः – कामनाओं की वर्षा करने वाले घोड़े। आवर्तयन्तु – चलावें। स्यूमगभस्तिम् – सुखकारी लगामों वाले। ऋतयुग्भिः – जल से युक्त। वसुमन्तम् – दान देने योग्य धन से युक्त। आवहेथाम् – चलाओ।

हिन्दी अनुवाद – आगामी या निकटवर्ती प्रातःकाल में सुख से जोते जाने वाले या सुख देने वाले और कामनाओं की वर्षा करने वाले घोड़े तुम्हारे रथ को चलायें। हे अश्विनी देवताओ! सुखकारी लगामों वाले और दान के योग्य धनों से युक्त रथ को जल से युक्त घोड़ों से चलाओ।

व्याकरण –

स्युमगभस्तिम् – स्यूमाः सुखकराः गभस्तयः रश्मयः यस्य तम् । 'स्वि तन्तुसन्ताने' धातु से 'मन्' प्रत्यय । स्वि + मन् (म) – स्यूम ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार सुम्नायवः वृषणः – दयालु सांड घोड़े (**kindly stallions**) स्यूमगभस्तिम् – चमड़े के पट्टों से खींचा जाता हुआ (**drawn with thongs**) और ऋतयुग्भिः – ठीक समय पर जोते गये (**yoked in due time**)।

४ **यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा त्रिवन्धुरो वसुमाँ उस्त्रयामा ।**

आ न एना नासत्योप यातमभि यद्वां विश्वप्स्न्यो जिगाति ।।

पद-पाठः यः ।वाम् ।रथः ।नृपती इति नृऽपती ।अस्ति ।वोळ्हा ।त्रिऽवन्धुरः । वसुऽमान् ।उस्त्रऽयामा ।आ ।नः ।एना ।नासत्या ।उप ।यातम् ।अभि । यत् ।वाम् ।विश्वऽप्स्न्यः ।जिगाति ।।४ ।।

अन्वय - नृपती यः वाम् रथः वोळ्हा त्रिवन्धुरः वसुमान् उस्रयामा अस्ति, नासत्या एना नः उप आ यातम् । यत् वाम् विश्वप्स्न्यः अभि जिगाति ।

सायण - हे नृपती नृणां पालकौ अश्विनौ ! वां युवयोः यः रथः वोळ्हा युवयोर्वाहकः अस्ति सर्वदा सन्निहितो वर्तते असौ त्रिवन्धुरः सारथ्याधिष्ठानत्रययुक्तः वसुमान् धनवान् उस्रयामा उस्रं दिवसं तत्प्रति गन्ता । एना एतेन रथेन हे नासत्या अश्विनौ ! नः अस्मान् उप आ यातम् । यत् रथः वां विश्वप्स्न्यः व्याप्तरूपः अभिजिगाति अभिगच्छति ।

शब्दार्थ - **नृपती** - मनुष्यों का पालन करने वाले। **वोळ्हा** - वाहक। **त्रिवन्धुरः** - सारथि सहित तीन व्यक्तियों के बैठने के स्थान से युक्त। **वसुमान्** - धन से सम्पन्न। **उस्रयामा** - दिन के प्रति जाने वाला। **एना** - इस रथ से। **नासत्या** - हे अश्विनीकुमारो। **उपयातम्** - पास आओ। **विश्वप्स्न्यः** - व्याप्त होने वाला, वसिष्ठ ऋषि। **अभिजिगाति** - स्तुति करता है।

हिन्दी अनुवाद - **मनुष्यों का पालन करने वाले हे अश्विनी देवताओ ! जो तुम्हारा रथ तुम दोनों का वाहक है, सारथि सहित तीन व्यक्तियों के बैठने के स्थान से युक्त है, धन से सम्पन्न है और दिन के प्रति जाने वाला है अर्थात् दिन भर चलता है, हे अश्विनीकुमारो ! इस रथ से तुम हमारे पास आओ। जो रथ संसार में व्याप्त होता हुआ अभिगमन करता है। अथवा जिस रथ की विश्वप्स्न्य, व्याप्त होने वाला अर्थात् वसिष्ठ ऋषि स्तुति करता है।**

विशेष - मैक्डानल के अनुसार उस्रयामा - प्रातःकाल के समय यात्रा करने वाला (**faring at daybreak**) और विश्वप्स्न्यः - भोजनों से भरा हुआ (**laden with foods**)।

५ युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदवे ऊहथुराशुमश्वम् ।
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः ।।

पद-पाठः युवम् । च्यवानम् । जरसः । अमुमुक्तम् । नि । पेदवे । ऊहथुः । आशुम् । अश्वम् । निः । अंहसः । तमसः । स्पर्तम् । अत्रिम् । नि । जाहुषम् । शिथिरे । धातम् । अन्तरिति ।।

अन्वय - युवम् च्यवानम् जरसः अमुमुक्तम्, पेदवे आशुम् अश्वम् निः ऊहथुः अत्रिम् अंहसः तमसः निःस्पर्तम्, जाहुषम् शिथिरे अन्तः निधातम् ।

सायण - हे अश्विनौ युवं युवां च्यवानं च्यवननामानम् ऋषिं जरसः जीर्णाद् रूपाद् अमुमुक्तम् अमुञ्चतम् । पेदवे एतन्नामकाय राज्ञे आशुं शीघ्रगामिनम् अश्वं निः ऊहथुः युद्धे न्यवहतम् तथा अत्रिम् एतन्नामानम् ऋषिम् अंहसः तमसः गुहान्तः स्थिताद् अन्धकाराच्च निःस्पर्तं न्यपारयतम्। तथा जाहुषम् एतन्नामकं राजानं शिथिरे सञ्जाते अन्तः मध्ये निधातम् पुनः स्थापयतम्।

शब्दार्थ - **युवम्** - तुम दोनों ने। **च्यवानम्** - च्यवन् ऋषि को। **जरसः** - वृद्धावस्था से। **अमुमुक्तम्** - मुक्त किया था। **पेदवे** - पेदु नामक राजा के लिये। **निःऊहथुः** - पहुँचाया था।

आशुम् - तेज चलने वाले। **अंहसः** - पाप से। **तमसः** - अन्धकार से। **निःस्पर्तम्** - पार कराया था। **अत्रिम्** - अत्रि नामक ऋषि को। **जाहुषम्** - जाहुष नामक राजा को। **शिथिरे** - राज्य के भ्रष्ट होने पर। **निधातम्** - राज्य के भ्रष्ट होने पर। **निधातम्** - बिठला दिया था। **अन्तः** - राज्य के अन्दर।

हिन्दी अनुवाद - हे अश्विनी देवताओ ! तुम दोनों ने च्यवन ऋषि को वृद्धावस्था से मुक्त किया था। पेदु नामक राजा के लिये तेज चलने वाले घोड़े को युद्ध में पहुँचाया था, अत्रि नामक ऋषि को पाप से और गुफा के अन्धकार से पार कराया था और जाहुष नाम के राजा को उसके राज्य के भ्रष्ट हो जाने पर पुनः उस राज्य के अन्दर बिठला दिया था।

६ इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम् ।

इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।

पद-पाठः इयम् । मनीषा । इयम् । अश्विना । गीः । इमाम् । सुऽवृक्तिम् । वृषणा । जुषेथाम् । इमा । ब्रह्माणि । युवऽयूनि । अगमन् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ।।६ ।।

अन्वय - अश्विना इयम् मनीषा इयम् गीः वृषणा इमाम् सुवृक्तिम् जुषेथाः । इमा ब्रह्माणि युवयूनि अग्मन् यूयम् स्वस्तिभिः नः सदा पात ।

सायण - हे अश्विना अश्विनौ ! इयम् मनीषा मे इयम् कामना अस्ति इयं गीः मे इयं स्तुतिरस्ति यत् वृषणा कामानां वर्षितारौ युवाम् इमां सुवृक्तिं स्तुतिं जुषेथां स्वीकुरुतम्। इमा इमानि ब्रह्माणि व्यापकस्तुतिवाक्यानि युवयूनि नित्ययुवकाभ्यां युवाभ्याम् अगमन् प्राप्ताः भवेयुः । यूयं स्वस्तिभिः आशीर्वादैः कल्याणैः वा नः अस्मान् सदा पात रक्षतम् ।

शब्दार्थ - मनीषा - कामना। **गीः** -स्तुति को । **वृषणा** - कामनाओं की वर्षा करने वाले। **जुषेथाम्** - स्वीकार करो। **ब्रह्माणि** - व्यापक स्तुति वाक्य। **युवयूनि** - सदा युवा रहने वाले तुम दोनों को। **अग्मन्** - प्राप्त होवें। **पात** - रक्षा करो। **स्वस्तिभिः** - कल्याणों के द्वारा।

हिन्दी अनुवाद - हे अश्विनी देवताओ ! यह मेरी कामना है तथा यह मेरी स्तुति है कि कामनाओं की वर्षा करने वाले तुम मेरी इस स्तुति को स्वीकार करो। ये व्यापक स्तुति-वाक्य सदा युवा रहने वाले तुम दोनों को प्राप्त होवें। तुम कल्याणों द्वारा सदा हमारी रक्षा करो।

व्याकरण -

सुवृक्तिम् - सु + वृज् + क्तिन् ।

विशेष - छन्दःपूर्ति के लिये 'युवयून्यग्मन्' को 'युवयूनि अगमन्' पढना चाहिये।

सोम सूक्त

(मण्डल - ८, सूक्त-४८)

ऋषि - कण्वपुत्र प्रगाथ, **देवता** - सोम, **छन्दः** - त्रिष्टुप, पांच- जगती

१ स्वादोरभक्षि वयसः सुमेधाः स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य ।
विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि संचरन्ति ।।

पद-पाठः स्वादोः ।अभक्षि ।वयसः ।सुऽमेधाः ।सुऽआध्यः ।वरिवोवित्ऽतरस्य ।
विश्वे ।यम् ।देवाः ।उत ।मर्त्यासः ।मधु ।ब्रुवन्तः ।अभि ।सम्ऽचरन्ति ।।

अन्वय - सुमेधाः स्वाध्यः वरिवोवित्तरस्य स्वादोः वयसः अभक्षि, यम् विश्वे देवाः उत मर्त्यासः मधु ब्रुवन्त अभिसंचरन्ति ।

सायण - अहं प्रगाथः सुमेधाः शोभनप्रज्ञः स्वाध्यः स्वध्ययनः सुकर्मा वरिवोवित्तरस्य अतिशयेन पूजां लभमानस्य स्वादोः सुष्ठुवदनीयस्य स्वादुभूतस्य वयसः अन्नस्य ।एताः कर्मणि षष्ठ्यः। उक्तलक्षणं वयोऽन्नं वयोऽन्नं सोमाख्यम् अभक्षि भक्षयेय । यं यदन्नं विश्वे देवाः सर्वेऽपीन्द्रादयः उत अपि च मर्त्यासः मनुष्याः मधु ब्रुवन्तः मनोहरमेतदिति शब्दायन्तः अभिसञ्चरन्ति अभिसङ्गच्छन्ते प्राप्नुवन्ति तदन्नमभक्षीति ।

शब्दार्थ - स्वादोः - स्वादिष्ट।**अभक्षि** - खाने वाला बनूँ।**वयसः** - अन्न का ।**सुमेधाः** - उत्तम बुद्धि वाला। **स्वाध्यः** - उत्तम अध्ययन करने वाला।**वरिवोवित्तरस्य** - बहुत अधिक श्रेष्ठ।**विश्वे** - सब।**देवाः** - इन्द्र आदि देवता।**मर्त्यासः** - मनुष्य।**मधु** - मीठा।**ब्रुवन्तः** - कहते हुये।**अभिसंचरन्ति** - घूमते हैं।

हिन्दी अनुवाद - **उत्तम बुद्धि वाला, उत्तम अध्ययन करने वाला, मैं कण्व का पुत्र प्रगाथ नाम का ऋषि बहुत अधिक श्रेष्ठ स्वादिष्ट अन्न का खाने वाला बनूँ, जिस अन्न को सब इन्द्र आदि देवता और मनुष्य यह मीठा है, इस प्रकार से कहते हुये घूमते हैं। मैं उस अन्न का भक्षण करूँ।**

व्याकरण -

वरिवोवित्तरस्य - वरिवस् + विद्लृ + क्विप् + तरप् - वरिवोवित्तर। षष्ठी का एकवचन।

अभक्षि - भक्ष् धातु, लुङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

ब्रुवन्तः - ब्रू + शतृ ।उवङ् आदेश - ब्रुवत् ।प्रथमा का बहुवचन ।

विशेष - मैक्डानल ने 'वरिवोवित्तरस्य' का अर्थ किया है - उत्तम विचारों को प्रेरित करने वाला । (**that stirs good thoughts**) ।

२ अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य ।
इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः ।।

पद-पाठः अन्तरिति । च । प्र । अगाः । अदितिः । भवासि । अवऽयाता । हरसः । दैव्यस्य । इन्दो इति । इन्द्रस्य । सख्यम् । जुषाणः । श्रौष्टीऽइव । धुरम् । अनु । राये । ऋध्याः ।।

अन्वय - अन्तः च प्र अगाः । अदितिः दैव्यस्य हरसः अवयाता भवासि । इन्दो ! इन्द्रस्य सख्यम् जुषाणः श्रौष्टी धुरम् इव राये अनुऋध्याः ।

सायण - हे सोम ! त्वम् अन्तश्च प्रागाः । हृदयस्य यागागारस्य वा अन्तर्गच्छसि । गत्वा च अदितिः अदीनस्त्वं दैव्यस्य हरसः क्रोधस्य पृथक्कर्ता भवासि हर इति क्रोधनाम। हे इन्दो सोम ! त्वम् इन्द्रस्य सख्यं जुषाणः सेवमानः श्रौष्टी । श्रुष्टीति क्षिप्रनाम तत्सम्बन्धी श्रौष्टी। क्षिप्रगाम्यश्वः धुरम् इव राये अस्माकं धनलाभाय अनुऋध्याः अनुगच्छसि । अथवा अश्वो यथा धुरं वृत्वा अभिमतदेशं प्रापयति तद्वदस्मान् प्रापय । अनुपूर्व ऋधिर्गत्यर्थः ।

शब्दार्थ - अन्तः - हृदय के अन्दर तक । **प्रागाः** - गये हुये हो । **अदितिः** - दीन न रहते हुये। **दैव्यस्य** - देवताओं के। **हरसः** - क्रोध के। **अवयाता** - दूर करने वाले। **इन्दो** - हे सोम। **सख्यम्** - मित्रता को। **जुषाणः** - प्राप्त करते हुये। **श्रौष्टी** - शीघ्रगामी घोड़ा । **राये** - धन को प्राप्त कराने के लिये। **अनुऋध्या** - अनुगमन करते हो।

हिन्दी अनुवाद - **हे सोम ! तुम हृदय के अन्दर तक गये हुये हो । वहाँ जाकर दीन न रहते हुये तुम देवताओं के क्रोध के दूर करने वाले बनते हो। हे सोम ! इन्द्र की मित्रता को प्राप्त करते हुए तुम शीघ्रगामी घोड़ा जिस प्रकार धुरे का अनुगमन करता हुआ अभिमत स्थान को प्राप्त करता है, उसी प्रकार हमें धन को प्राप्त कराने के लिये अनुगमन करते हो।**

व्याकरण -

प्रागाः - प्र + इ (गा) धातु, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

भवासि - भू धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

जुषाणः - जुष् + शानच् - जुषाण ।

श्रौष्टी - श्रुष्टि + अण् + ड़ीप् ।

ऋध्याः - ऋध् धातु, विधिलिङ्, मध्यम पुरुष, एकवचन।

अनुऋध्याः - अनु + ऋध् धातु गत्यर्थक होती है।

विशेष - मैक्डानल के अनुसार श्रौष्टी - आज्ञाकारिणी घोड़ी (**obedient mare**), अनुऋध्याः -आगे बढ़ते हो (**advance**)।

३ अपाम् सोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ।

पद-पाठः अपाम ।सोमम् ।अमृताः ।अभूम ।अगन्म ।ज्योतिः।अविदाम ।देवान् ।
किम् ।नूनम् ।अस्मान् ।कृणवत् ।अरातिः ।किम् ।ऊँ इति ।धूर्तिः ।अमृत ।मर्त्यस्य ।।३ ।।

अन्वय – अमृत ! सोमम् अपाम, अमृताः अभूम, ज्योतिः अगन्म, देवान् अविदाम । अस्मान् अरातिः नूनम् किम् कृणवत् ।मर्त्यस्य धूर्तिः किमु ।

सायण – हे अमृत अमरण सोम त्वाम् अपाम पानं करवाम कुर्मः। ततः अमृताः अभूम भवेम। यस्मात् त्वम् अमृतः अतस्तव पानाद् वयमप्यमृताः स्याम। पश्चात् ज्योतिः द्योतमानं स्वर्गम् अगन्म। अविराम ज्ञातवन्तो देवान्। तथाभूतान् अस्मान् नूनम् अरातिः शत्रुः किं कृणवत् कुर्यात्। किमु किं वा मर्त्यस्य इदानीं मनुष्यभूतस्य मम धूर्तिः हिंसकः कि कृणवत् कुर्यात् ।

शब्दार्थ – अपाम – पान करें। **अमृताः** – मरणरहित। **अभूम** – हो गये हैं। **अगन्म** – जान लिया है, प्राप्त कर लिया है। **ज्योतिः** – प्रकाशमान लोकों को। **अविदाम** – प्राप्त कर लिया है। **अस्मान्** – हमारा। **कृणवत्** – कर सकता है। **अरातिः** – शत्रु। **धूर्ति** – धूर्तता।

हिन्दी अनुवाद – हे मरण रहित सोम ! हमने तुम सोम का पान किया है और मरण रहित हो गये हैं। हमने प्रकाशमान लोकों को जान लिया या प्राप्त कर लिया है और देवताओं को प्राप्त कर लिया है। इसलिये हमारा शत्रु अब निश्चय से क्या कर सकता है और मनुष्य की धूर्तता भी हमारा क्या कर सकती है। अर्थात् अब कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।

व्याकरण –

अपाम, अभूम, अगन्म – पा, भू और गम् धातु, लड़् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

अविदाम – 'विद् ज्ञाने' या 'विद्लृ लाभे' धातु लङ् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

कृणवत् – कृवि (कृण्व्) धातु, लेट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

४ शं नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः ।
सखेव सख्य उरुशंस धीरः प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः ।।

पद-पाठः शम् ।नः ।भव ।हृदे ।आ ।पीतः ।इन्दो इति ।पिताऽइव ।सोम ।सूनवे। सुऽशेवः ।सखाऽइव ।सख्ये।उरुऽशंस ।धीरः ।प्र ।नः ।आयुः ।जीवसे ।सोम ।तारीः ।।४।।

अन्वय – इन्दो आपीतः नः हृदे शम् भव । सोम ! पिता सूनवे इव सखा सख्ये इव सुशेवः। उरुशंस सोम धीरः नः जीवसे आयुः प्रतारीः ।

सायण – हे इन्दो सोम अस्माभिः पीतः त्वं नः अस्माकं हृदे हृदयाय शं शुभम् आ भव ।

सुखभवने दृष्टान्तद्वयम् । पिता सूनवे स्वात्मजाय यथा सुखाय भवति यथा वा सखा अहितान्निवर्त्य हिते स्थापयिता सखा स्वसख्ये यथा सुशेवः सुसुखो भवति ।शेवमिति सुखनाम। तद्वत् त्वमपि भव। किञ्च हे उरुशंस ! बहुभिर्वहुधा वा शंसनीय बहुकीर्ते सोम धीरः धीमान् त्वं नः अस्माकं जीवसे जीवनाय आयुः आयुष्यं प्रतारीः प्रवर्धय ।

शब्दार्थ – शं भव – शुभ प्रदान करने वाला बनो । **हृदे** – हृदयों को । **आपीतः** – पीये जाते हुये। **इन्दो** – हे सोम । **सुशेवः** – सुख देने वाला । **उरुशंस** – बहुतों के द्वारा या बहुत प्रकार से स्तुति किये जाते हुये, महान् कीर्ति वाले । **धीरः** – बुद्धिमान् । **जीवसे** – जीवन के लिये । **तारीः** – बढाओ।

हिन्दी अनुवाद – हे सोम हमारे द्वारा पिये जाते हुये तुम हमारे हृदयों को शुभ प्रदान करने वाला बनो ।हे सोम ! जिस प्रकार पिता पुत्र के लिये सुख देने वाला होता है और मित्र मित्र के लिये सुख देने वाला होता है उसी प्रकार तुम हमारे लिये सुख देने वाले होओ। बहुतों के द्वारा या बहुत प्रकार से स्तुति किये जाते हुए महान् कीर्ति वाले हे सोम ! बुद्धिमान् तुम हमारे जीवन के लिये हमारी आयु को बढ़ाओ।

व्याकरण –

आपीतः – आ + पा + क्त ।पा के आ को ई आदेश ।

जीवसे – 'जीव धातु' से 'तुमुन्' के अर्थ में 'असेन्' प्रत्यय ।

तारीः – तृ धातु, लड़् लकार, मध्यम पुरुष का एकवचन ।

५ **इमे मा पीता यशस उरुष्यवो रथं न गावः समनाह पर्वसु ।**

ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मा स्रामाद्यवयन्त्विन्दवः ।।

पद-पाठः इमे ।मा ।पीताः ।यशसः ।उरुष्यवः ।रथम् ।न ।गावः ।सम् ।अनाह । पर्वऽसु ।ते ।मा ।रक्षन्तु ।विऽस्रसः ।चरित्रात् ।उत ।मा ।स्रामात् ।यवयन्तु ।इन्दवः ।।५ ।।

अन्वय – इमे पीताः मा यशसः उरुष्यवः, गावः रथम् न पर्वसु समनाह ते मा विस्रसः चरित्रात् रक्षन्तु। उत इन्दवः मा स्रामात् यवयन्तु ।

सायण – इमे पीताः यशसः यशस्कराः उरुष्यवः अस्माकं रक्षाकामाः सोमाः गावः गोविकारभूताः वध्र्यः रथं न रथमिव ता यथा रथं विस्रस्तं पर्वसु समनाह सन्दधते तद्वत् मां पीताः सोमाः पर्वसु संनह्यन्तु। किञ्च ते सोमाः मा मां विस्रसः विस्रस्तात् चरणादनुष्ठानात् रक्षन्तु। सोमः पीतश्चेत् कर्म हाविस्रस्तं भवति। उत अपि च मा मां स्रामाद् व्याधेः इन्दवः पीताः यवयन्तु पृथक् कुर्वन्तु।

शब्दार्थ – पीताः – पिये जाते हुये। **यशसः** – कीर्तिकारक हैं। **उरुष्यवः** – रक्षा करने

वाले हैं। **गावः** – बैल । **समनाह** – पुष्ट करें। **पर्वसु** – पर्व के अवसरों पर। **विस्रसः** – पतित होते हुये। **स्रामात्** – व्याधि से। **यवयन्तु** – मुक्त रखें। **इन्दवः** – सोम ।

हिन्दी अनुवाद – ये पिये जाते हुये सोम मेरे लिये कीर्तिकारक हैं और हमारी रक्षा करने वाले हैं। जिस प्रकार जोते गये बैल रथ को तैयार रखते हैं उसी प्रकार ये सोम पर्व के अवसरों पर मुझको पुष्ट करें। वे सोम मेरी पतित होते हुये चरित्र से रक्षा करें और वे सोम मुझको व्याधि से मुक्त रखें।

व्याकरण –

यशसः – यशः कुर्वन्तिः – यशस् + मतुप् । मतुप् का छान्दस लोप – यशस्। प्रथमा का बहुवचन।

उरुष्यवः – उरुष्य् + उ – उरुष्यु । प्रथमा का बहुवचन ।

समनाह – णिजन्त 'णह्' धतु, लङ् लकार, प्रथम पुरूष का एकवचन – अनाह। सम् + अनाह – समनाह।

विस्रसः – वि + स्रंस् + क्विप् – विस्रस् । प्रथमा का बहुवचन।

चरित्रात् – चर् + इत्र – चरित्र । पञ्चमी का एकवचन ।

यवयन्तु – यु धातु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन। वैदिक रूप ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार गावः – लगाम (**straps**), पर्व – सन्धि (**joints**), विस्रसः चरित्रात् – एक टांग के टूटने से । (**from breaking a leg**)।

६ अ॒ग्निं न मा॑ मथि॒तं सं दि॑दीपः॒ प्र च॑क्षय कृ॒णु॒हि वस्य॑सो नः ।
अथा॒ हि ते॒ मद॒ आ सो॑म॒ मन्ये॑ रे॒वाँ इ॑व॒ प्र च॑रा पु॒ष्टिमच्छ॑ ॥

पद-पाठः अ॒ग्निम् । न । मा॒ । म॒थि॒तम् । सम् । दि॒दी॒पः॒ । प्र । च॒क्ष॒य । कृ॒णु॒हि । वस्य॑सः। न॒ः । अथ॑ । हि । ते॒ । मदे॑ । आ । सो॒म॒ । मन्ये॑ । रे॒वान्ऽइ॑व । प्र । च॒र॒ । पु॒ष्टिम् । अच्छ॑ ।।६ ।।

अन्वय – मा मथितम् अग्निम् न सम् दिदीपः , प्रचक्षय, नः वस्यसः कृणुहि। सोम ! अथ हि ते मदे आ मन्ये रेवान् इव पुष्टिम् अच्छ प्रचर ।

सायण – हे सोम ! पीतः त्वं मा मां मथितम् अग्निं न अग्निमिव संदिदिपः संदीपय । प्रचक्षय च चक्षुषः सन्धुक्षणेन । नः अस्मान् वस्यसः अतिशयेन वसुमतः कृणुहि कुरु । अथ अध ुना हि खलु ते त्वां हे सोम । मदे मदाय मन्ये स्तौमि। तथा सति रेवानिव धनवानिव । इवेति सम्प्रत्यर्थे। पुष्टिम् अस्मत् पोषम् अच्छ प्रचर अभिगच्छ ।

शब्दार्थ – अग्निं न – अग्नि के समान । **मा** – मुझको। **मथितम्** – प्रदीप्त। **संदिदीपः** –

दैदीप्यमान बना दो । **प्रचक्षय** - दीर्घदर्शी बनाओ। **कृणुहि** - बना दो। **वस्यसः** - धन से सम्पन्न। **मदे** - प्रसन्नता के लिये । **आमन्ये** - स्तुति करता हूँ। **रेवान्** - धनवान्। **पुष्टिम्** - पुष्टि को। **अच्छ** - निर्मल। **प्रचर** - बनाओ।

हिन्दी अनुवाद - **पिये जाते हुये हे सोम ! मुझको प्रदीप्त अग्नि के समान दैदीप्यमान बना दो और दीर्घदर्शी बनाओ। हमें अत्यधिक धन से सम्पन्न बना दो। हे सोम ! अब निश्चय ही तुम्हारी मैं प्रसन्नता के लिये स्तुति करता हूँ अर्थात् तुमको प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला मानता हूँ। धनवान् के समान ही हमारी पुष्टि को तुम निर्मल बनाओ।**

व्याकरण - मथितम् - मथ् + (इट्) + क्त - मथित ।

दिदीपः - दीप् धातु, लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

वस्यसः - वसु + मतुप् + ईयसुन् - वस्यस् । द्वितीया का बहुवचन।

कृणुहि - कृ धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप।

रेवान् - रे + मतुप् - रेवत् । प्रथमा का एकवचन ।

विशेष - मैडानल के अनुसार मथितम् - रगड़ने से उत्पन्न (**Kindled by friction**), प्रचक्षय - प्रकाशित करो (**illumine**), मदे - नशे में (**in intoxication**)। रेवानिव मन्ये - मैं अपने को धनवान् की तरह समझता हूँ। (**I regard myself as rich**)।

७ **इ॒षि॒रेण॑ ते॒ मन॑सा सु॒तस्य॑ भक्षी॒महि॒ पित्र्य॑स्येव रा॒यः ।**
सोम॑ राज॒न् प्र ण॒ आयूं॑षि तारी॒रहा॑नीव॒ सूर्यो॒ वास॒राणि॑ ।।

पद-पाठः इ॒षि॒रेण॑ । ते॒ । मन॑सा । सु॒तस्य॑ । भ॒क्षी॒महि॑ । पित्र्य॑स्यऽइ । रा॒यः ।
सोम॑ । रा॒ज॒न् । प्र । न॒ः । आयू॑षि । ता॒रीः । अहा॑निऽइव । सूर्यः । वा॒स॒राणि॑ ।।७ ।।

अन्वय - इषिरेण मनसा सुतस्य ते भक्षीमहि पित्र्यस्य रायः इव । सोम ! राजन् ! नः आयूंषि प्रतारीः सूर्यः वासराणि अहानि इव।

सायण - इषिरेण इच्छावता मनसा सुतस्य ते सुतमभिषुतं त्वां भक्षीमहि ! पित्र्यस्य पितृसम्बन्धिनो रायः धनस्येव धनमिव । पित्र्यं धनं यथेषणेन मनसोपभुञ्जते तद्वत्। भक्षित हे सोम! राजन् ! स्वामिन् नः अस्माकम् आयूंषि प्रतारीः प्रवर्धय । वासराणि जगद्वासकान्यहानि सूर्यः इव ।

शब्दार्थ - इषिरेण - इच्छा के अनुसार। **सुतस्य** - अभिषव किये गये। **भक्षीमहि** - भक्षण करता हूँ। **पित्र्यस्य** -पिता के। **रायः** - धन का। **प्रतारीः** - बढ़ाइये। **अहानि** - दिनों को। **वासराणि** - संसार को बसाने वाले।

हिन्दी अनुवाद – इच्छा के अनुसार मन से अभिषव किये गये, हे सोम ! मैं तुम्हारा भक्षण करता हूँ, अर्थात् पान करता हूँ, उसी प्रकार से जैसे इच्छानुसार पिता के धन का उपभोग किया जाता है। हे सोम ! सबके स्वामी राजन् ! आप हमारी आयुओं को उसी प्रकार से बढ़ाइये, जैसे सूर्य संसार को बसाने वाले दिनों को बढ़ाता है।

व्याकरण –

इषिरेण – इष् + इरच् – इषिर । तृतीया का एकवचन ।

सुतस्य – सु + क्त – सुत । षष्ठी का एकवचन ।

पित्र्यस्य – पितृ + यत् – पित्र्य । षष्ठी का एकवचन ।

भक्षीमहि – भक्ष् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

तारीः – तृ धातु, लङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

विशेष – मैक्डानल ने 'वासराणि' का अर्थ 'वसन्त ऋतु सम्बन्धी' (**of spring**) किया है।

८ **सोम राजन्मृळया नः स्वस्ति तव स्मसि व्रत्याऽस्तस्य विद्धि ।**
अलर्ति दक्ष उत मन्युरिन्दो मा नो अर्यो अनुकामं परा दाः ।।

पद-पाठः सोम । राजन् । मृळय । नः । स्वस्ति । तव । स्मसि । व्रत्याः । तस्य । विद्धि । अलर्ति । दक्षः । उत । मन्युः । इन्दो इति । मा । नः । अर्यः । अनुऽकामम् । परा । दाः ।।

अन्वय – सोम ! राजन् ! नः स्वस्ति मृळय । व्रत्याः तव स्मसि । तस्य विद्धि । इन्दो ! दक्षः अलर्ति उत मन्युः । अर्यः अनुकामम् नः मा परा दाः ।

सायण – हे सोम राजन् नः अस्मान् स्वस्ति अविनाशाय मृळय सुखय च व्रत्याः व्रतिनो वयं तव स्मसि स्वभूताः स्म । तस्य तं स्वकीयं तव विद्धि जानीहि । अथवा तव त्वमित्यर्थः । त्वं जानीहि । किञ्चं हे इन्दो ! दक्षः प्रवृद्धोऽस्मच्छत्रुः अलर्ति गच्छति । उत अपि च मन्युः क्रोधः अलर्ति गच्छति । तादृशस्योभयविधस्य अर्यः अरेः अनुकामं यथाकामं नः अस्मान् मा पराः दाः परादेहि।

शब्दार्थ – राजन् – सबके स्वामी। **मृळय** – सुखी करो। **स्वस्ति** – कल्याण के साथ । **तव** – तुम्हारे। **स्मसि** – हैं। **व्रत्याः** – व्रत को धारण करने वाले। **तस्य** – तुम्हारा अपना। **विद्धि** – जानो। **अलर्ति** – जा रहा है। **दक्षः** – प्रवृद्ध हुआ शत्रु। **मन्युः** – क्रोध । **अर्यः** – शत्रु के। **अनुकामम्** – इच्छा के अनुसार । **परा दाः** –त्याग देना।

हिन्दी अनुवाद – हे सोम ! सबके स्वामी राजन् ! हमें कल्याण के साथ सुखी करो। व्रत को धारण करने वाले हम तुम्हारे हैं। ऐसे तुम्हारे हमको तुम अपना जानो । हे सोम ! प्रवृद्ध हुआ शत्रु जा रहा है और क्रोध जा रहा है। उन दोनों प्रकार के शत्रुओं की इच्छा के अनुसार हमें तुम त्याग मत देना।

व्याकरण –

व्रत्याः – व्रत + यत् – व्रत्य ।

अलर्ति – ऋ गतौ धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन । वैदिक रूप ।

अर्यः – अरि शब्द, षष्ठी विभक्ति, एकवचन । वैदिक रूप ।

परा दाः – परा पूर्वक 'दा' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार व्रत्याः – उपासक (**devotees**) । दक्षः उत मन्युः अलर्ति – शक्ति और क्रोध उठता है (**There arise might and wrath**) ।

९ त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा गात्रेगात्रे निषसत्था नृचक्षाः ।
यत्ते वयं प्रमिनाम व्रतानि स नो मृळ सुषखा देव वस्यः ॥

पद-पाठः त्वम् । हि । नः । तन्वः । सोम । गोपाः । गात्रेऽगात्रे । निऽससत्थ । नृऽचक्षाः ।
यत् । ते । वयम् । प्रऽमिनाम । व्रतानि । सः । नः । मृळ । सुऽसखा । देव । वस्यः ॥९॥

अन्वय – सोम ! त्वं हि नः तन्वः गोपाः, गात्रेगात्रे नृचक्षाः निषसत्थ । यत् ते व्रतानि वयम् प्रमिनाम, देव ! स वस्यः नः सुसखा मृळ ।

सायण – हे सोम देव त्वं नः अस्माकं तन्वः तनोरङ्गस्य गोपाः हि रक्षिता खलु । अतः गात्रेगात्रे सर्वेष्वङ्गेषु नृचक्षाः नृणां कर्मनेतृणां द्रष्टा त्वं निषसत्थ निषीदसि । यत् यद्यपि ते व्रतानि कर्माणि वयं प्रमिनाम हिंस्मः तथापि हे देव ! सः त्वं वस्यः श्रेष्ठान् नः अस्मान् सुसखा शोभनसखा सन् मृळ सुखय।

शब्दार्थ – तन्वः – शरीर की । **गोपाः** – रक्षा करो। **गात्रेगात्रे** – प्रत्येक अङ्ग में। **निषसत्थ** – स्थित हो जाओ। **नृचक्षाः** – मनुष्यों के कर्मों के द्रष्टा होते हुये। **प्रमिनाम** – नष्ट करते हैं। **व्रतानि** – कर्मों को, नियमों को । **मृळ** – सुखी करो। **सुसखा** – उत्तम मित्र होते हुये। **वस्यः** – श्रेष्ठ।

हिन्दी अनुवाद – हे सोम ! तुम निश्चय ही हमारे शरीर की रक्षा करो और हमारे प्रत्येक अङ्ग में मनुष्यों के कर्मों के द्रष्ट्य होते हुये स्थित हो जाओ। यद्यपि हम तुम्हारे कर्मों अथवा नियमों को नष्ट करते हैं, तथापि हे देव ! वे तुम श्रेष्ठ हमारे उत्तम मित्र होते हुये हमें सुखी करो।

व्याकरण -

तन्वः - तनु शब्द, षष्ठी का एकवचन ।

गोपा - णिजन्त गुप् + क्विप् ।

निषसत्थ - नि + सद्, लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

नृचक्षाः - नृ + चक्ष् + असुन् - नृचक्षस् । प्रथमा का एकवचन ।

प्रमिनाम - प्र + मि धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष - मैक्डानल ने 'वस्यः' का अर्थ अधिक कल्याण के लिये (**for higher welfare**) किया है।

१० **ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः ।**
अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः ।।

पद-पाठः ऋदूदरेण । सख्या । सचेय । यः । मा । न । रिष्येत् । हरिऽअश्व । पीतः । अयम् । यः । सोमः । नि । अधायि । अस्मे इति । तस्मै । इन्द्रम् । प्रऽतिरम् । एमि । आयुः ।। १० ।।

अन्वय - ऋदूदरेण सख्या सचेय, हर्यश्व ! यः पीतः मा न रिष्येत् यः अयम् सोमः अस्मे न्याधायि तस्मै प्रतिरम् आयुः इन्द्रम् एमि ।

सायण - अहं प्रगाथः ऋदूदरेण उदराबाधकेन सोमेन सख्या सचेय संगच्छेय । संगतो भवामि । 'ऋदूदरः सोमो मृदूदरः' (नि० ६.४) इति यास्कः । यः सोमः पीतः सन् मा मां रिष्येत् न हिंस्येत् हे हर्यश्व इन्द्र । सौम्ये सूक्ते इन्द्रस्य कीर्तनं सोमस्य इन्द्रस्वामिकत्वान्न विरुद्धम् । यः अयं सोमः अस्मासु न्यधासि निहितोऽभूत तस्मै सोमाय प्रतिरम् आयुः जठरे चिरकालावस्थानम् इन्द्रम् एमि याचे ।

शब्दार्थ - ऋदूदरेण - पेट को कष्ट न देने वाले । **सख्या** - मित्रता को । **सचेय** - प्राप्त करूँ । **मा** - मुझको । **न** - नहीं । **रिष्येत्** - हिंसित् करे । **हर्यश्व** - हे हरे घोड़ों वाले इन्द्र । **पीतः** - पिया जाता हुआ । **न्याघायि** - निहित हैं । **अस्मे** - हमारे में । **तस्मै** - उस सोम के लिये । **इन्द्रम्** - इन्द्र से । **प्रतिरम्** - दीर्घ । **एमि** - माँगता हूँ ।

हिन्दी अनुवाद - मैं प्रगाथ नाम का ऋषि पेट को कष्ट न देने वाले सोम से मित्रता को प्राप्त करूँ । हे हरे घोड़ों वाले इन्द्र ! जो पिया जाता हुआ सोम मुझको हिंसित न करे । यह जो सोम हमारे में निहित है, उस सोम के लिये मैं दीर्घ आयु को इन्द्र से माँगता हूँ ।

व्याकरण -

ऋदूदरेण - ऋदु उदरं यस्य तेन ।

सचेय – सच् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, एकवचन ।

रिष्येत् – रिष् धातु, विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

हर्यश्व – हरयः अश्वाः यस्य सः । बहुब्रीहि समास ।

अस्मे – सप्तमी के अर्थ में 'शे' आदेश हुआ है।

न्याधायि – नि + धा धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विशेष – मैक्डानल ने 'हर्यश्व' का अर्थ 'घोड़ों का स्वामी' (**lord of bays**) किया है। उसके अनुसार दो पादों का अर्थ इस प्रकार है – **For (the enjoyment of) that soma which has been deposited in us. I approach Indra to prolong our years.**

११ अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा निरत्रसन्तमिषीचीरभैषुः ।
आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ।।

पद-पाठः अप । त्याः । अस्थुः । अनिराः । अमीवा । निः । अत्रसन् । तमिषीचीः । अभैषुः। आ । सोमः । अस्मान् । अरुहत् । विऽहायाः । अगन्म । यत्र । प्रऽतिरन्ते । आयुः ।।

अन्वय – त्याः अनिराः अमीवाः अप अस्थुः तमिषीचीः निःअत्रसन् अभैषुः, विहायाः सोमः अस्मान् आ अरुहत्। यत्र आयुः प्रतिरन्ते अगन्म ।

सायण – त्या ताः अनिराः प्रेरयितुमशक्याः अमीवाः बलवत्यः पीडाः अप अस्थुः अपगच्छन्तु। याः तमिषीचीः बलवत्योऽस्मान् निः नितराम् अत्रसन् प्राप्नुवन् तथा अभैषुः कम्पयन्ति । अपगमे कारणमाह । यस्मात् सोमः विहायाः महान् सन् अस्मान् आ अरुहत् आगमत् प्राप्तवान् अतोऽपास्थुरिति भावः । यत्र यस्मिन् सोमे पीते आयुः आयुष्यं प्रतिरन्ते वर्धयन्ति मनुष्यास्तं सोमम् अगन्म इति ।

शब्दार्थ – **त्याः** – वे। **अप अस्थुः** – दूर हट गये है। **अनिराः** – प्रेरणा न दिये जा सकने वाले। **अमीवाः** – बड़े बड़े रोग । **निः अत्रसन्** – डराते थे। **तमिषीचीः** – बहुत बलवान्। **अभैषुः** – कंपाते थे। **अस्मान्** – हमें। **आ अरुहत्** – प्राप्त हो गया है। **विहायाः** – महान् बनता हुआ। **अगन्म** – प्राप्त करें। **प्रतिरन्ते** – बढा देते हैं।

हिन्दी अनुवाद – वे प्रेरणा न दिये जा सकने वाले बड़े-बड़े रोग हमसे दूर हट गये हैं, जो बहुत बलवान् थे और हमें डराते थे तथा कंपाते थे, क्योंकि महान् बनता हुआ सोम हमें प्राप्त हो गया है। जिस सोम के पी लेने पर वे आयु को बढ़ा देते हैं, हम मनुष्य उस सोम को प्राप्त करें।

व्याकरण – **तमिषीचीः** – तमिषीम् अञ्चति अर्थ में तमिषी + अञ्च् + क्विप् – तमिष्यन्। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार तमिषीची: – अन्धकार की शक्तियाँ (**Powers of darkness**), विहाया – शक्ति से (**with might**)।

१२ यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यौ आविवेश ।

तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ।।

पद-पाठः यः । नः । इन्दुः । पितरः । हृत्ऽसु । पीतः । अमर्त्यः । मर्त्यान् । आऽविवेश ।

तस्मै । सोमाय । हविषा । विधेम । मृळीके । अस्य । सुऽमतौ । स्याम ।। १२।।

अन्वय – पितरः ! यः इन्दुः हृत्सु पीतः अमर्त्यः नः मर्त्यान् आविवेश तस्मै सोमाय हविषा विधेम अस्य मृळीके सुमतौ स्याम ।

सायण – हे पितरः यः इन्दुः हृत्सु पीतः सन् अमर्त्यः मृतिरहितः सन् मर्त्यान् नः अस्मान् आविवेश तस्मै सोमाय हविषा विधेम परिचरेम । अस्य सोमस्य मृळीके सुखे सुमतौ चानुग्रहबुद्धौ च स्याम भवेम ।

शब्दार्थ – इन्दुः – सोम । **पितरः** – हे पितरो । **हृत्सु** – हृदयों में । **अमर्त्यः** – मृत न होता हुआ । **मर्त्यान्** – मरणधर्मा मनुष्यों में । **आविवेश** – प्रविष्ट हुआ है । **मृळीके** – सुख में । **सुमतौ** – अनुग्रह बुद्धि में ।

हिन्दी अनुवाद – हे पितरो ! जो सोम हमारे हृदयों में पिया गया और कभी मृत अर्थात् नष्ट न होता हुआ हम मरणधर्मा मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है, उस सोम की हम हवि प्रदान करके पूजा करते हैं और हम इस सोम के सुख में और उसकी अनुग्रह बुद्धि में रहें।

व्याकरण –

आविवेश – आ + विश् + लिट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन ।

विधेम, स्याम – विध्, अस् धातु, विधिलिङ्, उत्तम पुरुष, बहुवचन ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार 'मृळीके का अर्थ है – कृपा (**mercy**)।

१३ त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।

तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।

पद-पाठः त्वम् । सोम । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः । अनु । द्यावापृथिवी इति । आ । ततन्थ । तस्मै । ते । इन्दो इति । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ।। १३ ।।

अन्वय – सोम ! त्वम् पितृभिः संविदानः द्यावापृथिवी अनु आ ततन्थ । इन्दो ! तस्मै ते हविषा विधेम । वयम् रयीणाम् पतयः स्याम ।

सायण – हे सोम ! त्वं पितृभिः सह संविदानः संगच्छमानः द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यो अनु आ ततन्थ क्रमेण विस्तारयसि ।तस्मै सोमाय हविषा विधेम परिचरेम ।वयं रयीणां धनानां पतयः स्याम भवेम ।

शब्दार्थ – पितृभिः – पितरों के साथ ।**संविदानः** – संगत होता हुआ।**आततन्थ** – विस्तृत करते हो।**इन्दो** – हे सोम ।**हविषा** – हवि के द्वारा।**विधेम** – पूजा करते हैं।**पतयः** – स्वामी।**रयीणाम्** – धनों के।

हिन्दी अनुवाद – हे सोम ! तुम पितरों के साथ संगत होते हुये द्युलोक और पृथिवी लोक को क्रमशः विस्तृत करते हो।हे सोम ! हम उस तुम्हारी हवि के द्वारा पूजा करते हैं।हम धनों के स्वामी बनें।

व्याकरण –

संविदानः – सम + विद् + शानच् – संविदान ।

द्यावापृथिवी – द्यौश्च पृथिवी च ।वैदिक रूप ।

आततन्थ – आ + तन् धातु, लिट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन ।

रयीणाम् – रयि शब्द, षष्ठी का बहुवचन ।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार 'द्यावापृथिवी अनु आ ततन्थ' का अर्थ है –

अन्तरिक्ष और पृथिवी के ऊपर फैले हुये हो (**hast extended over Heaven and Earth**)।

१४ त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ।।

पद-पाठः त्रातारः ।देवाः ।अधि ।वोचत ।नः ।मा ।नः ।निऽद्रा ।ईशत ।मा ।उत ।जल्पिः ।वयम् ।सोमस्य ।विश्वह ।प्रियासः ।सुऽवीरासः ।विदथम् ।आ ।वदेम् ।।१४ ।।

अन्वय – त्रातारः देवाः ।नः अधिवोचत ।नः निद्रा मा ईशत उत जल्पिः मा।वयम् विश्वह सोमस्य प्रियासः सुवीरासः विदथम् आ वदेम ।

सायण – हे त्रातारः रक्षितारो हे देवाः नः अस्मान् अधिवोचत अधिवचनं कुरुत ।नः अस्मान् निद्राः स्वप्नाः मा ईशत ईश्वरा मा भूवन् बाधितुम्।उत अपि च जल्पिः निन्दकः अस्मान् मा निन्दतु।वयं सोमस्य प्रियासः प्रियाः स्याम विश्वह सर्वेष्वपि अहःसु ।सर्वदेत्यर्थः ।सुवीरासः शोभनपुत्राः सन्तः विदथं स्तोत्रम् आभिमुख्येन वदेम।अथवा सुपुत्रा विदथं गृहम् आवदेम । आवेदनं पुत्रपौत्राणां धनेनोपच्छन्दनम् ।

शब्दार्थ – त्रातारः – रक्षा करने वाले। **अधिवोचत** – उपदेश दो। **मा ईशत** – कभी नहीं अधिकार करे। **उत** – और । **जल्पिः** – निन्दक। **विश्वह** – सब दिनों में । **प्रियास** – प्रिय बने रहें। **सुवीरासः** – उत्तम पुत्रों वाले हाते हुये। **विदथम्** – स्तुति को, घर को।

हिन्दी अनुवाद – हे रक्षा करने वाले देवताओ ! हमें उपदेश दो । हमारे ऊपर नींद कभी नहीं अधिकार करे अर्थात् बाधा न पहुँचावे और निन्दक हमें बाधा न पहुँचावे। हम सब दिनों में अर्थात् सदा सोम के प्रिय बने रहें और उत्तम पुत्रों वाले होते हुये तुम्हारी स्तुति करते रहें अथवा घरों में हमारे उत्तम पुत्र-पौत्र भरे रहें।

व्याकरण -

त्रातारः – त्रा + तृच् – त्रातृ ।

वोचत – वच् धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन । वैदिक रूप ।

प्रियासः, सुवीरासः – प्रिय और सुवीर शब्द, प्रथमा का बहुवचन । वैदिक रूप।

विदथम् – विद् + अथच् – विदथ ।

विशेष – मैक्डानल ने 'जल्पि' का अर्थ 'व्यर्थ की बाते' (**idle talk**) किया है।

१५ त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः ।
त्वं न इन्द ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात् ।।

पद-पाठः त्वम् । नः । सोम । विश्वतः । वयःऽधाः । त्वम् । स्वःऽवित् । आ । विश । नृऽचक्षाः । त्वम् । नः । इन्दो इति । ऊतिऽभिः । सऽजोषाः । पाहि । पश्चातात् । उत । वा । पुरस्तात् ।। १५ ।।

अन्वय – सोम ! त्वम् नः विश्वतः वयोधाः । स्वर्वित् नृचक्षाः त्वम् आ विश । इन्दो ! ऊतिभिः सजोषाः त्वम् नः पश्चातात् उत वा पुरस्तात् पाहि ।

सायण – हे सोम ! त्वं नः अस्माकं विश्वतः सर्वाभ्यः दिग्भ्यः वयोधाः अन्नदाता । तथा त्वं स्वर्वित् स्वर्गलम्भकः नृचक्षाः सर्वमनुष्यद्रष्टा त्वम् आ विश। हे इन्दो ! त्वं सजोषाः सह प्रीयमाणः सन् ऊतिभिः सह अथवा ऊतयो गन्तारो मरुतः । तैः सहितः सन् पश्चातात् पश्तात् उत वा पुरस्तात् च पाहि ।

शब्दार्थ – विश्वतः – सब दिशाओं से। **वयोधाः** – अन्न या आयु को देने वाले हो। **स्वर्वित्** – स्वर्ग को देने वाले। **आ विश** – आकर बैठो। **नृचक्षाः** – मनुष्यों को देखने वाले। **ऊतिभिः** – रक्षाओं के साथ । **सजोषाः** – प्रीतिदायक होते हुये। **पाहि** – रक्षा करो। **पश्चातात्** – पीछे से। **पुरस्तात्** – सामने से।

हिन्दी अनुवाद – हे सोम ! तुम हमें सब दिशओं से अन्न को या आयु को देने वाले हो। स्वर्ग को देने वाले और सब मनुष्यों को देखने वाले तुम यहाँ आकर बैठो। हे सोम ! रक्षाओं के साथ प्रीतिदायक होते हुये तुम हमारी पीछे से और सामने से रक्षा करो।

व्याकरण – वयोधाः – वय: दधाति। वयस् + धा + क्विप्।

स्वर्वित् – स्व: वेत्ति। स्वर् + विद् + क्विप्।

विश, पाहि – विश् और पा धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विशेष – मैक्डानल के अनुसार वयोधा: – शक्ति को देने वाला (**giver of strength**) स्वर्वित् – प्रकाश को पाने वाला (**finder of light**), प्रीयमाण: – अनुकूल (**accordant**)।

पुरूरवा-उर्वशी

(मण्डल-१०, सूक्त-९५)

१. हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन्॥ १॥

पद-पाठः हये। जाये। मनसा। तिष्ठ। घोरे। वचांसि। मिश्रा। कृणवावहै। नु।
न। नौ। मन्त्राः। अनुदितासः। एते। मयः। करन्। परऽतरे। चन। अहन्॥

अन्वयः— हये घोरे जाये! मनसा तिष्ठ। वचांसि मिश्रा न कृणवावहै। नौ एते अनुदितासः मन्त्राः परतरे अहन् मयः चन न करन्।

भा०— पुरूरवा: जायाम् उर्वशी-नामिकां वदति— हे घोरकारिणि जाये! मनसा निवस। येन आवाम् मिश्राणि वचांसि वदावः। आवयोः एते अनुदिताः मन्त्राः (रहस्यार्थाः) आगामि-दिवसेषु सुखं न करिष्यन्ति, दुःखमुत्पादयिष्यन्ति इत्याशयः। अतः मम समीपे उपविश्य मया सार्द्धं मधुरम् आलापं कुरु] ॥१॥

पद-व्याख्या—पुरूरवसो१० वाक्यम्। जायां पश्यन् वदति। vहये हे vघोरे। अस्माकं दुःखजनकत्वात्। घोरकारिणि vजाये vमनसा अस्मदुपर्यनुरागवता मनसा युक्ता सती vतिष्ठ क्षणमात्रं संनिधावेव निवस। इये इत्यस्य निघाताभावश्छान्दसः। किमर्थं संस्थानमिति तत्राह। vवचांसि वाकयानि मिश्राणि उक्तिप्रत्युक्तिरूपाणि vनु अद्य क्षिप्रं वा vकृणवावहै करवावहै। 'कृवि हिंसाकरणयोः'। 'धिन्विकृण्व्योरच्च' इत्युप्रत्ययः। मिर्थं वचसः करमिति चेदुच्यते। vनौ आवयोः vमन्त्राः रहस्यार्थाः vएते विवक्षिताः vअनुदितासः अव्याह्रियमाणाः परस्परमसंभाष्यमाणा गुम्फिताः सन्तः vपरतरे vचनाहन्। चनेति निपातसमुदायश्चार्थे। अनेकेषु दिवसेषु चरमेऽप्यहनि vमयः। सुखनामैतत्। सुखं vन vकरन् कुर्वन्ति। अतः कृणवावहा इति॥

हि० अ०— पुरूरवा अपनी उर्वशी नामक पत्नी से कहता है— [मुझे वियोग-जन्य] कष्ट पहुंचाने वाली हे मेरी पत्नी! [मेरे प्रति] अनुरक्त मन से [मेरे पास] रहो। [और हम दोनों] आपस में [भविष्य के विषय में] बातचीत कर लें। हम दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति जो विचार उठते हैं उन्हें यदि नहीं कहा गया तो वे हमें बहुत दिनों तक सुख नहीं देंगे, [दुःख ही देंगे। अतः मेरे समीप बैठकर मेरे साथ मधुर आलाप करो]।।१।।

२. किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।

पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि।। २।।

पद-पाठः किं। एता। वाचा। कृणव। तव। अहम्। प्र। अक्रमिषं। उषसां। अग्रियाऽइव।
पुरूरवः। पुनः। अस्तम्। परा। इहि। दुःऽआपना। वातःऽइव। अहं। अस्मि।।

अन्वय— पुरूरवः! एता वाचा किं कृणवा। उषसाम् अग्रियेव अहं तव प्राक्रमिषम्। अहं वात इव दुरापना अस्मि। पुनः अस्तम् परेहि।

भा०— उर्वशी पुरूरवसं प्रत्युवाच— हे पुरूरवः! एतया वाचया किं करवाव? यथा बह्वीनाम् उषसाम् मध्ये अग्र्या अग्रे भवा पूर्वोषाः प्रक्रमणं करोति तथाऽहमपि त्वत्सकाशाद् अतिक्रान्तवती अस्मि (यथा गच्छन्ती उषाः प्रत्यावर्तयितुं न शक्यते, तथैव त्वत्तः गच्छन्ती अहमपि त्वया प्रत्यावर्तयितुं न शक्या। अतः वार्तालापो व्यर्थः।) यथा वायुः प्राणिना दुष्प्राप्यो भवति — न खलु कश्चित् प्राणी वायुं धारयितुं समर्थो भवति इत्यर्थः, तथाऽहमपि त्वया दुष्प्राप्याऽस्मि। अतः त्वं मम सकाशत् प्रतिनिवृत्य पुनः स्वगृहं गच्छ।।२।।

पद-व्याख्या—अनया तमुर्वशी प्रत्युवाच। vएताएतया vवाचा केवलया पुनःसंभोगरहितया vकिं vकृणव किं करवाव। vअहं त्विदानीं त्वत्सकाशात् vप्राक्रमिषम् अतिक्रान्तवत्यस्मि। अतिक्रमे दृष्टान्तः। vउषसामग्रियेव। बह्वीनामुषसां मध्येऽग्रयाग्रे भवा पूर्वोषाः प्राक्रमीद्यथा तथाहमपीति। यस्मादेवं तसमद्धे vपुरूरवः त्वं vपुनः अस्मत्सकाशात् vअस्तं गृहं vपरेहि परागच्छ। मा मय्यभिलाषं कार्षीः। स्वस्या दुर्ग्रहत्वमाह। vअहं vवातइव वायुरिव vदुरापना दुष्प्रापा दुरापा वा vअस्मि। 'दुरापा वा अहं त्वयैतर्ह्यस्मि पुनर्गृहानिहीति हेवैनं तदुवाच' (श०ब्रा० ११.५.१.७) इति वाजसनेयकम्।।

हि० अ०— उर्वशी ने पुरूरवा को उत्तर दिया— हे पुरूरवा! अब तुम्हारे साथ नहीं रहूंगी। जैसे अनेक उषाओं में से पर-पर-वर्ती उषाएं पूर्व-पूर्व-वर्ती उषाओं को लांघ जाती हैं, किसी के रोके नहीं रुकतीं, वैसे ही मैं भी तुम्हारे रोके नहीं रुकूंगी। जैसे वायु किसी के हाथ नहीं आती, उसी प्रकार मैं भी अब तुम्हारे हाथ नहीं आऊँगी। अतः तुम वापस घर लौट जाओ।।२।।

३. इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।

अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः।।३।।

पद-पाठः इषुः। न। श्रिये। इषुऽधेः। असना। गोऽसाः। शतऽसाः। न। रंहिः।
अवीरे। क्रतौ। वि। दविद्युतत्। न। उरा। न। मायुम्। चितयंत। धुनयः।।

अन्वयः— इषुधेः इषुः श्रिये असना न। रंहिः गोषाः शतसा न। अवीरे क्रतौ न वि दविद्युतत्। धुनयः उरा मायुं न चितयंत।

भा०— पुरूरवाः स्वस्य विरहजनितं वैक्लव्यम् उर्वशीं प्रति ब्रूते— अहं श्रिये निषंगात् बाणं प्रक्षेप्तुं न समर्थोऽस्मि। त्वद्-विरहाद् युद्ध-विरतो जातोऽस्मि इत्याशयः। अहं शत्रूणां गवां, शतानाम् धनानां च वेगवान् बलाद् हर्ता न भवामि। शत्रूणां गाः धनानि च बलाद् हर्तुं नितान्तम् असमर्थोऽस्मि इति भावः। अपि च। सोऽयं पुरूरवाः अवीरे क्रतौ न विद्योतते— अधुना लेशमात्रमपि शोभां न दधाति। अस्माकं धुनयः उरसि स्वहृदयेषु मम मायुं यथापूर्वं न अनुभवन्ति, अथवा उरसि मम सिंहनादं यथापूर्व न शृण्वन्ति।। ३।।

पद-व्याख्या—अनया पुरूरवाः स्वस्य विरहजनितं वैक्लव्यं तां प्रति ब्रूते। vइषुधेः। इषवो धीयन्तेऽत्रेतीषुधिर्निषङ्गः। ततः सकाशात् vइषुः vअसना असनायै प्रक्षेप्तुं vन भवति vश्रिये विजयार्थम्। त्वद्विरहाद्युद्धस्य बुद्धाघष्यनिधानात्। तथा vरंहिः वेगवानहं शत्रुसकाशात् vगोषाः तेषां शत्रूणां गवां संभक्ता vन अभवम्। तथा vशतसाः शतानामपरिमितानां शत्रुधनानां संभक्ता नाभवम्। किंच vअवीरे वीरवर्जिते vक्रतौ राजकर्मणि सति vन vवि vदविद्युतत् न विद्योतते मत्सामर्थ्यम्। किंच vधुनयः कम्पयितारोऽस्मदीया भटाः vउरा उरौ। 'सुपां सुलुक्°' इति सप्तम्था डादेशः। विस्तीर्णे संग्रामे vमायुम्। मीयते प्रक्षिप्यत इति मायुः शब्दः। 'कृवापाजि°' इत्यादिनोण्। सिंहनादं vन vचितयन्त न बुध्यन्ते। 'चिती संज्ञाने'। अस्माण्णिचि संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाल्ल- घूपधगुणाभावः। छान्दसो लङ्।।

हि० अ०— विरह-व्याकुल पुरूरवा उर्वशी से कहता है— अब मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए तरकस से तीर निकालने में असमर्थ हो गया हूँ। मैं शत्रुओं की गौओं और उनके प्रभूत धन को बलपूर्वक हर लाने में सक्षम नहीं रहा। अब यह पुरूरवा शौर्य-विहीन राजकर्म में पूर्ववत् शोभावान् नहीं दीखता, और न ही शत्रुओं को कम्पा देने वाले उसके योद्धा अपने हृदय में उसके सिंह-गर्जन को पूर्ववत् सुन पाते हैं।। ३।।

४. सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन।। ४।।

पद-पाठः सा। वसु। दधती। श्वशुराय। वयः। उषः। यदि। वष्टि। अन्तिऽगृहात्।
अस्तं। ननक्षे। यस्मिन्। चाकन्। दिवा। नक्तम्। श्नथिता। वैतसेन।।

अन्वयः— उषः! सा श्वशुराय वसु वयः दधती यदि वष्टि, अन्तिगृहात् अस्तं ननक्षे, यस्मिन् चाकन् दिवा नक्तं वैतसेन श्नथिता।

भा०— अस्याम् ऋचि उर्वशी स्वाशयं उशसम्-न तु पुरूरवसम्-अभिलक्ष्य स्व-रति-क्रीडानन्दं निर्दिशति। एतद्विधिना सा परोक्ष-रूपेण उत्तरति न तु साक्षाद्रूपेण— उषः! सा श्वशुराय वासकं अन्नं च प्रयच्छन्ती— तस्य सेवां शुश्रूषां कुर्वती इत्यभिप्रायः यदा कामयते पतिगृह-निकटवर्ति-श्वशुरगृहात् आत्मीयं गृहम्, व्याप्नोति, यस्मिन् गृहे तां कामयमानः पतिः आस्ते। तत्र च सा अहनि रात्रौ च पत्युः वैतसेन दण्डेन श्नथिता भवति।।४।।

पद-व्याख्या—इदमुत्तरं चोर्वशीवाक्यम्। आद्येन पुरात्मना कृतमुषसे निवेदयति। हे vउषः vसा इयमुर्वशी vवसु वासकं vवयः अन्नं vश्वशुराय भर्तुः पुरूरवसः पित्रे vदधती प्रयच्छन्ती तत्र गृहे स्थिता vयदि पतिं vवष्टि कामयते तदा vअन्तिगृहात्। स्वभर्तृभोगगृहान्तिके यत् श्वशुरस्य भोजनगृहं तदन्तिगृहम्। तस्माद्गृहात्सोर्वशी vअस्तं पतिगृहं vननक्षे व्याप्नोति। vयस्मिन् गृहे vचाकन् कामयत उर्वशी। सा चोर्वशी vदिवा vनक्तम् अहनि रात्रौ च vवैतसेन। 'शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य' (निरु० ३.२१) इति निरुक्तम्। पुंस्प्रजननेन vश्नथिता ताडिता च भवति। एवमुर्वश्यात्मानं परोक्षेण निर्दिदेश।।

हि० अ०— इस ऋचा में उर्वशी अपने और पुरूरवा के बीच यौन सम्बन्ध के विषय में पुरूरवा से साक्षात् न कहकर अन्य पुरुष का प्रयोग करते हुए उषा के माध्यम से उसे कहती है, मानो वह उर्वशी की अन्तरंग सखी हो— "हे उषः! यह उर्वशी श्वशुर-गृह में ठहरी हुई श्वशुर की वस्त्र, अन्न आदि द्वारा सेवा करती रहती है, और जब-जब उसने पति को चाहा तो वह श्वशुर-गृह से निकटवर्ती पति-गृह में आ जाती, जहां उसकी कामना करता उसका पति होता। वहां दिन-रात वह उसके दण्ड से ताडित होती रहती।।४।।

५. **त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।**
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्व१स्तदासीः।।५।।

पद-पाठः त्रिः। स्म। मा। अह्नः। श्नथयः। वैतसेन। उत। स्म। मे। अव्यत्यै। पृणासि।
पुरूरवः। अनु। ते। केतम्। आयं। राजा। मे। वीर। तन्वः। तत्। आसीः।।

अन्वयः— पुरूरवा! मा अह्नः त्रिः वैतसेन श्नथयः स्म। उत अव्यत्यै मे पृणासि। ते केतम् अन्वायम्। वीर! तत् तन्वः राजा आसीः।

भा०— अस्मिन् मन्त्रे उर्वशी पुरूरवसं सम्बोध्य कथयति— हे पुरूरवः! त्वं माम् एकस्मिन्नेव दिवसे दण्डेन त्रिवारम् अताडयः, मैथुन-कार्यरतोऽभव इत्याशयः। अपि च सपत्नी-रहितायै मह्यं कामं पूरयसि स्म। एतत्सन्तुष्टि-प्राप्त्यर्थमेव अहं तव गृहं त्वदनु आगच्छम। हे वीर! तदा त्वं मम शरीरस्य स्वामी आसीः।।५।।

पद-व्याख्या—अनेन पुरूरवसमेव संबोध्योक्तवती। हे पुरूरवः तवं vमा माम् vअह्नः अहनि vवैतसेन दण्डेन पुंव्यञ्जनेन vत्रिः त्रिवारम्। 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' (पा०सू०

५.४.१८)। vश्नथयः vस्म। अश्नथयः अताडयः। 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे°' (पा°सू° २.३. ६४) इति कालवाचिनोऽहःशब्दादधिकरणे षष्ठी। vउत अपि च। vस्म इति पूरणः। vअव्यत्यै। सपत्नीभिः सह पर्यायेण पतिमागच्छति सा व्यती। न तादृश्यव्यती। तस्यै vमे मह्यं vपृणासि पूरथसि। एवं बुद्धया हे vपुरूरवः vते तव vकेतं गृहम् vअनु vआयम् अन्वगमं पूर्वम्। हे vवीर vराजा त्वं च vमे मम vतन्वः शरीरस्य vतत् तदा vआसीः अभवः। सुखयितेति शेषः परमप्येवं मन्तव्यं किमिति कातरो भवसीत्युवाच।।५।।

हि° अ°— इस मन्त्र में उर्वशी पुरूरवा को सम्बोधित करते हुए रतिकर्म-विषयक चर्चा करती है— हे पुरूरवा! तुम एक दिन में वैतस से तीन बार मुझे ताड़ित करते थे— मेरे साथ मैथुन-कर्म में रत रहते थे। मेरी कोई सपत्नी भी नहीं होती थी सन्तुष्टि को प्राप्त करने के लिए ही तो मैं तुम्हारे घर चली आयी थी। हे वीर राजा! तुम तो मेरे स्वामी हो तुमने मुझे शारीरिक सुख दिया, अथवा मेरे शरीर से शारीरिक सुख प्राप्त किया।।५।।

६. या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्ह्रदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः।
ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त।।६।।

पद-पाठः या। सुऽजूर्णिः। श्रेणिः। सुम्नेऽआपिः। ह्रदेऽचक्षुः। न। ग्रंथिनी। चरण्युः।
ताः। अंजयः। अरुणयः। न सस्रुः। श्रिये। गावः। न। धेनवः। अनवंत।।

अन्वयः— या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिः ह्रदेचक्षुः ग्रन्थिनी चरण्युः। ताः अञ्जयः अरुणयः न सस्रुः। धेनवः गावः स्व-वत्सस्य श्रिये न अनवन्त।

भा°— पुरूरवा वदति — या सुजूर्णि-श्रेणि-सुम्नआपि-ह्रदेचक्षु इति नामधेयाभिः सह ग्रथिता सती आजगन्थ, यद्वा त्वं सुजूर्णिः श्रेणि-सुम्नआपि- ह्रदेचक्षुर्-ग्रन्थिनी इति नामधेयामिः चतसृभिः अप्सरोभिः सह— आजगन्थ, ता आभरणोपेताः अरुणवर्णाः न गच्छन्ति, नवप्रसूताः गावः आश्रयार्थं न किञ्चिदपि शब्दं कुर्वन्ति।।६।।

पद-व्याख्या—पुरूरवसो वाक्यम्। vvया vसुजूर्णिः सुजवा एतन्नामिकास्ति तथा या vश्रेणिः या vसुम्नआपिः या vह्रदेचक्षुः। नकारः समुच्चये। ताभिश्चतसृभिरालि-भूताभिर्मानिनीभिः सहिता vग्रन्थिनी ग्रन्थनवती संदर्भवती vचरण्युः चरणशीलोर्वश्याजगाम। यद्वा। ग्रन्थिनीत्येतत्सखिभूताप्सरोनामधेयम्। या सुजूर्णिः सुजवोर्वशी सा ताभिः सह जगाम। vताः अप्सरसः vअञ्जयः आभरणोपेताः vअरुणयः अरुणवर्णाः vन vसस्रुः पूर्ववन्न गच्छन्ति। vश्रिये श्रयणाय vधेनवः नवप्रसूताः vगावो vन गाव इव। आश्रयार्थं यथा गावः vअनवन्त शब्दायन्ते तथा न शब्दयन्तीति व्यतिरेके दृष्टान्तः।।

हि° अ°— पुरूरवा कहता है— तू सुजूर्णि, श्रेणि, सुम्नआपि और ह्रदेचक्षु नामक अप्सराओं के साथ संलग्न अथवा संयुक्त होकर आयी थी, अथवा तू सुजूर्णि अर्थात्

वेगवती— श्रेणि, सुम्नआपि, ह्रदेचक्षु और ग्रन्थिनी नामक चार अप्सराओं के साथ— इस भूलोक में आयी थी। आभरणों से सज्जित एवं अरुण वर्ण वाली वे तेरी चारों सखियां तो द्युलोक को नहीं जातीं, पर तू जाने को आतुर है। यह तो ऐसे है जैसे अन्य गाएं तो अपने-अपने बछड़ों को आश्रय देने के लिए दूर से रंभाती आती हैं, पर] नवप्रसूता गाएं अपने-अपने बछड़ों को आश्रय देने के लिए कुछ भी शब्द नहीं करतीं।।६।।

७. **समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्य१ः स्वगूर्ताः।**

महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन्दस्युहत्याय देवाः।।७।।

पद-पाठः सम्।अस्मिन्।जायमाने।आसत।ग्नाः। उत।ईम्।अवर्धन्।नद्यः।स्वऽगूर्ताः।

महे। यत् त्वा। पुरूरवः। रणाय। अवर्धयन्। दस्युऽहत्याय। देवाः।।

अन्वयः— अस्मिन् जायमाने ग्नाः समासत। उत ईम् स्वगूर्ताः नद्यः अवर्धन्। हे पुरूरवः! यत् महे रणाय दस्यु-हत्याय देवाः त्वा अवर्धयन्।

भा०— उर्वशी कथयति— अस्मिन् जायमाने, भूतले ख्यातिं प्राप्ते सति इत्यभिप्रायः, अप्सरसो देववेश्याश्च आकृष्टाः अभवन्। अथवा अस्मिन् जायमाने, यज्ञार्थं प्रवर्धमाने प्रवृत्ते वा सति, राजपत्न्यः संगता अभवन्। अपि च एनं पुरूरवसं स्वयं-गामिन्यो नद्यः अवर्धयन्। हे पुरुरवः! यदा त्वं महते संग्रामाय दस्यु-हननाय वा देवाः त्वाम् अवर्धयन्।।७।।

पद-व्याख्या—अनयैताभिः सह संसर्गस्त्वयानुभूत इत्युर्वशी वदति। vअस्मिन् पुरूरवसि vजायमाने सति vग्नाः अप्सरसो देववेश्या अपि vसम् vआसत सगता अभवन्। अथवा जायमाने यज्ञार्थं प्रवर्धमाने सति ग्ना देवपत्न्योऽपि समासत समभवन्। vउत अपि च vईम् एनं पुरूरवसं vस्वगूर्ताः स्वयंगामिन्यः vनद्यः तासामाश्रयभूता अवर्धयन्। किंच हे vपुरूरवः vयत् यस्मात् vत्वा त्वां vमहे महते vरणाय रमणीयाय संग्रामाथ vदस्युहत्याय दस्युहननाय vदेवाः vत्वाम् vअवर्धयन्।।

हि० अ०— पुरूरवा ने उपर्युक्त चारों अप्सराओं के साथ संसर्ग किया था— इस आशय को उर्वशी इस मन्त्र में कहती है— इस के उत्पन्न होने अर्थात् भूलोक में ख्याति प्राप्त कर लेने पर, अप्सराएं और देववेश्याएं इसके प्रति आकृष्ट हुईं, अथवा इस के यज्ञादि में प्रवृत्त हो जाने पर राजपत्नियां इसके संग आ बैठीं। इसके अतिरिक्त, स्वयंगामिनी नदियों ने इसे प्रवृद्ध किया। हे पुरूरवा! जब-जब तुमने बड़े भारी संग्राम के लिए अथवा राक्षसों के विनाश के लिए, देवताओं ने तुम्हारी रक्षा की।।७।।

८. **सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे।**

अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन्रथस्पृशो नाश्वाः।।८।।

पद-पाठः सचा। यत्। आसु। जहतीषु। अत्कं। अमानुषीषु। मानुषः। निऽसेवे।
अप स्म। मत् तरसंती। न। भुज्युः। ताः। अत्रसन्। रथऽस्पृशः। न। अश्वाः।।

अन्वयः— यत् सचा मानुषः अत्कं जहतीषु आसु। अमानुषीषु निषेवे स्म, ता मत् अप अत्रसन्, न भुज्युः तरसन्ती, न रथस्पृशः अश्वाः।

भा०— पुरूरवाः उर्वश्यादिभिः सह रतिकर्मविषयक-सम्बन्धं स्मरन् अन्यपुरुष-माध्यमेन कथयति— यदा यदा सहायभूतः मानुषः पुरूरवाः रूपम् परित्यजन्तीषु आसु देवताभूतासु अभिमुखं गच्छति स्म, तदा तदा ताः मत्तः अपसृत्य गच्छन्ति स्म। यथा भोज्यसाधनभूता मृगी व्याघ्राद् भीता पलायते, अथवा यथा रथे नियुक्ताः अश्वा धावन्ति।।८।।

पद-व्याख्या—इदमादित्रीण्यैळवाक्यानि। तत्रादितो द्वाभ्यामुर्वशीमन्याश्च सह स्तौति। √यत् यदा √सचा सहायभूतः पुरूरवाः √अत्कं स्वकीयं रूपम्। अत्क इति रूपनाम। √जहतीषु परित्यजन्तीषु √अमानुषीषु देवताभूतास्वप्सरःसु √मानुषः सन् √निषेवे अभिमुखं गच्छति तदानीं √ताः अप्सरसः √मत् मत्तः √अप अपसृत्य √अत्रसन्। त्रसतिर्गतिकर्मा। गच्छन्ति। पलायने दृष्टान्तः। √तरसन्ती √भुज्युः √न। तरसननाम मृगः। तस्य स्त्री भुज्युर्भोगसाधनभूता स्त्री मृगी। सा यथा व्याधाद्भीता पलायते। किंच √रथस्पृशो √नाश्वाः रथे नियुक्ता अश्वा इव। यथा ते पलायन्ते तद्वत्पलायन्त इति। उर्वश्यानेकाभिरस्माभिः सह भोगमनुभुक्तवानसीत्युक्तः प्रत्याचष्टे।।

हि० अ०— इस मन्त्र में पुरूरवा— उर्वशी आदि अप्सराओं के साथ रति-कर्म- विषयक सम्बन्ध को स्मरण करता हुआ— 'अन्य पुरुष' के माध्यम से कहता है— जब जब यह पुरूरवा नामक मनुष्य उर्वशी आदि अप्सराओं की ओर, जो कि अपने वास्तविक रूप को छोड़कर मानवी रूप में थीं, रतिकर्म के लिए आगे बढ़ता तो वे सभी मुझ से छिटक कर दूर भाग जातीं— ऐसे, जैसे भोज्य-रूप मृगी डरी हुई भाग जाती है, अथवा जैसे रथ में जुड़े हुए अश्व भाग रहे होते हैं।।८।।

९. यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक्सं क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते।
ता आतयो न तन्वः शुंभत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दंदशानाः।। ९।।

पद-पाठः यत्। आसु। मर्तः। अमृतासु। निऽस्पृक्। सम्। क्षोणीभिः। क्रतुऽभिः। न। पृंक्ते।
ताः। आतयः। न। तन्वः। शुंभत। स्वाः। अश्वासः। न। क्रीळयः। दंदशानाः।।

अन्वयः— यत् मर्तः आसु अमृतासु निस्पृक् क्षोणीभिः क्रतुभिः न संपृंक्ते, ताः आतयः स्वाः तन्वः न शुंभत। न क्रीळयः दंदशानाः अश्वासः।

भा०— पूर्वमन्त्रवत् अस्मिन् मन्त्रेऽपि पुरूरवा अप्सरोभिः सह रति-सम्बन्धं स्मरन् अन्यपुरुषमाध्यमेन कथयति— यदा यदा मानुषः पुरूरवा आसु अपसरःसु निःशेषेण स्पृशन्

आलापै: कर्मभिश्च सम्पर्क करोति, ता: कारण्डवा: गृहपत्न्य: वा इव स्वकीयानि शरीराणि न प्रकाशयन्ति स्म यथा चापल्येन धावन्त: अश्वा: चर्वन्ति: भक्षयन्त रथिकाय स्वरूपं न दर्शयन्ति।।९।।

पद-व्याख्या—vयत् यदा vआसु vअमृतासु अप्सर:सु vमर्त: मनुष्य: पुरूरवा: vनिस्पृक् नि:शेषेण स्पृशन् vक्षोणीभि: वाग्भि: vऋतुभिर्न कर्मभिश्च vसं vपृङ्क्ते संपर्कं करोति। नकार: समुच्चयार्थ:। vता: अप्सरस: vआतय: आतिभूतास्तदानीं vस्वा: vतन्त्र: आत्मीयानि रूपाणि vन vशुम्भत न प्रकाशयन्ति। vअश्वासो vन अश्वा इव vक्रीळय: संक्रीडमाना: vदन्दशाना: दन्दशूका जिह्वाभिरात्मीया: सृक्का भक्षयन्त:। ते यथा चापल्येन धावन्त: स्वरूपं न प्रयच्छन्ति रथिकाय तद्वदिति दु:खाद्ब्रूते।।

हि० अ०— पिछले मन्त्र के समान इस मन्त्र में भी पुरूरवा अप्सराओं के साथ अपने रति-सम्बन्ध का वर्णन अन्य पुरुष के माध्यम से करता है— जब भी कभी इस मानुष ने इन अप्सराओं को नि:शेषभाव से स्पर्श करते हुए आलापों और [रति-प्रेरक] कृत्यों से सम्पर्क किया, उन सभी अप्सराओं ने बतख़ों अथवा गृहपत्नियों के समान अपने-अपने शरीर को उसके सामने इस प्रकार प्रकट नहीं किया, अथवा उसे उनका शरीर इस प्रकार दिखायी न दिया, जिस प्रकार तेज़ी से भागते हुए तथा दाँतों से चबाते हुए से घोड़ों का मुख रथिक को दिखायी नहीं देता।।९।।

१०. विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्य: सुजात: प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायु:।।१०।।

पद-पाठ: विऽद्युत्। न। या। पतन्ती। दविद्योत्। भरन्ती। मे। अप्या। काम्यानि।
जनिष्टो इति। अप:। नर्य:। सुऽजात:। प्र। उर्वशी। तिरत। दीर्घं। आयु:।। १०।।

अन्वय:— या उर्वशी विद्युत् न पतन्ती दविद्योत्, मे अप्या काम्यानि भरन्ती। अप: नर्य: सुजात: जनिष्ठ: सा मम आयु: दीर्घं प्रतिरत।

भा०— पुरूरवा उर्वशी-विषये कथयति— या उर्वशी विद्युद् इव गच्छन्ती दीव्यन्ती इत्याशय: द्योतते स्म, सा मे व्याप्तानि अभिमतानि सम्पादयन्ती अवर्तत। व्याप्त: सक्षम इत्यभिप्राय: नरेभ्यश्च हितकारी सुपुत्र उत्पद्यते सा मम आयु: दीर्घं प्रवर्धयति।।१०।।

पद-व्याख्या—अनयोर्वशीं स्तौति। vया उर्वशी vविद्युन्न विद्युदिव vपतन्ती गच्छन्ती vदविद्योत् द्योतते। किं कुर्वती। vअव्या। अप इत्यन्तरिक्षनाम। तत्संबन्धीनि व्याप्तानि वा काम्यानि अस्मदभिमतान्युदकानि वा vमे मह्यं vभरन्ती संपादयन्ती। यदा आगतायास्तस्या: सकाशात् vअप: व्याप्त: कर्मसु कर्मवान् वा vनर्थ: नरेभ्यो हित:

vसुजातः सुजननः पुत्रः vजनिष्टो अजनिष्ट उत्पद्यते तदानीं मम vउर्वशी vदीर्घमायुः vप्र vतिरत प्रवर्धयति। 'प्रजामनु प्र जायसे तदु ते मर्त्यामृतम्' (तै०ब्रा० १.५.५.६) इति हि मन्त्रः।।२।।

हि० अ०— पुरूरवा उर्वशी के सम्बन्ध में कहता है— जो उर्वशी बिजली के समान चमकती-दमकती डोलती फिरती थी, वह मेरे लिए अनेक अभीष्ट को सम्पादित करती रहती थी। जब उससे व्याप्त तथा मानवों के लिए हितकारी पुत्र का जन्म हुआ तो मेरी आयु बढ़ गयी।।१०।।

११. **जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दुधाथ तत्पुरूरवो म ओजः।**
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि।।११।।

पद-पाठः जज्ञिषे। इत्था। गोऽपीथ्याय। हि। दधाथ। तत्। पुरूरवः। मे। ओजः।
अशासं। त्वा। विदुषी। सस्मिन्। अहन्। न। मे। आ। अशृणोः। किम्। अभुक्। वदासि।।

अन्वयः— पुरूरवः! इत्था गो-पीथ्याय जज्ञिषे। मे ओजः दधाथ। त्वा विदुषी अशासम् सस्मिन्नहन्। मे आशृणोः। अभुक्। किम् वदासि।

भा०— उर्वशी पुरूरवसं प्रति कथयति— हे पुरूरवः! इत्थं त्वं भू-रक्षणाय, जातोऽसि। त्वं मे ओजः दधाथ— त्वं ममोदरे स्वापत्यं धारितवान् इत्यभिप्रायः। त्वाम् अहं विदुषी शिक्षितवत्यस्मि सर्वेषु भावि-दिवसेषु [किं कर्तव्यम्। किन्तु] त्वं मां न श्रृणोषि। अभोक्ता जातः— प्रजानां पालन-धर्मे विरतोऽभव इत्यभिप्रायः व्यर्थप्रलापं किमर्थं करोषि।।११।।

पद-व्याख्या—vइत्था इत्थं vगोपीध्याय। गौः पृथिवी। पीथं पालनम्। स्वार्थिकस्तद्धितः। भूमे रक्षणाय vजज्ञिषे vहि जातोऽसि खलु पुत्ररूपेण। 'आत्मा वै पुत्रनामा' इति श्रुतेः। पुनस्तदेवाह। हे vपुरूरवः vमे ममोदरे मथि vओजः अपत्योत्पादनसामर्थ्यं vदधाथ मथि निहितवानसि। vतत् तथास्तु। अथापि स्थातव्यमिति चेत् तत्राह। अहं vविदुषी भावि कार्यं जानती vसस्मिन्नहन् सर्वस्मिन्नहनि त्वया कर्त्तव्यं vत्वा त्वाम् vअशासं शिक्षितवत्यस्मि। त्वं vमे मम वचनं vन vअशृणोः न श्रृणोषि। vकिं त्वम् vअभुक् अभोक्तापालयिता प्रतिज्ञातार्थमपालयन् vवदासि हये जाय इत्यादिकरूपं प्रलापम्। वदेर्लेट्याडागमः। दिवसे त्रिवारं यभस्व एडकद्वयमस्काकं पुत्रत्वेन परिकल्पय अपत्योत्पादनपर्यन्तं वसामि नग्नं त्वां यदाद्राक्षं तदा गच्छामीत्येवंरूपो मिथःसमयः 'उर्वशी हाप्सराः पुरूरवसमैळं चकमे त ह विन्दमानोवाच त्रिः स्म माह्नो वैतसेन दण्डेन' (श०ब्रा० ११.५.१) इत्यादि वाजसनेय- कमुदाहृतम्।।

हि० अ०— उर्वशी पुरूरवा के प्रति कहती है— हे पुरूरवा! इस प्रकार तुम मेरे द्वारा

पुत्र-प्राप्ति से भू-रक्षण के लिए समर्थ हो गए हो। तू ने मुझे ओज दिया। इन दिनों में जानती हूँ और तुम्हें परामर्श देती हूँ, पर तुम मेरी एक नहीं सुनते। तुम व्यर्थ प्रलाप करते हो।। ११।।

१२. कुदा सूनुः पितरं जात ईच्छाच्चक्रन्नाश्रु वर्तयद्विजानन्।

को दंपती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत्।। १२।।

पद-पाठः कुदा। सूनुः। पितरं। जातः। इच्छात्। चक्रन्। न। अश्रु। वर्तयत्। विऽजानन्।

कः। दंपती इति दंऽपती। सऽमनसा। वि। यूयोत्। अधं। यत्। अग्निः। श्वशुरेषु। दीदयत्।।

अन्वय— कदा जातः पितरम् इच्छात्। कदा विजानन् चक्रन् अश्रु वर्तयत्। कः समनसा दम्पती वियूयोत्। अध यद् अग्निः श्वशुरेषु दीदयत्।।१२।।

भा०— पुरूरवा वदति— पुत्रः कदा उत्पन्नः सन् पितरम् अभिलषति? विजानन् क्रन्दमानः अश्रु कः समनस्कौ दम्पती विश्लेषयेत्— आवयोः विश्लेष-कारणं भवेत् इत्यभिप्रायः। सम्प्रति अग्निः वर्तते श्वशुर-गृहे — मम मातृ-पितृगृहे, यद्वा तव गर्भे इत्यपि अभिप्रेतः — देदीप्यते।। १२।।

पद-व्याख्या— इदं पुरूरवसो वाक्यम्। √कदा कस्मिन् काले √सूनुः तवोदरजातः सन् √पितरं माम् √इच्छात् इच्छेत्। 'इषु इच्छायाम्'। लेटि शपि 'इषुगमियमां छः' इति छादेशः। 'लेटोऽडाटौ' इत्यडागमः। कदा वा √विजानन् पितरं मामधिगच्छन् √चक्रन् क्रन्दमानः √नाश्रु √वर्तयत्। नेति चार्थे। किंच √कः किंविधः सन् सूनुः √समनसा समनसौ समनस्कौ √दंपती जायापती त्वां मां च √वि √यूथोत् विश्लेषयेत्। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। थौतेश्छान्दसः शपः श्लुः। तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घः। √अध अधुना √यत् यदा √अग्निः तव हृदयस्थितस्तेजोरूपो गर्भः √श्वशुरेषु √दीदयत् दीप्यते। दीदयतिर्दीप्तिकर्मेति नैरुक्तो धातुः।।

हि० अ०— पुरूरवा कहता है— पुत्र कब उत्पन्न होकर पिता की, अर्थात् पितृ-रूप में, इच्छा करेगा। कब मुझे जानता हुआ रोता हुआ, अश्रु आकर बैठेगा। कौन होगा जो हम जैसे समनस्क दम्पती को पृथक्-पृथक् कर दे। अब जो यह अग्नि है, वह तेरे श्वशुर-गृह में, अर्थात् मेरे माता-पिता के घर में, अथवा तेरे गर्भ में दीप्त हो रहा है।। १२।।

१३. प्रति ब्रवाणि वुर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्ददाध्यै शिवायै।

प्र तत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर मापः।। १३।।

पद-पाठः प्रति। ब्रवाणि। वर्तयते। अश्रु। चक्रन्। न। क्रंदत्। आऽध्यै। शिवायै।

प्र। तत्। ते। हिनव। यत्। ते। अस्मे इति। परां। इहि। अस्तं। नहि। मूर। मा। आपः।।

अन्वय— प्रति ब्रवाणि। अश्रु चक्रन्, शिवायै आध्ये न क्रन्दत्। यत् ते अस्मे तत् ते

प्रहिनव। अस्तं परेहि। मूर! न हि मा आपः।

भा०— उर्वश्या उत्तरम्— प्रति वदामि, अश्रुपूर्णनेत्रः रुदन् कल्याणे समुप- स्थिते सति नासौ क्रन्दिष्यति। यः तव मयि तं तुभ्यमेव दास्यामि। स्वगृहं गच्छ। मुग्ध न मां प्राप्तुं समर्थोऽसि।।१३।।

पद-व्याख्या—इदमुर्वशीवाक्यम्। हे पुरूरवः त्वां vप्रति vब्रवाणि प्रतिवच्मि। त्वदपत्थम् vअश्रु वाष्पं vवर्तयते वर्तयिष्यति। vआध्वे आध्याते वस्तुनि vशिवायै शिवे कल्याणे समुपस्थिते vते तुभ्यं vहिनव प्रहिणोमि vयत् अपत्यं vते तव संबन्धि vअस्मै अस्मासु निहितम्। त्वं vपरेह्यस्तम्। अस्तमिति गृहनाम। स्वगृहं प्रतिगच्छ। हे vमूर मूढ vमा मां vनहि vआपः न प्राप्नोषि। हिनवेत्यत्र हिनोतेः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति भविष्यदर्थे लङि मिपोऽमादेशः। गुणः। अन्त्यलोपश्छान्दसः। बहुलवचनादडभावः। आपः। 'आप्लृव्यापतौ'। लिटि 'तिङां तिङो भवन्ति' इति थलो णल्।।

हि० अ०— उर्वशी का उत्तर— मैं तुझे कहती हूं कि, अश्रुपूर्ण नेत्रों से रोता हुआ आ बैठेगा, और उसे सुख मिलेगा और वह क्रन्दन नहीं करेगा। जो मेरे में है उसे मैं तुझे दूँगी। अपने घर चले जाओ। मुग्ध मुझे पाने में समर्थ नहीं हो।।१३।।

१४. सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः।।१४।।

पद-पाठः सुऽदेवः। अद्य। प्रऽपतेत्। अनावृत्। पराऽवतं। परमां। गंतवै। ऊं इति।
अध। शयीत। निःऽऋतेः। उपऽस्थे। अध। एनम्। वृकाः। रभसासः। अद्युः।।

अन्वय— सुदेवः अद्य प्रपतेत्। उ अनावृत् परमां परावतं गन्तवा। अध निर्ऋतेः उपस्थे शयीत। अधा एनं रभसासो वृकाः अद्युः।।

भा०— अत्यन्तं परिदूनः खिन्नश्च पुरूरवा वदति— सुदेवः अद्य धावेत् यद्वा पतेत्। अथवा अनावृतः सन् काञ्चित् सुदूरं दिशं, दूरादपि दूरदेशं वा गन्तुं महाप्रस्थानं कुर्यात्। अथवा पृथिव्याः तले शयनं कुर्यात्, वेगवन्तः वृकाः भक्षयन्तु।।१४।।

पद-व्याख्या—अथ परिदूनः पुरूरवा उवाच। vसुदेवः त्वया सह सुक्रीडः पतिः vअद्य vप्रपतेत्। अत्रैव प्रपततु। अथवा vअनावृत् अनावृत्तः सन् vपरमां vपरावतं दूरादपि दूरदेशं vगन्तवै गन्तुं महाप्रस्थानगमनं कुर्यात्। vअध अथवा यत्रकुत्रापि गन्तुमसमर्थः vनिर्ऋतेः पृथिव्याः vउपस्थे vशयीत शयनं कुर्यात्। यद्वा। निर्ऋतिः पापदेवता। तस्या उपस्थे उत्संगे संनिधौ म्रियतामित्यर्थः। vअध अथवा vएनं vवृकाः आरण्याः श्वानः vरभसासः व्रकवन्तः vअद्युः भक्षयन्तु। अत्र वाजसनेयकं— 'सुदेवोऽद्योद्वा बध्नीत प्र वा पतेत्तदेनं वृका वा श्वानो वाद्युरिति हैव तदुवाच' (श०ब्रा० ११.५.१.८) इति।।

हि० अ०— अत्यन्त दुःखी और खिन्नचित्त पुरूरवा कहता है— तुम्हारा पति, जिसने आमोद प्राप्त किया है तथा जो हर रूप में दीप्यमान है, आज गिर जाए, अथवा अनावृत्त नग्न अर्थात् बहुविध-वैभव-जन्य-शोभा से रहित होकर किसी सुदूर दिशा की ओर प्रस्थान कर जाए। अथवा पृथ्वी-तल पर सो जाए और वेगवान् भेड़िये आकर खा जाएं।। १४।।

१५. पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।।१५।।

पद-पाठः पुरूरवः। मा। मृथाः। मा। प्रं। पप्तः। मा। त्वा। वृकासः। अशिवासः। ऊं इति। क्षन्। न। वै। स्त्रैणानि। सख्यानि। संति। सालावृकाणां। हृदयानि। एता।।

अन्वयः— पुरूरवः। मा मृथाः। मा प्रपप्तः। मा त्वा अशिवासः वृकासः उ क्षन्। वै स्त्रैणानि सख्यानि न सन्ति। एता सालावृकाणाम् हृदयानि।

भा०— क्षुब्ध-पुरूरवसः उपर्युक्त-खिन्न-वचनात् नितराम् अप्रभाविता उर्वशी तं कथयति— हे पुरूरवः! मा मृत्युं प्राप्नुहि। मा च धाव, यद्वा मा प्रविश। मा च त्वाम् अशुभाः वृका एव भक्षयन्तु। नारी-विषयक-मैत्र्यः न भवन्ति — नार्यो न मित्राणि भवितुम् अर्हन्ति इत्यभिप्रायः, एतासां हृदयानि तु 'शाला-वृक' इत्याख्य-भयंकर-जन्तूनां हृदयानि इव क्रूराणि कठोराणि च सन्ति।। १५।।

पद-व्याख्या—तमितरा प्रत्युवाच। हे vपुरूरवः त्वं vमा vमृथाः मृतिं मा प्राप्नुहि। म्रियतेर्लुङि थासि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः। तथा vमा vप्र vपप्तः अत्रैव पतनं मा कार्षीः। पतेर्लुङि लृदिश्वात् 'पुषादि॰' इत्यादिना च्लेरङ्। 'पतः पुम्' इति पुम्। तथा vत्वा त्वाम् vअशिवासः अशुभाः vवृकासः वृकाः vमा vउ vक्षन्। उ इत्येवकारार्थे। अक्षन्। माभ्यवहारयन्तु। किमित्येवमस्मदुपर्याग्रहं करोषि। मा कार्षीरित्यर्थः। अदेर्लुङि 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (पा०सू० २.४.३७) इति घस्लादेशः। 'मन्त्रे घस॰' इति च्लेर्लुक्। 'गमहन॰' इत्यादिनोपधालोपः। 'शासिवसि॰' इत्यादिना पत्वम्। 'खरि च' इति चर्त्वम्। बाहुलकादडभावः। अथ स्वरनेहस्यासारतामाह। vस्त्रैणानि स्त्रीणां कृतानि vसंख्यानि vन vवै vसन्ति। न सन्ति खलु। अभावे कारणमाह। vएता एतानि सख्यानि vसालावृकाणां vहृदयानि तेषां हृदयानि यथा वत्सादीनां विश्वासापन्नानां घातुकानि तद्वत्। अत्र वाजसनेयकं-'मैतदादृथा न वै स्त्रैणँ सख्यमस्ति पुनर्गृहानिहीति हैवैनं तदुवाच' (श०ब्रा० ११.५.१.९) इति।।३।।

हि० अ०— क्षुब्ध पुरूरवा के उपर्युक्त खिन्न वचन से नितान्त अप्रभावित उर्वशी उसे कहती है— हे पुरूरवा! मृत्यु को मत प्राप्त करो, न भागो अथवा न गिरो और न ही तुझे भयंकर भेड़िये ही खाएं। नारियां कभी किसी की मित्र नहीं होतीं, इनके हृदय तो भेड़िये के हृदय के समान होते हैं।।१५।।

१६. यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्त्रः।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि।।१६।।

पद-पाठः यत्। विऽरूपा। अचरं। मर्त्येषु। अवसं। रात्रीः। शरदः। चतस्त्रः।
घृतस्य।स्तोकं।सकृत्।अह्नः।आश्नां। तात्।एव।इदम्।ततृपाणा।चरामि।।

अन्वय— विरूपा मर्त्येषु अचरम्। चतस्त्रः शरदः रात्रीः अवसम्। अह्नः सकृद् घृतस्य स्तोकम् आश्नाम् ताद् एव इदं तातृपाणा चरामि।

भा०— उर्वशी कथयति— विरूपा अहं मनुष्येषु अचरम्। चतुर्वर्ष-पर्यन्तम् अवसम्। प्रतिदिनं च एकवारम् एव स्तोकमात्रं घृतम् अभक्षयम् तेनैव सन्तुष्टा सती सम्प्रति अहं गच्छामि।।१६।।

पद-व्याख्या—√यत् यदा √विरूपा मनुष्यसंपर्काद्विगतसहजभूत देवरूपा पत्यानुकूल्येन नानारूपा वा √मर्त्येषु मनुष्येषु √अचरं तदानीं √रात्रीः प्ररमयित्रीः √चतस्त्रः √शरदः √अवसं न्यवसम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तदानीं √घृतस्य √स्तोकं √सकृदह्न √आश्नाम्। √तादेव तेनैव स्तोकेनाहम् √इदं संप्रति √तातृपाणा तृप्ता सती √चरामि।।

हि० अ०— मैं विरूप होकर मनुष्यों में विचरण करती रही। चार बरस तक रही। प्रतिदिन केवल एक बार थोड़ा-सा घी खाती रही, अर्थात् मुझे स्वर्ग-तुल्य ऐश्वर्य की साधन-सामग्री यहां उपलब्ध न हो सकी, फिर भी उसी से सन्तुष्ट होती रही, किन्तु अब मैं जाती हूँ।।१६।।

१७. अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे।।१७।।

पद-पाठः अंतरिक्षऽप्रां। रजसः। विऽमानीं। उप। शिक्षामि। उर्वशीं। वसिष्ठः।
उप।त्वा।रातिः।सुऽकृतस्य।तिष्ठात्। नि। वर्तस्व। हृदयं। तप्यते। मे।।

अन्वय— वसिष्ठः सुकृतस्य रातिः अन्तरिक्ष-प्रां, रजसो विमानीम् उर्वशीम् उपशिक्षामि, उप त्वा तिष्ठात, मे हृदयं तप्यते, निवर्तस्व।

भा०— पुरूरवा वदति— वसिष्ठः शोभनकर्मणश्च दाता, यद्वा शोभन-कर्म-रूप-प्रणयातिरेकस्य प्रदाता तां अन्तरिक्षं पूरयन्तीम्, उदकस्य च निर्मात्रीम् उपशिक्षामि परामर्शं ददामि इति यावत्, यत् त्वम् मम पार्श्वे तिष्ठ, मे हृदयं तप्यते — दग्धम् अस्ति।प्रत्यागच्छ।।१७।।

पद-व्याख्या—√अन्तरिक्षप्रां स्वतेजसान्तरिक्षस्य पूरयित्रीं तथा √रजसः रञ्जकस्योदकस्य √विमानीं निर्मात्रीम् √उर्वशीं √वसिष्ठः समानानां मध्येऽतिशयेन वासयिताहम् √उप √शिक्षामि वशं नयामि। √सुकृतस्य शोभनकर्मणः √रातिः दाता पुरूरवाः √त्वा त्वाम् √उप √तिष्ठात् उपतिष्ठतु। √मे √हृदयं √तप्यते। अतो √नि √वर्तस्व। एवं राजोवाच।।

हि० अ०— पुरूरवा कहता है— मैं वसिष्ठ तथा शोभन कर्मों को देने वाला, अथवा शोभन-कर्म-रूप प्रणयातिरेक का प्रदाता तुझ उर्वशी को— जिसने अन्तरिक्ष को भर रखा है, अर्थात् जो गर्भवती है, तथा जो उदक की निर्मात्री है — यह परामर्श देता हूँ, कि तुम मेरे पास रहो, मेरा हृदय दग्ध हो रहा है।घर लौट चलो।।१७।।

१८. इति॑ त्वा दे॒वा इ॒म आ॑हुरैळ॒ यथे॑मे॒तद्भव॑सि मृ॒त्युब॑न्धुः।
प्र॒जा ते॑ दे॒वान्ह॒विषा॑ यजाति स्व॒र्ग उ॒ त्वमपि॑ मादयासे।।१८।।

पद-पाठः इति॑।त्वा॒।दे॒वाः इ॒मे।आ॒हु॒ः।ऐ॒ळ॒। यथा॑।ई॒म्।ए॒तत्।भव॑सि।मृ॒त्युऽब॑न्धुः।
प्र॒ऽजा।ते॒।दे॒वान्।ह॒विषा॑।य॒जा॒ति॒।स्व॒ःऽर्गे।ऊ॒ं इति॑।त्वं।अपि॑।मा॒द॒या॒से॒।।

अन्वय— इमे देवाः त्वा इति आहुः ऐळ! यथेम् एतद् मृत्युबन्धुः भवसि ते प्रजा देवान् हविषा यजाति। त्वमपि स्वर्ग उ मादयासे।

भा०— उर्वशी प्रस्थानात् पूर्वं पुरूरवसं सान्त्वयन्ती कथयति— इमे देवाः त्वाम् एतत् कथयन्ति, हे ऐळ! यतः त्वं मृत्यु-बन्धुः असि, यथाकालं म्रियसे इति भावः, अतः तव प्रजा देवान् हविषा यक्ष्यन्ति। त्वमपि च स्वर्गे एव बहुविधामोदान् प्राप्स्यसि।।१८।।

पद-व्याख्या—हे vएल पुरूरवः vत्वा त्वाम् vइमे vइमे vदेवाः vइति vआहुः। vमृत्युबन्धुः मृत्योः बन्धकः मृत्योर्बन्धुभूतो वा मृत्युवशमप्राप्नुवंस्त्वं vयथे यथा vएतद्भवसि भविष्यसि vप्रजा प्रकर्षेण जायमानस्त्वं vते तव संबन्धिनो यष्टव्यान् vदेवान् vहविषा vयजासि यजसि। vस्वर्ग vउ स्वर्ग एव vत्वमपि vमादयासे मादयसेऽस्माभिः सह। एवमाहुरित्यर्थः। यस्मादेवं करोपि तरमादभिलाषं हित्वा सुखी भवेति सेयं पुरूरवसं प्रत्युवाय।।४।।

अथ 'प्र ते महे' इति त्रयोदशर्चं षष्ठं सूक्तम्। बरुर्नामाङ्गिरस ऋषिः इन्द्रस्य पुत्रः सर्वहरिर्वा नाम। द्वादशीत्रयोदश्यौ त्रिष्टभौ शिष्टा एकादश जगत्यः। इन्द्रस्याश्वौ हरी। तयोरत्र स्तूयमानत्वात्तद्देवताकमिदम्। तथा चानुक्रान्तं–'प्र ते सप्तोना बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रो हरिस्तुतिर्द्वित्रिष्टुबन्तम्' इति। अतिरात्रे तृतीये पर्याये ब्राह्मणाच्छंसिन एतत्सूक्तम्। सूत्रितं च–'प्र ते मह ऊती शचीवस्तव वीर्येणेति याज्या' (आश्व०श्रौ० ६.४) इति। षोडशिशस्त्रेऽप्याद्यस्तृचः शंसनीयः। सूत्रितं च–'प्र ते महे विदथे शंसिषं हरी इति तिस्रो जगत्यः' (आश्व०श्रौ० ६.२) इति।।

हि० अ०— उर्वशी प्रस्थान करने से पूर्व पुरूरवा को सान्त्वना देती हुई कहती है— ये देवगण तुम्हें यह कहते हैं, हे ऐळ! क्योंकि तुम मृत्यु-बन्धु हो, अर्थात् यथासमय तुम्हारी मृत्यु होनी है, अतः तुम्हारी प्रजा अर्थात् तुम्हारे पुत्र देवों के लिए हवि देते हुए यज्ञ करेंगे, और तुम भी स्वर्ग में नानाविध आमोदों को प्राप्त करोगे।।१८।।

सरमा-पणि संवाद-सूक्त

सायण:-'किमिच्छन्ती' इत्येकादशर्चे नवमं सूक्तं त्रैष्टुभम् ऐन्द्रपुरोहितस्य बृहस्पतेर्गोषु बलनाम्नोऽसुरस्य भटैः पणिनामकैरसुरैरपहृत्य गुहायां निहितासु सतीषु बृहस्पतिप्रेरितेनेन्द्रेण गवामन्वेषणाय सरमा नाम देवशुनी प्रेषिता। सा च महतीं नदीमुत्तीर्य वलपुरं प्राप्य गुप्तस्थाने नीतास्ता गा ददर्श। अथ तस्मिनन्तरे पणय इदं वृत्तान्तमवगच्छन्त एनां मित्रीकर्तुं संवादमकुर्वन्। तत्र प्रथमातृतीयाद्या अयुजोऽन्त्यावर्जिताः पणीनां वाक्यानि। अत्र त ऋषयः सरमा देवता। द्वितीयाचतुर्थ्याद्या युज एकादशी च षट् सरमाया वाक्यानि। अतस्तासु सर्षिः पणयो देवता। तथा चानुक्रान्तं-'किमिच्छन्ती पणिभिरसुरैर्निगूळ्हा गा अन्वेष्टुं सरमां देवशुनिमिन्द्रेण प्रहितामयुग्भिः पणयो मित्रीयन्तः प्रोचुः सा तान्युग्मान्त्याभिरनिच्छन्ती प्रत्याचष्टे इति। गतो विनियोगः॥

१. **किमि॒च्छन्त॑ स॒रमा॒ प्रेदमा॑नड् दु॒रे ह्यध्वा॒ जगु॑रिः परा॒चैः।**

कास्मेहि॑ति॒ः का परि॑तक्म्यासीत्कु॒थं र॒साया॑ अतर॒ः पया॑सि॥१॥

पद-पाठः किम्। इ॒च्छन्ती॑। स॒रमा॑। प्र। इ॒दम्। आ॒न॒ट्। दू॒रे। हि। अध्वा॑। जगु॑रिः। प॒रा॒चैः॥ का। अ॒स्मेऽहि॑तिः। का। परि॑ऽतक्म्या। आ॒सी॒त्। कु॒थम्। र॒साया॑ः। अ॒त॒रः। पया॑सि॥

अन्वय-सरमा किम् इच्छन्ती इदं प्र आनट्। पराचैः जगुरिः अध्वा दूरे हि। का अस्मेहितिः, का परितक्म्या आसीत्? कथं (च) रसायाः पयांसिः अतरः?

सा०भा०-अनयागच्छन्ती सरमां दृष्ट्वा पणयो वदन्ति। सरमा शरणशीलैतन्नामिका देवशुनी किमिच्छन्ती किं प्रार्थयमाना सती इदं अस्मदीयं स्थानं प्र आनट् प्राप्नोत्। आङ्पूर्वो नशि व्याप्तिकर्मा। तस्य लुङि 'मन्त्रे घस' इत्यादिना च्लेर्लुक्। छन्दस्यपि दृश्यत इत्याडागमः। पराचैः पराञ्चि पराङ्मुखान्यावृत्तिवर्जितानि यानि गमनानि तैः जगुरिः उद्गूर्णः। महता प्रयत्नेनापि गन्तुं न शक्यत इत्यर्थः। 'गॄ निगरणे'। 'आदृगमहन' इत्यादिना किन्प्रत्ययः। 'बहुलं छन्दसि' (पा०सू० ७.१.१०३) इत्युत्वम्। तादृशोऽयम् अध्वा दूरे हि विप्रकृष्टः खलु। यद्वा। पराचैः पराञ्चैर्जगुरिरित्यर्थं गन्त्री पार्ष्णिभागमनालोकमाना सतीदं स्थानं प्राप्नोति। दूरेऽयमध्वा यदृच्छया गन्तुं न शक्यते। अतो वयमेतां पृच्छामः। हे सरमे का कीदृशी अस्मेहितिः। कोऽस्मास्वर्थहितिः। कोऽस्मासु त्वदपेक्षितार्थो निहितः। यद्वा। अस्मासु कोऽर्थो गतः दधातेर्हिनोतेर्वा क्तिनी रूपम्। आगच्छन्त्यास्तव का कीदृशी परितक्म्या रात्रिः आसीत्। यद्वा। तकतिर्गत्यर्थः। परितकनं परितो गमनं भ्रमणं वा कीदृशमासीत। कथं च रसायाः शब्दायमानाया अन्तरिक्षनद्या योजनशतविस्तीर्णायाः पयांसि उदकानि अतरः तीर्णवत्यसि। एतद्वद। 'अत्र किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट्' (निरु० ११.२५) इत्यादिकं निरुक्तं द्रष्टव्यम्॥

शब्दा०-किम्=क्या, **इच्छन्ती**=इच्छा करती हुई, **सरमा**=सरमा नाम की देवशुनी, जिसे इन्द्र ने दूती बनाकर पणियों के पास भेजा था, **इदम्**=यहाँ,

प्रआनट्=आई है, **दूरे**=दूर, **हि**=क्योंकि, **अध्वा**=मार्ग, **जगुरिः**=उभड़ा हुआ, **पराचैः**=गमनागमन से रहित, **का**=कौन सा, **अस्मेहितिः**=हममें तुम्हारा अभिप्रेत अर्थ निहित है, **का**=कैसी, **परितक्म्या**=यात्रा, **आसीत्**=थी, **कथम्**=किस प्रकार, **रसायाः**=रसा नामक नदी के, **अतरः**=पार किया, **पयांसि**=जल को।

हि०अ०—सरमा क्या इच्छा करती हुई इस स्थान पर पहुँची है; क्योंकि मार्ग बहुत दूर, उभड़ा हुआ तथा गमनागमन से रहित था। हममें तुम्हारा कौन-सा अभिप्रेत अर्थ निहित है? तुम्हारी यात्रा कैसी थी? रसा के जल को तुमने कैसे पार किया?

२. इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि महइच्छन्ती पणयो निधीन्वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि॥२॥

पद-पाठः इन्द्रस्य। दूतीः। इषिता। चरामि। महः। इच्छन्ती। पणयः। निऽधीन्। वः॥ अतिऽस्कदः। भियसा। तत्। नः। आवत्। तथा। रसायाः॥ अतरम्। पयांसि॥२॥

अन्वयः—(हे) पणयः, इन्द्रस्य दूतीः (तेन एव) इषिता (अहं) वः महः निधीन् इच्छन्ती चरामि। अतिस्कदः भियसा तत् नः आवत्। तथा रसायाः पयांसि अतरम्॥२॥

सा०भा०—अनया तान् सरमा प्रत्युवाच। हे पणयः एतन्नामका असुराः इन्द्रस्य दूतीः। 'सुपां सुलुक्' इति प्रथमैकवचनस्य सुश्छान्दसः। अहम् इषिता तेनैव प्रेषिता सती चरामि। युष्मदीयं स्थानमागच्छामि। किमर्थम्। वः युष्मदीयान् युष्मदीये पर्वतेऽधिष्ठापितान् महः महतः निधीन् बृहस्पतेर्गोनिधीन् इच्छन्ती कामयमाना सती चरामि। किंच अतिष्कदः। 'स्कन्दिर्गतिशोषणयोः'। भावे क्विप्। अतिष्कन्दनादतिक्रमणाज्जातेन भियसा भयेन तत् नदीजलं नः। पूजायां बहुवचनम्। **माम्** आवत् अरक्षत्। तथा तेन प्रकारेण रसायाः नद्याः पयांसि उदकानि अतरं तीर्णवत्यस्मि॥

शब्दा०—**इन्द्रस्य**=इन्द्र की, **दूतीः**=संदेशवाहिका के रूप में, **इषिता**=भेजी गई, **चरामि**=विचरण कर रही हूँ, **महः**=महान्, **इच्छन्ती**=इच्छा करती हुई, **पणयः**=हे पणियो, **निधीन्**=खजाने को, **वः**=तुम्हारे, **अतिष्कदः**=कूदकर पार कर जाने के, **भियसा**=डर से, **तत्**=उस रसा के जल ने, **नः**=हमारी, **आवत्**=रक्षा की, **तथा**=इस प्रकार, **रसायाः**=रसा के, **अतरम्**=पार किया, **पयांसि**=जल को।

हि०अ०—इन्द्र की दूती, उसके द्वारा भेजी गई मैं, हे पणियो, तुम लोगों के प्रभूत धन की इच्छा करती हुई घूम रही हूँ। (मेरे) कूदने के भय से उस (रसा के जल) ने मेरी सहायता की; इस प्रकार रसा के जल को मैंने पार किया।

३. कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति॥३॥

पद-पाठः कीदृङ्। इन्द्रः। सरमे। का। दृशीका। यस्य। इदम्। दूतीः। असरः। पराकात्।। आ। च। गच्छात्। मित्रम्। एन। दधाम। अर्थ। गवाम्। गोऽपतिः। नः। भवाति।।३।।

अन्वय–(हे) सरमे, कीदृङ् इन्द्रः, का दृशीका, यस्य दूतीः (त्वम्) पराकात् इदम् असरः। आ च गच्छात् (वयम्) एन मित्रं दधाम। अथ नः गवां गोपतिः भवाति।।३।।

सा०भा०–तेषां वाक्यम्। हे सरमे तव स्वामी इन्द्रः कीदृक्। कियत्पराक्रमवान्। का दृशीका। तस्य कीदृशी दृष्टिः। दृष्टिरूपा सेना कियती। यस्य दूतीः दूती त्वम् इदम् अस्मदीयं स्थानं पराकात् अतिदूरात् असरः आगमः। इति तामुक्त्वा इदानीं ते परस्परमाहुः। एषा सरमा आ गच्छात् च आगच्छतु च। गमेर्लेट्यागमः। स्वामी भवाति भवतु। न ह्येकस्या गोः किंतु बहुनां गवां स्वामी भवतु। वृत्त्यवृत्तिभ्यां स्वामित्वं बाहुल्यं च विवक्ष्यते।।

शब्दा०–**कीदृङ्**=कैसा, **इन्द्रः**=इन्द्र, **सरमे**=हे सरमा, **का**=कैसी, **दृशीका**=दृष्टि, **यस्य**=जिसकी, **इदम्**=यहाँ, **दूतीः**=दूती, **असरः**=आई हो, **पराकात्**=बहुत दूर से, **च**=अगर, **आगच्छात्**=आवे, **मित्रम्**=मित्र, **एन**=उसको, **दधाम**=बनावें, **अथ**=तब, **गवाम्**=गायों का, **गोपतिः**=गायों का स्वामी, **नः**=हमारी, **भवाति**=होगा।

हि०अ०–हे सरमा इन्द्र कैसा है? उसकी दृष्टि कैसी है, जिसकी दूती (तुम) दूर से यहाँ आई हो? अगर वह आवे, हम उसे मित्र बनावेंगे; तब वह हमारी गायों का संरक्षक होगा।

४. नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे।।४।।

पद-पाठः न। अहम्। तम्। वेद। दभ्यम्। दभत् सः। यस्य। इदम्। दूतीः। असरम्। पराकात्।। न। तम्। गूहन्ति। स्रवतः। गभीराः। हताः। इन्द्रेण। पणयः। शयध्वे।।४।।

अन्वयः–अहं तं दभ्यं न वेद (अपितु) सः दभत्, यस्य दूतीः (अहं) पराकात् इदम् असरम्। स्रवतः गभीराः तं न गूहन्ति। (हे) पणयः, हताः (यूयं) शयध्वे।

सा०भा०–सरमा वदति। हे पणयः तम् इन्द्रं दभ्यं हन्तव्यमिति न वेद न जानामि। दभेः अचो यत्। कथम्। सः इन्द्रः दमत् सर्वान् जनान् दमति हिनस्त्येव। दभेर्लेटिरूपम् वाक्यभेदादनिघातः। यस्य दूतीः दूती अहम् इदं युष्मदीयं स्थानं पराकात् अतिदूराद्देशात् असरं प्राप्ताभूवम्। इन्द्र हिंसितव्यो न भवतीत्यत्र युक्तिमाह। स्रवतः। स्रवर्ण स्रवः। तमाचरन्ति। आचारार्थे क्विप्। तुगागमः। जसिरूपम्। स्रवणशीलाः गभीराः

गम्भीराः नद्यः तम् इन्द्रं न गूहन्ति न संवृण्वन्ति। नाच्छादयन्ति। किंत्वा- विष्कुर्वन्ति। वयं यस्य महिम्ना समुद्रं प्रतिसरामः। तस्मादहिंस्य इत्येनं प्रकटीकुर्वन्ति। वयं यस्य महिस्ना समुद्रं प्रतिसरामः। तस्मादहिंस्य इत्येनं प्रकटीकुर्वन्ति। 'गुहू संवरणे'। भौवादिक तरमाद्धे पणयः यूयम् इन्द्रेण तादृशपराक्रमेण हताः सन्तः शयध्वे। 'शीङ्स्वप्ने'। 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः।।

शब्दा०—**न**=नहीं, **अहम्**=मैं, **तम्**=उसको, **वेद**=जानती हूँ, **दभ्यम्**=कष्ट पहुँचाया जाने वाला, **दभत्**=कष्ट पहुँचाता है, **सः**=वह, **यस्य**=जिसकी, **इदम्**=यहाँ, **दूतीः**=दूती, **असरम्**=आई हूँ, **पराकात्**=बहुत दूर से, **न**=नहीं, **तम्**=उसको, **गूहन्ति**=छिपा सकती है, **स्त्रवतः**=बहती हुई, **गभीराः**=गहरी जल वाली नदियाँ, **हताः**=मारा जाकर, **इन्द्रेण**=इन्द्र के द्वारा, **पणयः**=हे पणियो, **शयध्वे**=पड़ जावोगे।

हि०अ०—मैं उसको कष्ट पहुँचाया जाने वाला नहीं समझती; (अपितु) वह (शत्रुओं को) कष्ट देता है, जिसकी दूती मैं बहुत दूर से यहाँ आई हूँ। बहती हुई गहरी जल वाली नदियाँ उसको छिपा नहीं सकतीं; इन्द्र द्वारा मारा जाकर तुम लोग, हे पणियो, (पृथ्वी पर) पड़ जावोगे।

५. **इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्त्सुभगे पतन्ती।**
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा।।५।।

पद-पाठः इमाः। गावः। सरमे। याः। ऐच्छः। परि। दिवः। अन्तान्। सुऽभगे। पतन्ती।। कः। ते। एनाः। अव। सृजात्। अयुध्वी। उत। अस्माकम्। आयुधा। सन्ति। तिग्मा।।५।।

अन्वय—(हे) सुभगे सरमे, दिवः अन्तान् परि पतन्ती इमाः गावः, याः (त्वम्) ऐच्छः, एनाः ते कः अयुध्वी अव सृजात्। उत अस्माकम् आयुधा तिग्मा सन्ति।।५।।

सा०भा०—क्रुद्धाः पणयः प्रत्यूचुः। हे सुभगे शोभनसौभाग्यवति हे सरमे दिवः द्युलोकस्य अन्तान् पर्यन्तान् परि पतन्ती कुत्र गावस्तिष्ठन्तीति परितो गच्छन्ती त्वम् इमाः परिदृश्यमानाः या गावः। सुब्व्यत्ययः। गाः ऐच्छः कामयसे ताः एनाः गाः ते त्वदीयः कः अयुध्वी अयुद्ध्वा अव सृजात्। अस्मात् पर्वतादवसृजेत्। विनिर्गमयेत्। सृजेलेंटि रूपम्। अयुध्वी। युधेः क्त्वाप्रत्यये 'स्नात्व्यादयश्च' इति निपातितः। नञ्समासत्वाल्ल्यबादेशाभावः। नञः प्रकृतिस्वरत्वम्। उत अपि च अस्माकं तिग्मा तीक्ष्णानि आयुधा आयुधानि सन्ति। तस्मादस्मामिर्युद्धमकृत्वा को वा गा आहरति।।

शब्दा०—**इमाः**=इन, **गावः**=गायों को, **सरमे**=हे सरमा, **याः**=जिनकी, **ऐच्छः**=इच्छा की है, **दिवः**=आकाश, **अन्तान्**=छोर तक, **सुभगे**=हे कल्याणकारी, **परिपतन्ती**=चारों तरफ घूमती हुई, **कः**=कौन, **ते**=तुममें, **एनाः**=इनको, **अवसृजात्**=मुक्त कर सकता है, **अयुध्वी**=बिना युद्ध किये, **उत**=और, **अस्माकम्**=हमारे, **आयुधा**=शस्त्र,

सन्ति=हैं, **तिग्मा**=तीक्ष्ण।

हि०अ०–हे सरमा, आकाश की छोर तक चारों तरफ घूमती हुई इन गायों को, जिनकी तुमने इच्छा की है, हे सौभाग्यवती, तुममें से कौन मुक्त कर सकता है? और हमारे शस्त्र भी तीक्ष्ण हैं।

६. असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्थाबृहस्पतिर्व उभया न मृळात॥६॥

पद-पाठः असेन्या। वः। पणयः। वचांसि। अनिषव्याः। तन्वः। सन्तु। पापीः॥
अधृष्टः। वः। एतवै। अस्तु। पन्थाः। बृहस्पतिः। वः। उभया। न। मृळात्॥६॥

अन्वयः–(हे) पणयः, वः वचांसि असेन्या। (युष्माकं) पापीः तत्त्वः अनिषव्याः सन्तु; वः पन्थाः एतवै अघृष्टः अस्तु; (किन्तु) बृहस्पतिः वः उभया न मृळात्॥६॥

सा०भा०–सा तान्निराह–हे पणयः वः युष्माकं वचांसि पूर्वोक्तानि वचनानि असेन्या असेन्यानि। सेनार्हाणि न भवन्ति। सेनाशब्दात् तदर्हतीत्यर्थे 'छन्दसि च' इति यत्प्रत्ययः। नञ् समासः। 'ययतोश्चातदर्थे' (पा०सू० ६.२.१५६) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। तथा तन्वः युष्मदीयानि शरीराणि अनिषव्याः इष्वर्हाणि न सन्तु पराक्रमराहित्येन। पूर्ववत् प्रत्ययः। 'ओर्गुणः' (पा०सू० ६.४.१४६) इति गुणः। स्वरश्च तादृक्। यतः पापीः पापयुक्तानि खलु। 'छन्दसीवनिपौ' इतीप्रत्ययः। जसः सुः। किंच वः युष्मदीयः पन्थाः मार्गः एतवै। गन्तुम् अधृष्टः असमर्थः अस्तु। 'इण् गतौ' इत्यस्य तुमर्थे तवैप्रत्ययः। 'तवै चान्तश्च युगपत्' (पा०सू० ६.२.५१) इति धातोः प्रत्ययस्य च युगपदुदात्तत्वम्। तत्र हेतुमाह। वः युष्मदीयान् उभवा उभयविधान् पूर्वोक्तास्तन्वो देहान् बृहस्पतिः इन्द्रप्रेरितः न मृळात् न सुखयेत्। किन्तु बाधेत। 'मृड सुखने'। लेट्यागमः॥

शब्दा०–असेन्या=शस्त्र के आघात से सुरक्षित, **वः**=तुम्हारे, **पणयः**=हे पणियो, **वचांसि**=वचन, **अनिषव्याः**=बाणों के निशान से सुरक्षित, **तन्वः**=शरीर, **सन्तु**=हो सकते हैं, **पापीः**=पापाचरण करने वाले, **अघृष्टः**=अगम्य, **वः**=तुम्हारे पास, **एतवै**=जाने के लिये, **अस्तु**=हो सकता है, **पन्थाः**=मार्ग, **बृहस्पतिः**=बृहस्पति देवता, **वः**=तुम लोगों पर, **उभया**=दोनों प्रकार से, **न**=नहीं, **मृळात्**=दया करेंगे।

हि०अ०–हे पणियो, तुम्हारे वचन शस्त्र के आघात से सुरक्षित, तथा पापी शरीर बाणों के निशान से बचने वाले हो सकते हैं; तुम्हारे पास पहुँचने के लिए मार्ग अगम्य हो सकता है; किन्तु किसी (भी) प्रकार से बृहस्पति दया नहीं करेंगे।

७. अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नोगोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ॥७॥

पद-पाठः अयम्। निऽधिः। सरमे। अद्रिऽबुध्नः। गोभिः। अश्वेभिः। वसुऽभिः। निऽऋष्टः।। रक्षन्ति। तम्। पणयः। ये। सुऽगोपाः। रेकु। पदम्। अलकम्। आ। जगन्थ।।७।।

अन्वय–(हे) सरमे, गोभिः अश्वेभिः वसुभिः न्यृष्टः अयं निधिः अद्रिबुध्नः। तं (निधिं) पणयः, ये सुगोपाः (सन्ति), रक्षन्ति। (त्वं) रेकु पदम् अलकम् आ जगन्थ।

सा०भा०–ते पुनराहुः। हे सरमे अयं निधिः अस्मदीयः कोशः अद्रिबुध्नः। 'बन्ध बन्धने'। 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' (उ०सू० ३.५) इति नप्रत्ययो बुध इत्यादेशः अद्रिबन्धको यस्य तादृशः। तथा आहुतैः गोमिरश्वेमिः अश्वैश्च वसुभिः आत्मीयैर्धनैश्च न्यृष्टः नितरां प्राप्तो भवति। 'ऋषी गतौ'। क्त प्रत्यये 'श्वीदितो निष्ठायाम्' इतीट्प्रतिषेधः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। सुगोपाः 'गुपू रक्षणे'। आयप्रत्ययान्तात् क्विपि अतोलोपयलोपौ। सुष्ठु गोपायितारः ये पणयः तेऽसुराः तं निधिं रक्षन्ति पालयन्ति। रेकु। 'रेकृ शङ्कायाम्' औणदिक उप्रत्ययः। शङ्कितं गोभिः शब्दायमानं पदम् अस्माभिः पालितं स्थानम् अलकं व्यर्थमेव आ जगन्य आगतवत्यसि। गमेर्लिटि रूपम्।।

शब्दा०–**अयम्**=यह, **निधि**=खजाना, **सरमे**=हे सरमा, **अद्रिबुघ्नः**=पर्वतों से ढका हुआ है, **गोभिः**=गायों से, **अश्वेभिः**=अश्वों से, **वसुभिः**=संपदाओं से, **न्यृष्टः**=भरा हुआ है, **रक्षन्ति**=रक्षा करते हैं, **तम्**=उसको, **पणयः**=पणि, **ये**=जो, **सुगोपाः**=कुशल रक्षक, **रेकु**=रिक्त, **पदम्**=स्थान पर, **अलकम्**=व्यर्थ में, **आ जगन्थ**=आई हो।

हि०अ०–हे सरमा, गायों, अश्वों तथा संपदाओं से भरा हुआ यह खजाना पर्वतों से ढका हुआ है। पणि, जो कुशल रक्षक है, इसकी रक्षा करते हैं; तुम व्यर्थ में इस खाली स्थान पर आई हो।

८. **एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।**
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित्।।८।।

पद-पाठः आ। इह। गमन्। ऋषयः। सोमऽशिताः। अयास्यः। अङ्गिरसः। नवऽग्वाः।। ते। एतम्। ऊर्वम्। वि। भजन्त। गोनाम्। अथ। एतत्। वचः। पणयः। वमन्। इत्।।८।।

अन्वयः–सोमशिताः अयास्यः अङ्गिरसः नवग्वाः ऋषयः इह आ गमन्। ते एतं गोनाम् ऊर्वे वि भजन्त। अतः एतत् वचः पणयः वमन् इत्।

सा०भा०–सरमा पुनः प्रत्युवाच। हे पणयः सोमशिताः सोमेन तीक्ष्णीकृताः सोमपानेन मत्ताः। 'शिञ् निशाने'। कर्मणि क्तप्रत्ययः। 'तृतीयाकर्मणि इति पूर्वपदप्रकृतिरवरत्वम्। तादृशाः नवग्वाः नवगतयः। यद्वा। अङ्गिरसां सत्रमासीनानां मध्ये केचन नवसु माः सूदतिष्ठन् ते नवग्वाः। अनेन दशग्वा अप्युपलक्ष्यते। उभयविधास्ते

अङ्गिरसः ऋषयः तेषां प्रथमः अयास्यः एतन्नामा च ते एते इह युष्मदीये स्थाने आ गमन् आगच्छेयुः। गमेः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति सार्वकालिको लुङ्। ऌदित्त्वाच्च्लेरङ्। आगत्य च ते गोनाम्। 'गोः पादान्ते' इति छन्दसि नुडागमः। गवाम् ऊर्वं तं समूहं वि भजन्त विभागं कुर्युः। अत्रापि पूर्ववत् सार्वकालिको लुङ्। अथ अनन्तरं पणयः यूयम् एतद्वचः पूर्व यत् व्यर्थमागतासीति यद्वाक्यमवोचत तद्वाक्यं तदा वमन्नित् वमन्तः परित्यजन्तः एव भवथ । 'वमु उद्गिरणे'। शतरि 'सुपां सुलुक्' इति जसो लुक्। नुमागमः। संयोगान्तस्य लोपः। यद्वा। लङिरूपम्। स्वरश्छान्दसः।

शब्दा०–**इह**=यहाँ, **आ गमन्**=आयेंगे, **ऋषयः**=ऋषि, **सोमशिताः**=सोमपान से उत्तेजित, **अयास्यः**=अयास्य नामक ऋषि, **अङ्गिरसः**=अङ्गिरस नामक ऋषि, **नवग्वाः**=नवग्वा नाम के ऋषि, **ते**=वे, **एतम्**=इस, **ऊर्वम्**=विशाल समूह को, **वि भजन्त**=बांट लेंगे, **अथ**=तब, **एतत्**=इस, **वचः**=वचन को, **पणयः**=पणियों को, **वमन्**=उगलना पड़ेगा, **इत्**=निश्चित अर्थ का वाचक निपात।

हि०अ०–सोमपान से उत्तेजित अयास्य, अङ्गिरस्, तथा नवग्वा आदि ऋषि यहाँ आयेंगे। वे गायों के इस विशाल समूह को बांट लेंगे। तब पणियों को अपने इस वचन को उगलना पड़ेगा।

९. एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥९॥

पद-पाठः एव। च। त्वम्। सरमे। आऽजगन्थ। प्रऽबाधिता। सहसा। दैव्येन॥
स्वसारम्। त्वा। कृणवै। मा। पुनः। गाः। अप। ते। गवाम्। सुऽभगे। भजाम॥९॥

अन्वयः–(हे) सरमे, दैव्येन सहसा प्रबाधिता एव त्वं च आजगन्थ, त्वा स्वसारं कृणवै, पुनः मा गाः। (हे) सुभगे गवां ते अप भजाम।

सा०भा०–तथैवमुक्ते सति पणयः प्रणयवाक्यमाहुः। हे सरमे त्वं दैव्येन देवसंबन्धिना सहसा बलेन प्रबाधिता यथा तथा बलपुरं प्राप्य तत्र स्थिता गा दृष्ट्वा पुनरागच्छेति तेन प्रपीडिता त्वम् एवं चेत् आजगन्थ आगतवत्यसि। चशब्दश्चेदर्थे। 'निपातैर्यद्यदिहन्त' इति तिङो निघाताभावः। गमेर्लिटि थलि रूपम् 'सह सुपा' इत्यत्र सहेति योगविभागात् समासः। 'तिङि चोदात्तवति' इति गतेर्निघातः लित्स्वरः। तर्हि त्वा त्वां स्वसारं भगिनीं कृणवै करवै। समूहा पेक्षयैकवचनम्। त्वं तु पुनः मा गाः। इन्द्रादीन् मा गच्छ। अपि तर्हि हे सुभगे सरमे ते त्वदीयानां गवां समूहं पर्वतादपगमय्य भजाम। त्वं च वयं च विभजाम विभागं करवामेत्यर्थः।

शब्दा०–**एव**=इस प्रकार, **च**=अगर, **त्वम्**=तुम, **सरमे**=हे सरमा, **आजगन्थ**=आई हो, **प्रबाधिता**=पीड़ित की गई, **सहसा**=शक्ति से, **दैव्येन**=देवताओं की, **स्वसारम्**=बहन, **त्वा**=तुमको, **कृणवै**=बनाते हैं, **मा**=मत, **पुनः**=फिर, **गाः**=जावो, **ते**=तुमको, **गवाम्**=गायों का, **सुभगे**=हे सौभाग्यवती, **अव भजाम**=अलग हिस्सा देंगे।

हि०अ०–इस प्रकार, हे सरमा, अगर तुम देवताओं की शक्ति से पीड़ित की गई आई हो, तो हम तुम्हें बहन बनाते हैं, फिर मत जावो। हम, हे सौभाग्यवती, तुम्हें गायों का अलग हिस्सा देंगे।

१०. नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः॥१०॥

पद-पाठः न। अहम्। वेद। भ्रातृऽत्वम्। नो इति। स्वसृऽत्वम्। इन्द्रः। विदुः। अङ्गिरसः। च। घोराः॥ गोऽकामाः। मे। अच्छदयन्। यत्। आयम्। अप। अतः। इत। पणयः। वरीयः॥१०॥

अन्वयः–अहं भ्रातृत्वं न वेद; नो स्वसृत्वम्; इन्द्रः घोराः अङ्गिरसश्च विदुः। यत् (अहम्) आयम्, (ते) मे गोकामाः अच्छदयन्। अतः (हे) पणयः, वरीयः अप इत।

सा०भा०–सा तान् प्रत्याचष्टे। हे पणयः अहं भ्रातृत्वं न वेद न जानामि। तथा स्वसृत्वं च नो वेद नैव जानामि। के जानन्ति तामाह। इन्द्रः घोराः शत्रूणां भयंकराः अङ्गिरसश्च विदुः जानन्ति। किंच अस्मात् स्थानादहं यत् यदा आयम् इन्द्रादीन् प्राप्नवम्। 'अय पय गतौ'। लङि रूपम्। तदा मे मदीयाः गोकामाः युष्माभिरपहृता गाः कामयमाना इन्द्रादयः अच्छदयन्। युष्मदीयं स्थान- माच्छादयन्ति। 'छद अपवारणे'। अतः कारणाद् हे पणयः वरीयः उरुतरं गवां वृन्दं परित्यज्य अप इत अन्यत्स्थानं प्रति गच्छत। यद्वा। वरीयः प्रभूतमतिदूरं देशं गच्छत। इत। 'इण गतौ'। लोटि रूपम्। वरीयः उरुशब्दा दीयसुनि 'प्रियस्थिर' इत्यादिना वरादेशः।

शब्दा०–**न**=नहीं, **अहम्**=मैं, **वेद**=जानती हूँ, **भ्रातृत्वम्**=भाईपना, **न**=न तो, **स्वसृत्वम्**=बहनपना, **इन्द्रः**=इन्द्र, **विदुः**=जानते हैं, **अङ्गिरसः**=अङ्गिरस, **च**=और, **घोराः**=भयंकर, **गोकामाः**=गायों की इच्छा करने वाले, **मे**=मुझको, **अच्छदयन्**=मालूम पड़े, **यत्**=जब, **आयम्**=आई, **अप**=अलग, **अतः**=इसलिये, **इत**=चले जावो, **पणयः**=हे पणियो, **वरीयः**=किसी विस्तृत स्थान पर।

हि०अ०–मैं न तो भाईपना जानती हूँ, न बहनपना; इन्द्र तथा भयानक अङ्गिरस इसको जानते हैं। जब मैं आई, वे गायों की इच्छा करने वाले मालूम पड़े। अतः हे पणियों, (इसकी अपेक्षा) किसी विस्तृत स्थान पर चले जावो।

११. दूरमित पणयो वरीय उद्गावो यन्तु मिनतीर्ऋतेन।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळ्हाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः॥११॥

पद-पाठः दूरम्। इत। पणयः। वरीयः। उत्। गावः। यन्तु। मिनतीः। ऋतेन॥ बृहस्पतिः। याः। अविन्दत्। निऽगूळ्हाः। सोमः। ग्रावाणः। ऋषयः। च। विप्राः॥११॥

अन्वय–(हे) पणयः (यूयं) वरीयः दूरम इत। गावः ऋतेन मिनतीः उत् यन्तु; निगूळ्हाः याः (गाः) बृहस्पतिः अविन्दत् सोमः ग्रावाणः विप्राः ऋषयः च (अविन्दन्)।

सा०भा०–हे पणयः यूयं वरीयः उरुतरं दूरं दूरदेशम् इत गच्छत। युष्माभिरपहृताः गावः ऋतेन सत्येन मिनतीः मिनत्यो द्वारस्य पिधायकं पर्वतं हिंसत्यो विदारयन्त्यः उत् यन्तु तस्मादुद्गच्छन्तु। यद्वा। मिनतीः। व्यत्ययेन कर्मणि शतृ। मीयमाना युष्माभिर्बाध्यमानास्ता गावः सुब्व्यत्ययः। गा ऋतेन स्तुतिभिर्गन्तव्येनेन्द्रेण सहायेन बृहस्पत्यादय उद्यन्तु पर्वतादुद्गमयन्तु। निगूढाः नितरां स्थापिताः याः गाः बृहस्पति अविन्दत् लप्स्यते तथा सोमः तदभिषवकारिणः ग्रावाणः च विप्राः मेधाविनः ऋषयः अङ्गिरसः च लप्स्यन्ते। 'विद्लृ लाभे'। तौदादिकः तस्मात् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति भविष्यदर्थे लङ्। 'शे मुचादीनाम्' इति नुमागमः ॥

शब्दा०–दूरम्=दूर, इतं=चले जावो, पणयः=हे पणियो, ववरीयः=विस्तृत स्थान पर, गावः=गायें, उत् यन्तु=बाहर निकलें, मिनती=चट्टानों को तोड़ती हुई, ऋतेन=सत्य नियम के अनुकूल, बृहस्पतिः=बृहस्पति ने, याः=जिनको, अविन्दत्=ढूढ़ निकाल है, निगूळहाः=छिपी हुई, सोमः=सोम ने, ग्रावाणः=पत्थरों ने, ऋषयः=ऋषियों ने, च=और, विप्राः=बुद्धिमान्।

हि० अ०–हे पणियो, (इसकी अपेक्षा) किसी विस्तृत स्थान पर चले जावो। छिपी हुई गायें, जिनको बृहस्पति ने पता लगाया है, (जिनको) सोम ने, पत्थरो ने, तथा बुद्धिमान् ऋषियों ने (पता लगाया है, चट्टानों के आवरण को) तोड़ती हुई, सत्य के नियम के अनुकूल बाहर निकलें।

(ख) अथर्ववेद (शौनक-संहिता)

अथर्ववेद :

अथर्ववेद-संहिता का अध्ययन बहुत उपेक्षित रहा, इसे प्रायः जादू-टोने का ही वेद माना गया, त्रयी में इसका सन्निवेश न होने से इसे कम महत्व भी दिया गया, परन्तु मॉरिस ब्लूमफील्ड ने इस ओर ध्यान दिलाया कि अथर्ववेद-संहिता का अध्ययन

प्राचीन भारतीय जीवन की समग्रता की दृष्टि से बहुत उपयोगी है, क्योंकि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त और मृत्यु के परे भी जीवन के बारे में जितनी विशदता और काव्यमयता के साथ इस संहिता में वर्णन है उतना अन्यत्र नहीं। यही नहीं, इसमें आत्मचिन्तन और ब्रह्मचिन्तन की धारा भी अन्य संहिताओं की अपेक्षा प्रखर है।

इस वेद की नव शाखयें बतलायी जाती हैं, १. पैप्पलाद, २. तौद या स्तौद (इसका नाम तौदायन, स्तोदायन भी मिलता है), ३. मौद या मौदायन, ४. शौनकीय, ५. जाजल, ६. जलद, ७. ब्रह्मवद, ८. देवदर्श, ९. चारण वैद्य।

इनमें केवल दो के पाठ आज मिलते हैं, एक शौनकीय संहिता, दूसरी संहिता जिसे कश्मीरी अथर्ववेद कहते हैं और जिसे पैप्पलाद-संहिता कहा जाता है, परन्तु निश्चय रूप से अभी तक प्रमाणित नहीं हो सका है कि यह कश्मीरी पाठ पैप्पलाद-संहिता का ही है। दोनों पाठों की तुलना करते समय स्पष्ट हो जाता है कि यों तो शौनकीय पाठ और पैप्पलाद पाठ में प्रथम चौदह काण्डों तक समानता है पर पैप्पलाद में शैनकीय संहिता के १५ वें काण्ड का कुछ अंश मात्र साम्य रखता है, १६-१७ वें काण्ड में भी अधिकांश में साम्य है पर २८-२९ काण्ड तो एकदम ही पैप्पलाद में नहीं है और २० वें काण्ड की सामग्री यत्र-तत्र सर्वत्र पैप्पलाद में विखरी हुई है।

इस वेद में कुल ७३० सूक्त हैं जिनमें लगभग दो सौ सूक्तों के ऋषि अथर्वा हैं। शेष सूक्त १२९ ऋषियों के योगदान हैं। इनमें भी ब्रह्मा तथा अंगिरा ऋषियों के सूक्त अधिक हैं। उनके बाद मेधातिथि, भृगु, भृग्वङ्गिरा, मधुछन्दा, विश्वामित्र के हैं। अथर्वा ऋषि के सूक्तों की प्रधानता के कारण सम्भवत: इस वेद का नाम अथर्व पड़ा। नामों के विषय मे बृहद्देवता की मान्यता है कि 'सभी नाम कर्म द्वारा उत्पन्न होते हैं।' इससे संशय उत्पन्न होता है कि अथर्वा व्यक्तिनाम है, सम्प्रदाय है, परम्परा है, या विषय है। उपर्युक्त स्रोत से ज्ञात होता है कि नाम निरर्थक नहीं होते। वे आवास, कर्म, रूप, मंगलत्व, वाच्, आशीष, स्वेच्छा, निकटवास तथा कुलत्व के आधार पर रखे जाते थें। 'अथर्वन्' बहुत प्राचीन शब्द है। इसका उल्लेख ऋग्वेद में भी है (अग्निर्जातो अथर्वणा। ऋ० १०.२१.५)। **ब्राह्मण** काल में अग्निपूजाकों को **अथर्वन्** कहते थे। **पुराणों** के समय पुरोहितों की संज्ञा अथर्वन् थी। इस प्रकार अथर्वनों की प्रशस्त दीर्घ परम्परा पुरस्सर हुई है।

अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है। उसमें ऋषि अथर्वा की उत्पति कथा दी गई है। कल्प के प्रारम्भ मे सृष्टि-विधान के लिए स्वयंभू ब्रह्म तप कर रहे थे। उग्र तप के फलस्वरूप उनके रोमकूपों से पसीने की धारा फूट निकली। उसमें उनका संकल्प रेतस् बह चला। आगे चलकर वह दो शाखाओं में विभक्त हो गया। रेतस् एक स्थान

पर ठहर गया। उष्णता से भुन जाने के कारण उससे भृग का जन्म हुआ। वे अपने जनक ब्रह्म को देखने-जानने के लिए उत्सुक हुए। उनके इस मनस्ताप को देखकर भविष्यवाणी हुई कि तुम अपने जनक ब्रह्म का अन्वेषण नीचे स्थित जलों में करो–

अथार्वाग् एनम् एतासु अप्सु अन्विच्छ।(अ० २१४)

इस वाणी का प्रथम शब्द अथार्वाग् (अथ+अर्वाग्) भृगु का दूसरा नाम हुआ। उसके बाद शेष जल से आप्लुत तपस्वी वरुणापर ब्रह्म के अंगों से रस द्रवित हुआ। उससे उत्पन्न ऋषि अंगिरस हुए। इन्हीं अथर्वा और अंगिरा में ब्रह्म अंतर्हित हो गया। तपोबल से इनके एक सौ बीस पुत्र हुए। ये सभी मन्त्र द्रष्टा थे। इनके मन्त्रों का बृहत्संग्रह अथर्वाङ्गिरस वेद अथवा ब्रह्मवेद कहलाया। गोपथ।

अथर्ववेद के कई नाम मिलते हैं अथर्वाङ्गिरस वेद, भृग्वंगिरस वेद, ब्रह्मवेद। अथर्वाङ्गिरस वेद में अथर्वन् शांति या पुष्टि अंश से और अंगिरस अभिचार या धोर अंश से सम्बद्ध माने गये हैं। कल्प-सूत्रों में प्रायः इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। भृग्वंगिरस नाम लगता है आथर्वणों को भृगु मानने के फलस्वरूप आया है। जहां तक ब्रह्मदेव नाम का प्रश्न है यह नाम इस आधार पर आया कि यज्ञ में ऋत्विग् का वेद ऋग्वेद, उद्गाता का सामवेद, होता का यजुर्वेद तो ब्रह्मा का, जो एक प्रकार से चुपचाप समस्त कार्यों के साक्षी के रूप में बैठा रहता है, अथर्ववेद, परिशिष्ट से मान लिया गया। इसे मानने में वैसे उपपत्ति भी है, कर्म के साक्षी के रूप में आत्मचिन्तनपरायण अथर्ववेद के पुरोहित को रखना कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में समन्वय स्थापित करने के लिए है। ऐसा प्रतीत होता है कि दो वैदिक विचारधारायें थीं, एक बाह्यानुष्ठान पर अधिक बल देने वाली, देवशक्तियों का आवाहन करनेवाली, कर्मकाण्ड का वितान करनेवाली, दूसरी थी आभ्यन्तर शाक्तियों पर अधिक बल देनेवाली, मानव जीवन की आकांक्षाओं को धर्मरूप में उभारने वाली और ज्ञान रहस्यान्वेषण और भावना की एकाग्रता का विकास करने वाली। दूसरी धारा सम्भवतः भृगुओं-अंगिरसों के नये व्रातों या समूहों द्वारा लायी गयी, ये अत्यन्त आक्रामक विचार वाले थे, इसलिए इन्हें प्रारम्भ में स्वीकृति नहीं मिली, पर कालान्तर में अपने विचारों की सप्राणता और समग्रता के कारण पूरी भारतीय संस्कृति पर छा गये। यहां यह उल्लेखनीय है कि आज के हिन्दू के अगणित विश्वास, अनुष्ठान और मान्यतायें बीज रूप में सबसे अधिक अथर्ववेद में हैं। प्रायः सभी संस्कारों के (गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक) बीज अथर्ववेद में है, इसी वेद में सर्वप्रथम जन्मान्तरवाद की प्रस्थापना है, इसी में अनेक प्रकार के अनुसन्धानों (चिकित्सा, गृहनिर्माण, शस्त्रास्त्रनिर्माण आदि के क्षेत्रों में) के उल्लेख हैं तथा इसी में सबसे प्रभावकारी रूप में पृथिवी माता के प्रति गहरी भक्ति जगाने की बात है।

इस वेद का अध्यन कई दृष्टियों से किया जाना है, एक तो इस दृष्टि से कि अथर्ववेदीय परिकल्पना के धार्मिक जीवन का किस रूप में निरन्तर सातत्य हिन्दू जीवन में बना हुआ है, दूसरा इस दृष्टि से कि ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के आत्मब्रह्म-चिन्तन के कौन से सूत्र अथर्ववेद में मिलते हैं और आगमों, पुराणों तथा तन्त्रों की उपासनाओं और उनमें वर्णित अनुष्ठानों के कौन से सूत्र यहां मिलते हैं, तीसरा इस दृष्टि से कि आधुनिक दृष्टि से सामान्य मनुष्य की आकांक्षा को किस तरह सहज और काव्यमय अभिव्यक्ति यहां मिलती है और चौथा शुद्ध रूप से भाषा की दृष्टि से किन अर्थो में अथर्ववेद की भाषा कहीं-कहीं ऋग्वेद से भी पुरानी लगती है, किन अर्थो में ब्राह्मणों की भाषा के बीज उसमें मिलते हैं और किन अर्थों में एकदम अलग दिखती है। एजर्टन ने ठीक ही कहा है कि अथर्ववेद के ऋषियों के चिन्तन का मुख्य उद्देश्य वस्तुओं की गहरी और भीतरी सचाई के ज्ञान के द्वारा व्यावहारिक जीवन को समृद्ध बनाना था, वे इस प्रकार के रहस्यान्वेषण से यह आशा करते कि अपने जीवन में सफल प्रयोग कर सकेंगे, (Philosophy in Atharva Veda, M. Bloomfield Felicitation Volume)

भूमि-सूक्तः (१२.१)

इसे पृथिवी सूक्त भी कहा जाता है। इस सूक्त में पृथिवी के स्वरूप का विशद वर्णन प्राप्त होता है। आचार्य सायण के अनुसार इसमें कई पौराणिक कथाओं को जक्षय करके भी वर्णन किया गया है। इनेक स्थलों में ऋषि ने पृथ्वी से वरों की प्रार्थना की है।

सम्प्रदाय के अनुसार इस सूक्त का अनेक प्रकार का विनियोग होता है। यथा-"सत्यं बृहत्" अनुवाकका वास्तोष्पत्यगण में पाठ है।

आग्रहायणी कर्म में रात्रि के समय अभ्यातान तक करके तीन चरुओं को राँधे फिर इस अनुवाक से अग्नि के पीछे गड्ढे में दर्भों को बिछाकर एक चरुको एक बार कुछ अवशिष्ट न रख कर होम दें दे। फिर इस अनुवाक से दूसरे चरु को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करे। तीसरे चरु को "सत्यं बृहत्" आदि पहली सात ऋचाओं से और "भूमे मातः" (६३) नामक आठवीं ऋचा से तीन बार आहुति दे। तात्पर्य यह है आठ ऋचाओं की आवृत्ति करके तीन बार होम करे। अग्नि के पीछे दर्भों पर तृणमय फैली हुई चटाई को बिछाकर "विमृग्वरीम्" इस उन्तीसवीं ऋचा से उपवेशन करे। "यास्ते शिवाः" (९।२।२५) से संवेशन करे। "यच्छयानः" इस ३४वीं

ऋचा से पर्यावर्तन करे। "सत्यं बृहत्" आदि नौ ऋचाओं से "शन्तिवा" इस उनसठवीं ऋचा से और "उदायुषा" आदि तीसरे काण्ड के इकतीसवें सूक्त की दशवीं और ग्यारहवीं ऋचा से प्रातः काल के समय उठे। "उद्वयम्" इस सातवें काण्ड के पचपनवें सूक्त की सातवीं ऋचा से चले। "उदीराणा:" इस अट्ठाईसवीं ऋचा से पूर्व उत्तर वा बाहर से जावे। "यावत् ते" इस तैंतीसवीं ऋचा से भूमि को देखे। यह आग्रहायणी कर्म हुआ।

पुष्टि को चाहने वाला उन्नत स्थान पर चढ़कर "यावत् ते" इस चौंतीसवीं ऋचा से देखें।

इस अनुवाक से जलपूर्ण पात्र को सम्पातित करके अग्नि के सामने युक्त सीर का प्रोक्षण करे।

इस अनुवाक से कृषि कर्म होता है। इसका "सीरा युञ्जन्ति" इस तीसरे काण्ड के सत्रहवें सूक्त में विस्तृत वर्णन है।

पुत्र धन आदि सब फलों की प्राप्ति के लिये "यस्यां सदो हविर्धाने" आदि अड़तीसवीं, उन्तालीसवीं, और चालीसवीं इन तीन ऋचाओं से घृत की आहुति दे।

व्रीहि यव आदि अन्न की कामना रखने वाला "यस्यामन्नम्" इस बयालीसवीं ऋचा से पृथ्वी का उपस्थान करे।

मणि सुवर्ण आदि को चाहने वाला "निधिं बिभ्रतीम्" इन चौबालीसवीं और पैंतालीसवीं ऋचाओं से पृथ्वी का उपस्थान करे।

मणि वा सुवर्ण को पाकर भी इन दोनों ऋचाओं से उपस्थान करे।

पुष्टि को चाहने वाला वृष्टि के समय में "यस्यां कृष्णम्" इस बावनवीं ऋचा से नवीन जल को अभिमन्त्रित करके आचमन और स्नान करे।

इसी बात को कौशिक ने कहा है कि–"सत्यं बृहत् इत्याग्रहायण्याम्। पश्चाद् अग्नेर्गर्भेषु खदायां सर्वहुतम्। द्वितीयं सम्पातवन्तं अश्नाति तृतीयस्यादितः सप्तभिर्भूमे मातरिति त्रिर्जुहोति। पश्चाद् अग्नेर्दर्भेषु कशिप्वास्तीर्य विमृग्वरीम् इत्युपविशति। यास्ते शिवा इति संविशति। यच्छयान इति पर्यावर्तते। नवभिः शन्तिवेति दशम्योदायुषेत्युपोत्तिष्ठति। उद्वयम् इत्युत्क्रामति। उदीराणा इति त्रीणि पदानि प्राङ्षोदङ् वा बाह्येनोपनिष्क्रम्य यावत् त इति वीक्षते। उन्नताच्च। पुरस्ताद् अग्नेः सीरं युक्तं उदपात्रेण सम्पातवताऽवसिञ्चति। आयोजनायां अप्ययः। यस्यां सदो हविर्धाने इति जुहोति वरो म आगमिष्यतीति। यस्यामन्नमुपतिष्ठते। निधिं बिभ्रतीति मणिं हिरण्यकामः। एवं विद्वान् यस्यां कृष्णम् इति वार्षकृतस्याचमति। शिरस्यानयते" इति (कौशिकसूत्र ३/७) वरो वरणीयो मम भवेदित्यर्थः।

ग्राम नगर आदि की रक्षा के लिये इस अनुवाक से चार पुरोडाशों को अश्मोत्तर कर ग्राम आदि के कोनों में गाढ़ देवे।

ग्राम नगर आदि की रक्षा करने के लिये एक-एक पुरोडाश के पाषाण को ऊपर करके दोनों को संपात वाले करे फिर ग्राम आदि के कानों में गाढ़ देय। सर्वत्र प्रत्येक् द्रव्य पर सूक्त की आवृत्ति करनी चाहिये।

अग्निभवन के सन्तापरहित स्थान में लेटकर इस अनुवाक को जपे। सर्वत्र कर्मों का विकल्प है।

इसी बात को कौशिक सूत्र में कहा है कि–"भौमस्य दृतिकर्माणि। पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् अन्तः स्त्रक्तिषु निदधाति। उभयान्तसम्पातवतः। सभाभागधानेषु च। असन्तापे ज्योतिरायतनस्यैकतोऽन्यं शयानो भौमं जपति" इति (कौशिकसूत्र ५।२)।।

भूकम्प होने पर इस अनुवाक का होम में विनियोग होता है। "अथ यतैतद् भूमिचलो भवति। जहाँ पर यह भूकम्प होता है" इस बात का आरम्भ करके कौशिक ने कहा है, कि–"सत्यं बृहद इत्येतेनानुवाकेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः। सत्यं बृहत् इस अनुवाक से आहुति देय, यही उसका प्रायश्चित है।" (कौशिकसूत्र १३।६)।।

सोमयज्ञ के दीक्षित नियमों में मूत्र वा पुरीष की शुद्धि के लिये लोष्टदान में इसका विनियोग होता है। इसी बात को वैतान सूत्र में कहा है, कि–"सत्यं बृहद् इति लोष्टं आदाय।" इति (वैतान सूत्र ३।२)।।

"पार्थिवीं भूमिकामस्य। भूमि की कामना वाले के लिये पार्थिवी शान्ति को करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित पार्थिवी महाशान्ति में इस अनुवाक का विनियोग होता है। इसी बात को नक्षत्रकल्प में कहा है, कि–"सत्यं बृहत् इत्यनुवाकः पार्थिव्यास्" इति (नक्षत्रकल्प १८)।।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।१।।

पद-पाठः सत्यम्। बृहत्। ऋतम्। उग्रम्। दीक्षा। तपः। ब्रह्म। यज्ञः। पृथिवीम्। धारयन्ति। सा। नः। भूतस्य। भव्यस्य। पत्नी। उरुम्। लोकम्। पृथिवी। नः। कृणोतु।।१।।

सत्य, बृहत् जल, दीक्षा, उग्र तप, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथिवी को धारण करते हैं अर्थात् इनके आधार पर पृथिवी टिकी रहती है, ऐसी यह उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले प्राणियों का पालन करने वाली पृथ्वी देवी हमको विस्तीर्ण स्थान दें।।१।।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।।२।।

पद-पाठः असम्ऽबाधम्। मध्यतः। मानवानाम्। यस्याः। उत्ऽवतः। प्रऽवतः। समम्। बहु। नानाऽवीर्याः। ओषधीः। या। बिभर्ति। पृथिवी। नः। प्रथताम्। राध्यताम्। नः।।२।।

जिस पृथ्वी के मनुष्यों के मध्य में असम्बाधरूप से बहुत से नीचे को ढलकाव वाले ऊपर को चढ़ाई वाले और सम इस प्रकार के बहुत से स्थान हैं और जो पृथिवी अनेक प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न औषधियों को धारण करती है वह पृथिवी हमारे लिये विस्तीर्ण मात्रा में प्राप्त हो और हमारे कृषि आदि मनोरथों को सिद्ध करे।।२।।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।

यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु।।३।।

पद-पाठः यस्याम्। समुद्रः। उत। सिन्धुः। आपः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। यस्याम्। इदम् जिन्वति। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। पूर्वऽपेये। दधातु।।३।।

जिस पृथिवी में समुद्र है, नदियें हैं, जल हैं, और जिसमें खेती तथा अन्न होता है और जिसमें यह चेष्टाशील प्राण वाला जगत् तृप्त होता है वह पृथ्वी हमको जिस स्थल में फलरूपी रस का पहले पान हो सकता है उस स्थल में स्थापित करे।।३।।

यस्याश्चतस्त्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।

या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु।।४।।

पद-पाठः यस्याः। चतस्रः। प्रऽदिशः। पृथिव्याः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। या। बिभर्ति। बहुऽधा। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। गोषु। अपि। अन्ने। दधातु।।४।।

जिस पृथिवी में पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिणरूप चार श्रेष्ठ दिशायें हैं और जिसमें खेती और अन्न होता है और जो चेष्टाशील प्राणवाले जगत् को अनेक प्रकार से धारण करती है वह भूमि देवी हमको गौ और अन्न में स्थापित करे।।४।।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु।।५।।

पद-पाठः यस्याम्। पूर्वे। पूर्वऽजनाः। विचक्रिरे। यस्याम्। देवाः। असुरान्। अभिअवर्तयन्। गवाम्। अश्वानाम्। वयसः। च। विऽस्था। भगम्। वर्चः। पृथिवी। नः। दधातु।।५।।

जिस पृथ्वी में परम प्राचीन पूर्व पुरुषों ने अनेक प्रकार के कर्म किये हैं और जिसमें देवताओं ने असुरों के सन्मुख युद्ध किया है जो पृथ्वी गौ अश्व और पक्षियों के अनेक प्रकार से रहने का स्थान है अर्थात् जिसमें गौ अश्व और पक्षी अनेक रीति से रहते हैं, वह पृथ्वी हमको धन और तेज देवे।।५।।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु॥६॥

पद-पाठः विश्वम्ऽभरा। वसुऽधानी। प्रतिऽस्था। हिरण्यऽवक्षाः। जगतः। निऽवेशनी। वैश्वानरम्। बिभ्रती। भूमिः। अग्निम्। इन्द्रऽऋषभा। द्रविणे। नः। दधातु॥६॥

विश्वभर का भरण करने वाली, धन को धारण करने वाली प्राणियों की स्थिति की हेतु है, सुवर्ण को (खानरूप में) वक्षःस्थल में धारण करने वाली है, जगत् को बसाने वाली है, वैश्वानर अग्नि को धारण करने वाली है ऐसी वृषभरूप इन्द्र को धारण करने वाली पृथ्वी हमको धन प्रदान करे॥६॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥७॥

पद-पाठः याम्। रक्षन्ति। अस्वप्नाः। विश्वऽदानीम्। देवाः। भूमिम्। पृथिवीम्। अप्रऽमादम्। सा। नः। मधु। प्रियम्। दुहाम्। अथो इति। उक्षतु। वर्चसा॥७॥

शयन न करने वाले देवता जिस पृथ्वी की सावधानी से सदा रक्षा करते हैं, वह हमको मधुर और प्रिय (अन्नादि) को देवे फिर वर्चः से सम्पन्न करे॥७॥

यार्णवेधिं सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥८॥

पद-पाठः या। अर्णवे। अधि। सलिलम्। अग्रे। आसीत्। याम्। मायाभिः। अनुऽअचरन्। मनीषिणः। यस्याः। हृदयम्। परमे। विऽओमन्। सत्येन। आऽवृतम्। अमृतम्। पृथिव्याः। सा। नः। भूमिः। त्विषिम्। बलम्। राष्ट्रे। दधातु। उत्ऽतमे॥८॥

जो पहले समुद्र में थी और विद्वान् पुरुष शक्तियों से जिस पर विचरण करते हैं और जिस पृथ्वी का अमृतमय हृदय परमवयोम में प्रतिष्ठित है, वह भूमि हमको उत्तम राष्ट्र में स्थापित करे तथा दीप्ति और बल प्रदान करे॥८॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयोदुहामथो उक्षतु वर्चसा॥९॥

पद-पाठः यस्याम्। आपः। परिऽचराः। समानीः। अहोरात्रे इति। अप्रऽमादम्। क्षरन्ति। सा। नः। भूमिः। भूरिऽधारा। पयः। दुहाम्। अथो इति। उक्षतु। वर्चसा॥९॥

जिसमें चारों ओर विचरण करने वाले जल दिन रात में एक-सी रीति से सावधानतापूर्वक बहते रहते हैं, ऐसी भूरिधारा भूमि हम को दुग्ध के समान सारभूत

फल को देवे और हमको वर्च से सम्पन्न करे॥९॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यो विचक्रमे।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेनमित्रां शचीपतिः।

सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥१०॥

पद-पाठः याम्। अश्विनौ। अमिमाताम्। विष्णुः। यस्याम्। विऽचक्रमे। इन्द्रः। याम्। चक्रे। आत्मने। अनमित्राम्। शचीऽपतिः। सा। नः। भूमिः। वि। सृजताम्। माता। पुत्राय। मे। पयः॥१०॥

अश्विनीकुमारों ने जिसका निर्माण किया है और विष्णु ने जिस पर विक्रमण किया है और इन्द्र ने जिसको शत्रुरहित करके अपने वश में किया था ऐसी भूमि, माता जैसे पुत्र को दूध पिलाती है इस प्रकार मेरे लिये दुग्ध के समान सारभूत फल को देवे॥१०(१)॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।

बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।

अजीतोहतो अक्षतोध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥११॥

पद-पाठः गिरयः। ते। पर्वताः। हिमऽवन्तः। अरण्यम्। ते। पृथिवि। स्योनम्। अस्तु। बभ्रुम्। कृष्णाम्। रोहिणीम्। विश्वऽरूपाम्। ध्रुवाम्। भूमिम्। पृथिवीम्। इन्द्रऽगुप्ताम्। अजीतः। अहतः। अक्षतः। अधि। अस्याम्। पृथिवीम्। अहम्॥११॥

हे पृथिवी देवि! तेरे पर्वत, छोटे-छोटे पर्वत, हिमाचल के स्थान, और वन हमारे लिये सुखदायक हों, मैं बभ्रु, कृष्ण, लाल (आदि) अनेक रूपों वाली, इन्द्रगुप्ता ध्रुवा भूमि पर, अक्षत अजित और अहत रहता हुआ अधिष्ठित रहूँ॥११॥

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।

तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥१२॥

पद-पाठः यत्। ते। मध्यम्। पृथिवि। यत्। च। नभ्यम्। याः। ते। ऊर्जः। तन्वः। सम्ऽबभूवुः। तासु। नः। धेहि। आभि। नः। पवस्व। माता। भूमिः। पुत्रः। अहम्। पृथिव्याः। पर्जन्यः। पिता। सः। ऊं इति। नः। पिपर्त्तु॥१२॥

हे पृथ्वी! जो तेरा मध्यभाग है जो तेरा नाभिभाग है और तेरे शरीर से जो पुष्टिप्रद पदार्थ प्रकट होते हैं, तुम उसमें मुझको स्थापित करो, हमको पवित्र करो, भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूँ और पर्जन्य-मेघ-मेरा पिता है, वह हमारा पालन करे॥१२॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्राः आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना॥१३॥

पद-पाठः यस्याम्॥ वेदिम्। परिऽगृह्णन्ति। भूम्याम्। यस्याम्। यज्ञम्। तन्वते। विश्वऽकर्माणः। यस्याम्। मीयन्ते। स्वरवः। पृथिव्याम्। ऊर्ध्वाः। शुक्राः। आऽहुत्याः। पुरस्तात्। सा। नः। भूमिः। वर्धयत्। वर्धमाना॥१३॥

जिस भूमि में वेदि को बनाते हैं और संपूर्ण प्रकार के कर्मों को करने वाले जिसमें यज्ञ को करते हैं और आहुति देने से पहले जिस भूमि पर दमकते हुए यज्ञस्तम्भ खड़े किये जाते हैं ऐसी बढ़ती हुई भूमि हमको बढ़ावे॥१३॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥१४॥

पद-पाठः यः। नः। द्वेषत्। पृथिवि। यः। पृतन्यात्। यः। अभिऽदासात्। मनसा। यः। वधेन। तम्। नः। भूमे। रन्धय। पूर्वऽकृत्वरि॥१४॥

हे पृथिवी देवि! जो हमसे द्वेष करे, जो हमारे लिये सेना को एकत्रित करे, जो मन में हमारा वध करने का विचार कर हमको क्षीण करना चाहे, हे पूर्वकृत्वरि भूमे! उसको आप हमारे लिये मार डालिये॥१४॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥१५॥

पद-पाठः त्वत्। जाताः। त्वयि। चरन्ति। मर्त्याः। त्वम्। बिभर्षि। द्विऽपदः। त्वम्। चतुःऽपदः। तव। इमे। पृथिवि। पञ्च। मानवाः। येभ्यः। ज्योतिः। अमृतम्। मर्त्येभ्यः। उत्ऽयन्। सूर्यः। रश्मिऽभिः। आऽतनोति॥१५॥

हे पृथ्वी देवि! आपके ऊपर उत्पन्न हुए मनुष्य आप पर ही विचरण करते हैं, तुम दो पैर वाले मनुष्य आदि का और चार पैर वाले घोड़े आदि का भरण करती हो जिनके लिये उदय होते हुए सूर्यदेव अपनी किरणों से ज्योति और आमरणसाधन पदार्थसमूहों को देते हैं वे पाँच जन भी आपके ही हैं॥१५॥

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्॥१६॥

पद-पाठः ताः। नः। प्रऽजाः। सम्। दुह्रताम्। समऽअग्राः। वाचः। मधु। पृथिवि। धेहि। मह्यम्॥१६॥

सूर्य की किरणें हमारे लिये प्रजाओं को, सब प्रकार की वाणियों को दुहें और हे पृथिवी! आप मुझको मधुमय पदार्थ दीजिये॥१६॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा॥१७॥

पद-पाठः विश्वऽस्वम्। मातरम्। ओषधीनाम्। ध्रुवाम्। भूमिम्॥ पृथिवीम्। धर्मणा। धृताम्। शिवाम्। स्योनाम्। अनु। चरेम। विश्वहा॥१७॥

हम विश्व की धनरूप, औषधियों की उत्पादिका, धर्म से धृत, ध्रुवा शिवा सुखदायिनी पृथ्वी पर सर्वत्र गमन करते हुए विचरण करें॥१७॥

महत् सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन॥१८॥

पद-पाठः महत्। सधऽस्थम्। महती। बभूविथ। महान्। वेगः। एजथुः। वेपथुः। ते। महान्। त्वा। इन्द्रः। रक्षति। अप्रऽमादम्। सा। नः। भूमे। प्र। रोचय। हिरण्यस्यऽइव। सम्ऽदृशि। मा। नः। द्विक्षत। कः। चन॥१८॥

हे भूमे! तू बड़ी भारी आवासभूमि है, तेरा वेग और कम्पन महान् है, और महान् (पूजनीय) इन्द्र सावधानी से तेरी रक्षा करते हैं ऐसी हे पृथ्वी! तू हमको इस प्रकार सबका रुचिकर बना जिस प्रकार सुवर्ण सब दृष्टि में रोचक होता है, कोई हमसे द्वेष न करे॥१८॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः॥१९॥

पद-पाठः अग्निः। भूम्याम्। ओषधीषु। अग्निम्। आपः। बिभ्रति। अग्निः। अश्मऽसु। अग्निः। अन्तः। पुरुषेषु। गोषु। अश्वेषु। अग्नयः॥१९॥

(वाष्परूप) अग्नि भूमि में है, जल (बिजली के रूप में) अग्नि को धारण करता है और पत्थरों में अग्नि है, पुरुषों के भीतर (जठराग्निरूप में) अग्नि है, तथा गौ और घोड़ों के भीतर भी अग्नियां हैं॥१९॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम्॥२०॥

पद-पाठः अग्निः। दिवः। आ। तपति। अग्नेः। देवस्य। उरु। अन्तरिक्षम्। अग्निम्। मर्तासः। इन्धते। हव्यऽवाहम्। घृतऽप्रियम्॥२०॥

अग्निदेव (सूर्य रूप में) स्वर्ग में तपते हैं, यह विशाल अन्तरिक्ष भी अग्नि देवता वाला है, मरणधर्मी प्राणी घृतप्रिय हव्यवाह अग्नि को ही प्रज्वलित किया करते हैं।।२०।।

अग्निवासाः पृथिव्य सितज्ञूः स्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु।।२१।।

पद-पाठः अग्निऽवासाः। पृथिवी। असितऽज्ञूः। त्विषिऽमन्तम्। सम्ऽशितम्। मा। कृणोतु।।

अग्नि का जिसमें वास है ऐसी असित (धूम) को जानने वाली पृथिवी मुझ को दीप्ति वाला और तीक्ष्ण करे।

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु।।२२।।

पद-पाठः भूम्याम्। देवेभ्यः।। ददति। यज्ञम्। हव्यम्। अरम्ऽकृतम्। भूम्याम्। मनुष्याः। जीवन्ति। स्वधया। अन्नेन। मर्त्याः। सा। नः। भूमिः। प्राणम्। आयुः। दधातु। जरत्ऽअष्टिम्। मा। पृथिवी। कृणोतु।।२२।।

मनुष्य भूमि पर अलंकृत यज्ञ में देवताओं के निमित्त हव्य दिया करते हैं, और भूमि में ही मरणधर्मी प्राणी अन्न और जल से जीवित रहा करते हैं, ऐसी यह भूमि हम को प्राण और आयु धारण करे और यह पृथ्वी देवी मुझको बुढ़ापे तक रहने वाला करे।।२२।।

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।

यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन।।२३।।

पद-पाठः यः। ते। गन्धः। पृथिवि। सम्ऽबभूव। यम्। बिभ्रति। ओषधयः। यम्। आपः। यम्। गन्धर्वाः। अप्सरसः। च। भेजिरे। तेन। मा। सुरभिम्। कृणु। मा। नः। द्विक्षत। कः। चन।।२३।।

हे पृथिवि! जो तेरा गन्ध है, जिस गंध को औषधि और जल धारण करते हैं गंधर्व और अप्सरायें भी तेरे उसी गंध का सेवन करते हैं, उससे तूझ को सुगन्धित कर, मुझसे कोई द्वेष न करे।।२३।।

तृतीयम् घटकम्

ब्राह्मण-उपनिषत्साहित्यम्

(क-१) ऐतरेय ब्राह्मण-अध्याय ३३

शुनःशेप आख्यानम्:

इस ब्राह्मण का प्रस्तुत प्रकरण (३३/३) राजकृत्यों से सम्बद्ध राजसूय यज्ञ का अङ्ग है। तेंतीसवें अध्याय में प्रसिद्ध शुनःशेप आख्यान आता है। उसी आख्यान के प्रसङ्ग में हरिश्चन्द्र की प्रस्तुत कथा दी गई है। सायण ने इस कथा का फल बहुपुत्रलाभ बताया है। इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र सन्तानहीन था। महर्षि नारद ने उसे पुत्र-प्राप्ति का यह उपाय बताया कि तुम राजा वरुण से प्रार्थना करो और उसे कहो कि मेरा जो पुत्र होगा, उससे मैं तुम्हारा यजन करूँगा। उसका रोहित नामक पुत्र हुआ। स्वाभाविक रूप से वरुण ने उसे पुत्र द्वारा यजन के लिये कहा। परन्तु हरिश्चन्द्र उसे यह कहकर टालता रहा कि अभी इसके दाँत निकले दो दाँत टूटने दो, फिर दाँत निकलने दो। अन्त में उसने कहा कि क्षत्रिय को पुत्र धनुष्, बाण कवच इत्यादि से युक्त होने पर ही यज्ञ-याग्य होता है। यह होने पर अर्थात् रोहित के धनुविद्या से युक्त होने पर पिता ने उसे सारी बात बताई। यह सुनकर रोहित धनुष-बाण लेकर वन में पहुँचा और एक वर्ष तक वहाँ रहा।

इधर हरिश्चन्द्र के जलोदार रोग हो गयां। वरुण द्वारा उत्पन्न किये गये इस रोग का समाचार बन में रोहित को मिला तो वह वन से गाँव की ओर चला। परन्तु इन्द्र ने उसे रोका। इस प्रकार पाँच वर्ष तक इन्द्र द्वारा रोके जाने पर छठे वर्ष वन में चलते हुए उसे अजीगर्त नामक ऋषि मिला। रोहित अवपने आपको वरुण से छुड़ाने के लिये सौ गौओं के बदले में अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को ले आया।

अस कथा का आशय यह प्रतीत होता है कि यदि हरिश्चन्द्र कुछ प्रयत्न करता और अकर्तण्य बैठकर वरुण को वाहानों से टालता न रहता, तो वह अवश्य ही अपने पुत्र को बचाकर भी वरुण को सन्तुष्ट कर देता। उसकी अकर्मण्यता के कारण ही

उसे भयानक जलोदर रोग हो गया। उधर अपनी रक्षा में निरत वन में सञ्चरणशील रोहित अपनी रक्षा का उपाय ढूँढने में सफल हो गया। इसीलिये बार-बार इन्द्र रोहित को उपदेश देता है—चरैवेति अर्थात् चलते ही रहो, क्योंकि इन्द्र अर्थात् ईश्वर चलने वाले अर्थात् कर्मशील व्यक्ति का मित्र है।

प्रथमः खण्डः

हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजाऽपुत्र आस, तस्य ह शतं जाया बभूवुस्तासु पुत्रं न लेभे, तस्य ह पर्वतनारदौ गृह ऊषतुः, स ह नारदं पप्रच्छ॥१॥

हरिश्चन्द्रो नाम राजर्षि, 'प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी- इति पाणिनिना सूत्रितत्वात्। स च वेधसो नृपतेः पुत्रः, इक्ष्वाकुवंशोद्भवो राजा 'अपुत्रः' पुत्रहीनः 'आस'। स च शत-संख्यानां जायानां मध्ये कस्यांचिदपि जायायां पुत्रं न लेभे। तस्य राज्ञो गृहे पर्वत-नारदनामानौ यावृषी, तौ निवासं चक्रतुः। तयोर्मध्ये नारदमृषिमेतया गाथया राजा पप्रच्छ॥

हिन्दी अनुवाद : इक्ष्वाकुवंशी वेधस राजा का पुत्र हरिश्चन्द्र सन्तानहीन था। उसकी सौ रानियां होते हुए भी उनसे कोई पुत्र नहीं हुआ। (एक बार पर्वत और ऋषि ने उस राजा हरिश्चन्द्र के घर निवास किया, उन दोनों में से राजा हरिश्चन्द्र ने नारद ऋषि से एक गाथा के माध्यम से पूछा,

यं न्विमं पुत्रमिच्छन्ति, ये विजानन्ति, ये च न।
किंस्विद् पुत्रेण विन्दते, तन्म आचक्ष्व नारदेति॥२॥

'ये' देवमनुष्यादयो 'विजानन्ति' विवेकज्ञानयुक्ताः। 'ये' च पश्वादयो 'न विजानन्ति' विवेकज्ञानरहिताः। ते सर्वेऽपि 'नु' क्षिप्रं 'यमिमं' पुत्रमिच्छन्ति, तेन पुत्रेण 'किंस्विद्विन्दते' किनाम फलं पिता लभते? हे नारद! 'मे' मह्यं 'तत्' फलमाचक्ष्व 'इति' राज्ञः प्रश्नः॥

हिन्दी अनुवाद : कि : हे देवर्षि नारद! ये जो ज्ञानवान् देवता और मानव योनि के तथा विवेक ज्ञान से रहित पशु-पक्षी आदि हैं वे सब पुत्र को ही चाहते हैं अर्थात् पुत्र की ही इच्छा करते हैं। पुत्र प्राप्ति से पिता को क्या फल मिलता है? हे नारद उस फल को कहो यह राजा ने प्रश्न किया।

स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच॥

'सः' नारदः 'एकया' गाथया पृष्टः सन् 'दशभिः' गाथाभिः प्रत्युत्तरमुक्तवान्॥

हिन्दी अनुवाद : उस नारद ऋषि ने एक गाथा से पूछे गये प्रश्न का दश

गाथाओं के द्वारा उत्तर दिया।

ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पृत्रस्य जातस्य, पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।।३।।

उत्पन्नस्य सुखेन जीवतः पुत्रस्य मुखं पिता यदि पश्येत्, तदानीम् 'अस्मिन्' पुत्रे स्वकीयमृणं लौकिकं वैदिकं च 'संनयति' सम्यगवस्थापयति। लौकिकस्यावस्थापनात् पुत्रपौत्रादिभिर्ऋणं प्रत्यर्पणीयमिति स्मृतिकारा आहुः। वैदकं तु 'त्रिभिर्ऋणवा जायते' इत्यादिश्रुत्युक्तं पूर्वमेवोदाहृतम्। तस्य च पुत्रावस्थापनं संप्रत्तिनामकेन कर्मणा संपद्यते। तच्च कर्म वाजसनेयिभिरान्नातम्–'अथातः संप्रत्तिः यदा प्रैष्यन् मन्यते, अथ पुत्रमाह, त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। स पुत्रः प्रत्याह– अहं ब्रह्म अहं यज्ञोऽहं लोकः। 'ब्रह्म' मया कर्तव्यं वेदाध्ययनं, मयाऽनुष्ठेया यज्ञाश्च मया संपाद्या उत्तमा लोकाश्चेत्येतत्सर्वं पुत्रेण त्वयैव संपादनीयमिति पितृवाक्यस्यार्थः। सर्वमहं संपादयिष्यामीति पुत्रवाक्यस्यार्थः। अत्रापि आरण्यककाण्डे संक्षिप्य संदर्शयिष्यते–'सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते' इति। एवमृणं पुत्रे समर्पयति। तथैव 'अमृतत्वं' मरणरहितं मुक्तिपदं च गच्छति। पुत्रार्पितलौकिक-वैदकिभारस्याविध्नेन तत्त्वज्ञानसंपादनात्।।

हिन्दी अनुवाद : उत्पन्न हुए पुत्र को सुख पूर्वक जीवित पुत्र के मुख को यदि पिता देख लेता है तो वह अपने (लौकिक और वैदिक) सभी ऋणों को उसमें भली भाँति स्थापित कर देता है और पिता उऋण होकर 'अमृतत्व' अर्थात् मरण रहित मुक्ति पद को प्राप्त करता है। पुत्रार्ति लौकिक और वैदिक भार के विध्न से विभुक्त होकर तत्व ज्ञान सम्पादन से वह अमर हो जाता है। स्मृतिकारों ने भी कहा है कि मानव को अपने पुत्रा पौत्रदि पर लौकिक ऋणों को प्रत्यर्पण कर देना चाहिए (वेदाध्ययन, यज्ञसंपादन तथा और उत्तम लोकों का सम्पादन वैदिक ऋणों के अन्तर्गत आता है।

यावन्तः पृथिव्यां भोगा, यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां, भूयान्पुत्रे पितुस्ततः।।४।।

पृथिव्यां भोगाः सस्यनिवासादयः। 'जातवेदसि' अग्नौ भोगा दहनपचनादयः। 'अप्सु' भोगाः स्नानपानादयः। प्राणिनामेते सर्वे भोगा यावन्तः सन्ति। ततस्तावद्भ्यः सर्वेभ्यो भोगेभ्यो 'भूयान्' अभ्यधिकः पितुः पुत्रे भोगो विद्यते, अत्यन्तसुखहेतुत्वात्।। तथा च आहुः–'पुत्रोत्पत्तिविपत्तिभ्यां नापरं सुखदुःखयो' इति।

हिन्दी अनुवाद : इस पृथ्वी के जितने भी भोग हैं, और जितने भोग अग्नि के हैं, और जितने भोग जल से सम्बन्धित हैं, पिता के लिए इन सब भोगों से श्रेष्ठ पुत्र का भोग है। अर्थात् पृथ्वी, जाल और अग्नि के भोगों से पुत्र का भोग अत्यन्त

सुख का हेतु होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है।

शश्वत् पुत्रेण पितरोऽत्यायन् बहुलं तमः।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी।।५।।

'पितरः' जनकाः, उत्पन्नेन पुत्रेण 'शश्वत्' सर्वदा लोकद्वयेऽपि 'बहुलम्' अभ्यधिकं 'तमः' ऐहिकमामुष्मिकं च दुःखम् 'अत्यायन्' अतिक्रामन्ति। तथा च बौध ायन आह–'पुदिति नरकस्याऽऽख्या, दुःखं च नरकं विदुः। पुत्तस्त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च'।।"

किं च 'हि' यस्मात्कारणात् पितुः पुत्र उत्पन्न इत्युक्ते सति पिता स्वस्मात् स्वयमेव 'जज्ञे' उत्पन्न इत्युक्तं भवति। ततः पिता यथा 'स्वयं' स्वकीयं दुःखं विनाशयति, तथा पुत्रोऽप्येतद्दुःखं विनाशयतीति द्रष्टव्यम्। तस्मात् 'सः' पुत्रः 'इरावती' अन्नयुक्ता 'अतितारिणी' नदीसमुद्रादेरतितरणहेतुर्नौरिति शेषः। यथा नौर्दुर्घटं नद्यादिकं तारयति एवं पुत्रोऽप्यैहिकमामुष्मिकं च दुःखं तारयतीत्यर्थः।।

हिन्दी अनुवाद : और भी कहा है:–

पुत्रोत्पत्ति और विपत्तियों में दूसरा सुख दुःख नहीं है अर्थात् पुत्रोत्पति सुख और पुत्राविपत्ति ही दुःख है।

पिता उत्पन्न हुए पुत्र से सर्वदा दोनों लोकों में अत्यधिक अन्धकार अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक दुःख को पार करता है।

(बौधायन ने भी कहा है कि 'पुत्' यह नरक का नाम है और दुःख को ही नरक कहा गया है। इस 'पुत्' नामक नरक से पार उतारने वाला होने के कारण ही पुत्र कहा गया है इसलिए इस लोक में सब पुत्र की ही इच्छा करते हैं) पिता अपने आप से स्वयं को ही अत्पन्न करता है। वह पुत्र इरावती, अर्थात् अन्नादि से युक्त अतितारिणी, भली प्राकर पार उतारने वाली नदी के समान है। जिस प्रकार नौका आदि नदी आदि से पार उतारती है उसी प्रकार पुत्र भी ऐहिक और आमुष्मिक दुःखों से पार उतारता है।

किं नु मलं, किमजिनं, किमु श्मश्रूणि, किं तपः।
पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्वं, स वै लोकोऽवदावदः।।६।।

अत्र मलाजिनश्मश्रुतपाशब्दैराश्रमचतुष्टयं विवक्षितम्। मलरूपाभ्यां शुक्रशोणिताभ्यां संयोगात् 'मल' शब्देन गार्हस्थ्यं विवक्षितम्। कृष्णाजिनसंयोगादजिन- शब्देन ब्रह्मचर्यं विवक्षितम्। क्षौरकर्मराहित्याच्छ्मश्रुशब्देन वानप्रस्थ्यं विवक्षितम्। इन्द्रियनियमसद्भावात् तपःशब्देन पारिव्राज्यं विवक्षितम्। 'मलं' गार्हस्थ्यं 'किं नु' किं नाम सुखं करिष्यति?

न किंचिदित्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। हे 'ब्राह्मणः' विप्राः, विप्रक्षत्रियाद्याः सर्वे यूयं सुखहेतुत्वात् पुत्रमिच्छध्वम्। 'स वै' स एव पुत्रः 'अवदावदो लोक। वदितुमयोग्यानि निन्दावाक्यान्यवदाः तैर्वाक्यैर्नोद्यते न कथ्यत इत्यवदावदः। एवं प्रघट्टेन तेन कथ्यत इति–'अवदावदः' दोषराहित्यान्निन्दानर्ह इत्यर्थः। तादृशो 'लोकः' भोगहेतुः पुत्रः। तस्मादाश्रमेभ्योऽप्याधिक्येन पुत्रेच्छा कर्तव्या। यद्यपि हरिश्चन्द्र एवात्र प्रष्टा, तथाऽपि तेन सह ऋषीणां बहूनां सभायामवस्थानात् ब्राह्मण इति संबोधनम्।।

हिन्दी अनुवाद : चारों आश्रमों के कर्त्तव्यपालन रूप फल से भी अधिक पुत्र प्राप्ती को मानता हुआ कहता है कि, क्या 'मल' अर्थात् शुक्रशोणित आदि के संयोग के कारण गृहस्थ को मल कहा गया है, 'अजिन' भृगचन। आदि के संयोग से ब्रह्मचर्य आश्रम को कहा है, (याोपवी, दण्ड, भृगचर्म, शिखा आदि ब्रह्मचारी के चिन्ह हैं) 'शमश्रणि' से वानप्रस्थ आश्रम और 'तपः' से सन्यास आश्रम विवक्षित है। कहा है कि क्या गृहस्थ, क्या वानप्रस्थ, क्या ब्रह्मचार्य और क्या सन्यास आश्रम से सुख मिल सकता है, जो सुख प्राप्ती पुत्र प्राप्त होने के बाद है वह चारों आश्रमों के प्राप्त होने से भी नहीं प्राप्त होती अतः है ब्रह्मणो-विद्वानो पुत्र की कामना करो वही किसी प्रकार की निन्दा आदि से रहित है।

अन्नं ह प्राणः, शरणं ह वासो, रूप हिरण्यं, पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया, कृपणं ह दुहिता, ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्।।७।।

अन्नादयो लोके सुखहेतुत्वेन प्रसिद्धाः। तथा हि शरीरे प्राणावस्थितिहेतुत्वादन्नमेव प्राणः। वासः शीतोपद्रवाद् रक्षकत्वेन 'शरणं' गृहसमानम्। 'हिरण्यं' कर्णाभरणादिकं दृष्टिप्रियत्वाद् रूपसंपादकम्। 'पशवः' गवाश्वदयो विवाहविशेषेण निर्वाहकाः। जाया भोगे सहकारित्वात् 'सखा ह' सखिस्वरूपैव। एवमेते सुखहेतुत्वेन प्रसिद्धा अपि तात्कालिकमल्पमेव सुखं प्रयच्छन्ति। 'दुहिता ह' पुत्री इति 'कृपणं' 'केवल-दुःखकारित्वाद् दैन्यहेतुः। तथा च स्मर्यते–

"संभवे स्वजनदुःखकारिका संप्रदानसमयेऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः।।"

'पुत्रो ह' पुत्रस्तु ज्योतिःस्वरूपं, तमोनिवारकत्वेन प्रकाशरूपत्वेन स हि पितरं 'परमे व्योमन्' उत्कृष्टे आकाशे परमब्रह्मस्वरूपेऽवस्थापयति। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यनने व्याससूत्रेण आकाशव्योमादिशब्दानां ब्रह्मपरत्वं निर्णीतम्। पुत्रस्य च ब्रह्मज्ञानहेतुत्वं पूर्वमेवामृतत्वं च गच्छतीप्यत्र प्रतिपादितम्।।

हिन्दी अनुवाद : अन्नादि को लोक में सुख का हेतु माना जाता है पुत्र की अन्य, सुखों के साधनों से तुलना करके श्रेष्ठ बतलाया गया है। शरीर में प्राणों की स्थिति का हेतु मानते हुए अन्न को ही प्राण कहा गया है, शीत, ग्रीष्म आदि से रक्षा करने के कारण वस्त्रों काक गृह रूप शरण माना है, और सुवर्ण को सौन्दर्य का संपादक, गौ अश्व आदि पशुओं को विवाह के समान आनन्द एवं सुख का आधार कहा है परन्तु दुहिता (पुत्री) को दु:ख प्रदान करने वाली दीनता का कारण माना है परन्तु पुत्र को अन्धकार का निवारक ज्योति के समान सुख कारी कहा है क्योंकि पुत्र ही पिता को परम व्योम में स्थापित करता है अर्थात् मुक्ति दिलाता है।

पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां नुर्नवो भूत्वा, दशमे मासि जायते॥८॥

पत्युराकारद्वयमस्ति,–वर्तमानपुरुषाकार एक:, रेतोरूपेण गर्भाकारो द्वितीय:। जायाया अप्याकारद्वयमस्ति,–पतिरूपमाकारं प्रति जाया भवति। गर्भरूपमाकारं प्रति माता भवति। अत: 'स:' तादृश: पति:, स्वयं रेतोरूपेण गर्भो भूत्वा, पूर्वमवस्थितां जायां भविष्यदाकारेण मातरं सतीं प्रविशति। 'तस्यां' मातरि 'पुनर्नवो भूत्वा' पूर्वमन्यस्यां मातर्युत्पन्नो जरठ:। इदानीं पुर्नूतनबालो भूत्वा 'तस्याम्' इदानींतन्यामस्यां मातरि गर्भपाके सति दशमे मास्युत्पद्यते। तस्मात् पुत्र: स्वस्माद् अन्यो न भवति॥

हिन्दी अनुवाद : पुत्र किस प्रकार सुख का कारक है और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि–पति स्त्री के दो रूपो को प्राप्त करता है–प्रथम जाया (पत्नी) के रूप में तथा दूसरा वह अपनी पत्नी में अपने रेतस अर्थात् वीर्य के रूप में उसके मातृ रूप गर्भ में प्रवेश करता है और पुन: वह दशवें महीने में अपने बालक रूप नये स्वरूप में उत्पन्न होता अत: वह पुत्र के रूप में अपने आप को ही उत्पन्न करता है।

तज्जाया जाया भवति, यदस्यां जायते पुन:।
आभूतिरेषा भूतिर्बीजमेतन्निधीयते॥९॥

'यद्' यस्मात्कारणाद् 'अस्यां' गर्भधाारिण्याम् 'अयं' पिता पुत्ररूपेण पुनर्जायते, 'तत्' तस्मात्कारणात् लोकप्रसिद्धा या जायाऽस्ति, सा जायतेऽस्यामिति व्युत्पत्या जायाशब्दवाच्या भवति। किं चैषा भूत्याभूतिशब्दाभ्यामभिधीयते। भवत्यस्यां पुत्ररूपेण पतिरित्येषा 'भूति' शब्दावाच्या, रेतोरूपेणाऽऽगत्यास्यां पुत्ररूपेण भवति 'आभूति' शब्दावाच्या। 'एतत्' एतस्यां स्त्रियां 'बीजं' रेतोरूपं 'निधीयते' प्रक्षिप्यते तस्मादुक्ता: शब्दा उपपद्यन्ते॥

हिन्दी अनुवाद : इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि : पिता गर्भ धारण करने वाली अपनी पत्नी के माध्यम से पुत्र रूप में पुनः उत्पन्न होता है। इस कारण स्त्री को 'जाया' कहा जाता है कि वह इसी से उत्पन्न होता इस लिए इसे जाया कहते हैं यह व्युत्पत्ति है और इसे रूप में इसमें (उत्पन्न) होता है इसलिए इसे 'भूति' और रेतस् रूप में आकर इसमें पुत्र रूप में (उत्पन्न) होता है इसलिए 'आभूति' कहा जाता है।

देवाश्चैतामृषयश्च, तेजः समभरन् महत्।
देवा मनुष्यानब्रुवन्नेषा वो जननी पुनः॥१०॥

'एताम्' एतस्यां शोषिति देवात्र महर्षयञ्च स्वकीयं 'महत्तेजः' रेतोरूपं सारं 'समभरन्' पुत्रोत्पादनाय संपादितवन्तः। स्वयमेव संपाद्य तातो मनुष्यानित्यब्रुवन्–हे मनुष्याः। येयमिदानीं जायारूपेण वर्तते, सेयं पुनः 'वः' युष्माकं पुत्ररूपे जन्मनि जननी भवति॥

हिन्दी अनुवाद : देवताओं और महर्षियों ने इस (पत्नी) में अपने महान तेज को रेतस् (वीर्य) रूप में इस (पत्नी) में पुत्र उत्पादन के लिए संपादित किया। तब उन देवताओं और प्राचीन ऋषियों ने मनुष्यों से कहा कि हे मनुष्यों! जो यह (स्त्री) अब तुम्कहारी पत्नी के रूप में है यही तुम्हारे पुत्र को उत्पन्न करने के कारण 'जननी' कहलाएगी।

नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति, तत्सर्वे पशवो विदुः।
तस्मान्तु पुत्रो मातरं, स्वसारं चाधिरोहति॥११॥ इति।

'लोको' लोकजन्यं सुखम्, अपुत्रस्य नास्ति। न हि पुत्रदर्शनने यत्सुखं तदन्यदर्शनने क्वचिदपि दृश्यते। 'इति' यदस्ति तत् 'सर्वे' गोमहिष्यादयो जानन्ति यस्माद्, तस्मादेव कारणात्पशुजातौ जातः 'पुत्रः' वत्सः स्वकीयां मातरं भगिनीं या पुत्रोत्पादनार्थमधिरोंति॥

हिन्दी अनुवाद : बिना पुत्र वाले को लिए लोक नहीं है अर्थात् लोक जन्य सुख, अथवा परलोक नहीं है और जो पुत्र दर्शन का सुख है वह अपुत्र कभी नहीं देखता, इस तथ्य को सभी पशु–गो, महिषि आदि भी जानते हैं इसीलिए पशुजाति में उत्पन्न हुआ पुत्र अपनी माता और बहन को भी पुत्रोत्पत्ति के लिए धारण करता है अर्थात् पुत्र प्राप्ति के लिए वह किसी मर्यादा का पालन नहीं करता सबको छोड़ देता है।

एष पन्था उरुगायः सुशेवो, यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः।
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च, तस्मात्ते मात्राऽपि मिथुनीभवन्ति॥१२॥

'पुत्रिणः' पुत्रवन्तो देवमनुष्यादयो 'विशोकाः' शोकरहिताः सन्तो 'यं' पन्थानं सुखानुभवरूपं मार्गम् 'आक्रमन्ते' प्राप्नुवन्ति, 'एष पन्थाः' पुत्रसुखानुभवरूपो मार्गः 'उरुगायः', उरुभिर्महद्भिः शास्त्रज्ञै राजामात्यादिमिश्च गीयते। तथा "सुशेवः" सुष्ठु सेवितुं योग्यः सुखाधिक्यस्य विद्यमानत्वात्। 'तं' पुत्रसुखानुभवरूपं 'पशवः' गरवादयो 'वयांसि' पक्षिणः 'पश्यन्ति' जानन्ति। तस्मात् 'ते' पशुपक्ष्यादयः पुत्रसुखाय 'मात्रा' सह मिथुनी भवन्ति, किं किमुतान्यथा स्त्रिया सहेत्यर्थः॥

हिन्दी अनुवाद : पुत्र वाले (पुत्रिणः) देवता और मनुष्यादि शो-रहित होते हुए जिस सुख का अनुभव करते हैं और सुखानुभव रूप मार्ग का अनुसरण करते हैं वह महान व्यक्तियों द्वारा (श्रेष्ठ) कहा गया है तथा वह सुखाधिक्य के कारण भलि-भाँति प्राप्त करने योग्य है। इस पुत्र सुखानु भूति को पक्षी भी जानते हैं, इसीलिए वे पुत्र की कामाना करने वाले पशु-पखी आदि पुत्र सुख की कामना करते हुए अपनी माता के साथ भी मैथुन करते हैं और अपनी स्त्रियों के साथ तो करते ही हैं।

इति हास्मा आख्याय॥१३॥

हिन्दी अनुवाद : इस प्रकार अनेक रूपों में ऋषि नारद ने राजा हरिश्चन्द्र को उत्तर दिया।

'इति ह' अनेनैव प्रकारेण 'अस्मै' तस्मै हरिश्चन्द्राय 'आख्याय' उत्तरममिधाय, अवस्थित इति शेषः॥

अथ द्वितीयः खण्डः

अथैनमुवाच–वरुणं राजानमुपधाव, पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति॥१॥

'अथ' पुत्रेच्छानिमित्तकथनानन्तरम् 'एनं' पुत्रार्थिनं हरिश्चन्द्रं नारद उवाच–हे हरिश्चन्द्र, वरुणं राजानम् 'उपधाव' प्रार्थयस्व। येन प्रकारेण प्रार्थनीयः, सोऽमिधीयते। हे वरुण त्वत्प्रसादात् मे पुत्रो जायतां, ततस्तेन पुत्रेण 'त्वां यजै' त्वामुद्दिश्य यज्ञं करवाणीति॥

हिन्दी अनुवाद : इसके बाद ऋषि नारद ने राजा हरिश्चन्द्र से कहा कि तुम पुत्र कामना पूर्ति के लिए राजा वरुण के पास जाकर प्रार्थना करा कि : हे वरुण देव तुम्हारी कृपा से मुझे पुत्र उत्पन्न हो, तब उस पुत्र के द्वारा मैं तुम्हारे निमित्त यज्ञ करूंगा।

तथेति; स वरुणं राजानमुपससार, पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति; तथेति; तस्य ह पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम॥२॥

नारदोपदेशमङ्गीकृत्य हरिश्चन्द्रो वरुणम् 'उपससार' प्रार्थयामास। 'स:' वरुणोऽपि तथाऽस्त्विति तदीयपुत्रोत्पत्त्यै वरं दत्तवान्। तेन च वरेणोत्पन्नस्य 'रोहित:'–इत्येतन्नामाभूत्॥

हिन्दी अनुवाद : ठीक है ऐसा ही करता हूँ (तथोति) यह कह कर वह (राजा हरिश्चन्द्र) राज वरुण के पास गया, और उससे प्रार्थना की कि मुझे पुत्र उत्पन्न हों, उससे मैं तुम्हारा यजन करूंगा। वरुण ने भी 'तथेति' अर्थात् ऐसा ही हो यह कह कर उसे पुत्र प्राप्ती का वरदान दे दिया, और उस वरदान से हरिश्चन्द्र को पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका रोहित नाम रखा गया।

तं होवाचाजनि वै ते पुत्रो यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति, निर्दशो न्वस्त्वथ त्वा यजा इति; तथेति॥३॥

'तं' हरिश्चन्द्रं वरुण उवाच–हे हरिश्चन्द्र, ते पुत्र: 'अजनि वै' उत्पन्न एव, अनेन पुत्रेण मामुद्दिश्य यागं कुर्विति। एवं वरुणेनोक्ते हरिश्चन्द्र: पुन: प्रत्युवाच। यागार्थ: पशुर्यदा निर्दशो भवति, तदा स पशु 'मेध्य:' यागयोग्यो भवति। निर्गतान्यशौचदिनानि दशसंख्याकानि यस्मात् पशो: सोऽयं 'निर्दश:'। तस्मादयं 'नु' क्षिप्रं निर्दशोऽस्तु, 'अथ' अनन्तरं त्वा प्रति अहं 'यजै' इत्येतद्वाक्यम्। वरुण: 'तथाऽस्तु'- इत्यङ्गीचकार॥

हिन्दी अनुवाद : पुत्रोत्पत्ति के बाद वरुण ने राजा हरिश्चन्द्र से कहा कि तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हो गया है इस पुत्र से मेरा यज्ञ करा। वरुण के यह करने पर हरिश्चन्द्र ने कहा कि हे वरुण जिस प्रकार पशु याग के लिए निर्दश अर्थात् दश दिन की आयु प्राप्त कर लेता है तभी वह मेध्य अर्थात् यज्ञ के योग्य होता है। तब तक प्रसूति काल के दश अशौच दिन भी निकल जाते हैं यह निर्दश काल व्यतीत होने पर मैं तुम्हारा इनसे यजन करूंगा। वरुण ने कहा ठीक है।

स ह निर्दश आस तं होवाच निर्दशो न्वभूद्यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ता जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य जायन्तामथ त्वा यजा इति; तथेति॥४॥

दशदिनाशौचापगमे शुद्धत्वाद् यथा यागयोग्यत्वं, तथा दन्तोत्पन्नत्वादवयवसपूर्त्या यागयोग्यत्वमित्यभिप्राय:। स्पष्टमन्यत्॥

हिन्दी अनुवाद : वह (रोहित) निर्दश हो गया अर्थात् दस दिन का हो गया तब वरुण ने कहा कि अब तो रोहित निर्दश हो गया है अत: अब इससे यज्ञ करो।

तब हरिश्चन्द्र ने कहा कि पशुओं के जब दांत निकल आते है तभी वे मेध्य होते हैं इसीलिए इसके भी दांत निकल आएं तो इससे यज्ञ करूंगा। वरुण ने कहा ठीक है।

तस्य ह दन्ता जज्ञिरे; तं होवाचाज्ञत वा अस्य दन्ता यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य पद्यन्तामथ त्वा यजा इति, तथेति॥५॥

'अज्ञत वै' जाता एव। 'पद्यन्ते' पतन्ति। प्रथमोत्पन्नानां दन्तानामस्थायित्वेन मुख्यपश्ववयवत्वाभावात् तत्पाते सति पशोर्मेध्यत्वम्॥

हिन्दी अनुवाद : उस (रोहित) के दांत निकल आए, तब वरुण ने कहा कि इसे दांत जम गये हैं, इससे मेरा यज्ञ करो। हरिश्चन्द्र ने कहा कि जब पशु के (दूध के दांत टूट जाने पर) पुनः चुगते है तभी वे मेध्य होते हैं, इसके भी दांत पुनः जम जाए तभी इससे यजन करूंगा। वरुण ने कहा ठीक है।

तस्य ह दन्ताः पेदिरे; तं होवाचापत्सत वा अस्य दन्ता, यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै पशोर्दन्ताः पुनर्जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति; दन्ता न्वस्य पुनर्जायन्तामथ त्वा यजा इति, तथेति॥६॥

'अपत्सत वै' पतिताः। पुनरुत्पन्नानां दन्तानां स्थिरत्वेन संपूर्णावयवत्वात् पशोर्मेध्यत्वम्॥

हिन्दी अनुवाद : उस (रोहित) के दांत पुनः उग गये, उस (हरिश्चन्द्र को वरुण ने कहा, इसके दांत गिर गये हैं अतः अब इससे यज्ञ करो वह (हरिश्चन्द्र) बोला कि जब पशुओं के दांत पुनः उग आते हैं तभी वो मेध्य होते हैं, इस (रोहित) के भी दांत पुनः उग आएं तभी यज्ञ करूंगा। वरुण ने कहा ठीक है।

तस्य ह दन्ताः पुनर्जज्ञिरे; तं होवाचाज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ता, यजस्व माऽनेनेति; स होवाच, यदा वै क्षत्रियः सान्नाहुको भवत्यथ स मेध्यो भवति; सन्नाहं नु प्राप्नोत्वथ त्वा यजा इति, तथेति॥७॥

'अज्ञत वै' जाता एव। पश्वन्तरस्य पुनर्दन्तोत्पत्तिमात्रेण मेध्यत्वेऽप्यस्य पशोः क्षत्रियत्वात् स्वजात्युचितधनुर्बाणकवचादिसन्नाहशीलित्वे सति जात्युचितव्यापारसंपूर्तौ मेध्यत्वम्, तस्मात् 'नु' क्षिप्रमेवासौ सन्नाहं प्राप्नोतु, अनन्तरमेव यजा इत्युत्तरं वरुणोऽङ्गीचकार॥

हिन्दी अनुवाद : उस रोहित के दांत पुनः उग गये तब वरुण ने हरिश्चन्द्र को कहा कि अब इसके दांत पुनः उग गये हैं अब इससे मेरा यज्ञ करो। वह बोला कि–जब क्षत्रिय बालक 'सन्नाह' को प्राप्त कर लेता है तभी वह मेध्य होता है अर्थात् धनुष बाण कवच आदि धारण करने लगता है तभी वह सन्नाह को प्राप्त करके मेध्य

होता है यह रोहित सन्नाह को प्राप्त कर ले तो इससे तुम्हारा यज्ञ करूंगा। वरुण ने कहा यह ठीक है।

स ह सन्नाहं प्रापत्, तं होवाच, सन्नाहं नु प्राप्नोद्यजस्व माऽनेनेति, स तथेत्युक्त्वा पुत्रमामन्त्रयामास; ततायं वै मह्यं त्वामददाद्धन्त त्वयाऽहमिमं यजा इति॥८॥

सन्नाहप्राप्तेरूर्ध्वं 'स:' हश्चिन्द्रो वरुणोक्तिमङ्गीकृत्य पुत्रमामन्त्र्यैवमुवाच। उपलालनार्थ पुत्रे पितृवाचि ततशब्दप्रयोग:। हे 'तत' हे पुत्र! 'अयम्' एव वरुणो मह्यं 'त्वां' पुत्रवरेण दत्तवान् 'हन्त' दुष्टोऽहम् 'इमं' वरुणं यत् त्वया पुत्रेण 'यजै' यागरूपां पूजां करवाणीति हरिश्चन्द्रस्योक्ति:॥

हिन्दी अनुवाद : वह (रोहित) सन्नाह को प्राप्त कर गया अर्थात् धनुविद्या में निपुण हो गया, तब वरुण ने हरिश्चन्द्र से कहा कि यह अब सन्नाह को प्राप्त कर चुका है अब इससे मेरा यज्ञ करो। उस राजा हरिश्चन्द्र ने तब अपने पुत्र रोहित को बुलाकर वरुण के कथन के अनुसार उसे कहा–"हे पुत्र इस वरुण ने ही तुम्हे मुझे पुत्र के वरदान रूप में प्रदान किया था, अत: मै दस वरुण कि लिए तुम्हारा यजन करूंगा।"

स ह नेत्युक्त्वा धनुरादायारण्यमुपातस्थयौ; स संवत्सरमरण्ये चचार।

'स ह' स खलु रोहिताख्य: पुत्र: पितुर्वाक्यं निषिध्य, स्वरक्षणार्थ धनु: स्वीकृत्यारण्यं प्रत्युपगतोऽमूत्। कस्मिश्चिदरण्ये नैरन्तर्येण 'स:' रोहित: संवत्सरं चचार॥

हिन्दी अनुवाद : वह रोहित पिता के वचन सुनकर उसे यजन करने की कह कर, अपने पिता के वचन को मना करता हुआ अपना धनुष लेकर जंगल में चला गया। वह एक वर्ष तक अपना बचाव करता हुआ अथवा अपनी मुक्ति का उपाय ढूंढता हुआ वन में विचारण करता रहा।

अथ तृतीय: खण्ड:

अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह, तस्य होदरं जज्ञे तदु ह रोहित: शुश्राव सोऽरण्याद ग्राममेयाय, तमिन्द्र: पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच–

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम!
पापो नृषद्वरो जन, इन्द्र इच्चरत: सखा, चरैवेति॥१॥

'अथ' रोहितस्यारण्ये संवत्सरवासानन्तरमेव 'ऐक्ष्वाकम्' इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न हरिश्चन्द्रं 'वरुण:' देवो रोगरूपेण जग्राह। वरुणेन गृहीतस्य हरिश्चन्द्रस्य 'उदरं जज्ञे' जलेन

पूरितमुच्छूनं महोदरनामकं रोगस्वरूपमुत्पन्नम्। 'तदु ह' तदपि सर्वमरण्ये स्थितो 'रोहितः' पुत्रो मनुष्यमुखाच्छुश्राव। श्रुत्वा च 'सः' रोहितः पितरं द्रष्टुमरण्याद् ग्रामं प्रत्याजगाम। आगच्छन्तं रोहितं मार्गमध्य इन्द्रः केनचिद्ब्राह्मणपुरुषरूपेण प्राप्येदमुक्तवान्-आ समन्ताच्छ्रान्तः, आश्रान्तः, सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तिं प्राप्त, तद्विपरीतोऽनाश्रान्त एकगैव निवास शीलः तादृशाम् तथाविधस्य श्रीः' बहुविधा संपन्नास्ति। यद्वा, नानेति पदच्छेदः। 'श्रान्ताय' सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तस्य 'नाना श्रीः' बहुविधा संपदस्ति 'इति' अनेन प्रकरेण रोहित! वयं नीतिकुशलानां पुरुषाणां मुख्याच्छुश्रुम। 'वरोजनः' विद्यादिभिः श्रेष्ठोऽपि पुरुषो 'नृषत्पापः' नृषु मनुष्येषु सीदतीति 'नृषत्'। श्रेष्ठोऽपि बन्धुगृहेषु सर्वदाऽवस्थित-स्तैरवज्ञातः 'पापः' तुच्छो भवेत्। अतस्तव पितृगृहे वासो न युक्तः। न चारण्ये चरतो मम सहायो नास्तीति शङ्कनीयम्। 'इन्द्र एव' परमेश्वर एव 'चरतः' तव सखा भविष्यति। तस्मात् 'चरैव' सर्वथाऽरण्ये चरस्वेत्येवमुवाच। एवं बहुष्वपि पर्यायेषु द्रष्टव्यम्।

हिन्दी अनुवाद : फिर इक्ष्वाकु वंशोत्पन्न (राजा हरिश्चन्द्र) को वरुण ने (रोग के रूप में) पकड़ लिया। उसका पेट उत्पन्न हो गया अर्थात् जलोदर-रोग के कारण पेट में पानी भरने से फूल गया। (वन में) रोहित ने वह (समाचार) सुना। वह वन सें गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष रूप में आकर उसे कहा-

अनथके व्यक्ति के लिये लक्ष्मी नहीं होती हे रोहित! ऐसा हमने सुना हुआ है। पापी, जनता में दुखी, श्रेष्ठ जन जो भी है इन्द्र बस चलने वालों का सखा होता है, चलते ही रहो॥

जो व्यक्ति कार्य करता-करता थक न जाये, वह सुख का अधिकारी नहीं होता। बहुत स्पष्ट रूप से इन शब्दों में श्रम की महिमा बताई गई है। चाहे व्यक्ति जन्म तथा वंश से कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, यदि वह अकर्मण्य रहता है तो सामान्य जन में उसका सम्मान नहीं होता, वह दुःखी ही नहीं होता, अपितु अकर्मण्यता के कारण उसका शरीर भी क्षीण होता रहता है। वही मानो पापी है। इन्द्र अर्थात् परमेश्वर चलने वाले अर्थात् कार्यशील व्यक्ति का सखा, सहानुभूति रखने वाला मित्र होता है। जो व्यक्ति स्वयं कार्य नहीं करता, ईश्वर भी उसकी सहायता नहीं करता। तु० फारसी-हिम्मते मर्दां मददे खुदा, अंगेजी-गॉड हैल्प्स दोज हू दैमसैल्व्ज।

जज्ञे-√जन् लिट् प्र० पु० एक०, सा०, जलेन पूरितमुच्छूनं महोदर-नामक रोगस्वरूपमुत्पन्नम्। हॉग-ही वॉज एटैक्ड बाई ड्रॉप्सी।

नानाश्रान्ताय-सा० आ समन्तात् श्रान्त आश्रान्तः सर्वत्र पर्यअनेन शान्ति प्राप्तस्तद्विपरीतोऽनाश्रान्त एकत्रैव निवासशीलस्तादृशाय तथाविधस्य पुरुषस्य श्रीर्बहुविधा सम्पन्नास्ति। यद्वा नानेति पदच्छेदः। श्रान्ताय सर्वत्र पर्यटनेने श्रान्तस्य नाना श्रीर्बहुविधा।

सम्पदस्ति। हॉग–यात्रा न करने वाले को कोई सुख नहीं मिलता (देअर इज नो हैप्पिनैस फ़ॉर हिम हू इज नॉट ट्रैवल)।

नृषद्–सा०–नृषु सीदतीति नृषत्, श्रेष्ठोऽपि बन्धगृहेषु सर्वदावस्थितस्तैरवज्ञातः पापस्तुच्छो भवेत, अतस्तव पितृगृहे वासो न युक्तः। हॉग–मनुष्य-समाज में रहने वाला (लिविंग इन दि सोसाइटी ऑफ मॅन)। पा. धातुपाठ में षद्लृ (सद्) का अर्थ विशरण, गति, अवसादन (नाश) दिया है। परन्तु मैक्डॉनल ने इसका अर्थ 'बैठना' दिया है। (दे० वे० ग्रा० स्टू०, पृ० ४२६)

इन्द्रः– सा०-परमेश्वरः, हॉग-इन्द्र।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह द्वितीयं संवत्सरमरण्ये चचार; सोऽरण्याद् ग्राममेयाय; तमिन्द्रः पुरुषरूपमेण पर्येत्योवाच–

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः, श्रमेण प्रपथे हतश्चरैवेति॥२॥

ब्राह्मणरूपस्येन्द्रस्य वाक्यं श्रुत्वा ब्राह्मणोऽयमरण्ये चरैवेत्येवं मामुक्तवानिति मनसि ब्राह्मणवाक्ये महान्तमादरं कृत्वा पुनरप्येकं संवत्सरमरण्ये चरित्वा पश्चात् पितरं द्रष्टुं तमागच्छन्तं पुनरपीन्द्रो ब्राह्मणरूपेणाऽऽगत्यैवमुवाच। 'चरतः' पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य 'जङ्घे' 'पुष्पिण्यौ' भवतः। यथा पुष्पयुक्तो वृक्षः शाखा लता वाऽथवा सुगन्धोपेता सेव्या भवति। एवं चरतो जङ्घे श्रमजयेन सेव्ये भवतः। तथैव 'आत्मा' मध्यदेहो 'भूष्णुः' वर्धिष्णुः 'फलग्रहिः' आरोग्यरूपफलयुक्तो भवति। यथा वर्धमानो वृक्षः कालेन फलानि गृहणति, एवं चरतः पुरुषः पुरुषस्य बीजादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूपं फलं गृहणति। तथैव 'अस्य' चरत; पुरुषस्य 'सर्वे पाप्मानः' सर्वपापानि 'प्रपथे' प्रकृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे 'श्रमेण' तत्तद्देवतादिदर्शने तीर्थयात्रादिप्रयासेन 'हताः' विनाशिताः सन्तः 'शेरे' शेरते, शयाना इव भवन्ति। यथा शयानाः पुरुषाः स्वकार्य कृषिवाणिज्यादिकं कर्तुमशक्ताः, एवं पुण्येन विनष्टाः पाप्मानो नरकं दातुमसमर्था इत्यर्थः। तस्मात् सर्वेथाऽरण्ये चर, न पितुर्गृहेऽवतिष्ठस्व॥

हिन्दी अनुवाद : "निश्चय ही मुझे ब्रह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर (रोहित) दूसरे वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा–

चलने वाले की पिंडलियाँ पुष्प-प्रफुल्लित होती हैं। और वर्धमान आत्मा फल धारण करने वाला होता है। इसके सब पापकर्म (भी) सोये रहते है और जैसे श्रम से (वे सब) पथ में नष्ट हो गये हो अतः चलते ही रहो।

जो व्यक्ति चलता रहता है, कार्यशील रहता है, उसका स्वास्थ्य समृद्ध रहता है। और जिसका स्वास्थ्य समृद्ध हो वह निरन्तर वर्धमान तथा अभीष्ट-प्राप्ति या लक्ष्यप्राप्ति में समर्थ होता है। ऐसे व्यक्ति को किसी पापकर्म के विषय में सोचने का भी अवकाश नहीं होता। तु० अंग्रेजी-एन एम्प्टी माइंड इज ए डेविल्ज वकशॉप।

अवोचत्–√ ब्रू लुङ् प्र० पु० एक०।

पुष्पिण्यो–सा०-यथा पुष्पयुक्तों वृक्षः शाखा लता वाऽथवा सुगन्धोपेता सेव्या भवत्येवं चरतो जङ्घे श्रमजयेन सेव्ये भवतः। हॉग-पर्यटन करने वाले के पाँव पुष्पसदृश्य होते हैं (द फ़ीट ऑफ़ द वाँडरर आर लाइक द फ्लॉवर)

भूष्णुः–सा०, हॉग-वर्धिष्णुः (ग्रोइंग)।

आत्मा–सा०-मध्यदेहः, हॉग-सोल।

फलग्रहिः–सा०-आरोग्यरूपफलयुक्तो भवति। यथा वर्धमानो वृक्षः कालेन फलानि गृह्णात्येवं चरतः पुरुषस्य बीजादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूपं फलं गृह्णाजि। हॉ-फल पकाने वाली (रीपिंग् दि फ्रूट)

प्रपथे–सा०-प्रकृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे श्रमेण तत्तद्देवतादिदर्शने तीर्थयात्रादि-प्रयासेन विनाशिताः। हॉग-घूमने में (इन् वाँडरिंग)।

शेरे–√ शी लट् प्र० पु० बहु०, शेरते के स्थान पर वैदिक रूप। यहाँ 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० ७/१/४१) के अनुसार तकारलोप हुआ है। सा०-शयाना इव भवन्ति। यथा शयानाः पुरुषाः स्वकार्य कृषिवाणिज्यादिकं कर्तुमशक्ता एवं पुण्येन विनष्टाः पाप्मानो नरकं दातुमसमर्था इत्यर्थः। हॉग ने इसका अर्थ नहीं दिया प्रतीत होता (ऑल हिज सिन्ज आर डेस्ट्रॉय्ड)।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह तृतीयं संवत्सरमरण्ये चचार; सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच–

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥३॥

'भग' सौभाग्यम् 'आसीनस्य' उपविष्टस्य 'आस्ते' तथैव तिष्ठति, न तु वर्धते। अभिवृद्धिहेतोरुद्योगस्याभावात्। 'तिष्ठतः' उपवेशनं परित्यज्योत्थापनं कुर्वतः पुरुषस्य भगः 'ऊर्ध्वः' अभिवृद्धेरुन्मुखस्तिष्ठति। कृषिवााणिज्याद्युद्योगस्य संभावि- तत्वात्। 'निपद्यमानस्य' भूमौ शयानस्य भगः 'शेते' निद्रां करोति, विद्यमानधन- रक्षादिचिन्ताया अप्यभावात् सर्वथैव विनश्यति। 'चरतः' तेषु तेषु देशेष्वर्जनाय पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य 'भगः' सौभाग्यं 'चराति' दिने दिने वर्धते। तस्मात्त्वं चरैवेति, न त्वेकत्र तिष्ठ॥

हिन्दी अनुवाद : "निश्चय ही मुझे ब्रह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर तीसरे वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा-

बैठने वाले का भाग्य भी बैठा रहता है, और उठे हुए का भाग्य खड़ा रहता है। सोने वाले का (सदैव) सोया रहता है चलने वाले का भाग्य (यहाँ पर), चलता है अतः चलते ही रहो।

मनुष्य का भग्य उसके अपने हाथ में है। जैसा और जितना कार्य मनुष्य करता है, वैसा ही उसका भाग्य होता है। जो मनुष्य अकर्मण्य आलस्य में सोया रहता है, उसका भाग्य भी मानो सोता है। परन्तु कार्यशील व्यक्ति का भाग्य उसे उचित फल देने को तत्पर रहता है। तु०-जो जागत है सो पावत है, जो सावेत है सो खोवत है।

आस्ते-सा०-सौभाग्यं तथैव तिष्ठति, न तु वर्धते, अभिवृद्धिहेतोरुद्योगस्याभावात्।

तिष्ठति-सा० :अभिवृद्धंरुन्मुखस्तिष्ठति, कृषिवाणिज्याद्युद्योस्य सम्भा-विततत्वात्।

शेते-सा०-निद्रां करोति, विद्यमानधनरक्षादिचिन्ताया अप्यभावात् सर्वथैव विनश्यति।

चरतः-सा०-तेषु-तेषु देशेष्वर्जनार्थ पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य।

चराति-√ चर् लट् प्र० पु० एक० चरति का वैदिक रूप। सा०-दिने दिने वर्धते।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार; सोऽरण्याद् ग्राममेयाय तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच-

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति।।४।।

चतस्रः पुरुषस्यावस्थाः। निद्रा, तत्परित्यागः, उत्थानं, संचरणं चेति। ताश्चोत्त-- रोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलि-द्वापर-त्रेता,कृतयुगैः समानाः। ततश्च सञ्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति।

हिन्दी अनुवाद : "निश्चय ही मुझे ब्रह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर चौथे वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा-

कलियुग सोता हुआ होता है (और) निद्रात्याग करो तो पर द्वापर (हो जाता है)। उठता हुआ (मनुष्य) त्रेता होता है और चलता हुआ (निरन्तर) कृतयुग बन जाता है अतः चलते ही रहो।।

चारों युगों को मनुष्य की विभिन्न अवस्थाओं के परिणाम के प्रतीकरूप में प्रस्तुत किया गया है। जो मनुष्य सोया रहता है, वह कलियुग जैसा फल प्राप्त करता

है जिसमें दु:ख और कष्ट तथा पारस्परिक कलह अधिक है। आलस्य, असन्तोष अशान्ति इस युग की प्रमुख विशेषता है। परन्तु जो मनुष्य निद्रात्याग करके उठने को तैयार होता है अर्थात् कार्य में प्रवृत्त होने का विचार करता है उसे द्वापर जैसा फल प्राप्त होता है। द्वापर का अन्त महाभारत में हुआ था। महाभारत में उसका चित्र अंकित है। उससे पता चलता है कि यद्यपि दूषित प्रवृत्तियाँ प्रबल हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा बहुत कुछ नाश होकर भी धर्म की विजय होती है। त्रेता का प्रतीक रामायण है। उठता हुआ अर्थात् कार्य में प्रवृत्ति आरम्भ करने वाला परन्तु पूर्ण न करने वाला भी न करने वाले से अच्छा है। वह त्रेता जैसा फल प्राप्त करता है। उसमें परस्पर स्नेह, धार्मिक भावना प्रबल होती है यद्यपि रावण वहाँ भी है। परन्तु चलने वाला तो कृतयुग का ही फल प्राप्त कर लेता है। कृतयुग पूर्ण शान्ति का सर्वोत्कृष्ट युग है इसमें पूर्ण धर्म का प्रचार होता है। सब जन अपना-अपना कार्य करके ईश्वर पर पूर्ण विश्वास करते हुए केवल अपने कर्म के फल की आकांक्षा करते हैं। किसी अन्य के धनादि की कामना नहीं करते।

सा०–चतस्त्र: पुरुषस्यावस्था:। निद्रा तत्परित्याग उत्थानं सञ्चाणं चेति।

ताश्चोत्तरोत्तरज्ञेष्ठत्वात् कलिद्वापरत्रेताकृतयुगै: सामना:। ततश्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैपेति।।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह पञ्चमं संवत्सरमरण्ये चचार; सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, तमिन्द्र: पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच–

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।।५।।

'चरन्' एव पुरुष: क्वचिद्वृक्षाग्रे 'मधु' माक्षिकं लभते। 'क्वचित् 'स्वादु' मधुरमुदुम्बरादिफलविशेषं लभते। एतदुभयमुपलक्षणम्। तत्र विद्यमानं भोगविशेषं लभते। तत्र सूर्यो दृष्टान्त:। 'य:' सूर्य: सर्वत्र चरन्नपि 'न नन्द्रयते' कदाचिदप्यलसो न भवति। तस्य सूर्यस्य 'श्रेमाणं' श्रेष्ठत्वं जगद्वन्द्यत्वं पश्य। तस्माच्चरैव।।

हिन्दी अनुवाद : "निश्चय ही मुझे ब्रह्मण ने कहा है कि चलते ही रहो" यह सोचकर पाँचवे वर्ष वन में चलता रहा। वह (फिर) वन से गाँव को आया। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष के रूप में आकर उसको कहा–

चलता हुआ पुरुष निश्चय ही मधु पाता है, और चलता हुआ स्वादु उदुत्बर फल को पा जाता है, तुम सूरज की शोभा अतुलित आभा है, जो कभी भी आलस्य नहीं करता अत: चलते रहो।

मधु जीवन के माधुर्य, सुख का प्रतीक है। अन्यथा भी मधु का हमरी संस्कृति में विशेष महत्त्व है। अतिथिसत्कार की शास्त्रोक्त विधि में मधुमिश्रित 'मधुपर्क' को प्रमुख स्थान प्राप्त है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मधु का महत्त्व कम नहीं। सम्भवतया इसीलिये नवजात शिशु को मधु चटाया जाज है। कार्यनिरत व्यक्ति ही मधु तथा तज्जन्य फल प्राप्त कर सकता है। उदुम्बर अर्थात् अंजीर का भी वेद में पर्याप्त यशोगान है। इसकी लकड़ी पवित्र मानी जाती थी और यज्ञ की समिधाओं के लिये उसका प्रचुर प्रयोग होता था। यहाँ यह सामान्य फल मात्र का प्रतीक है। मन्त्र के उत्तरार्ध में सतत् गतिशील सूर्य की उपमा देकर चलते रहने या कार्यशील रहने की उपयोगिता स्पष्ट की गई है। गतिशील सूर्य अनादि काल से इसी प्रकार देदीप्यमान है, उसमें कभी आलस्य नहीं आता। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति तेजोमय और स्फूर्ति से युक्त जीवन चाहता है तो उसे निरन्तर गतिशील रतना चाहिये, निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिये।

सा०–चरन्नेव पुरुषः क्वचिद् वृक्षाग्रे मधु माक्षिकं लभते। क्वचित् स्वादु मधु रमुदुम्बरादिफलविशेषं लभते। एतदुभयमुपलक्षणम्। तत्र-तत्र विद्यमानं भोगविशेषं लभते।

तत्र सूर्यो दृष्टान्तः। यः सूर्यं सर्वत्र चरन्नपि न तन्द्रयते कदाचिसदप्यलसो न भवति तस्य सूर्यस्य श्रेमाणं जगद्वन्द्यत्वं (हॉग–सौन्दर्य, शोभा–व्यूटी) पश्य। तस्माच्चरैव।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह षष्ठं संवत्सरमरण्ये चचार; सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्य उपेयाय॥६॥

षशठे संवत्सरे पूर्ववदरण्यसंचारी 'स ह' रोहितः कंचिदृषिं तस्मिन्नरण्ये 'उपेयाय' प्राप्तवान्। कीदृशमृषिम्? अजीगर्तनामकं सूयवसस्य पुत्रम्, 'अशनया परीतम्' अन्नालाभेन क्षुत्पीडितम्॥

हिन्दी अनुवाद : "मुझे ब्रह्मण ने कहा कि चलते ही रहो" यह विचार करके वह छठे वर्ष फिर वन में विचरण करता रहा, तब उसने सुयवस के पुत्र अजीगर्त नामक ऋषि से अन्न के अभाव में भूख से पीड़ित पाया॥६॥

तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः, शुनःपुच्छः शुनःशेपः शुनोलाङ्गूल इति; तं होवाच, ऋषेऽहं ते शतं ददाम्यहमेषामेकेनाऽऽत्मानं निष्क्रीणा इति; स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाच, नन्विममिति; नो एवेममिति कनिष्ठं माता; तौ ह मध्यमे संपादयांचक्रतुः शुनःशेपे, तस्य ह शतं दत्त्वा स तमादाय सोऽरण्याद् ग्राममेयाय॥७॥

'तस्य' अजीगर्तस्य शुनःपुच्छादिनामकास्त्रयः पुत्रा आसु। 'तं' पुत्रवन्तमृषिं रोहितः उवाच– हे ऋषे, 'ते' तुभ्यमहं गवां शतं ददामि। (दत्त्वा चाहमेषां पुत्राणां मध्य एकेन केनचित्पुत्रेणाऽऽत्मानं मद्देहं वरुणान्निष्क्रीणै मूल्यं दत्त्वाऽऽत्मानं मोचयामीति।

एवमुक्तः सोऽजीगर्तो 'ज्येष्ठपुत्रं' शुनःपुच्छनामकं हस्तेन 'निगृह्णानः' स्वसमीपे समाकर्षन् रोहितं प्रत्येवमुवाच–तुभ्यमेकः पुत्रो दीयते, 'इमं नु' शुनःपुच्छं तु 'न' ददामि, मम प्रियत्वादीति। ततो माता कनिष्ठं हस्तेनं गृहीत्वैवमुवाच– 'इमं' शुनोलाङ्गूलं तु मम प्रियं 'नो एव' सर्वथा न ददामीति। ततः तौ उभौ मातापितरौ 'मध्यमे' पुत्रे शुनःशेपे दानं 'संपादयांचक्रतुः' अङ्गीकृतवन्तौ। ततः तस्य अजीगर्तस्य 'सः' रोहितो गवां शतं दत्त्वा 'तं' शुनःशेपम् आदायावस्थिता। ततः 'सः' रोहितः तेन शुनःशेपेन सहारण्यात् स्वकीयँ ग्रामं प्रत्याजगाम।।

हिन्दी अनुवाद : उस ऋषि के शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनो लाङ्गुल नामक तीन पुत्र थे। रोहित ने उस ऋषि को कहा कि हे ऋषि मैं तुम्हे सौ गाय दूँगा और बदले में तुम मुढे अपने पुत्रों में एक पुत्र को दे दो, उसने अपने जेष्ठ पुत्र शुन॑पुच्छ को हाथ से पकड़ कर कहा कि मै अपने ज्येष्ठ पुत्र शुन॑पुच्छ को नहीं दूगां, यह मेरा प्रिय है, इसी प्रकार ऋषि पत्नी ने शुनः लाङ्गुल को पकड़ कर कहा कि यह मेरा कनिष्ठ पुत्र मुझे सबसे प्रिय है मैं इसे नहीं दूंगी। इस प्रकार ऋषि अजीगर्त ने अपने मध्यम पुत्र ?: शुन॑शेप को १०० गौओं के बदले में देने का वचन कर लिया। रोहित शुनःशेप के बदले में सौ गौवें देकर शुनःशेप को लेकर अरण्य से अपने गाँव की ओर आ गया।।७।।

स पितरमेत्योवाच,–तत हन्ताहमनेनाऽऽत्मानं निष्क्रकीणा इति; स वरुणं राजानमुपससारानेन त्वा यजा इति; तथेति, भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्त्रियादिति वरुण उवाच; तस्मा एतं राजसूयं यज्ञक्रतुं प्रोवाच, तमेतमभिषेचनीये पुरुषं पशुमालेभे।।८।।

'सः' रोहितः पितरमागत्यैवमुवाच। हे 'तत' पितः' 'हन्त' आवयोर्हर्षः संपन्नः। अहम् 'अनने' शुनःशेपरूपेण मूल्येन 'आत्मानं' मद्देहं वरुणात् 'निष्क्रीणै' मूल्यं दत्त्वाऽऽत्मानं मोचयामीत्यर्थः। तथोक्ते 'सः' हरिश्चन्द्रो वरुणमुपेत्य 'अनने' शुनःशेपेन ब्राह्मणेन 'त्वा' त्वां यक्ष्यामीत्युक्तवान्। 'सः' वरुणोऽपि तथेत्यङ्गीकृत्यैवमुवाच– 'क्षत्त्रियात्' तव पुत्राद् रोहितादप्ययं ब्राह्मणो 'भूयान्' अभ्यधिक एव, मम प्रियः, इति उक्त्वा 'तस्मै' हरिश्चन्द्राय कर्तव्यत्वेन राजसूयमुपदिदेश च। 'सः' हरिश्चन्द्रो राजसूयं प्रक्रम्य तस्य मध्ये योऽयमभिषेचनीयाख्यः एकाहः सोमयागः, तस्मिन् 'तमेतं' शुनःशेषं परुषं पशुम् 'आलेभे' सवनीयपशुत्वेनाऽऽलब्धुं निश्चितवान्।।

हिन्दी अनुवाद : घर आकर रोहित ने पिता से कहा कि हे तात! प्रसन्नता की बात है कि मैने वरुण यज्ञ के लिए अपने बदले में इसे खरीद लिया है (आप

इससे वरुण का यजन करें) तब वह हरिश्चन्द्र अजिगर्त को लेकर वरुण के पास गया और बोला कि हे वरुण इसके द्वारा मैं तुम्हारा यजन करूँगा। वरुण ने कहा कि ठीक हैं, तुम्हारे क्षत्रिय पुत्र से मुझे यह ब्राह्मण पुत्र ज्यादा प्रिय है। तब वरुण ने राजा हरिश्चन्द्र से रासूय यज्ञ करने को कहा और उस यज्ञ में हरिश्चन्द्र ने यज्ञीय पशु के रूप में शुनःशेप को आलम्भन के लिए निश्चय किया।।८।।

अथ चतुर्थः खण्डः

तस्य ह विश्वामित्रो होताऽऽसीज्जमदग्निरध्वर्युर्वसिष्ठो बह्माऽयास्य उद्गाता; तस्मा उपाकृताय नियोक्तारं न विवदुः; स होवाचाजीगर्तः सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं नियोक्ष्यामीति; तस्मा अपरं शतं ददुस्तं स निनियोज।।

विश्वमित्रादयो महर्षयः 'तस्य' हरिश्चन्द्रस्य यागे राजसूये, होत्रादयश्चत्वारो महर्त्विज आसन्। तत्र जमदग्निरध्वर्युरभिषेचनीये सोमयागे 'तं' शुनःशेपं सवनीय-पशुत्वेनोपाकृतवान्। बर्हिर्युक्तया प्लक्षशाखया मन्त्रपुरःसरं समुपस्पृश्य स्वीकारः 'उपाकरणम्'। तत ऊर्ध्वं यूपबन्धनं 'नियोजनं' तस्य क्रूरकर्मत्वादर्ध्युन नियोजने प्रवृत्तः। ततः 'उपकृताय तस्मै' उपाकरणेन संस्कृतस्य शुनःशेपस्य 'नियोक्तारं' यूपे बन्धनकर्तारं क्रूरं कंचिदपि पुरुषं 'न विविदुः' न लेभिरे। तदानीं सूयवसस्य पुत्रः, शुनःशेपस्य पिता 'सः' 'अर्जागर्तः' (उवाच) मह्यं पूर्वस्माच्छताद् 'अपर' गोशतं हे यजमानर्त्विजः, दत्त, ततोऽहम् 'एनं' शुनःशेपं यूपे 'नियोक्ष्यामि' रशनया कट्यां शिरसि पादयोर्बद्ध्वा रशानाग्रस्य यूपे बन्धनं 'नियोजनं' तदहं करिष्यामीति। 'तस्मै' अजीगर्तायापरं गोशतं ददुः। 'तं' च शुनःशेपं 'सः' अजीगर्तो 'निनियोज'। धातोर्द्विर्भावं परित्यज्योपसर्गस्य द्विर्भावश्छान्दसः।।

तस्मा उपकृताय नियुक्तायाऽऽप्रीताय पर्यग्निकृताय विशसितारं विविदुः; स होवाचाजीगर्तः सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं विशसिष्यामीति; तस्मा अपरं शतं ददुः; सोऽसिं निःशान एयाय।।

उपाकरणनियोजने पूर्वमुक्ते। आप्रीसंज्ञिताभिरेकादशभिः प्रयाज-याज्याभिर्यद् यजनं तद् 'आप्रीणनम्' दर्भरूपेणोल्मुकेन त्रिःप्रदक्षिणीकररणं तत् 'पर्यग्निकरणम्' तथाविधसंस्कार-चतुष्टययुक्ताय 'तस्मै' तस्य शुनःशेपस्य 'विशसितारं' हिंसितारं पुरुषं क्रूरात्मानं कंचिदपि पुरुषं न लेभिरे। ततोऽजीगर्तः पूर्ववदपरं गोशतं गृहीत्वा मारयितुम् 'असिं' खड्गं 'निःशानः' निशितं तीक्ष्णं कुर्वन्नेव 'एयाय' जगाम।।

अथ ह शुनःशेप ईक्षांचक्रेऽमानुषमिव वै मा विशसिष्यन्ति, हन्ताहं देवता उपधावामीति स प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार, कस्य नूनं कतमस्यामृतानामित्येतयर्चा।। इति।।

'अथ' पितुः पुत्रमारणोद्योगानन्तरं 'शुनःशेपः' पुत्रो मनस्येवं 'ईक्षांचक्रे' विचारितवान्। 'अन्यत्र पर्यग्निकृतं पुरुषमारण्यांश्चोत्सृजन्त्यहिंसायै' इतिश्रुतेः पर्यग्निकरणादूर्ध्वं मनुष्यं परित्यजन्ति। एते तु 'मा' माम् 'अमानुषमिव' मनुष्य- व्यतिरिक्तमजादिपशुमिव 'विशसिष्यन्ति' मारयिष्यन्ति। 'हन्त' हा कष्टमेतत्संपन्नम्। अहमितःपरं रक्षार्थ देवताः 'उपधावामि' भजामि 'इति' एतद् विचार्य देवानां मध्ये 'प्रथमं' मुख्यं प्रजापतिमेव 'कस्यनूनम्-इत्यृच 'उपससार' सेवितवान्।।

तं प्रापतिरुवाचाग्निर्वै देवानां नेदिष्ठस्तमेवोपधावेति सोऽग्निमुपससाराग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानामित्येतयर्चा।। इति।

'तं' सेवकं शुनःशेपं प्रजापतिरेवमुक्तवान्। अग्निः सर्वेषां देवानां 'नेदिष्ठः' हविर्वहनेनातिसमीपवर्ती। अतस्तमेवोपास्स्वेत्युक्तः 'सः' शुनःशेपः 'अग्नेर्वयम्'-इत्यृचाऽग्निमुपासितवान्।।

तमग्निरुवाच, सविता वै प्रसवानामीशे तमेवोपधावेति; स सवितारमुपससाराभि त्वा देव सवितरित्येतेन तृचेन।।

'प्रसवानां' सर्वेषु कार्येषु प्रेरणारूपाणामनुज्ञानात् सविता 'ईशे' स्वामी भवति। तस्मात्तमेवोपधावेत्यग्निनोपदिष्टः 'अभित्वा' इति तृचेन सवितारमुपासितवान्।।

तं सवितोवाच, वरुणाय वै राज्ञे नियुक्तोऽसि, तमेवोपधावेति; स वरुणं राजानमुपससारात उत्तराभिरेकत्रिंशता।।

हे शुनःशेप वरुणार्थ त्वं यूपे बद्धोऽसि, अतो वरुणमुपास्स्वेति सवित्रोक्तः पूर्वस्मात् सवितृविषयात् तृचाद् उत्तराभिरेकत्रिंशत् संख्याकाभिर्ऋग्भिर्वरुणमुपासितवान्। 'नहि ते क्षत्रम्' इत्याद्याः सूक्तशेषभूता दशर्चो 'यच्चिद्धि ते विशः' इत्यादिकमेवविंशत्यृचं सूक्तम् इत्येवमेकत्रिशत् संख्या द्रष्टव्या।।

तं वरुण उवाचाग्निर्वै देवानां मुखं सुहृदयतमस्तं नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति; सोऽग्निं तुष्टावात उत्तराभिर्द्वाविंशत्या।।

अयमग्निः सर्वेषां देवानां 'मुखं' मुखस्थानीयः। अग्निद्वारेणैव सर्वेर्देवैर्हविः स्वीकारात्। अत एव प्रीत्या हविर्वहनादतिशयेन सुहृदयः। 'सुहृदयतम्' 'तम्' अग्निं 'नु' क्षिप्रं स्तुहीति वरुणेनोक्तः पूर्वोक्ताभ्य ऋग्भ्य उत्तराभिर्द्वाविंशति- संख्याकाभि- र्ऋग्भिरग्निं तुष्टाव। 'वसिष्वा हि'-इत्यादिकं दशर्चं सूक्तम्, 'अश्वं न त्वा' इत्यादिकं त्रयोदशर्चं सूक्तम्। तत्रान्त्यां परित्यज्य वसिष्व- सूक्तद्वयगता ऋचो द्वाविंशतिसंख्याकाः।।

तमग्निरुवाच, विश्वान्नु देवान् स्तुह्यथ त्वात्स्रक्ष्याम इति; स विश्वान् देवांस्तुष्टाव, नामो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्य इत्येतयर्चा।।

यद्यपि वरुणपाशेन बद्धत्वाद् वरुण एव शुनःशेपमुत्स्रष्टुं समर्थः तथाऽप्यग्न्यादीनां सहकारित्ववचनं दार्ढ्यार्थं द्रष्टव्यम्। विश्वे देवा गणरूपा न भवन्ति किंतु सर्वे देवास्तान् 'नमो महद्भ्यः' इत्येतयर्चा उपासितवान्।।

तं विश्वे देवा ऊचुरिन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमस्तं नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति; स इन्द्रं तुष्टाव यच्चिद्धि सत्य सोमपा इति चैतेन सूक्तेनोत्तरस्य च पञ्चदशभिः।।

ओजोबलादिशब्दाः पूर्वाचार्यैरेवं व्याख्याताः-

''ओजो दीप्तिर्बलं दाक्ष्यं प्रसह्यकरणं सहः।

सुजनः सन्पारयिष्णुरुपक्रान्तसमाप्तिकृत।।''

इष्ठप्रत्यय-तमप्प्रत्ययाभ्यां तत्र तत्रातिशय उच्यते। तादृशमिन्द्रं 'यच्चिद्धि सत्य सोमपाः' इत्यनेन सप्तर्चेन सूक्तेन उत्तरस्मिन्नपि 'आ व इन्द्रम्' इत्यादिके द्वाविंशत्यृचे सूक्ते[3] पश्चदशभिर्ऋग्भिश्च तुष्टाव।।

तस्मा इन्द्रः स्तूयमानः प्रीतो मनसा हिरण्यरथं ददौ, तमेतया प्रतीयाय शश्वदिन्द्र इति।।

शुनःशेपेनेन्द्रः स्तूयमानः प्रीतो भूत्वा 'तस्मै' शुनःशेपाय सुवर्णमयं दिव्यं रथमारोहणार्थं स्वकीयेन मनसैव ददौ। शुनःशेपोऽपि तदीयमनुग्रहमवगत्य पूर्वोक्ताभ्यः पञ्चदशभ्य 'उत्तरया' 'शश्वदिन्द्रः' इत्येतयर्चा 'तं' रथं 'प्रतीयाय' मनसैव प्रतिजगाम।।

तमिन्द्र उवाचाश्विनौ नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति; सोऽश्विनौ तुष्टावात उत्तरेण तृचेन।।

पूर्वोक्तायाः शश्वदिन्द्र इत्यस्याः 'उत्तरेण' 'आश्विनावश्वावत्या' इति तृचेन अश्विनौ स्तुतवान्।।

तमश्विना ऊचतुरुषसं नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति; स उषसं तुष्टावात उत्तरेण तृचेन।। इति।

'कस्त उषः' इत्यादिक उत्तरस्तृचः।।

तस्य ह स्मर्च्युच्युक्तायां वि पाशो मुमुचे, कनीय ऐक्ष्वाकस्योदरं भवत्युत्तमस्यामेववर्च्युक्तायां वि पाशो मुमुचेऽगद ऐक्ष्वाक आस।।१६।।

'तस्य' पूर्वोक्तस्य तृचस्य सम्बन्धिन्याम् 'ऋचि-ऋचि' एकैकस्या- मृच्युक्तायां क्रमेण शुनःशेपस्य पाशो 'विमुमुचे' विशेषण मुक्तोऽभूत्। ऐक्ष्वाकस्य हरिश्चन्द्रस्य यन्महोदरं, तदापि क्रमेण 'कनीयः' अत्यल्पं भवति। उत्तमस्या- मृच्युक्तायां पाशो विमुमुचे, एवं सर्वात्मना मुक्तोऽभूत्। ऐक्ष्वाकोऽपि 'अगदः' निःशेषेण रोगरहित आस।।

अथ पञ्चमः खण्डः

तमृत्विज ऊचुस्त्वमेव नोऽस्याह्नः संस्थामधिगच्छेत्यथ हैतं शुनःशेपोऽञ्जः- सवं ददर्श तमेताभिश्चतसृभिरभिसुषाव, 'यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह इत्यथैनं द्रोणकलशमभ्यवनिनायोच्छिष्टं चम्वोर्भरेत्येतयर्चाऽथ हास्मिन्नन्वारब्धे पूर्वाभिश्चतसृभिः स स्वाहाकारभिर्जुहवांचकाराथैन-मवभृथमभ्यवनिनाय, 'त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वानित्येताभ्यामथैनमत ऊर्ध्वमग्निमाहवनीयमुपस्था पयांचकार', 'शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्त्रादिति।।

देवतानुग्रहयुक्तं 'तं' शुनःशेपं विश्वामित्रादयः सर्वे 'ऋत्विजः' एवमुचुः-हे शुनःशेप, त्वमेव 'न' अस्माकम् 'अस्याह्नः' अभिषेचनीयाख्यस्य 'संस्थां' समाप्तिम् अधिगच्छ' प्राप्नुहि, अनुष्ठापयेत्यर्थः। तैरेवमुक्ते सत्यनन्तर शुनःशेप 'एतम्' अभिषेचनीयाख्यं सोमयागम् 'अञ्जःसवं' ददर्श। 'अञ्जसा' ऋजुमार्गेण 'सवः' सोमाभिषवो यस्मिन् यागे सोऽञ्जःसवः, तादृशं प्रयोगप्रकारं निश्चितवान्। निश्चित्य च 'तं' सोमं 'यच्चिद्धि' इत्यादिभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः अभिषुतं कृतवान्। अथ 'एनम्' अभिषुतं सोमम् 'एतया' 'उच्छिष्टं चम्वोः' इत्यृचा द्रोणकलशमभिलक्ष्य 'अवनिनाय' द्रोणकलशे प्रक्षिप्तवान्। 'अथ' अनन्तरम् 'अस्मिन्' हरिश्चन्द्रे 'अन्वारब्धे' शुनःशेपदेहमुपस्पृष्टवति, सत्युक्ताभ्य ऋग्भ्यः 'पूर्वाभिः' 'पूर्वाभिः' यत्र ग्रावेत्यादिभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः स्वाहाकारसहिताभिः सोमं जुहवांचकार। यत्र ग्रावेत्यादिकं सूक्तं नवर्चं; तत्र यच्चिद्धीति पञ्चमी, तामारभ्य चतसृभिऋग्भिरभिषवः। उच्छिष्टमित्यादिका नवमी, तया द्रोणकलशे प्रक्षेपः। यत्र ग्रावेत्यादिभिश्चतसृभिर्होमः, इत्येवं कृत्स्नस्य सूक्तस्य विनियोगः। 'अथ' होमानन्तरमेव कर्तव्यमवभृथमभिलक्ष्य 'अवनिनाय' सर्वमवभृथसाधनं तद्देशे नीत्वा 'त्वं नो अग्ने', इत्यादिकाभ्याम् ऋग्भ्यामवभृथयार्गं कृतवान्। 'अथ' तथा कृत्वा, तत ऊर्ध्वम् 'एनम्' आहवनीयमग्निं 'शुनश्चित्' इत्यादिना 'उपस्थापयांचकार' हरिश्चन्द्रमुपस्थाने प्रेरयामास। सोऽयमञ्जःसवः, इष्टिपशुसांकर्यमन्तरेण 'अञ्जसा' ऋजुमार्गेणानुष्ठितत्वात्।।

अथ ह शुनःशेपो विश्वामित्रयाङ्क्मासससाद; स होवाचाजीगर्तः सौयवसिर्ऋषे पुर्मे पुत्रं देहीति; नेति होवाच विश्वामित्रो, देवा वा इमं मह्यमरासतेति, स ह देवरातो वैश्वामित्र आस, तस्यैते कापिलेय बाभ्रवाः।।

'अथ' अभिषेचनीयसमाप्तेरनन्तरं हरिश्चन्द्रसहितेष्वृत्विक्षु विस्मितेषु, स शुनःशेप इत ऊर्ध्व कस्य पुत्रोऽस्त्विति विचारे सति तदीयेच्छैव नियामिकेति महर्षीणां वचनं श्रुत्वा शुनःशेपः स्वेच्छया विश्वामित्रपुत्रत्वमङ्गीकृत्य सहसा तदीयमङ्कमासससाद। पुत्रो हि सर्वत्रे पितुरङ्के निषीदति। तदानीं सूयवसपुत्रोऽजीगर्तो विश्वामित्रं प्रत्येवमुवाच। हे महर्षे,

मदीयपुत्रमेनं पुनरपि मह्यं देहीति स विश्वामित्रो नेति निराकृत्यैवमुवाच। प्रजापत्यादयो 'देवा:' एव 'इमं' शुन:शेपं मह्यम् 'अरासत' दत्तवन्त:, तस्मात् तुभ्यं न दास्यामीति। 'स:' च शुन:शेपो देवैर्दत्तत्वाद् 'देवरात:'- इतिनामधारी विश्वामित्रपुत्र एवाऽऽस। 'तस्य' च देवरातस्य 'एते' कपिलगोत्रोत्पन्ना: बभ्रुगोत्रोत्पनाश्च बन्धवोऽभवन्।।

स होवाचाजीगर्त: सौयवसिस्त्वं वेहि विह्वयावहा स होवाचाजीगर्त: सौयवसि:-

आङ्गिरसो जन्मनाऽस्याजीगर्ति: श्रुत: कवि:।
ऋषे पैतामहात्तन्तोर्माऽपगा: पुनरेहि मामिति;

स होवाच शुन:शेप:-

अदर्शुस्त्वा शासहस्तं न यच्छूद्रेष्वलप्सत।
गवां त्रीणि शतानि त्वमवृणीथा मदङ्गिर:।।

विश्वामित्रेण निराकृत: सोऽजीगर्त: शुन:शेपं प्रत्येवमुवाच-हे पुत्र, त्वं वा' त्वमेव विश्वामित्रादपगत: सन् 'एहि' अस्मद् 'गृहे गच्छ। त्वदीयमाता चाहं चोभावावां 'विह्वयावहै' विशेषण तवाऽऽह्वानं करवाव है। इत्युक्त्वा तूष्णीमवस्थितं तं शुन:शेपं प्रति पुनरपि कयाचिद् गाथयैवमुवाच-हे शुन:शेप 'त्वं' जन्मना 'आङ्गिरस:' अङ्गिरोगोत्रोत्पन्न: 'आजीगर्ति:' अजीगर्तस्य पुत्र:, 'कवि:' विद्वान्, 'श्रुत:' इत्येवं सर्वत्र प्रसिद्ध:। अतो 'ऋषे' हे महर्षे शुन:शेप 'पैतामहात्त' त्तपितामहेन प्रजापतिना संपादितात् 'तन्तो:' संतानादङ्गिरोर्वंशान् 'माऽपगा:' अपगतो मा भव। तस्मात्पुनरपि 'मामेहि' मद्गृहे समागच्छेत्युक्त: शुन:शेप: स्वयमपि गाथया प्रत्युत्तरं ददौ। शासो विशसनहेतु: खड्ग:। हेऽजीगर्त मद्वधाय 'शासहस्तं' न लब्धवन्तो लौकिका जना: तादृशं क्रौर्यं त्वया कृतम्। हे 'अङ्गिरसगोत्रोत्पन्नाजीगर्त 'मत्' मां निमित्तीकृत्य त्वं गवां शतानि त्रीणि 'अवृणीथा:' वृतवानसि। तदिदमत्यन्तकष्टम् 'इति' उक्तवान्।।

स होवाचाजीगर्त: सौयवसि:-

तद्वैमा तात तपति, पापं कर्म मया कृतम्।
तदहं निह्नुवे तुभ्यं प्रतियन्तु शता गवामिति।।

स होवाच शुन:शेप:-

य: सकृत्पापके कुर्यात् कुर्यादेनत्तत्तोऽपरम्।
नापागा: शौद्रान्न्यायादसंधेयं त्वया कृतमिति।।

शुन:शेपेनोपालब्धोऽजीगर्त: स्वकीयमनुतापं दर्शयितुं कांचिद्गाथामेवमुवाच-हे

तात पितृवदुपलालनीय शुनःशेप 'मया यत्पापं कृतं' 'तद्वै मा तपति' तदेव मां मनसि संतप्तं करोति। 'अहं' तत्पापं 'निह्नुवे' परिहरामि। गवां शतानि पूर्व मया गृहीतानि त्रीणि यानि तानि तुभ्यं त्वदर्थं 'प्रतियन्तु' प्रत्येकमेव प्राप्नुवन्तु। इतरयो पुत्रयोर्गावो मा भूवंस्तवैव सर्वाः सन्तिवति। ततः स शुनःशेपो गाथया प्रत्युत्तरं ददौ। 'यः' पुमान् धर्मशास्त्रभीतिरहितः 'सकृत्पापकं कुर्यात्' स पुमांस्ततः पापादन्यद् 'एनत्' पापं तदभ्यासवशात् कुर्यादेव। त्वं तु 'शौद्रान्न्यायात्' नीचजातिसंबन्धिनः क्रूरादाचरणात् 'नापागाः' अपगतो न भवसि। 'असंधेयं' प्रतिसंधानरहितं पापं त्वया कृतमित्येषा शुनःशेपस्य प्रत्युक्तिः॥

असंधेयमिति ह विश्वामित्र उपपपाद; स होवाच विश्वामित्रः-

भीम एव सौयवसिः शासेन विशिशासिषुः।
अस्थान्मैतस्य पुत्रो भूर्ममैवोपेहि पुत्रतामिति॥

'असंधेयम्' प्रतिसमाधेयं पापमिति शुनःशेपेन यदीरितं तदेतदप्रतिसमाधेयत्वं विश्वामित्र 'उपपपाद' युक्तिभिरुपपादितवान्। तदुपपादनार्थमेव विश्वामित्र इमां गाथा-मुवाच-सूयवसस्य पुत्रोऽजीगर्तो भीम एव भयहेतुरेव सञ्शासेन हस्तगतखड्गेन स विशिशासिषुरस्थाद् विशसनकर्तुमिच्छुरवस्थितवान्। अतो हे शुनःशेपैतस्य पापिष्ठस्य पुत्रो मा भूः किंतु ममैव पुत्रतामुपेहि॥

स होवाच शुनःशेपः-

स वै यथा नो ज्ञपयाऽऽराजपुत्र तथा वद।
यथैवाऽऽङ्गिरसः सन्नपेयां तव पुत्रतामिति॥

स होवाच विश्वामित्रः-

ज्येष्ठो मे त्वं पुत्राणां स्यास्तव श्रेष्ठा प्रजा स्यात्।
उपेया दैवं मे दायं तेन वै त्वोपमन्त्रये; इति॥ इति।

विश्वामित्रेणैवं बोधितः शुनःशेपः पुनरपि गाथया विश्वामित्रं प्रत्येवमुवाच अयं विश्वामित्रो जन्मना क्षत्रियः सन् स्वकीयेन तपोमहिम्ना ब्राह्मण्यं प्राप्तवानित्येवं तद्वृत्तान्तं सूचयितुं हे राजपुत्रेति संबोधितवान्। 'स वै' तथाविधो राजजातीय एव सन् 'यथा' येन प्रकारेण 'नः' अस्माभिः सर्वैरा समन्ताज्ज्ञपय ब्राह्मणत्वेन ज्ञायसे तथैवास्मद्विषयेऽपि त्वं वद। कथं वदितव्यमिति? तदुच्यते-अहमिदानीमङ्गिरोगोत्रः संस्तत्परित्यागेन तव पुत्रत्वं येनैव प्रकारेणोपेयां तथैवानुगृहाणेति शेषः। एतद्वाक्याभिप्रायः पूर्वैः संक्षिप्य दर्शितः–

'पुराऽऽत्मानं नृपं विप्रं तपसा कृतवानसि।
एवमाङ्गिरसं मा त्वं वैश्वामित्रमृषे कुरु॥'' इति।

ततो विश्वामित्रो गाथया प्रत्युत्तरमुक्तवान्। हे शुनःशेप त्वं मे पुत्राणां मध्ये ज्येष्ठः स्या ज्येष्ठो भव। तव पुत्रादिरूपा प्रजाऽपीतरस्याः श्रेष्ठा स्यात्। 'में' मह्यं विश्वामित्राय 'देवं' देवैः प्रसन्नैर्दत्तं 'दायं' पुत्रत्वरूपं लाभम् 'उपेयाः' प्राप्नुहि। तेन वै तेनैव प्रकारेण 'त्वोपमन्त्रये' त्वां पुत्रत्वेन व्यवहरामि।।

से होवाच शुनःशेपः-

संसनानेषु वै बूयात् सौहार्द्याय मे श्रियै।
यथाऽहं भरतऋषभोपेयां तव पुत्रतामिति।।

अथ ह विश्वामित्रः पुत्रानामन्त्रयामास–

मधुच्छन्दाः शृणोतन ऋषभो रेणुरष्टकः।
ये के च भ्रातरः सथ नास्मै ज्यैष्ठ्याय कल्पध्वमिति।।

विश्वामित्रेण प्रलोभितः शुन शेपः स्वकार्यदार्द्यार्थ गाथयैवमुवाच। संज्ञानानेषु मद्विषयैकमत्यं प्राप्तेषु त्वदीयपुत्रेषु सर्वोऽपि मां ब्रूयात्। ज्येष्ठभ्रातृत्वेन व्यवहरतु। तच्च मे मम सौहार्द्याय भ्रातृभिरितरैः स्नेहातिशयाय श्रियै धनलाभाय च संपद्यते। हे भतऋषम भरतवंशश्रंष्ठ विश्वामित्राहं तव पुत्रतां यथोपेयां तथैवैतेषां पुत्राणमग्रेऽनुगृहाणेति शेषः। तारे विश्वामित्र इतरान् पुत्रानाहूय गाथयैवमाज्ञा- पितवान्–यो मधुच्छन्दा नाम यश्चर्षभः, योऽपि रेणुः, योऽप्यष्टकः, एते मुख्याः हे पुत्रकाः 'शृणोतन' मदीयामाज्ञां शृणुत। 'ये' केचिद्यूयं सर्वे भ्रातरः स्थ ते सर्वेऽपि 'अस्मै' शुनःशेपादस्मादपि 'ज्येष्ठ्याय न कल्पध्वं' ज्येष्ठत्वाभिमानं मा कुरुत। किंत्वसावेव युष्माकं मध्ये ज्येष्ठो भूत्वाऽवतिष्ठतामिति।।

अथ षष्ठः खण्डः

तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः पञ्चाशत्कनीयांसः।।

मधुच्छन्दोनामकः कश्चित्पुत्रो मध्यमस्ततोऽपि ज्येष्ठः कनिष्ठश्च प्रत्येकं पञ्चशतसंख्याका इत्येवमेकशतं तस्य पुत्राः।।

तद्ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे तानन्‌ व्याजहारान्तान् वः प्रजा भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबरा पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।। इति।।

'तत्' तेष्वेकशतसंख्याकेषु पुत्रेषु मध्ये 'ये' मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः पञ्चाशत्संख्याकाः सन्ति 'ते' शुनःशेपस्य विश्वामित्रपुत्रत्वं 'कुशलं न मेनिरे' इदं समीचीनमित्येवं

नाङ्गीकृतवन्तः। ताञ्ज्येष्ठान् पञ्चाशत्संख्याकाननुलक्ष्य विश्वामित्रो व्याजहार व्याहरणं शापरूपं वाक्यमुक्तवान्। हे ज्येष्ठपुत्रा युष्माकं मदीयाज्ञातिलङ्घिनां प्रजाः पुत्रादिका अन्तान्भक्षीष्ट चण्डालादिरूपान्नी- चजातिविशेषान् भजतामिति। त एते शष्ठाः सन्तोऽन्ध्रत्वादिपञ्चविधनीचजातिविशेषा भवन्ति। 'इति' शब्दस्य तत्प्रदर्शनार्थत्वादन्येऽपि नीचजाति-विशेषाः सर्वे विवक्षिताः। उद्गतोऽन्त उदन्तोऽत्यन्तनीचजातिस्तत्र भवाः 'उदन्त्याः'। ते बहवोऽनेकविधा वैश्वामित्रा विश्वामित्रसंततिजा दस्यूनां तस्कराणां मध्ये भूयिष्ठा अत्यधिकाः।।

स होवाच मधुच्छन्दाः पञ्चाशता सार्धं-

अन्नः पिता संजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम्।
पुरस्त्वा सर्वे कुर्महे त्वामन्वञ्चो वयं स्मसीति।।

कनिष्ठपुत्राणां पञ्चाशता सह मधुच्छन्दोनामकः स मध्यमः पुत्रः शुनःशेपं प्रत्येवमुवाच। हे शुनःशेप 'नः' अस्माकं पिता विश्वामित्रो यत्कार्यं त्वदीयज्येष्ठपुत्रत्वरूपं संजानीते सम्यग्जानात्यङ्गीकरोति तस्मिन् कार्ये वयं तिष्ठामहे तत्कार्यमङ्गीकुर्मः। सर्वे वयं 'त्वा' शुनःशेपनामानं त्वां 'पुरस्कुर्महे' पुरस्कृत्य ज्येष्ठं कृत्वा वर्तामहे। 'त्वामन्वञ्चः' शुनःशेपमनुगच्छन्तः 'स्मसि' भवाम इत्युक्तवान्।।

अथ ह विश्वामित्रः प्रतीतः पुत्रांस्तुष्टाव।।

अथ मधुच्छन्दःसहितानां पश्चाशत्कनिष्ठपुत्राणां शुनःशेपविषयज्येष्ठपुत्रत्वाङ्गीका- रानन्तरं स विश्वामित्रः 'प्रतीतः' तेषु प्रत्ययं मदनुकूला इति विश्वासं प्राप्तः प्रीत्या 'पुत्रान्' गाथाभिस्तुष्टाव।।

ते वै पुत्राः पशुमन्तो वीरवन्तो भविष्यथ।
ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त मा।।

हे मधुच्छन्दः प्रमुखाः कनिष्ठपुत्रा 'ये' यूयं 'मे मानं' मदीयं मतम् 'अनुगह्णन्तः' आनुकूल्येन स्वीकुर्वन्तो 'मां' कनिष्ठपुत्रा 'ये' यूयं 'मे मानं' मदीयं मतम् 'अनुगृह्णन्तः' आनुकूल्येन स्वीकुर्वन्तो 'मां' विश्वामित्रं 'वीरवन्तं' स्वधर्मशूरपुत्रयुक्तम् 'अकर्तं' कृतवन्तः। 'ते वै' तादृशा यूयं बहुविधपशुयुक्ता बहुविधानुकूलपुत्रयुक्ताश्च भविष्यथ।।

पुर एत्रा वीरवन्तो देवरातेन गाथिनाः।
सर्वे राध्याः स्थ पुत्रा एष वः सद्विवाचनम्।।

गाथिनशब्दो विश्वामित्रस्य पितरमाचष्टे। हे 'गाथिनाः' गाथिपौत्राः 'पुर एत्रा' युष्माकं पुरतो गन्त्रा मुख्येन देवरातेन सह यूयं सर्वे 'वीरवन्तः' श्रेष्ठपुत्रयुक्ताः 'राध्याः'

'स्थ' सर्वे: पुरुषैराराधनीया: पूज्या भवथ। हे 'पुत्रा:' मधुच्छन्द:प्रभृतय:। 'एष:' देवरातो 'व:' युष्माकं सद्विवाचनं 'सन्मार्गस्य विशेषतोऽध्यापनं करष्यितीति शेष:।।

एष व: कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित।
युष्मांश्च दायं म उपेता विद्यां यामु च विद्मसि।।

हे कुशिका: कुशिकनाम्नो मत्पितामहस्य सम्बन्धिनो मधुच्छन्द: प्रभृतय एष देवरातो वो युष्माकं ज्येष्ठभ्रातेति शेष:। तं देवरातं यूयमन्वितानुगता भवथ। मे मदीयं 'दायं' धनं युष्मांश्चोपेता प्राप्स्यति। चकाराद्देवरातं च। यामु च यामपि कांचिद् वेदशास्त्रादिरूपां 'विद्यां विद्मसि' वयं जानीम:, साऽपि युष्मानुपेता प्राप्स्यति।।

ते सम्यञ्चो वैश्वामित्रा: सर्वे साकं सरातय:।
देवराताय तस्थिरे धृत्यै श्रैष्ठ्याय गाथिना:।।

हे वैश्वामित्रा विश्वामित्रस्य मम पुत्रा ये गाथिना गाथिपौत्रास्ते युयं सर्वेऽपि सम्यञ्च: समीचीनबुद्धयो ये साकं देवरातेन सार्धं सरातयो रातिर्धनसंपत्तिस्तया युक्ता: सन्तो 'देवराताय' मदीयश्रेष्ठपुत्रस्य देवरातस्य 'धृत्यै' धारणं युष्मत्पोषणं 'श्रैष्ठ्याय' युष्माकं मध्ये श्रेष्ठत्वं च तस्थिरेऽङ्गीकृतवन्त:।।

अधीयत देवरातो रिक्थयोरुभयोर्ऋषि:।
जह्नूनां चाऽऽधिपत्ये दैवे वेदे च गाथिनाम्।।

इक्स्मरण इति धातु:। अधीयत स्मृतिकारैर्महर्षिभि: स्मर्यते। कथमिति तदुच्यते। अयं देवरातो द्व्यामुष्यायणत्वादुभयोरजीगर्तविश्वामित्रयो: सम्बनिधनी ये रिक्थे धने त्रयोर्ऋषिर्द्रष्टा तदुभयमर्हतीत्यर्थ:। अजीगर्तस्य कूटस्थ ऋषिर्जह्नुसंज्ञकस्तस्य वंशे जाता: सर्वे जह्नवस्तेषां चाऽऽधिपत्ये स्वामित्वे देवरातो योग्य:। तथा दैवे देवसम्बन्धिनि यागादिकर्मणि वेदे च मन्त्ररूपे समर्थ:। गाथिनामस्मत्पितृवंशोत्पन्नानां च सर्वेषामाधिपत्ये योग्य:।।

तदेतत्परऋक्शतगाथं शौन:शेपमाख्यानम्।।

'कस्य नूनं'... निधारयेत्यन्ता: सप्ताधिकनवतिसंख्याका ऋच:, 'त्वं न:' 'स त्वम्' इत्यादिकास्तिस्र ऋच:, एवमृचां शतम्। 'पर:' शब्दोऽधिकवाची। पूर्वोक्तादृक्शतात् परोऽधिका एकत्रिंशत्संख्याका 'यं न्विमम्'-इत्याद्या गाथा: यस्मिन्नाख्याने तदेतत् 'परऋक्शतगाथम्'। शुन:शेपेन दृष्टा: सप्ताधिकनवतिसंख्यायुक्ता ऋचो या: सन्ति, अन्येन दृष्टास्तिस्र ऋचो या: सन्ति, ब्राह्मणे प्रोक्ता एकत्रिंशदगाथाविशेषा या सन्ति, तै: सर्वैरुपेतं 'हरिश्चन्द्रो ह वैधस:' इत्यादिकं सर्वं शुन:शेपविषयमाख्यानम्।।

तद्धोता राज्ञेऽभिषिक्तायाऽऽचष्टे॥

राजसूयक्रतावभिषेचनीयाख्ये कर्मणि यदा राजाभिषिक्तो भवति, तदानीं तस्मै 'राज्ञे' 'तत्' आख्यानं होता कथयेत्॥

हिरण्यकशिपावासीन आचष्टे; हिरण्यकशिपावासीनः प्रतिगृणाति। यशो वै हिरण्यं, यशसैवैनं तत्समर्धयति॥

होता यदोपाख्यानं कथयति, तदानीं 'हिरण्यकशिपौ' सुवर्णनिर्मितसूत्रै- निष्पादिते कशिपौ स होतोपविशेत्। तदाख्यानमध्येऽध्वर्युश्च हिरण्यकशिपावासीनो वक्ष्यमाणं 'प्रतिगरं' ब्रूयात्। हिरण्यस्य यशोहेतुत्वात् यशस्त्वम्। तथा सति 'एनं' राजानं यशसैव समृद्धं करोति॥

ओमित्यृचः प्रतिगर; एवं तथेति गाथायाः; ओमिति वै दैवं, तथेति मानुषं, चैवेनं तन्मानुषेण च पापादेनसः प्रमुञ्चति॥

होत्रा प्रयुक्ताया एकैकस्या ऋचोऽन्तेऽध्वर्योरोमित्येतादृशः प्रतिगरो भवति। ओमित्येतच्छन्दोरूपं 'दैवं' देवैरङ्गीकारार्थे प्रयुज्यते। तत्तथेत्यन्तं (तथेति) मानुषं मनुष्या अङ्गीकारे तथेतिशब्दं प्रयुञ्जते 'तत्' तेन प्रतिगरेण दैवेन 'मानुषेण वाध्यवर्युः 'एनं' अङ्गीकारे तथेतिशब्दं प्रयुञ्जते। 'तत्' तेन प्रतिगरेण दैवेन मानुषेण वाध्यवर्युः 'एनं' राजानं 'पापात्' ऐहिकादपकीर्तिरूपात्, 'एनसः' नरकहेतोश्च 'प्रमुञ्चति' प्रमुक्तं करोति॥

तस्माद्यो राजा विजिती स्यादप्ययजमान आख्यापतेयैवैतच्छौनः शेपमाख्यानं, न हास्मिन्नल्पं चनैनः परिशिष्यते॥

यस्मादुपाख्यानं पापप्रशमनहेतुः 'तस्माद्' अयजमानोऽपि राजसूयक्रतु- रहितोऽपि 'राजा विजिती' यदि विजयोपेतः स्यात्, तदानीमेतच्छौनःशेपमाख्यानम् 'आख्यापयेत्' तस्य राज्ञो यः कश्चिद्ब्राह्मण उपाख्यानं ब्रूयात्। तथा सति 'तस्मिन्' राजनि 'अल्पं चन' किंचिदपि 'एनः' पापं 'न ह वै परिशिष्यते' सर्व पापं नश्यतीत्यर्थः॥

सहस्रमाख्यात्रे दद्याच्छतं प्रतिगरित्र एते चैवाऽऽसने श्वेतश्चाश्वतरीरथो होतुः॥

योऽयमाख्याता होता, तस्मै क्रत्वर्थदक्षिणामन्तरेणोपाख्यानप्रयुक्तां दक्षिणां गोसहस्ररूपां दद्यात्। 'प्रतिगरित्रे' अध्वर्यवे गोशतं दद्यात्। ये हिरण्यकशिपुरूपे द्वे 'आसने' स्तः, एते अपि ताभ्यामेव दद्यात्। अश्वतरोभ्यां संकीर्णज्ञातियुक्ताभ्याम- धिकशक्तिभ्यां युक्तो रथः 'अश्वतरीरथः'। स च रजतेनालंकृतत्वाच्छ्वेतः। सोऽपि तादृशो होतुर्देयः॥

पुत्रकामाः हाप्याख्यापयेरल्लँभन्ते ह पुत्राल्लँभन्ते ह पुत्रान् ॥१८॥

ये पुत्रकामाः सन्ति, ते 'ह' प्रसिद्धमेतदुपाख्यानम् 'आख्यापयेरन्' ब्राह्मण- मुखाच्छृणुयुरित्यर्थः। ते पुत्राल्लँभन्ते। अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः॥

(क-२) शतपथब्राह्मणम्

काण्ड १, प्रपाठक ४, ब्राह्मण ५, (७ से १२)

वैदिक ऋचाओं के आविर्भाव के सहस्रों वर्षों के अनन्तर, ईश्वर, ईश्वरीय सृष्टि, ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वरीय व्यवस्था को समझने के लिए आर्यावर्त्त देश के आर्यमनीषियों ने वैदिक वाङ्मय का सृजन आरम्भ किया। यह वाङ्मय आज भी हमारी परम्परा की अमूल्य धरोहर है। सम्भवतया वैदिक वाङ्मय की ऐतिहासिक परम्परा में वेदांगों की रचना सबसे प्राचीन हो। मनुष्य ने परम्परा से ऋचाओं का उच्चारण सीखा हो, और बाद में उसे इस बात का पता चला हो कि वाक् और श्रोत्र के माध्यम से जिस ज्ञान का आदान-प्रदान हो रहा है, वह कुछ मूल ध्वनियों की संहति है जो हमारे वाकयन्त्र से स्थान-स्थान से, और विशेष प्रयत्नों से प्रसूत होती है। यह पहला वेदांग रहा होगा, जिसका अत्यन्त प्राञ्जल रूप हमें पाणिनि की वेदांग "शिक्षा" में उपलब्ध है। महर्षि पाणिनि की यह रचना अपने विषय की न तो प्रथम रचना है, और न अन्तिम। संसार में आज अनेक वर्णमालाएँ हैं, जिनमें स्वरों और व्यंजनों के अनेकानेक भेदोपभेद हैं; आज के "शिक्षा-शास्त्री" इनकी ध्वनियों का भी बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन कर रहे हैं। 'शिक्षा' के बाद दूसरे वेदांग का नाम व्याकरण होना चाहिए, और फिर छन्द, क्योंकि ऋचाएँ छन्दोबद्ध थीं। पाणिनि की जो व्याकरण मिलती है वह लौकिक संस्कृत के भी काम की है, और वैदिक के भी काम की, और यही स्थिति पिंगल के छन्दशास्त्र की भी है। संसार के विभिन्न वाङ्मयों में व्याकरण और छन्द की विविधता प्रत्येक युग के साथ परिवर्तित और विकसित होती रहेगी। ज्योतिष और कल्प वेदांग भी इसी प्रकार विकासशील हैं। केवल एक वेदांग ऐसा है, जो केवल वेद (चार संहिताओं) के लिए है-वह है यास्क का निघण्टु, और उस ग्रन्थ पर उनकी लिखी टीका निरुक्त। शब्दार्थ समझने में नैरुक्तिक पद्धति के उपयोग का एकमात्र अधिकार हमें ऋग्वेद, और अनुवर्ती वैदिक संहिताओं के क्षेत्र में है, जिनके शब्द आख्यातज, यौगिक और योगरूढ़ि हैं। प्रत्येक तत्त्वज्ञान, दर्शन या विज्ञान की शब्दावली अपने-अपने अर्थों और अभिप्रायों में रूढ़ि हो जाती है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार आर्यावर्त्त में ब्रह्मा से जैमिनि-पर्यन्त जितना भी साहित्य रचा गया, उसका केन्द्रबिन्दु वेद था। इस वेद को समझने-समझाने के लिए उपांग बने (छह दर्शनशास्त्र)। चार कोटि के उपवेदों का विकास हुआ, जिनकी

कथावस्तु आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद कहलाई और वेद के अभिप्राय से ही प्रातिशाख्यों की रचना हुई। हमारे ब्राह्मणग्रन्थ, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, आरण्यक और उपनिषदें भी इसी वेद के विस्तार से सम्बन्ध रखती हैं। मनुष्य अपने भीतर एक विशेष मानसतन्त्र लेकर अवतरित हुआ था (अन्य पशुओं के मानस-तन्त्र से, जिसमें उभयेन्द्रियों का तन्त्र भी सम्मिलित है, मनुष्य का मानस-तन्त्र सर्वथा भिन्न रहा है)। जन्मजात कौतूहल, फिर कौतूहल से प्रेरित प्रश्न, और अन्त में प्रश्नों के समाधान का प्रयास, ये तीन क्षमताएँ उसमें सदा रहीं। कौतूहल, प्रश्न (जिज्ञासा) और समाधान–इन तीनों प्रक्रियाओं में उसने तीन विद्याओं को अपनाया–(क) स्वगत, (ख) समष्टिगत, और (ग) परम्परागत। (१) अकेले में विचार, (२) वादों-प्रवचनों और गोष्ठियों में मिलजुलकर विचार और (३) अन्त में, यह आगे की पीढ़ियों को सौंपकर। कौतूहल, जिज्ञासा और समाधान की यह प्रक्रिया अतीत काल में आरम्भ हुई थी और जब तक पृथ्वी पर मनुष्य जीवित है, यह बनी रहेगी।

इस त्रिविध पद्धति के फलस्वरूप मनुष्यों को प्रारम्भ में जो पुरुषार्थ-प्रेरक प्रेरणायें मिलीं उनसे मानव-समाज का विकास हुआ और शनैः शनैः उस समाज में उदात्तगुणों का प्रस्फुटन हुआ। बाद में इसी त्रिविधता ने समाज में वैभव के साथ-साथ विलास, दुर्गुण, प्रमाद, आलस्य, द्वेष, सत्तारूढ़िता, वैमनस्य आदि उत्पन्न किये। कर्म के स्थान पर कर्मकाण्ड आसीन हो गया और समाज शिथिल हो गया। हमारे समस्त ब्राह्मणग्रन्थ इसी युग की कृतियाँ हैं। वेद कर्म का प्रेरक रहा, ब्राह्मण-ग्रन्थ कर्मकाण्ड के प्रेरक हो गए। किन्तु इस ब्राह्मण-वाङ्मय में समाज का वह समस्त इतिहास भी छिपा हुआ है, जो कर्मकाण्ड से पूर्व समाज को प्राप्त हो गया था। दोनों युगों के इस अन्तर को नहीं भूलना चाहिए–(१) वैदिक युग–कर्म और पुरुषार्थ का प्रेरक (उदात्तयुग) (२) ब्राह्मण युग–कर्मकाण्ड का प्रेरक–समाज के शैथिल्य का युग।

ऐसा लगता है कि चारों वेदों ने (कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदों को अलग मानें, तो पाँचों वेदों ने) हमारे समाज को पाँच भागों में बाँट दिया। ऋग्वेद के अभिप्राय से, अर्थात् ऋग्वेद की ऋचाओं को लेकर जो कर्मकाण्ड किया जाने लगा, उसकी झाँकी ऐतरेय ब्राह्मण में मिलेगी। यजुर्वेद परम्परा वालों का ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण कहलाया, कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) वालों का तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद वालों का साम ब्राह्मण (ताण्ड्य ब्राह्मण) और अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाला गोपथ ब्राह्मण।

माध्यन्दिन शाखा के शतपथब्राह्मण में १४ काण्ड हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्यकृत्–

अथ वाङ्मनस आख्यानम्

१ अथातो मनसश्चैववाचश्च-अहं भद्रऽउदितम्, मनश्च ह वै वाक् चाऽहंभर्दं ऊदाते ।।८।।

१-**अर्थ**- एक बार मन और वाणी में बड़ाई के लिए झगड़ा हुआ। मन और वाणी दोनों कहने लगे- मैं भद्र अर्थात् श्रेष्ठ हूँ, मैं भद्र हँ

२-तद्ध मनउवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि, न वै मया त्वं किञ्चननाभिगतं वदसि, सा यन्मम त्वं कृतानुकराऽनुवर्त्मासि, अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ।। ९ ।।

अर्थ-अब मन ने कहा-मैं तुझ से श्रेष्ठ हँ क्योंकि तू मेरे विचारे विना कुछ नही कहती है। तू मेरे किये का ही अनुसरण करती है, तू मेरा अनुकरण करती है। तू मेरा अनुसरण करती है, इसलिए मैं ही तुझ से श्रेष्ठ हूँ, बड़ा हँ

३-अथ ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि । यद वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्हं सुज्ञपयामीति ।। १० ।।

अर्थ-इसके बाद वाणी ने कहा -मैं ही तुझ से श्रेयसी (श्रेष्ठ) हूँ, क्योंकि जो तू जानता है, मैं ही उसे विज्ञापित करती हूँ, मैं ही उसको लोगों को अच्छे प्रकार से समझाती हँ

४-ते प्रजापतिं प्रति प्रश्नमेयतुः-स प्रतापतिर्मनस एवानूवाच-मन एव त्वच्छ्रेयः, मनसो वै त्वं कृत-अनुकरानुवत्माऽसिः, श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकर-वर्त्मा भवतीति।। ११।।

अर्थ-वे दोनो (मन और वाणी) इस विषय में पूछने के लिये प्रजापति के पास गये। उस प्रजापति ने मन के अनुकूलता में कहा-हे वाणी। मन ही तुझसे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि तू मन का ही अनुकरण करती है और तू उस के बतलाए मार्ग पर चलती है। निश्चय ही जो बड़े का अनुकरण करता है और उसके मार्ग पर चलता है, वह छोटा (पापीयान्) होता है।

५-सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये। तस्मै गर्भः पपात। सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच-'अहव्यवाडेव तुभ्यं भूयासम्, यां मां परोवाच' इति। तस्माद् यत्किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, उपांश्वेव तत् क्रियते। अहव्यवाड्धि वाक् प्रजापतयऽआसीत्।।१२।।

अर्थ-वह वाणी अपने विरूद्ध उस निश्चय को सुनकर चकित हो गई और उसका गर्भपात हो गया। उस वाणी ने प्रजापति से कहा - मैं तेरे लिए 'अहव्यवाड' कभी भी हवि न ले जाने वाली हँगी। क्योंकि तूने मेरा विरोध किया है। इसलिए यज्ञ में जो कुछ किया जाता है, वह (उपांशु) अर्थात् मौन होकर पढा जाता है, क्योंकि वाणी प्रजापति के लिए (हव्यवाड) हवि की वाहक नहीं होती।

अतः **'ओं प्रतापतये स्वाहा'** यह आहुति यज्ञ में मौन होकर दी जाती है।

विशेष–चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। और मन भी एक ज्ञानेन्द्रिय है। वह जिस ज्ञानेन्द्रिय से संयुक्त होता है, वही ज्ञानेन्द्रिय अपने रूपादि विषय को ग्रहण करती है, और ज्ञानेन्द्रिय से वियुक्त रहती है, वह ज्ञानेन्द्रिय उस विषय को ग्रहण नहीं करती है। **'सर्वार्थं मनः'** अर्थात् मन सब ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ का साधक है। अतः वाणी आदि सब ज्ञानेन्द्रियों से मन बड़ा है और वे वाणी आदि इन्द्रियाँ उससे छोटी हैं। शरीर एक राष्ट्र के सामान है। जिस में मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, और जंघा वैश्य और चरण शूद्र हैं। उस राष्ट्र रूपी शरीर का पति आत्मा है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ और मन उसकी प्रजा हैं। आत्मा प्रजापति है, इस प्रजा का स्वामी है। जब वाणी आदि इन्द्रियाँ उस प्रजापति से रूष्ट हो जाती हैं। तब उसके प्रति अपना व्यापार (बन्द) कर देती हैं। जैसे वाणी ने रूष्ट होकर प्रजापति विषयक मन्त्र के उच्चारण में अपना कार्य बन्द कर दिया। अतः यज्ञमान वहाँ मौन होकर आहुति देता है।

।।इति वाङ्मनस-आख्यानम् ।।

उपनिषद् साहित्यम्

१. ईशावास्योपनिषद्

यह ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेदकाण्वशाखीय संहिता का चालीसवाँ अध्याय ही है। मन्त्र-भाग का अंश होने से इसका विशेष महत्व है। इसी को सबसे पहला उपनिषद् माना जाता है। शुक्लयजुर्वेद के प्रथम उन्तालीस अध्यायों में कर्म काण्ड का निरूपण हुआ है। यह उस काण्ड का अन्तिम अध्याय है और इसमें भगवत्तत्त्वरूप ज्ञान काण्ड का निरूपण किया गया है। इसके पहले मन्त्र में **'ईशावास्यम्'** वाक्य आने से इसका नाम 'ईशावास्य' माना गया है।

शान्तिपाठ

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ऊँ=सच्चिदानन्दघन; **अदः**=वह परब्रह्म; **पूर्णम्**=सब प्रकार से पूर्ण है; **इदम्**=यह (जगत भी); **पूर्णम्**=पूर्ण (ही) है; (क्योंकि) **पूर्णात्**=उस पूर्ण (परब्रह्म) से ही;

पूर्णम्=यह पूर्ण; **उदच्यते**=उत्पन्न हुआ है; **पूर्णस्य**=पूर्णके; **पूर्णम्**=पूर्णको; **आदाय**=निकाल लेने पर (भी); **पूर्णम्**=पूर्ण; **एव**=ही; **अवशिष्यते** =बच रहता है।

व्याख्या–वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्म से ही पूर्ण है; क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत् पूर्ण है, इसलिये भी वह परिपूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बच रहता है। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥१॥

जगत्याम=अखिल ब्रह्माण्ड में; **यत् किं च**=जो कुछ भी; **जगत्**=जड-चेतनस्वरूप जगत् है; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=समस्त; **ईशा**=ईश्वर से; **वास्यम्**=व्याप्त है; **तेन**=उस ईश्वर को साथ रखते हुए; **त्यक्तेन**=त्यागपूर्वक; **भुञ्जीथाः**=(इसे) भोगते रहो; **मा गृधः**=(इसमें) आसक्त मत होओ; (क्योंकि) **धनम्**=धन-भोग्य-पदार्थ; **कस्य स्वित्**=किसका है अर्थात् किसी का भी नही है॥१॥

व्याख्या–मनुष्यों के प्रति वेदभगवान् का पवित्र आदेश है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हारे देखने-सुनने में आ रहा है, सब-का-सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, शक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकल्याण गुण-स्वरूप परमेश्वर से व्याप्त है; सदा-सर्वत्र उन्हीं से परिपूर्ण है (गीता ९/४)। इसका कोई भी अंश उनसे रहित नहीं है (गीता १०/३९, ४२)। यों समझकर उन ईश्वर को निरन्तर अपने साथ रखते हुए सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत् में ममता और आसक्ति का त्याग करके केवल कर्तव्य-पालन के लिये ही विषयों का यथा विधि उपभोग करो अर्थात्–विश्वरूप ईश्वर की पूजा के लिये ही कर्मों का आचरण करो। विषयों में मन को मत फँसने दो, इसी में तुम्हारा निश्चित कल्याण है (गीता २/६४;३/९;१८/४६)। वस्तुतः ये भोग्य-पदार्थ किसी के भी नहीं हैं। मनुष्य भूल से ही इनमें ममता और आसक्ति कर बैठता है। ये सब परमेश्वर हैं के और उन्हीं की प्रसन्नता के लिये इनका उपयोग होना चाहिये॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

इह=इस जगत् में; **कर्माणि**=शास्त्रनियत कर्मों को; **कुर्वन्**=(ईश्वरपूजार्थ) करते हुए; **एव**=ही; **शतम् समाः**=सौ वर्षों तक; **जिजीविषेत्**=जीने की इच्छा करनी चाहिये; **एवम्**=इस प्रकार (त्याग भाव से, परमेश्वर के लिये); **कर्म**=किये जाने वाले

कर्म; **त्वयि**=तुझ; **नरे**=मनुष्य में; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होंगे; **इतः**=इससे (भिन्न); **अन्यथा**=अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग; **न अस्ति**=नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो सके)।।२।।

व्याख्या—पूर्व मन्त्र के कथानुसार जगत् के एकमात्र कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान, सर्वमय परमेश्वर का सतत स्मरण रखते हुए सब कुछ उन्हीं का समझकर उन्हीं की पूजा के लिये शास्त्रनियत कर्तव्य कर्मों का आचरण करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो—इस प्रकार अपने पूरे जीवन को परमेश्वर के प्रति समर्पण कर दो। ऐसा समझो कि शास्त्रोक्त स्वकर्म का आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना केवल परमेश्वर की पूजा के लिये ही है, अपने लिये नहीं—भोग भोगने के लिये नहीं। यों करने से वे कर्म तुझे बन्धन में नहीं डाल सकेंगे। कर्म करते हुए कर्मों से लिप्त न होने का यही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग कर्मबन्धन से मुक्त होने का नहीं है (गीता २/५०, ५१; ५/१०)।।२।।

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मफलस्वरूप जन्मबन्धन से मुक्त होने के निश्चित मार्ग का निर्देश करके अब इसके विपरीत मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों की गति का वर्णन करते है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनोः।।३।।

असुर्याःअसुरों के; (जो) **नाम**=प्रसिद्ध); **लोकाः**=नाना प्रकार की योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं; **ते**=वे सभी; **अन्धेन तमसा**=अज्ञान तथा दुःखक्लेशरूप महान् अन्धकार से; **आवृताः**=आच्छादित हैं; **ये के च**=जो कोई भी; **आत्महनः**=आत्मा की हत्या करने वाले; **जनाः**=मनुष्य हों; **ते**=वे; **प्रेत्य**=मरकर; **तान्**=उन्हीं भयंकर लोकों को; **अभिगच्छन्ति**=बार-बार प्राप्त होते हैं।।३।।

व्याख्या—मानव-शरीर अन्य सभी शरीरों से श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है एवं वह जीव को भगवान् की विशेष कृपा से जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्र से तरने के लिये ही मिलता है। ऐसे शरीर को पाकर भी जो मनुष्य अपने कर्म समूह को ईश्वर-पूजा के लिये समर्पण नहीं करते और कामोपभोग को ही जीवन का परम ध्येय मानकर विषयों की आसक्ति और कामनावश जिस-किसी प्रकार से भी केवल विषयों की प्राप्ति और उनके यथेच्छ उपभोग में ही लगे रहते हैं; वे वस्तुतः आत्मा की हत्या करने वाले ही हैं; क्योंकि इस प्रकार अपना पतन करने वाले ये वे लोग अपने जीवन को केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं वरं अपने को और भी अधिक कर्मबन्धन में जकड़ रहे हैं। इन काम-भोग-परायण लोगों को—चाहे वे कोई भी क्यों न हों, उन्हें चाहे संसार में कितने ही विशाल नाम, यश, वैभव या अधिकार प्राप्त हों, मरने के बाद कर्मों के

फलस्वरूप बार-बार उन कूकर-शूकर, कीट, पतंगादि विभिन्न शोक-संतापपूर्ण आसुरी योनियों में और भयानक नरकों में भटकना पड़ता है (गीता १६/१६, १९, २०), जो कि ऐसे आसुरी स्वभाव वाले दुष्टों के लिये निश्चित किये हुए हैं और महान् अज्ञानरूप अन्धकार से आच्छादित हैं। इसीलिये श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि मनुष्य को अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये (६/५)।।३।।

सम्बन्ध—जो परमेश्वर सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हैं, जिनका सतत स्मरण करते हुए तथा जिनकी पूजा के लिये ही समस्त कर्म करने चाहिये, वे कैसे हैं—इस जिज्ञासा पर कहते हैं—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नेनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।।

(तत्)=वे परमेश्वर; **अनेजत्**=अचल; **एकम्**=एक:; (और) **मनसः**=मन से (भी); **जवीयः**अधिक तीव्र गतियुक्त हैं; **पूर्वम्**=सबके आदि; **अर्षत्**=ज्ञानस्वरूप या सबके जाने वाले हैं; **एनत्**=इन परमेश्वर को; **देवाः**=इन्द्रादि देवता भी; **न आप्नुवन्**=नहीं पा सके या जान सके हैं; **तत्**=वे (परब्रह्म पुरुषोत्तम); **अन्यान्**=दूसरे; **धावतः**=दौड़ने वालों को; **तिष्ठत्**=स्वयं) स्थिर रहते हुए ही; **अत्येति**=अतिक्रमण कर जाते हैं; **तस्मिन्**=उनके होने पर ही—उन्हीं की सत्ता-शक्ति से; **मातरिश्वा**=वायु आदि देवता; **अपः**=जलवर्षा आदि क्रिया; **दधाति**=सम्पादन करने में समर्थ होते हैं।।४।।

व्याख्या—वे सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अचल और एक हैं, तथापि मन से भी अधिक तीव्र वेगयुक्त हैं। जहाँ तक मन की गति है, वे उससे भी कहीं आगे पहले से ही विद्यमान हैं। मन तो वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता। वे सब के आदि और ज्ञानस्वरूप हैं अथवा सबके आदि होने के कारण सबको पहले से ही जानते हैं। पर उनको देवता तथा महर्षिगण भी पूर्ण रूप से नहीं जान सकते (गीता १०/२)। जितने भी तीव्र वेगयुक्त बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अथवा वायु आदि देवता हैं, अपनी शक्ति भर परमेश्वर के अनुसंधान में सदा दौड़ लगाते रहते हैं; परंतु परमेश्वर नित्य अचल रहते हुए ही उन सबको पार करके आगे निकल जाते हैं। वे सब वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाते। असीम की सीमा का पता ससीम को कैसे लग सकता है। बल्कि वायु आदि देवताओं में जो शक्ति है, जिसके द्वारा वे जल वर्षण, प्रकाशन, प्राणि-प्राणधारण आदि कर्म करने में समर्थ होते हैं, वह इन अचिन्तयशक्ति परमेश्वर की शक्ति का एक अंशमात्र ही है। उनका सहयोग मिले बिना ये सब कुछ भी नहीं कर सकते।।४।।

सम्बन्ध–अब परमेश्वर की अचिन्त्यशक्तिमता तथा व्यापकता प्रकारान्तर से पुन: वर्णन करते हैं–

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:।।५।।

तत्=वे; **एजति**=चलते हैं; **तत्**=वे; **न एजति**=नहीं चलते; **तत्**=वे; **दूरे**=दूर से भी दूर हैं; **तत्**=वे; **उ अन्तिके**=अत्यन्त समीप हैं; **तत्**=वे; **अस्य**=इस; **सर्वस्य**=समस्त जगत् के; **अन्त:**=भीतर परिपूर्ण हैं; (और) तत्=वे; **अस्य**=इस; **सर्वस्य**=समस्त जगत् के; **उ बाह्यत:**=बाहर भी हैं।।५।।

व्याख्या–वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते; एक ही काल में परस्पर विरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमें रह सकती हैं, वे ही तो परमेश्वर हैं। यह उनकी अचिन्त्य शक्ति की महिमा है। दूसरे प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् जो अपने दिव्य परम धाम में और लीला धाम में अपने प्रिय भक्तों को सुख पहुंचाने के लिये अप्राकृत सगुण-साकार रूप में प्रकट रहकर लीला किया करते हैं, यह उनका चलना है; और निर्गुणरूप से जो सदा-सर्वथा अचल स्थित हैं, यह उनका न चलना है। इसी प्रकार वे श्रद्धा-प्रेम से रहित मनुष्यों को कभी दर्शन नहीं देते, अत: उनके लिये दूर-से-दूर हैं; और प्रेम की पुकार सुनते ही जिन प्रेमीजनों के सामने चाहे जहां उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं, उनके लिये वे समीप-से-समीप हैं। इसके अतिरिक्त वे सदा-सर्वत्र परिपूर्ण हैं, इसलिये दूर-से-दूर भी वे ही हैं और समीप-से-समीप भी वे ही हैं; क्योंकि ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ वे न हों। सबके अन्तर्यामी होने के कारण भी वे अत्यन्त समीप हैं; पर जो अज्ञानी लोग उन्हें इस रूप में नहीं पहचानते, उनके लिये वे बहुत दूर हैं (गीता १३/१५) वस्तुत: वे इस समस्त जगत् के परम आधार हैं और परम कारण वे ही हैं; इसलिये बाहर-भीतर सभी जगह वे ही परिपूर्ण हैं (गीता ७/७) ।।५।।

सम्बन्ध–अब अगले दो मन्त्रों में इन परब्रह्म परमेश्वर को जानने वाले महापुरुष की स्थिति का वर्णन किया जाता है–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।६।।

तु=परंतु; **य:**=जो मनुष्य; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणियों को; **आत्मनि**=परमात्मा में; **एव**=ही; **अनुपश्यति**=निरन्तर देखता है; **च**=और; **सर्वभूतेषु**=सम्पूर्ण प्राणियों में; **आत्मानम्**=परमात्पा को (देखता है); **तत:**=उसके पश्चात् (वह कभी भी); **न विजुगुप्सते**=किसी से घृणा नहीं करता ।।६।।

व्याख्या—इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्र को सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मा में देखता है और सर्वान्तर्यामी परम प्रभु परमात्मा को प्राणिमात्र में देखता है, वह कैसे किससे घृणा या द्वेष कर सकता है। वह तो सदा-सर्वत्र अपने परम प्रभु के ही दर्शन करता हुआ (गीता ६/२९.३०) मन-ही-मन सबको प्रणाम करता रहता है तथा सबकी सब प्रकार से सेवा करना और उन्हें सुख पहुंचाना चाहता है ॥६॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

यस्मिन्=जिस स्थिति में; **विजानतः**=परब्रह्म परमेश्वर को भलीभांति जानने वाले महापुरुष के (अनुभव में) **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणी; **आत्मा**=एकमात्र परमात्मस्वरूप; **एव**=ही; **अभूत्**=हो चुकते हैं; **तत्र**=उस अवस्था में (उस); **एकत्वम्**=एकता का–एकमात्र परमेश्वर का; **अनुपश्यतः**=निरन्तर साक्षात् करने वाले पुरुष के लिये; **कः**=कौन-सा; **मोहः**=मोह (रह जाता है और); **कः**=कौन-सा; **शोकः**=शोक। (वह शोक-मोह से सर्वथा रहित, आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है) ॥७॥

व्याख्या—इस प्रकार जब मनुष्य परमात्मा को भली भांति पहचान लेता है, जब उसकी सर्वत्र भरगवद्दृष्टि हो जाती है–जब वह प्राणिमात्र में एकमात्र तत्व श्रीपरमात्मा को ही देखता है, तब उसे सदा-सर्वत्र परमात्मा के दर्शन होते रहते हैं। उस समय उसके अन्तःकरण में शोक, मोह आदि विकार कैसे रह सकते हैं? वह तो इतना आनन्दमग्न हो जाता है कि शोक-मोहादि विकारों की छाया भी कहीं उसके चित्त प्रदेश में नहीं रह जाती। लोगों के देखने में वह सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः अपने प्रभु में ही क्रीड़ा करता है (गीता ६/३१)। उसके लिये प्रभु और प्रभु की लीला के अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता ॥७॥

सम्बन्ध—अब इस प्रकार परमप्रभु परमेश्वर को तत्त्व से जानने का तथा सर्वत्र देखने का फल बतलाते हैं–

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो-ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीश्यः समाभ्यः॥८॥

सः=वह महापुरुष; **शुक्रम**=(उन) परम तेजोमय; **अकायम्**=सूक्ष्म शरीर से रहित; **अव्रणम्**=छिद्ररहित या क्षतरहित; **अस्नाविरम्**=शिराओं से रहित–स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर से रहित; **शुद्धम्**=अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूप; **अपापविद्धम्**=शुभाशुभकर्म-सम्पर्कशून्य परमेश्वर को; **पर्यगात्**=प्राप्त हो जाता है; (जो) **कविः**=सर्वद्रष्टा; **मनीषी**=सर्वज्ञ एवं ज्ञानस्वरूप; **परिभूः**=सर्वोपरि विद्यमान एवं सर्वनियन्ता; **स्वयम्भू**=स्वेच्छा से प्रकट होने वाले हैं (और); **शाश्वतीश्यः**=

अनादि; **समाभ्यः**=काल सें; **याथातथ्यनः**=सब प्राणियों के कर्मानुसार यथायोग्य; **अर्थान्**=सम्पूर्ण पदार्थों की; **व्यदधात्**=रचना करते आये हैं।।८।।

व्याख्या—उपर्युक्त वर्णन के अनुसार परमेश्वर को सर्वत्र जानने-देखने वाला महापुरुष उन परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वेश्वर को प्राप्त होता है, जो शुभाशुभ कर्मजनित प्राकृत सूक्ष्म देह तथा पाञ्चभौतिक अस्थि-शिरा-मांसादिमय षड्विकारयुक्त स्थूह देह से रहित, छिद्ररहित, दिव्य शुद्ध सच्चिदानन्दघन हैं; एवं जो क्रान्तदर्शी—सर्वद्रष्टा हैं, सबके ज्ञाता, सबको अपने नियन्त्रण में रखने वाले सर्वाधिपति हैं, और कर्मपरवश नहीं वरं स्वेच्छा से प्रकट होने वाले हैं तथा जो सनातन काल से सब प्राणियों के लिये उनके कर्मानुसार समस्त पदार्थों की यथायोग्य रचना और विभागव्यवस्था करते आये हैं।।८।।

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रों में विद्या और अविद्या का तत्व समझाया जायेगा। इस प्रकरण में परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति के साधन 'ज्ञान' को विद्या के नाम से कहा गया है और स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति अथवा इस लोक के विविध भोगैश्वर्य की प्राप्ति के साधन 'कर्म' को अविद्या के नाम से। इन ज्ञान और कर्म—दोनों के तत्व को भली भांति समझकर उनका अनुष्ठान करने वाला मनुष्य ही इन दोनों साधनों के द्वारा सर्वोत्तम तथा वास्तविक फल प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं—इस रहस्य को समझाने के लिये पहले, उन दोनों के यथार्थ स्वरूप को न समझकर अनुष्ठान करने वालों की दुर्गति का वर्णन करते हैं—

अन्ध तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमा य उ विद्यायाँ् रताः।।९।।

ये=जो मनुष्य; **अविद्याम्**=अविद्या की; **उपासते**=उपासना करते हैं, (वे); **अन्धम्**=अज्ञानस्वरूप; **तमः**=घोर अन्धकार में; **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं; (और) **ये**=जो मनुष्य; **विद्यायाम्**=विद्या में; **रताः**=रत हैं अर्थात् ज्ञान के मिथ्याभिमान में मत्त हैं; **ते**=वे; **ततः**=उससे; **उ**=भी; **भूयः इव**=मानो अधिकतर; **तमः**=अन्धकार में (प्रवेश करते हैं)।।९।।

व्याख्या—जो मनुष्य भोगों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के साधनरूप अविद्याका—विविध प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मों के फलस्वरूप अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण विविध योनियों और भोगों को ही प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य-जन्म के चरम और परम लक्ष्य श्री परमेश्वर को न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्युरूप संसार के प्रवाह में पड़े हुए विविध तापों से संतप्त होते रहते हैं।

दूसरे जो मनुष्य न तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्तापन के अभिमान से रहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-वैराग्यादि ज्ञान के प्राथमिक साधनों का ही सेवन करते हैं; परंतु केवल शास्त्रों को पढ़-सुनकर अपने में विद्या का–ज्ञान का मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे, मिथ्या ज्ञानी मनुष्य अपने को ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्तव्य नही है' इस प्रकार कहते हुए कर्तव्य कर्मों का त्याग कर देते हैं और इन्द्रियों के वश में होकर शास्त्रविधि से विपरीत मनमाना आचरण करने लगते हैं। इससे वे लोक सकामभाव से कर्म करने वाले विषयासक्त मनुष्यों की अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकार को–पशु-पक्षी, शूकर-कूकर आदि नीच योनियों को और रौरव-कुम्भीपाकादि घोर नरकों को प्राप्त होते हैं ।।९।।

सम्बन्ध–शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य को समझकर ज्ञान तथा कर्म का अनुष्ठान करने से जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, उसका संकेत से वर्णन करते हैं–

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।। १०।।

विद्यया=ज्ञान के यथार्थ अनुष्ठान से; **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहुः**=बतलाते हैं; (और) **अविद्यया**=कर्मों के यथार्थ अनुष्ठान से; **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल; **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषों के; **शुश्रुम**=वचन सुने हैं; ये=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस विषय को; **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था।।१०।।

व्याख्या–सर्वोत्तम फल प्राप्त कराने वाले ज्ञान का यथार्थ स्वरूप है–नित्यानित्य वस्तु का विवेक, क्षणभङ्गुर विनाशशील अनित्य ऐहलौकिक और पारलौकिक भोग-सामग्रियों और उनके साधनों से पूर्ण विरक्ति, संयमपूर्ण पवित्र जीवन और एकमात्र सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म के चिन्तन में अखण्ड संलग्नता। इस यथार्थ ज्ञान के अनुष्ठान से प्राप्त होता है–परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता १८/४९.५५)। यथार्थ ज्ञान का यह सर्वोत्तम फल, ज्ञानभिमान में रत स्वेच्छाचारी मनुष्यों को दुर्गतिरूप फल मिलता है, उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।

इसी प्रकार सर्वोत्तम फल प्राप्त कराने वाले कर्म का स्वरूप है–कर्म में कर्तापन के अभिमान का अभाव, राग-द्वेष और फल-कामना का अभाव एवं अपने वर्णाश्रम तथा परिस्थिति के अनुरूप केवल भगवत्सेवा के भाव से श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मों का यथायोग्य सेवन। इसके अनुष्ठान से समस्त दुर्गुण और दुराचारों का अशेष रूप से नाश हो जाता है और हर्ष-शोकादि समस्त विकारों से रहित होकर साधक मृत्युमय संसार-सागर से तर जाता है। सकाम भाव से किये जाने वाले कर्मों

का जो पुनर्जन्मरूप फल उन कर्ताओं को मिलता है, उससे इस यथार्थ कर्म-सेवन का यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूप से व्याख्या करके भली भाँति समझाया था। १०।।

सम्बन्ध–अब उपर्युक्त प्रकार से ज्ञान और कर्म–दोनों के तत्व को एक साथ भलीभांति समझने का फल स्पष्ट शब्दों में बतलाते हैं–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।११।।

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**=उन दोनों को; (अर्थात्) **विद्याम्**=ज्ञान के तत्व को; **च**=और; **अविद्याम्**=कर्म के तत्व को; **च**=भी; **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **अविद्यया**=वह) कर्मों के अनुष्ठान से; **मृत्युम्**=मृत्यु को; **तीर्त्वा**=पार करके; **विद्यया**=ज्ञान के अनुष्ठान से; **अमृतम्**=अमृत को; **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है।।११।।

व्याख्या–कर्म और अकर्म का वास्तविक रहस्य समझने में बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी भूल कर बैठते हैं (गीता ४/१६)। इसी कारण कर्म-रहस्य से अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्म को ब्रह्मज्ञान में बाधक समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मों का त्याग कर देते हैं; परंतु इस प्रकार के त्याग से उन्हें त्याग का यथार्थ फल–कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिलता (गीता १८/८)। इसी प्रकार ज्ञान (अकर्मावस्था–नैष्कर्म्य) का तत्व न समझने के कारण मनुष्य अपने को ज्ञानी तथा संसार से ऊपर उठे हुए मान लेते हैं। अतः वे या तो अपने को पुण्य-पाप से अलिप्त मानकर मनमाने कर्माचरण में प्रवृत्त हो जाते हैं या कर्मों को भाररूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं और आलस्य, निद्रा तथा प्रमाद में अपने दुर्लभ मानव-जीवन के अमूल्य समय को नष्ट कर देते हैं।

इन दोनों प्रकार के अनर्थों से बचने का एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञान के रहस्य को साथ-साथ समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है। इसीलिये इस मन्त्र में यह कहा गया है कि जो मनुष्य इन दोनों के तत्व को एक ही साथ भलीभांति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थिति के अनुरूप शास्त्रविहित कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तापन के अभिमान से तथा रागद्वेष और फलकामना से रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है। इससे उसकी जीवन यात्रा भी सुखपूर्वक चलती है और इस भाव से कर्मानुष्ठान करने के फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त दुर्गुणों एवं विकारों से रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है और भगवत्कृपा से वह मृत्युमय संसार से सहज ही तर जाता है। इस कर्म साधन

के साथ-ही-साथ विवेक-वैराग्य सम्पन्न होकर निरन्तर ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यास करते रहने से श्रीपरमेश्वर के यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर वह शीघ्र ही परब्रह्म परमेश्वर को साक्षात् प्राप्त कर लेता है।।११।।

सम्बन्ध–अब अगले तीन मन्त्रों में असम्भूति और सम्भूतिका तत्व बतलाया जायेगा। इस प्रकरण में 'असम्भूति' शब्द का अर्थ है–जिनकी पूर्णरूप से सत्ता न हो, ऐसी विनाशशील देव, पितर और मनुष्यादि योनियाँ एव उनकी भोग-सामग्रियाँ। इसीलिये चौदहवें मन्त्र में 'असम्भूति' के स्थान पर स्पष्टतया 'विनाश' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार सम्भूति शब्द का अर्थ है–जिसकी सत्ता पूर्णरूप से हो वह सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाला अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता ७/६-७)।

देव, पितर और मनुष्यादि की उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्म की किस प्रकार–इस तत्व को समझकर उनका अनुष्ठान करने वाले मनुष्य ही उनके सर्वोत्तम फलों को प्राप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस भाव को समझाने के लिये पहले, उन दोनों के यथार्थ स्वरूप को न समझकर अनुष्ठान करने वालों की दुर्गति का वर्णन करते हैं–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँरताः।।१२।।

ये=जो मनुष्य; **असम्भूतिम्**=विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदि की; **उपासते**= उपासना करते हैं; **(ते)**=वे; **अन्धम्**=अज्ञानरूप; **तमः**=घोर अन्धकार में; **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं; (और) **ये**=जो; **सम्भूत्याम्**=अविनाशी परमेश्वर में; **रताः**=रत हैं अर्थात् उनकी उपासना के मिथ्याभिमान में मत हैं; **ते**=वे; **ततः**=उनसे; **भूयः इव**=मानो अधिकतर; **तमः**=अन्धकार में (प्रवेश करते हैं)।।१२।।

व्याख्या–जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति, अधिकार आदि इस लोक और परलोक की भोग-सामग्रियों में आसक्त होकर उन्हीं को सुख का हेतु समझते हैं तथा उन्हीं के अर्जन-सेवन में सदा संलग्न रहते हैं एवं इन भोग-सामग्रियों की प्राप्ति, संरक्षण तथा वृद्धि के लिये उन विभिन्न देवता, पितर और मनुष्यादि की उपासना करते हैं, जो स्वयं जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए होने के कारण अभावग्रस्त और शरीर की दृष्टि से विनाशशील हैं, उनके उपासक वे भोगासक्त मनुष्य अपनी उपासना के फलस्वरूप विभिन्न देवताओं के लोकों को और विभिन्न भोग योनियों को प्राप्त होते हैं। यही उनका अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करना है। (गीता ७/२० से २३)

दूसरे जो मनुष्य शास्त्र के तात्पर्य को तथा भगवान् के दिव्य गुण, प्रभाव तत्व और रहस्य को न समझने के कारण न तो भगवान् का भजन-ध्यान ही करते हैं और न श्रद्धा का अभाव तथा भोगों में आसक्ति होने के कारण लोक सेवा और शास्त्रविहित देवोपसना में ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे वे विषयासक्त मनष्य झूठ-मूठ ही अपने को ईश्वरोपासक बतलाकर सरल हृदय जनता से अपनी पूजा कराने लगते हैं। ये लोक मिथ्याभिमान के कारण देवताओं को तुच्छ बतलाते हैं और शास्त्रानुसार अवश्यकर्तव्य देवपूजा तथा गुरुजनों का सम्मान-सत्कार करना भी छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं, दूसरों को भी अपने वाग्जाल में फँसाकर उनके मनों में भी देवोपासना आदि के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ये लोग अपने को ही ईश्वर के समकक्ष मानते-मनवाते हुए मनमाने दुराचारण में प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्यों को अपनु दुष्कर्मों का कुफल भोगने के लिये बाध्य होकर कूकर-शूकर आदि नीच योनियों में और रौरव-कुम्भीपाकादि नरकों में जाकर भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। यही उनका विनाशशील देवताओं की उपासना करने वालों की अपेक्षा भी अधिकतर घोर अन्धकार में प्रवेश करना है (गीता १६/१८/१९)।।१२।।

सम्बन्ध—शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य को समझकर सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करने से जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, अब संकेत से उसका वर्णन करते हैं—

अन्यदेवाहु सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१३।।

सम्भवात्=अविनाशी ब्रह्म की उपासना से; **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहुः**=बतलाते हैं; (और) **असम्भवात्**=विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदि की उपासना से; **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल; **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=उन) धीर पुरुषों के; **शुश्रुम**=वचन सुने हैं; **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस विषय को; **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था।।१३।।

व्याख्या—अविनाशी ब्रह्म की उपासना का यथार्थ स्वरूप है—परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वमय, सम्पूर्ण संसार के कर्ता, धर्ता, हर्ता, नित्य अविनाशी समझना और भक्ति, श्रद्धा तथा प्रेमपरिपूरित हृदय से नित्य-निरन्तर उनके दिव्य परम मधुर नाम, रूप, लीला, धाम तथा प्राकृत गुणरहित एवं दिव्य गुणगणमय सच्चिदानन्दघन स्वरूप का श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते रहना। इस प्रकार की सच्ची उपासना से उपासक को शीघ्र ही अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम की प्राप्ति हो जाती है (गीता ९/३४)। ईश्वरोपासना का मिथ्या स्वाँग भरने वाले दम्भियों को जो फल मिलता है, उससे इन सच्चे उपासकों को मिलने वाला

यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।

इसी प्रकार विनाशशील देवता, पितर, मनुष्य आदि की उपासना का यथार्थ स्वरूप है–शास्त्रों एवं श्रीभगवान् के आज्ञानुसार (गीता १७/१४) देवता, पितर, ब्राह्मण, माता-पिता, आचार्य और ज्ञानी महापुरुषों की सेवा-पूजादि अवश्य-कर्तव्य समझकर करना और उसको भगवान् की आज्ञा का पालन एवं उनकी परम सेवा समझना। इस प्रकार निष्काम भाव से देव-पितर-मनुष्य आदि की सेवा-पूजा करने वालों के अन्तःकरण की शुद्धि होती है तथा उनको श्रीभगवान् की कृपा एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिससे वे मृत्युमय संसार-सागर से तर जाते है। विनाशशील देवता आदि के सकाम उपासना से जो फल मिलता है, उससे यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।

इस प्रकार हमने उन धीर तत्वज्ञानी महापुरुषों से सुना है, जिन्होनें हमें यह विषय पृथक-पृथक-रूप से व्याख्या करके भलीभांति समझाया था।।१३।।

सम्बन्ध–अब उपर्युक्त प्रकार से सम्भूति और असम्भूति दोनों के तत्वों को एक साथ भलीभांति समझने का फल स्पष्ट बतलाते हैं–

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।१४।।

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**=उन दोनों को; (अर्थात्) **सम्भूतिम्**=अविनाशी परमेश्वर को; **च**=और, **विनाशम्**=विनाशशील देवादिकों; **च**=भी; **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **विनाशेन**=(वह) विनाशशील देवादिकी उपासना से; **मृत्युम्**=मृत्यु को; **तीर्त्वा**=पार करके; **सम्भूत्या**=अविनाशी परमेश्वर की उपासना से; **अमृतम्**=अमृत को; **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है।।१४।।

व्याख्या–जो मनुष्य यह समझ लेता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, सर्वाधिपति, सर्वात्मा और सर्वश्रेष्ठ है, वे परमेश्वर नित्य निर्गुण (प्राकृत गुणों से सर्वथा रहित) और नित्य सगुण (स्वरूपभूत दिव्य कल्याण-गुणगण-विभूषित) हैं और इसी के साथ जो यह समझ लेता है कि देवता, पितर, मनुष्य आदि जितनी भी योनियां तथा भोगसामग्रियां है, सभी विनाशशील, क्षण-भङ्गुर और जन्म-मृत्युशील होने के कारण महान् दुःख के कारण हैं, तथापि इनमें जो सत्ता-स्फूर्ति तथा शक्ति है, वह सभी भगवान् की है और भगवान् जगत चक्र के सुचारु रूप से चलते रहने के लिये भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनकी यथायोग्य सेवा-पूजा आदि करने की शास्त्रों ने आज्ञा दी है और शास्त्र भगवान् की ही वाणी हैं, वह मनुष्य

ऐहलौकिक तथा पारलौकिक देव-पितरादि लोगों के भोगों में आसक्त न होकर कामना-ममता आदि हृदय से निकालकर इन सबकी यथायोग्य शास्त्रविहित सेवा-पूजादि करता है। इससे उसकी जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चलती है और उसके आभ्यन्तरिक विकारों का नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं भगवत्कृपा से वह सहज ही मृत्युमय संसार- सागर से तर जाता है। विनाशशील देवता आदि की निष्काम उपासना के साथ-ही-साथ अविनाशी परात्पर प्रभु की उपासना से वह शीघ्र ही अमृतरूप परमेश्वर को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है।।१४।।

सम्बन्ध-श्रीपरमेश्वर की उपासना करने वाले को परमेश्वर की प्राप्ति होती है, यह कहा गया। अतः भगवान् भक्त को अन्तकाल में परमेश्वर से उनकी प्राप्ति के लिये किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये, इस जिज्ञासा पर कहते हैं-

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।।

पूषन्=हे सबका भरण-पोषण करने वाले परमेश्वर; **सत्यस्य**=सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वर का; **मुखम्**=श्रीमुख; **हिरणमयेन**=ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप; **पात्रेण**=पात्र से; **अपिहितम्**=ढका हुआ है; **सत्यधर्माय**=आपकी भक्तिरूप सत्यधर्म का अनुष्ठान करने वाले मुझको; **दृष्टये**=अपने दर्शन कराने के लिये; **तत्**=उस आवरण को; **त्वम्**=आप; **अपावृणु**=हटा लीजिये।।१५।।

व्याख्या-भक्त इस प्रकार प्रार्थना करें कि 'हे भगवन् आप अखिल ब्रह्माण्ड के पोषक हैं, आप से ही सबको पुष्टि प्राप्त होती है। आपकी भक्ति ही सत्यधर्म है और मैं उसमें लगा हुआ हूं; अतएव मेरी पुष्टि-मेरे मनोरथ की पूर्ति तो आप अवश्य ही करेंगे। आपका दिव्य श्रीमुख-सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय सूर्यमण्डल की चमचमाती हुई ज्योतिर्मयी यवनिका से आवृत है। मैं आपका निरावरण-प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ, अतएव आपके पास पहुंचकर निवारण दर्शन करने में बाधा देने वाले जितने भी, जो भी आवरण-प्रतिबन्धक हों, उन सबको मेरे लिये आप हटा लीजिये! अपने सच्चिदानन्दस्वरूप को प्रत्यख प्रकट कीजिये।।१५।।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।१६।।

पूषन=हे भक्तों का पोषण करने वाले; **एकर्षे**=हे मुख्य ज्ञानस्वरूप; **यम**=हे सबके नियन्ता; **सूर्य**=हे भक्तों या ज्ञानियों (सूरियों) के परम लक्ष्यरूप; **प्राजापत्य**=हे प्रजापति के प्रिय; **रश्मीन्**=इन रश्मियों को; **व्यूह**=एकत्र कीजिये या हटा लीजिये; **तेज**=इस तेज को; **समूह**=समेट लीजिये या अपने तेज में मिला लीजिये; **यत्**=जो;

ते=आपका; **कल्याणतमम्**=अतिशय कल्याणमय; **रूपम्**=दिव्य स्वरूप है; **तत्**=उस; **ते**=आपके दिव्य स्वरूप को; **पश्यामि**=मैं आपकी कृपा से ध्यान के द्वारा देख रहा हूं; **यः**=जो; **असौ**=वह (सूर्य का आत्मा) है; **असौ**=वह; **पुरुषः**=परम पुरुष (आपका ही स्वरूप है); **अहम्**=मैं (भी); **सः अस्मि**=वही हूँ।।१६।।

व्याख्या–भगवन्! आप अपनी सहज कृपा से भक्तों के भक्ति साधन में दृष्टि प्रदान करके उनका पोषण करने वाले हैं; आप समस्त ज्ञानियों में अग्रगण्य, परम ज्ञान-स्वरूप तथा अपने भक्तों को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्रदान करने वाले हैं (गीता १०/११); आप सबका यथायोग्य नियमन, नियन्त्रण और शासन करने वाले हैं, आप ही भक्तों या ज्ञानी महापुरुषों के लक्ष्य है और अविज्ञेय होने पर भी अपने भक्तवत्सल स्वभाव के कारण भक्ति के द्वारा उनके जानने में आ जाते हैं; आप प्रजापति के भी प्रिय है। हे प्रभो! इस सूर्यमण्डल की तप्त रश्मियों को एकत्र करके अपने में लुप्त कर लीजिये। इसके उग्र तेज को समेट कर अपने में मिला लीजिये और मुझे अपने दिव्यस्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन कराईये। अभी तो मैं आपकी कृपा से आपके सौन्दर्य-माधुर्यनिधि दिव्य परम कल्याणमय सच्चिदानन्दस्वरूप का ध्यान-दृष्टि से दर्शन कर रहा हूँ; साथ ही बुद्धि के द्वारा समझ भी रहा हूं कि जो आप परम पुरुष इस सूर्य के और समस्त विश्व के आत्मा हैं, वही मेरे भी आत्मा हैं; अतः मैं भी वही हूँ।।१६।।

सम्बन्ध–ध्यान के द्वारा भगवान् के दिव्य मङ्गलमय स्वरूप के दर्शन करता हुआ साधक अब भगवान् की साक्षात् सेवा में पहुंचने के लिये व्यग्र हो रहा है और शरीर का त्याग करते समय सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर के सर्वथा विघटन की भावना करता हुआ भगवान से प्रार्थना करता है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ् शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ्स्मर क्रतो स्मर कृतँ्स्मर।।१७।।

अथ=अब; **वायुः**=ये प्राण और इन्द्रियाँ; **अमृतम्**=अविनाशी; **अनिलम्**=समष्टि वायु-तत्त्व में; (**प्रविशतु**)=प्रविष्ट हो जायँ; **इदम्**=यह; **शरीरम्**=स्थूलशरीर; **भस्मान्तम्**=अग्नि में जलकर भस्मस्वरूप; (भूयात)=हो जाय; **ॐ**=हे सच्चिदानन्दघन; **क्रतो**=यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=द्धआप मुझ भक्त को) स्मरण करें; **कृतम्**=मेरे द्वारा किये हुए कर्मों का; **स्मर**=स्मरण करे; **क्रतो**=हे यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=आप मुझ भक्त को) स्मरण करें; **कृतम्**=मेरे) कर्मों को; **स्मर**=स्मरण करें।।१७।।

व्याख्या–परम धाम का यात्री वह साधक अपने प्राण, इन्द्रिय और शरीर को अपने से सर्वथा भिन्न समझकर उन सबको उनके अपने-अपने उपादान तत्व में सदा

के लिये विलीन करना एवं सूक्ष्म और स्थूल शरीर का सर्वथा विघटन करना चाहता है। इसलिये कहता है कि प्राणादि समष्टि वायु आदि में प्रविष्ट हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय। फिर वह अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीभगवान् से प्रार्थना करता है कि 'हे यज्ञमय विष्णु–सच्चिदानन्द विज्ञानस्वरूप परमेश्वर! आप अपने निज जन मुझको और मेरे कर्मों को स्मरण कीजिये। आप स्वभाव से ही मेरा और मेरे द्वारा बने हुए भक्ति रूप कर्यों का स्मरण करेंगे; क्योंकि आपने कहा है, '**अहं स्मरामि मद्भक्त नयामि परमां गतिम्**' मैं अपने भक्त का स्मरण करता हूं और उसे परम गति में पहुंचा देता हूं, अपनी सेवा में स्वीकार कर लेता हूं, क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ गति है।' इसी अभिप्राय से भक्त यहाँ दूसरी बार फिर कहता है कि 'भगवन्! आप मेरा और मेरे कर्मों का स्मरण कीजिये। अन्तकाल में आपकी स्मृति में आ गया तो फिर निश्चय ही आपकी सेवा में शीघ्र पहुंच जाऊंगा।

सम्बन्ध–इस प्रकार अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवन् से प्रार्थना करके अब साधक अपुनरावर्ती अर्चि आदि मार्ग के द्वारा परम धाम में जाते समय उस मार्ग के अग्नि-अभिमानी देवता से प्रार्थना करता है–

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥१८॥

अग्ने=हे अग्नि के अधिष्ठातृ देवता!; **अस्मान्**=हमें; **राये**=परम धनरूप परमेश्वर की सेवा में पहुंचाने के लिये; **सुपथा**=सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्ग से; **नय**=आप) ले चलिये; **देव**=हे देव; (आप हमारे) **विश्वानि**=सम्पूर्ण; **वयुनानि**=कर्मों को; **विद्वान्**=जानने वाले हैं; (अतः) **अस्मत्**=हमारे; **जुहुराणम्**=इस मार्ग के प्रतिबन्धक; **एनः**=जो) पाप हों (उन सबको); **युयोधि**=आप) दूर कर दीजिये; **ते**=आपको; **भूयिष्ठाम्**=बार-बार; **नमउक्तिम्**=नमस्कार के वचन; **विधेम**=हम) कहते हैं–बार-बार नमस्कार करते हैं॥१८॥

व्याख्या–साधक कहता है–हे अग्निदेवता! मैं अब अपने परम प्रभु भगवान् की सेवा में पहुँचना और सदा के लिये उन्हीं की सेवा में रहना चाहता हूँ। आप शीघ्र ही मुझे परम सुन्दर मङ्गलमय उत्तरायण मार्ग से भगवान् के परमधाम में पहुँचा दीजिये। आप मेरे कर्मों को जानते हैं। मैने जीवन में भगवान् की भक्ति की है और उनकी कृपा से इस समय भी मैं ध्यान नेत्रों से उनके दिव्य स्वरूप के दर्शन और उनके नामों का उच्चारण कर रहा हूं। तथापि आपके ध्यान में मेरा कोई ऐसा कर्म शेष हो, जो इस मार्ग में प्रतिबन्धक रूप हो, तो आप कृपा करके उसे नष्ट कर दीजिये। मैं आपको बार-बार विनयपूर्वक नमस्कार करता हूं॥१८॥

२. कठोपनिषद्

कठोपनिषद् यह कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत है। इसमें नचिकेता और यम के संवाद रूप में परमात्मा के रहस्यमय तत्त्व का बड़ा ही उपयोगी और विशद वर्णन है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ हैं।

प्रथम अध्याय

प्रथम वल्ली

ऊँ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥१॥

ऊँ=ऊँ इस सच्चिदानन्दघन परमात्मा के नाम का स्मरण करके उपनिषद् का आरम्भ करते हैं; **ह वै**=प्रसिद्ध है कि; **उशन्**=यज्ञ का फल चाहने वाले; **वाजश्रवसः**=वाजश्रवा के पुत्र (उद्दालक) ने; **सर्ववेदसम्**=(विश्वजित् यज्ञ में) अपना सारा धन; **ददौ**=द्धब्राह्माणों को) दे दिया; **तस्य**=उसका; **नचिकेता**=नचिकेता; **नाम ह**=नाम से प्रसिद्ध; **पुत्रः आस**=एक पुत्र था॥१॥

व्याख्या—ग्रन्थ के आरम्भ में परमात्मा का स्मरण मङ्गलकारक है, इसलिये यहां सर्वप्रथम 'ऊँ कार' का उच्चारण करके उपनिषद् का आरम्भ हुआ है। जिस समय भारतवर्ष का पवित्र आकाश यज्ञधूम और उसके पवित्र सौरभ से परिपूर्ण रहता था, त्यागमूर्ति ऋषि-महर्षियों के द्वारा गाये हुए वेदमन्त्रों की दिव्य ध्वनि से सभी दिशाएँ गूंजती रहती थीं, उसी समय का यह प्रसिद्ध इतिहास है। गौतमवंशीय वाजश्रवात्मज महर्षि अरूण के पुत्र अथवा अन्नके प्रचुर दान से महान् कीर्ति पाये हुए (वाज=अन्न, श्रव=उसके दान से प्राप्त यश) महर्षि अरूण के पुत्र उद्दालक ऋषि ने फलकी कामना से विश्वजित् नामक एक महान् यज्ञ किया। इस यज्ञ में सर्वस्व दान करना पड़ता है। अतएव उद्दालक ने अपना सारा धन ऋत्विजों ओर सदस्यों को दक्षिणा में दे दिया। उद्दालक जी के नचिकेता नाम से प्रसिद्ध एक पुत्र था॥१॥

तँ ह कुमारँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत॥२॥

दक्षिणासु नीयमानासु=(जिस समय ब्राह्मणों को) दक्षिणा के रूप में देने के लिये (गौएँ) लायी जा रही थीं, उस समय; **कुमारम्**=छोटा बालक; **सन्तम्**=होने पर भी; **तम् ह**=उस (नचिकेता) में; **श्रद्धा**=श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) का; **आविवेश**=आवेश हो गया (और); **सः**=(उन जराजीर्ण गायों को देखकर) वह; **अमन्यत**=विचार करने लगा॥२॥

व्याख्या–उस समय गो-धन ही प्रधान धन था और वाजश्रवस उद्दालक के धर में इस धन की प्रचुरता थी। होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता–ये चार प्रधान ऋत्विज होते हैं; ऐसा माना गया है कि इनको सबसे अधिक गौएँ दी जाती हैं। प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणांच्छसी और प्रस्तोता–इन चार गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की अपेक्षा आधी; अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र और प्रतिहर्ता–इन चार गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की चौथाई गौएँ दी जाती हैं। नियमानुसार जब इन सबको दक्षिणा के रूप में देने के लिये गौएँ लायी जा रही थीं, उस समय बालक नचिकेता ने उनको देख लिया। उनकी दयनीय दशा देखते ही उसके निर्मल अन्तःकरण में श्रद्धा–आस्तिकता ने प्रवेश किया और वह सोचने लगा–।।२।।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।।३।।

पीतोदकाः=जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं; **जग्धतृणाः**=जिनका घास खाना समाप्त हो गया है; **दुग्धदोहाः**=जिनका दूध (अन्तिम बार) दुह लिया गया है; **निरिन्द्रियाः**=जिनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो चुकी हैं; **ताः**=ऐसी (निरर्थक, मरणासन्न) गौओं को; **ददत्**=देने वाला' **सः**=वह दाता (तो); **ते लोकाः**=वे (शूकर-कूकरादि नीच योनियाँ और नरकादि) लोक; **अनन्दाः**=जो सब प्रकार के सुखों से शून्य; **नाम**=प्रसिद्ध हैं; **तान्**=उनको; **गच्छति**=प्राप्त होता है (अतः पिताजी को सावधान करना चाहिये)।।३।।

व्याख्या–पिताजी ये कैसी गौएँ दक्षिणा में दे रहे हैं। अब इनमें न तो झुककर जल पीने की शक्ति रही है, न इनके मुख में घास चबाने के लिये दांत ही रह गये हैं और न इनके स्तनों में तनिक-सा दूध ही बचा है। अधिक क्या, इनकी तो इन्द्रियाँ भी निश्चेष्ट हो चुकी है–इनमें गर्भधारण करने तक की भी सामर्थ्य नही है! भला, ऐसी निरर्थक और मृत्यु के समीप पहुंची गई गौएँ जिन ब्राह्मणों के घर जायेगी, उनको दुःख के सिवा ये और क्या देंगी? दान तो उसी वस्तु का करना चाहिये, जो अपने को सुख देने वाली हो, प्रिय हो और उपयोगी हो तथा वह जिनको दी जाय, उन्हें भी सुख और लाभ पहुंचाने वाली हो। दुःखदायिनी अनुपयोगी वस्तुओं को दान के नाम पर देना तो दान के व्याज से अपनी विपद् टालना है और दान ग्रहण करने वालों को धाखा देना है। इस प्रकार के दान से दाता को वे नीच योनियां और नरकादि लोक मिलते है, जिनमें सुख का कहीं लेश भी नहीं है। पिताजी इस दान से क्या सुख पायेंगे? यह तो यज्ञ में वैगुण्य है, जो इन्होंने सर्वस्व-दानरूपी यज्ञ करके भी उपयोगी गौओं को मेरे नाम पर रख लिया है, और सर्वस्व में तो मैं भी हूँ, मुझको तो इन्होंने

दाने में दिया नहीं। पर मैं इनका पुत्र हूं, अतएव मैं पिताजी को इस अनिष्टकारी परिणाम से बचाने के लिये अपना बलिदान कर दूंगा। यही मेरा धर्म है।।३।।

स होवाच पितरं तात कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं तँ् होवाच, मृत्यवे त्वा ददामीति।।४।।

सः ह=यह सोचकर वह; **पितरम्**=अपने पिता से; **उवाच**=बोला कि; **तत (तात)**=हे प्यारे पिताजी! आप; **माम्**=मुझे; **कस्मै**=किसको; **दास्यसि इति**=देंगे?; (उत्तर न मिलने पर उसने वही बात) **द्वितीयम्**=दोबारा; **तृतीयम्**=तिबारा (कही); **तम् ह**=(तब पिता ने) **उवाच**=(क्रोधपूर्वक इस प्रकार) कहा; **त्वा**=तुझे (मैं); **मृत्युवे**=मृत्यु को; **ददामि इति**=देता हूँ।।४।।

व्याख्या–यह निश्चय करके उसने अपने पिता से कहा–'पिताजी! मैं भी तो आपका धन हूँ, आप मुझे किसको देते हैं?' पिता ने कोई उत्तर नहीं दिया; तब नचिकेता ने फिर कहा–'पिताजी! मुझे किसको देते हैं?; पिता ने इस बार भी उपेक्षा की। पर धर्मभीरू और पुत्र का कर्तव्य ज़ानने वाले नचिकेता से नहीं रहा गया। उसने तीसरी बार फिर वही कहा–'पिताजी! आप मुझे किसको देते हैं?' अब ऋषि को क्रोध आ गया और उन्होंने आवेश में आकर कहा–'तुझे देता हूँ मृत्यु को!'।।४।।

सम्बन्ध–यह सुनकर नचिकेता मन-ही-मन विचारने लगा कि–

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किँस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति।।५।।

बहूनाम=मैं बहुत-से शिष्यों में तो; **प्रथमः**=प्रथम श्रेणी के आचरण पर; **एमि**=चलता आया हूं (और); **बहूनाम्**=बहुतों में; **मध्यम**=मध्यम श्रेणी के आचार पर; **एमि**=चलता हूं (कभी भी नीची श्रेणी के आचरण को मैंने नहीं अपनाया फिर पिताजी ने ऐसा क्यों कहा!); **यमस्य**=यम का; **किम् स्वित् कर्तव्यम्**=ऐसा कौन सा कार्य हो सकता है; **यत् अद्य**=जिसे आज; **मया**=मेरे द्वारा (मुझे देकर); **करिष्यति**=(पिताजी) पूरा करेंगे।।५।।

व्याख्या–शिष्यों और पुत्रों की तीन श्रेणियां होती हैं–उत्तम, मध्यम, और अधम। जो गुरु या पिता का मनोरथ समझकर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा किये बिना ही उनकी रूचि के अनुसार कार्य करने लगते हैं, वे उत्तम हैं। जो आज्ञा पाने पर कार्य करते है, वे मध्यम हैं और जो मनोरथ जाने लेने और स्पष्ट आदेश सुन लेने पर भी तदनुसार कार्य नहीं करते, वे अधम हैं। मैं बहुत-से शिष्यों में तो प्रथम श्रेणी का हूँ, प्रथम श्रेणी के आचरण पर चलने वाला हूँ, क्योंकि उनसे पहले ही मनोरथ समझकर

कार्य कर देता हूँ, बहुत-से शिष्यों से मध्यम श्रेणी का भी हूँ, मध्यम श्रेणी के आचार पर भी चलता आया हूँ, परंतु अधम श्रेणी का तो हूँ ही नहीं। आज्ञा मिलने और सेवा न करूँ, ऐसा तो मैंने कभी किया ही नहीं। फिर, पता नहीं, पिताजी ने मुझे ऐसा क्यों कहा? मृत्यु देवता का भी ऐसा कौन-सा प्रयोजन है, जिसको पिताजी आज मुझे उनको देकर पूरा करना चाहते हैं।।५।।

सम्बन्ध–सम्भव है, पिताजी ने क्रोध के आवेश में ही ऐसा कह दिया जो; परंतु जो कुछ भी हो, पिताजी का वचन तो सत्य करना ही है। इधर ऐसा दीख रहा है कि पिताजी अब पश्चाताप कर रहे हैं, अतएव उन्हें सांत्वना देना ही आवश्यक है। यह विचारकर नचिकेता एकान्त में पिता के पास जाकर उनकी शोकनिवृति के लिये इस प्रकार आश्वासनपूर्ण वचन बोला

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।।६ ।।

पूर्वे=आपके पूर्वज पितामह आदि; **यथा**=जिस प्रकार का आचरण करते आये हैं; **अनुपश्य**=उस पर विचार कीजिये (और); **अपरे**=(वर्तमान में भी) दूसरे श्रेष्ठ लोक; **यथा**=जैसा आचरण कर रहे हैं; **तथा प्रतिपश्य**=उसपर भी दृष्टिपात कर लीजिये (फिर आप अपने कर्तव्य का निश्चय कीजिये); **मर्त्यः**=(यह) मरणधर्मा मनुष्य; **सस्यम् इव**=अनाज की तरह; **पच्यते**=पकता है अर्थात् जराजीर्ण होकर मर जाता है (तथा); **सस्यम् इव**=अनाज की भांति ही; **पुनः**=फिर; **आजायते**=उत्पन्न हो जाता है।।६।।

व्याख्या–पिताजी! अपने पितामहादि पूर्वजों का आचरण देखिये ओर इस समय के दूसरे श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण देखिये। उनके चरित्र में न कभी पहले असत्य था, न अब है। असाधु मनुष्य ही असत्य का आचरण किया करते हैं; परंतु उस असत्य से कोई अजर-अमर नहीं हो सकता। मनुष्य मरणधर्मा है। यह अनाज की भांति जरा-जीर्ण होकर मर जाता है और अनाज की भांति ही कर्मवश पुनः जन्म ले लेता है।।६।।

सम्बन्ध–अतएव इस अनित्य जीवन के लिये मनुष्य को कभी कर्तव्य का त्याग करके मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिये। आप शोक का त्याग कीजिये और अपने सत्य का पालन कर मुझे मृत्यु (यमराज) के पास जाने की अनुमति दीजिये। पुत्र के वचन सुनकर उद्दालक को दुःख हुआ; परंतु नचिकेता की सत्यपरायणता देखकर उन्होंने उसे यमराज के पास भेज दिया। नचिकेता को यमसदन पहुंचने पर पता लगा कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं; अतएव नचिकेता तीन दिनों तक अन्न,

जल ग्रहण किये बिना ही यमराज की प्रतीक्षा करता रहा। यमराज के लौटने पर उनकी पत्नी ने कहा–

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताँ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्।।७।।

वैवस्वत=हे सूर्यपुत्र; **वैश्वानरः**=स्वयं अग्निदेवता (ही); **ब्राह्मणः अतिथिः**=ब्राह्मण अतिथि के रूप में; **गृहान्**=(गृहस्थ के) घरों में; **प्रविशति**=प्रवेश करते हैं; **तस्य**=उनकी; (साधु पुरुष) **एताम्**=ऐसी (अर्थात् अर्घ्य-पाद्य-आसन आदि के द्वारा); **शान्तिम्**=शान्ति; **कुर्वन्ति**=किया करते हैं; (अतः आप) **उदकम् हर**=(उनके पाद-प्रक्षालनादि के लिये) जल ले जाइये।।७।।

व्याख्या–साक्षात् अग्नि ही मानो तेज से प्रज्वलित होकर ब्राह्मण अतिथि के रूप में गृहस्थ के घर पर पधारते हैं। साधुहृदय गृहस्थ अपने कल्याण के लिये उस अतिथि रूप अग्नि को शान्त करने के लिये उसे जल (पाद्य-अर्घ्य आदि) दिया करते हैं; अतएव हे सूर्यपुत्र! आप उस ब्राह्मण बालक के पैर धोने के लिये तुरंत जल ले जाइये। भाव यह कि वह अतिथि लगातार तीन दिनों से आपकी प्रतीक्षा में अनशन किये बैठा है; आप स्वयं उसकी सेवा करेंगे, तभी वह शान्त होगा।।७।।

आशाप्रतीक्षे संगतँ सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।।८।।

यस्य=जिसके; **गृहे**=घर में; **ब्राह्मण**=ब्राह्मण अतिथि; **अनश्नन्**=बिना भोजन किये; **वसति**=निवास करता है; **तस्य**=उस; **अल्पमेधसः**=मन्दबुद्धि; **पुरुषस्य**=मनुष्य की; **आशाप्रतीक्षे**=नाना प्रकार की आशा और प्रतीक्षा; **संगतम्**=उनकी पूर्ति से होने वाले सब प्रकार के सुख; **सूनृताम् च**=सुन्दर भाषण के फल एवं, **इष्टापूर्ते च**=यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मों के और कुआँ, बगीचा, तालाब आदि निर्माण कराने के फल तथा; **सर्वान् पुत्रपशून्**=समस्त पुत्र और पशुः; **एतद् वृङ्क्ते**=इन सबको (वह) नष्ट कर देता है।।८।।

व्याख्या–जिसके घर पर अतिथि ब्राह्मण भूखा बैठा रहता है, उस मन्दबुद्धि मनुष्य को न तो वे इच्छित पदार्थ मिलते हैं, जिनके मिलने की उसे पूरी आशा थी, न वे ही पदार्थ मिलते हैं, जिनके मिलने का निश्चय था और वह बाट ही देख रहा था; कभी कोई पदार्थ मिल भी गया तो उससे सुख की प्राप्ति नहीं होती। उसकी वाणी में से सौन्दर्य, सत्य ओर माधुर्य निकल जाते हैं; अतः सुन्दर वाणी से प्राप्त होने वाला सुख भी उसे नहीं मिलता; उसके यज्ञदानादि इष्ट कर्म और कूप, तालाब, धर्मशाला आदि के निर्माणरूप पूर्तकर्म एवं उनके फल नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं,

अतिथि का असत्कार उसके पूर्वपुण्य से प्राप्त पुत्र और पशु आदि धन को नष्ट कर देता है॥८॥

सम्बन्ध—पत्नी के वचन सुनकर धर्ममूर्ति यमराज तुरंत नचिकेता के पास गये और पाद्य-अर्घ्य आदि के द्वारा विधिवत् उसकी पूजा करके कहने लगे—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥९॥

ब्रह्मन्=हे ब्राह्मणदेवता; **नमस्यः अतिथिः**=आप नमस्कार करने योग्य अतिथि हैं; **ते**=आपको; **नमः अस्तु**=नमस्कार हो; **ब्रह्मन्**=हे ब्राह्मण; **मे स्वस्ति**=मेरा कल्याण; **अस्तु**=हो; **यत्**=(आपने) जो; **तिस्रः**=तीन; **रात्रीः**=रात्रियोंतक; **मे**=मेरे; **गृहे**=घर पर; **अनश्नन्**=बिना भोजन किये; **अवात्सी**=निवास किया है; **तस्मात्**=इसलिये आप (मुझसे); **प्रति**=प्रत्येक रात्रि के बदले (एक-एक करके); **त्रीन् वरान्**=तीन वरदान; **वृणीष्व**=मांग लीजिये॥९॥

व्याख्या—ब्राह्मणदेवता! आप नमस्कारादि सत्कार के योग्य मेरे माननीय अतिथि हैं; कहाँ तो मुझे चाहिये था कि 'मैं आपका यथायोग्य पूजन-सेवन करके आपको संतुष्ट करता और कहाँ मेरे प्रमाद से आप लगातार तीन रात्रियों से भूखे बैठे हैं। मुझसे यह बड़ा अपराध हो गया है। आपको नमस्कार है। भगवन्! इस मेरे दोष की निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो। आप प्रत्येक रात्रि के बदले एक-एक करके मुझसे अपनी इच्छा के अनुरूप तीन वर मांग लीजिये'॥९॥

सम्बन्ध—तपोमूर्ति अतिथि ब्राह्मण-बालक के अनशन से भयभीत होकर धर्मज्ञ यमराज ने जब इस प्रकार कहा, तब पिता को सुख पहुंचाने की इच्छा से नचिकेता बोला—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गोतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥१०॥

मृत्यो=हे मृत्युदेव; **यथा**=जिस प्रकार; **गौतमः**=(मेरे पिता) गौतमवंशीय उद्दालक; **मा अभि**=मेरे प्रति; **शान्तसंकल्प**=शान्त संकल्पवाले; **सुमनाः**=प्रसन्नचित (और); **वीतमन्युः**=क्रोध एवं खेद से रहित; **स्यात्**=हो जायँ (तथा); **त्वत्प्रसृष्टम्**=आपके द्वारा वापस भेजा जाने पर जब मैं उनके पास जाऊँ तो; **मा प्रतीतः**=वे मुझपर विश्वास करके (यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, ऐसा भाव रखकर); **अभिवदेत्**=मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत करें; **एतत्**=यह, (मैं) **त्रयाणाम्**=अपने तीनों वरों में से; **प्रथमम् वरम्**=पहला वर; **वृणे**=मांगता हूँ॥१०॥

व्याख्या–मृत्युदेव! तीन वरों में से मैं प्रथम वर यही मांगता हूँ कि मेरे गौतमवंशीय पिता उद्दालक, जो क्रोध के आवेश में मुझे आपके पास भेजकर अब अशान्त और दुःखी हो रहे हैं, मेरे प्रति क्रोधरहित, शान्तचित्त और सर्वथा संतुष्ट हो जायँ तथा आपके द्वारा अनुमति पाकर जब मैं घर जाऊँ, तब वे मुझे अपने पुत्र नचिकेता के रूप में पहचानकर मेरे साथ पूर्ववत् बड़े स्नेह से बातचीत करें।।१०।।

सम्बन्ध–यमराज ने कहा–

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्।।११।।

त्वाम्=तुमको; **मृत्युमुखात्**=मृत्यु के मुख से; **प्रमुक्तम्**=छूटा हुआ; **दद्रशिवान्**=देखकर, **मत्प्रसृष्टः**=मुझसे प्रेरित; **आरूणिः**=(तुम्हारे पिता) अरुण-पुत्र; **औद्दालिकः**=उद्दालक; **यथा पुरस्तात्**=पहले की भाँति ही; **प्रतीतः**=यह मेरा पुत्र नचिकेता ही है, ऐसा विश्वास करके; **वीतमन्युः**=दुःख और क्रोध से रहित; **भविता**=हो जायँगें; **रात्रीः**=(और वे अपनी आयु की शेष) रात्रियों में; **सुखम्**=सुखपूर्वक; **शयिता**=शयन करेंगे।।११।।

व्याख्या–तुमको मृत्यु के मुख से छूटकर घर लौटा हुआ देखकर मेरी प्रेरणा से तुम्हारे पिता अरुण पुत्र उद्दालक बड़े प्रसन्न होंगे, तुमको अपने पुत्र रूप में पहचानकर तुमसे पूर्ववत् प्रेम करेंगे तथा उनका दुःख और क्रोध सर्वथा शान्त हो जायेगा। तुम्हें पाकर अब वे जीवनभर सुख की नींद सोयेंगे।।११।।

सम्बन्ध–इस वरदान को पाकर नचिकेता बोला, हे यमराज!

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।१२।।

स्वर्गे लोके=स्वर्ग लोक में; **किंचन भयम्**=किंचिन्मात्र भी भय; **न अस्ति**=नहीं है; **तत्र त्वम्**=वहाँ मृत्यु रूप स्वयं आप भी नहीं है; **जरया नं बिभेति**=वहाँ कोई बुढ़ापे से भी भय नहीं करता; **उभे तीर्त्वा**=इन दोनों से पार होकर; **शोकातिगः**=दुःखों से दूर रहकर; **मोदते**=आनन्द भोगते हैं।१२।।

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण।।१३।।

मृत्यो=हे मृत्युदेव; **सः त्वम्**=वे आप; **स्वर्ग्यम् अग्निम्**=उपर्युक्त स्वर्ग की प्राप्ति के साधनरूप अग्नि को; **अध्येषि**=जानते हैं (अतः); **त्वम्**=आप; **मह्यम्**=मुझ; **श्रद्दधानाय**=श्रद्धालु को (वह अग्निविद्या); **प्रब्रूहि**=भलीभाँति समझाकर कहिये;

स्वर्गलोकाः=स्वर्गलोक के निवासी; **अमृतत्वम्**=अमरत्व को; **भजन्ते**=प्राप्त होते हैं (इसलिये); **एतत्**=यह (मैं); **द्वितीयेन वरेण**=दूसरे वर के रूप में; **वृणे**=माँगता हूँ।।१३।।

व्याख्या—मैं जानता हूं कि स्वर्गलोक बड़ा सुखकर है, वहाँ किसी प्रकार का भी भय नहीं है। स्वर्ग में न तो कोई वृद्धावस्था को प्राप्त होता है और न जैसे मर्त्यलोक में आप (मृत्यु) के द्वारा लोग मारे जाते हैं वैसे कोई मारा ही जाता है। वहाँ मृत्युकालीन संकट नही है। यहाँ जैसे प्रत्येक प्राणी भूख और प्यास दोनों की ज्वाला से जलते हैं; वैसे वहाँ नही जलना पड़ता। वहाँ के निवासी शोक से तरकर सदा आनन्द भोगते हैं; परंतु वह स्वर्ग अग्निविज्ञान को जाने बिना नहीं मिलता। हे मृत्युदेव! आप उस स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को यथार्थ रूप से जानते हैं। मेरी उस अग्निविद्या में और आपमें श्रद्धा है, श्रद्धावान तत्त्व का अधिकारी होता है; अतः आप कृपया मुझको उस अग्निविद्या का उपदेश कीजिये, जिसे जानकर लोकर स्वर्गलोक में रहकर अमृतत्व को—देवत्त्व को प्राप्त होते हैं। यह मैं आपसे दूसरा वर मांगता हूँ।।१२.१३।।

सम्बन्ध—तब यमराज बोले

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।।

नचिकेतः=हे नचिकेता; **स्वर्ग्यम अग्निम्**=स्वर्गदायिनी अग्निविद्या को; **प्रजानन्**=अच्छी तरह जाननेवाला मैं; **ते प्रब्रवीमि**=तुम्हारे लिये उसे भलीभाँति बतलाता हूँ, **तत् उ मे निबोध**=(तुम) उसे मुझसे भलीभाँति समझ लो; **त्वम् एतम्**=तुम इस विद्या को; **अनन्तलोकाप्तिम्**=अविनाशी लोक की प्राप्ति कराने वाली, **प्रतिष्ठाम्**=उसकी आधारस्वरूपा; **अथो**=और; **गुहायाम् निहितम्**=बुद्धिरूप गुफा में छिपी हुई; **विद्धि**=समझो।।१४।।

व्याख्या—नचिकेता् मैं उस स्वर्ग की साधनरूपा अग्निविद्या को भलीभाँति जानता हूँ और तुमको यथार्थरूप से बतलाता हूँ। तुम इसको अच्छी तरह से सुनो। यह अग्निविद्या अनन्त—विनाशरहित लोक की प्राप्ति कराने वाली है और उसकी आधारस्वरूपा है। पर तुम ऐसा समझो कि यह है अत्यन्त गुप्त। विद्वानों की बुद्धिरूप गुफा में छिपी रहती है।।१४।।

सम्बन्ध—इतना कहकर यमराज ने—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः।।१५।।

तम् लोकादिम्=उस स्वर्गलोक की कारणरूपा; **अग्निम्**=अग्नि विद्या का; **तस्मै उवाच**=उस नचिकेता को उपदेश दिया; **याः वा यावतीः**=उसमें कुण्ड-निर्माण आदि के लिये जो-जो और जितनी; **इष्टकाः**=ईटें आदि आवश्यक होती हैं; **वा यथा**=तथा जिस प्रकार उनका चयन किया जाता है (वे सब बातें भी बतायीं); **च सः अपि**=तथा उस नचिकेता ने भी; **तत् यथोक्तम्**=वह जैसा सुना था, ठीक उसी प्रकार समझकर; **प्रत्यवदत्**=यमराज को पुनः सुना दिया; **अथ**=उसके बाद; **मृत्युः अस्य तुष्ट**=यमराज उस पर संतुष्ट होकर, **पुनः एव आह**=फिर बोले-।।१५।।

व्याख्या-उपर्युक्त प्रकार से अग्निविद्या की महता और गोपनीयता बतलाकर यमराज ने स्वर्गलोक की कारणरूपा अग्निविद्या का रहस्य नचिकेता को समझाया। अग्नि के लिये कुण्ड-निर्माणादि में किस आकार की, कैसी और कितनी ईटें चाहिये एवं अग्नि का चयन किस प्रकार किया जाना चाहिये-यह सब भलीभाँति समझाया। तदनन्तर नचिकेता की बुद्धि तथा स्मृति की परीक्षा के लिये यमराज ने नचिकेता से पूछा कि तुमने जो कुछ समझा हो, वह मुझे सुनाओं। तीक्ष्णबुद्धि नचिकेता ने सुनकर जैसा यथार्थ समझा था, सब ज्यों-का-ज्यों सुना दिया। यमराज उसकी विलक्षण स्मृति और प्रतिभा को देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले।।१५।।

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाग्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण।।१६।।

प्रीयमाणः=(उसकी अलौकिक बुद्धि देखकर) प्रसन्न हुए; **महात्मा**=महात्मा यमराज; **तम्**=उस नचिकेता से; **अब्रवीत्**=बोले; **अद्य**=अब मैं; **तव**=तुमको; **इह**=यहाँ; **भूयःवरम्**=पुनः यह (अतिरिक्त) वर; **ददामि**=देता हूँ कि; **अयम् अग्निः**=यह अग्निविद्या; **तव एव नाम्ना**=तुम्हारे ही नाम से; **भविता**=प्रसिद्ध होगी; **च इमाम्**=तथा इस; **अनेकरूपाम् सृङ्कां**=अनेक रूपों वाली रत्नों की माला को भी; **गृहाण**=तुम स्वीकार करों।।१६।।

व्याख्या-महात्मा यमराज ने प्रसन्न होकर नचिकेता से कहा-'तुम्हारी अप्रतिम योग्यता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, इससे अब मैं तुम्हें एक वर और तुम्हारे बिना माँगे ही देता हूँ। वह यह कि यह अग्नि, जिसका मैंने तुमको उपदेश किया है, तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगी। और साथ ही यह लो, मैं तुम्हें तुम्हारे देवत्त्व की सिद्धि के लिये यह अनेक रूपों वाली विविध यज्ञ-विज्ञानरूपी रत्नों की माला देता हूँ। इसे स्वीकार करों।१६।।

सम्बन्ध-उस अग्निविद्या का फल बतलाते हुए यमराज कहते हैं-

त्रिणाचिकेतस्त्रिरभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीडयं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति॥ १७॥

त्रिणाचिकेतः=इस (अग्नि का शास्त्रोक्त रीति से) तीन बार अनुष्ठान करने वाला; **त्रिभिः संधिम् एत्य**=तीनों (ऋक्, साम, यजुर्वेद) के साथ सम्बन्ध जोड़कर; **त्रिकर्मकृत्**=यज्ञ, दान और तपरूप तीनों कर्मों को निष्काम भाव से करता रहने वाला मनुष्य; **जन्ममृत्यू तरति**=जन्म-मृत्यु से तर जाता है; **ब्रह्मजज्ञम्**=(वह) ब्रह्मा से उत्पन्न सृष्टि के जानने वाले; **ईडयम् देवम्**=स्तवनीय इस अग्निदेव को; **विदित्वा**=जानकर तथा; **निचाय्य**=इसका निष्कामभाव से चयन करके; **इमाम् अत्यन्तम् शान्तिम् एति**=इस अनन्त शान्ति को पा जाता है (जो मुझको प्राप्त है)॥१७॥

व्याख्या–इस अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करने वाला पुरुष ऋक्, यजुः, साम–तीनों वेदों से सम्बन्ध जोड़कर तीनों वेदों के तत्त्व-रहस्य में निष्णात होकर, निष्काम भाव से यज्ञ, दान और तपरूप तीनों कर्मों को करता हुआ जन्म-मृत्यु से तर जाता है। वह ब्रह्मा से उत्पन्न सृष्टि को जानने वाले स्तवनीय इस अग्निदेव को भलीभाँति जानकर इसका निष्काम भाव से चयन करके उस अनन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है, जो मुझको प्राप्त है॥१७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥१८॥

एतत् त्रयम्=ईटों के स्वरूप, संख्या और अग्नि-चयन-विधि–इन तीनों बातों को; **विदित्वा**=जानकर; **त्रिणाचिकेतः**=तीन बार नाचिकेत अग्निविद्या का अनुष्ठान करने वाला तथा; **यः एवम्**=जो कोई भी इस प्रकार; **विद्वान्**=जानने वाला पुरुष; **नाचिकेतम्**=इस नाचिकेत अग्नि का; **चिनुते**=चयन करता है; **सः मृत्युपाशान्**=वह मृत्यु के पाश को; **पुरतः प्रणोद्य**=अपने सामने ही (मनुष्य-शरीर में ही) काटकर; **शोकातिग**=शोक से पार होकर; **स्वर्गलोके मोदते**=स्वर्गलोक में आनन्द का अनुभव करता है ॥१८॥

व्याख्या–किस आकार की कैसी ईटें हो और कितनी संख्या में हो एवं किस प्रकार से अग्नि का चयन किया जाय–इन तीनों बातों को जानकर जो विद्वान् तीन बार नाचिकेत अग्निविद्या का निष्काम भाव से अनुष्ठान करता है–अग्नि का चयन करता है, वह देहपात से पहले ही (जन्म) मृत्यु के पाश को तोड़कर शोकरहित होकर अन्त में स्वर्गलोक के (अविनाशी ऊर्ध्वलोक के) आनन्द का अनुभव करता हैं।१८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥१९॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **एषः ते**=यह तुम्हें बतलायी हुई; **स्वर्ग्यः अग्निः**=स्वर्ग प्रदान करने वाली अग्निविद्या है; **यम् द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः**=जिसको तुमने दूसरे वर से मांगा था; **एतम अग्निम्**=इस अग्नि को (अब से); **जनासः**=लोग; **तव एव**=तुम्हारे ही नाम से; **प्रवक्ष्यन्ति**=कहा करेंगे; **नचिकेतः**=हे नचिकेता; **तृतीयम् वरम् वृणीष्व**=(अब तुम) तीसरा वर मांगो।।१९।।

व्याख्या–यमराज कहते हैं–नचिकेता! तुम्हें यह उसी स्वर्ग की साधनरूपा अग्निविद्या का उपदेश दिया गया है, जिसके लिये तुमने दूसरे वर में याचना की थी। अब से लोग तुम्हारे ही नाम से इस अग्नि को पुकारा करेंगे। नचिकेता! अब तुम तीसरा वर माँगो।।१९।।

समबन्ध–नचिकेता तीसरा वर मांगता है

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥२०॥

प्रेते मनुष्ये=मरे हुए मनुष्य के विषय में; **या इयम्**=जो यह; **विचिकित्सा**=संशय है; **एके (आहुः) अयम् अस्ति इति**=कोई तो यों कहते हैं कि मरने के बाद यह आत्मा रहता है; **च एके (आहुः) न अस्ति इति**=और कोई ऐसा कहते हैं कि नहीं रहता; **त्वया अनुशिष्टः**=आपके द्वारा उपदेश पाया हुआ; **अहम् एतत् विद्याम्**=मैं इसका निर्णय भलीभाँति समझ लूँ; **एषः वराणाम्**=यह तीनों वरों में से; **तृतीयः वरः**=तीसरा वर है।।२०।।

व्याख्या–इस लोक के कल्याण के लिये पिता की संतुष्टि का वर और परलोक के लिये स्वर्ग के साधनरूप अग्निविज्ञान का वर प्राप्त करके अब नचिकेता आत्मा के यथार्थ स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय जानने के लिये यमराज के सामने दूसरे लोगों के दो मत उपस्थित करके उस पर उनका अनुभूत विचार सुनना चाहता है। इसलिये नचिकेता कहता है कि भगवन्! मृत मनुष्य के सम्बन्ध में यह एक बड़ा संदेह फैला हुआ है। कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं, कि नही रहता। इस विषय में आपका जो अनुभव हो, वह मुझे बतलाइये। आपके द्वारा उपदेश पाकर मैं इस रहस्य को भलीभाँति समझ लूँ। बस, तीनों वरों में से यही मेरा अभीष्ट तीसरा वर है।।२०।।

सम्बन्ध–नचिकेता का महत्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराज ने मन-ही-मन उसकी

प्रशंसा की। सोचा कि ऋषिकुमार बालक होने पर भी बड़ा प्रतिभाशाली है, कैसे गोपनीय विषय को जानना चाहता है; परंतु आत्मतत्त्व उपयुक्त अधिकारी को ही बतलाना चाहिये। अनधिकारी के प्रति आत्मतत्त्व का उपदेश करना हानिकर होता है, अतएव पहले पात्र-परीक्षा की आवश्यकता है—यों विचारकर यमराज ने इस तत्त्व की कठिनता का वर्णन करके नचिकेता को टालना चाहा और कहा

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥२१॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **अत्र पुरा**=इस विषय में पहले; **देवैः अपि**=देवताओं ने भी; **विचिकित्सितम्**=संदेह किया था (परंतु उनकी भी समझ में नहीं आया); **हि एषः धर्मः अणु**=क्योंकि यह विषय बड़ा सूक्ष्म है; **न सुविज्ञेयम्**=सहज ही समझ में आने वाला नहीं है (इसलिये); **अन्यम् वरम् वृणीष्व**=तुम दूसरा वर माँग लो; **मा मा उपरोत्सीः**=मुझपर दबाव मत डालो; **एनम् मा**=इस आत्मज्ञान सम्बन्धी वर को मुझे; **अतिसृज**=लौटा दो॥२१॥

व्याख्या—नचिकेता! यह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। इसका समझना सहज नहीं हैं। पहले देवताओं को भी इस विषय में संदेह हुआ था। उनमें भी बहुत विचार-विनिमय हुआ था; परंतु वे भी इसको जान नहीं पाये अतएव तुम दूसरा वर मांग लो। मैं तुम्हें तीन वर देने का वचन दे चुका हूँ, अतएव तुम्हारा ऋणी हुं; पर तुम इस वर के लिये, जैसे महाजन ऋणी को दबाता है वैसे मुझको मत दबाओ। इस आत्मतत्त्वविषयक वर को मुझे लौटा दो। इसको मेरे लिये छोड़ दो॥२१॥

सम्बन्ध—नचिकेता आत्मतत्त्व की कठिनता की बात सुनकर तनिक भी घबराया नहीं, न उसका उत्साह ही मन्द हुआ; वरं उसने और भी दृढ़ता के साथ कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥२२॥

मृत्यो=हे यमराज; **त्वम् यत् आत्थ**=आपने जो यह कहा कि; **अत्र किल देवैः अपि**=सचमुच इस विषय पर देवताओं ने भी; **विचिकित्सितम्**=विचार किया था (परंतु वे निर्णय नहीं कर पाये); **च न सुविज्ञेयम्**=और यह सुविज्ञेय भी नहीं है (इतना ही नहीं); **च**=इसके सिवा; **अस्य वक्ता**=इस विषय का कहने वाला भी; **त्वादृक्**=आपके-जैसा; **अन्यः न लभ्यः**=दूसरा नहीं मिल सकता; **(अतः)**=इसलिये मेरी समझ में तो; **एतस्य तुल्यः**=इसके सामान; **अन्यः कश्चित्**=दूसरा कोई भी; **वरः न**=वर नहीं है॥२२॥

व्याख्या–हे मृत्यो! आप जो यह कहते हैं कि पूर्वकाल में देवताओं ने भी जब इस विषय पर विचार-विनिमय किया था तथा वे भी इसे जान नहीं पाये थे और यह विषय सहज नहीं है, बड़ा ही सूक्ष्म है; तब यह तो सिद्ध ही है कि यह बड़े ही महत्त्व का विषय है और ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय को समझाने वाला आपके समान अनुभवी वक्ता मुझे ढूँढने पर भी दूसरा कोई मिल नहीं सकता। आप कहते हैं इसे छोड़कर दूसरा वर माँग लो। परंतु मैं तो समझता हूँ कि इसकी तुलना का दूसरा कोई वर है ही नहीं। अतएव कृपापूर्वक मुझे इसी का उपदेश कीजिये॥२२॥

सम्बन्ध–विषय की कठिनता से नचिकेता नही घबराया, वह अपने निश्चय पर ज्यों-का-त्यों दृढ़ रहा। इस एक परीक्षा में वह उत्तीर्ण हो गया। अब यमराज दूसरी परीक्षा के रूप में उसके सामने विभिन्न प्रकार के प्रलोभन रखने की बात सोचकर उससे कहने लगे–

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥२३॥

शतायुषः=सैकड़ों वर्षों की आयु वाले; **पुत्रपौत्रान्**=बेटे और पोतों को (तथा); **बहून् पशून्**=बहुत-से गो आदि पशुओं को (एवं) **हस्तिहिरण्यम्**=हाथी, सुवर्ण और; **अश्वान् वृणीष्व**=घोड़ों को माँग लो; **भूमेः महत् आयतनम्**=भूमि के बड़े विस्तार वाले मण्डल (साम्राज्य) को; **वृणीष्व**=माँग लो; **स्वयम् च**=तुम स्वयं भी; **यावत् शरदः**=जितने वर्षों तक; **इच्छसि**=चाहो; **जीव**=जीते रहो॥२३॥

व्याख्या–नचिकेता! तुम बड़े भोले हो, क्या करोगे इस वर को लेकर? तुम ग्रहण करो इन सुख की विशाल सामग्रियों को। इस सौ-सौ वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्रादि बड़े परिवार को माँग लो। गौ आदि बहुत-से उपयोगी पशु, हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डल के महान् साम्राज्य को माँग लो और इन सबको भोगने के लिये जितने वर्षों तक जीने की इच्छा हो, उतने ही वर्षों तक जीते रहो॥२३॥

एतत्तुल्य यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥२४॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **वित्तम् चिरजीविकाम्**=धन, सम्पति और अनन्तकाल तक जीने के साधनों को; **यदि त्वम्**=यदि तुम; **एतत्तुल्यम्**=इस आत्मज्ञान विषयक वरदान के समान; **वरम् मन्यसे वृणीष्व**=वर मानते हो तो माँग लो; **च महाभूमौ**=और तुम इस पृथ्वीलोक में; **एधि**=बड़ें भारी सम्राट बन जाओ; **त्वा कामानाम्**=(मैं) तुम्हें सम्पूर्ण भोगों में से; **कामभाजम्**=अति उत्तम भोगों को भोगने वाला; **करोमि**=बना देता हूँ॥२४॥

व्याख्या–'नचिकेता! यदि तुम प्रचुर धन-सम्पत्ति, दीर्घजीवन के लिये उपयोगी सुख-सामग्रियाँ अथवा और भी जितने भोग मनुष्य भोग सकता है, उन सबको मिलाकर उस आत्मतत्त्व-विषयक वर के समान समझते हो तो इन सबको मांग लो। तुम इस विशाल भूमि के सम्राट बन जाओ। मैं तुम्हें समस्त भोगों को इच्छानुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ।' इस प्रकार यहाँ यमराज ने वाक्चातुर्य से आत्मतत्त्व का महत्त्व बढ़ाते हुए नचिकेता को विशाल भोगों का प्रलोभन दिया।।२४।।

सम्बन्ध–इतने पर भी नचिकेता अपने निश्चय पर अटल रहा, तब स्वर्ग के दैवी भोगों का प्रलोभन देते हुए यमराज ने कहा–

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।।२५।।

ये ये कामाः=जो-जो भोग **मर्त्यलोके**=मनुष्यलोक में; **दुर्लभाः**=दुर्लभ हैं; **सर्वान् कामान्**=उन सम्पूर्ण भोगों को; **छन्दतः प्रार्थयस्व**=इच्छानुसार माँग लो; **सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः**=रथ और नाना प्रकार के बाजों के सहित इन स्वर्ग की अप्सराओं को (अपने साथ ले जाओ); **मनुष्यैः ईदृशाः**=मनुष्यों को ऐसी स्त्रियाँ; **न हि लम्भनीयाः**=निः संदेह अलभ्य हैं; **मत्प्रत्ताभिः**=मेरे द्वारा दी हुई; **आभिः**=इन स्त्रियों से; **परिचारयस्व**=तुम अपनी सेवा कराओ; **नचिकेतः**=हे नचिकेता; **मरणम्**=मरने के बाद आत्मा का क्या होता है; **मा अनुप्राक्षीः**=इस बात को मत पूछो।।२५।।

व्याख्या–नचिकेता! जो-जो भोग मृत्युलोक में दुर्लभ हैं, उन सबको तुम अपने इच्छानुसार माँग लो। ये रथों और विविध प्रकार के वाद्योसहित जो स्वर्ग की सुन्दरी रमणियाँ है, ऐसी रमणियाँ मनुष्यों में कहीं नहीं मिल सकतीं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इनके लिये ललचाते रहते हैं। मैं इन सबको तुम्हें सहज ही दे रहा हूँ। तुम इन्हें ले जाओ और इनसे अपनी सेवा कराओ; परंतु नचिकेता! आत्मतत्त्वविषयक प्रश्न मत पूछो।।२५।।

सम्बन्ध–यमराज शिष्य पर स्वाभाविक ही दया करने वाले महान् अनुभवी आचार्य हैं। इन्होंने अधिकारी परीक्षा के साथ ही इस प्रकार भय और एक के बाद एक उत्तम भोगों का प्रलोभन दिखाकर, जैसे खूँटे को हिला-हिलाकर दृढ़ किया जाता है, वैसे ही नचिकेता के वैराग्यसम्पन्न निश्चय को और भी दृढ़ किया। पहले कठिनता का भय दिखाया, फिर इस लोक के एक-से-एक बढ़कर भोगों के चित्र उसके सामने रखे और अन्त में स्वर्गलोक में भी उसका वैराग्य करा देने के लिये स्वर्ग के

दैवी भोगों का चित्र उपस्थित किया और कहा कि इनको यदि तुम अपने उस आत्मतत्त्वसम्बन्धी वर के समान समझते हो तो इन्हें मांग लो। परंतु नचिकेता तो दृढ़निश्चयी और सच्चा अधिकारी था। वह जानता था कि इस लोक और परलोक के बड़े-से-बड़े भोग-सुख की आत्मज्ञान के सुख के किसी क्षुद्रतम अंश के साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। अतएव उसने अपने निश्चय का युक्तिपूर्वक समर्थन करते हुए पूर्ण वैराग्ययुक्त वचनों में यमराज से कहा–

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥२६॥

अन्तक=हे यमराज! (जिनका आपने वर्णन किया, वे); **श्वोभावाः**=क्षणभङ्गुर भोग (और उनसे प्राप्त होने वाले सुख); **मर्त्यस्य**=मनुष्य के; **सर्वेन्द्रियाणाम्**=अन्तःकरण सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों का; **यत् तेजः**=जो तेज है; **एतत्**=उसको; **जरयन्ति**=क्षीण कर डालते हैं; **अपि सर्वम्**=इसके सिवा समस्त; **जीवितम्**=आयु (चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो); **अल्पम् एव**=अल्प ही है (इसलिये); **तव वाहाः**=ये आपके रथ आदि वाहन और; **नृत्यगीते**=ये अप्सरों के नाच-गान; **तव एव**=आपके ही पास रहें (मुझे नहीं चाहिये)॥२६॥

व्याख्या–हे सबका अन्त करने वाले यमराज! आपने जिन भोग्य वस्तुओं की महिमा के पुल बाँधे हैं, वे सभी क्षणभङ्गुर हैं। कल तक रहेंगी या नहीं, इसमें भी संदेह है। इनके संयोग से प्राप्त होने वाले सुख वास्तव में सुख ही नहीं है, वह तो दुःख ही है (गीता ५/२२)। ये भोग्यवस्तुएँ कोई लाभ तो देतीं ही नहीं, वरं मनुष्य की इन्द्रियों के तेज और धर्म को हरण कर लेती हैं। आपने जो दीर्घजीवन देना चाहा है, वह भी अनन्तकाल की तुलना में अत्यन्त अल्प ही है। जब ब्रह्मा आदि देवताओं का जीवन भी अल्पकाल का है–एक दिन उन्हें भी मरना पड़ता है, तब औरों की तो बात ही क्या है। अतएव मैं यह सब नहीं चाहता। ये आपके रथ, हाथी, घोड़े, ये रमणियाँ और इनके नाच-गान आप अपने ही पास रखें॥२६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥२७॥

मनुष्यः=मनुष्य; **वित्तेन**=धन से; **तर्पणीयनः**=कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता है; **चेत्**=जब कि (हमने); **त्वा अद्राक्ष्म**=आपके दर्शन पा लिये हैं (तब); **वित्तम्**=धन को; **लप्स्यामहे**=(तो हम) पा ही लेगें; (और) **त्वम् यावत्**=आप जब तक; **ईशिष्यसि**=शासन करते रहेंगे (तब तक तो); **जीविष्यामः**=हम जीते ही रहेंगे (इन सबको भी क्या माँगना है अतः); **मे वरणीयः वरः तु**=मेरे माँगने लायक वर

तो; **सः एव**=वह (आत्म ज्ञान) ही है।।२७।।

व्याख्या–आप जानते ही हैं, धन से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। आग में घी-ईधन डालने से जैसे आग जोरों से भड़कती है, उसी प्रकार धन और भोगों की प्राप्ति से भोग-कामना का और भी विस्तार होता है। वहाँ तृप्ति कैसी। वहाँ तो दिन-रात अपूर्णता और अभाव की अग्नि में ही जलना पड़ता है। ऐसे दुःखमय धन और भोगों को कोई भी बुद्धिमान पुरुष नहीं माँग सकता। मुझे अपने जीवन निर्वाह के लिये जितने धन की आवश्यकता होगी, उतना ही आपके दर्शन से अपने-आप प्राप्त हो जायेगा। रही दीर्घ जीवन की बात, सो जबतक मृत्यु के पद पर आपका शासन है, तब तक मुझे मरने का भी भय क्यों होने लगा। अतएव किसी भी दृष्टि से दूसरा वर माँगना उचित नहीं मालूम होता। इसलिये मेरा प्रार्थनीय तो वह आत्मतत्त्वविषयक वर ही है। मैं उसे लौटा नहीं सकता।।२७।।

सम्बन्ध–इस प्रकार भोगों की तुच्छता का वर्णन करके अब नचिकेता अपने वर का महत्त्व बतलाता हुआ उसी को प्रदान करने के लिये दृढ़तापूर्वक निवेदन करता है–

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत।। २८।।

जीर्यन् मर्त्यः=यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणधर्मा है; **प्रजानन्**=इस तत्त्व को भलीभाँति समझने वाला; **क्वधःस्थः**=मनुष्य लोक का निवासी; **कः**=कौन (ऐसा) मनुष्य है (जोकि); **अजीर्यताम्**=बुढ़ापे से रहित; **अमृतानाम्**=न मरने वाले (आप सदृश) महात्माओं का; **उपेत्य**=सङ्ग पाकर भी; **वर्णरतिप्रमोदान्**=(स्त्रियों के) सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद का; **अभिध्यायन्**=बार-बार चिन्तन करता हुआ; **अतिदीर्घे**=बहुत काल तक; **जीविते**=जीवित रहने में; **रमेत**=प्रेम करेगा? ।।२८।।

व्याख्या–हे यमराज! आप ही बतलाइये–भला, आप-सरीखे अजर-अमर महात्मा देवताओं का दुर्लभ एवं अमोघ सङ्ग प्राप्त करके मृत्यु लोक का जरा-मरणशील ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो स्त्रियों के सौन्दर्य, क्रीडा और आमोद-प्रमोद में आसक्त होकर उनकी ओर दृष्टिपात करेगा और इस लोक में दीर्घकाल तक जीवित रहने में आनन्द मानेगा? ।।२८।।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढ़मनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।।२९।।

मृत्यो=हे यमराज; **यस्मिन्**=जिस; **महति साम्पराये**=महान् आश्चर्यमय परलोक सम्बन्धी आत्मज्ञान के विषय में; **इदम् विचिकित्सन्ति**=(लोग) यह शङ्का करते हैं

कि यह आत्मा मरने के बाद रहता है या नहीं; **(तत्र) यत्**=उसमें जो निर्णय है; **तत् नः ब्रूहि**=वह आप हमें बतलाइये; **यः अयम्**=जो यह; **गूढम् अनुप्रविष्टः वरः**=अत्यन्त गम्भीरता को प्राप्त हुआ वर है; **तस्मात्**=इससे; **अन्यम्**=दूसरा वर; **नचिकेताः**=नचिकेता; **न वृणीते**=नहीं माँगता।।२९।।

व्याख्या—नचिकेता कहता है–'हे यमराज! जिस आत्मतत्त्व सम्बन्धी महान् ज्ञान के विषय में लोग यह शङ्का करते हैं कि मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं, उसके सम्बन्ध में निर्णयात्मक जो आपका अनुभूत ज्ञान हो, मुझे कृपापूर्वक उसी का उपदेश कीजिये। यह आत्मतत्त्व सम्बन्धी वर अत्यन्त गूढ़ है–यह सत्य है; पर आपका शिष्य यह नचिकेता इसके अतिरिक्त दूसरा कोई वर नहीं चाहता'।।२९।।

द्वितीय वल्ली

सम्बन्ध—इस प्रकार परीक्षा करके जब यमराज ने समझ लिया कि नचिकेता दृढ़निश्चयी, परम वैराग्यवान् एवं निर्भीक है, अतः ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी है तब ब्रह्मविद्या का उपदेश आरम्भ करने के पहले उसका महत्त्व प्रकट करते हुए यमराज बोले–

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।१।।

श्रेयः=कल्याण का साधन; **अन्यत्**=अलग है; **उत**=और; **प्रेयः**=प्रिय लगने वाले भोगों का साधन; **अन्यत् एव**=अलग ही है; **ते**=वे; **नानार्थे**=भिन्न-भिन्न फल देने वाले; **उभे**=दोनों साधन; **पुरुषम्**=मनुष्य को; **सिनीतः**=बाँधते हैं–अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं; **तयोः**=उन दोनों में से; **श्रेयः**=कल्याण के साधन को; **आददानस्य**=ग्रहण करने वाले का; **साधु भवति**=कल्याण होता है; **उ यः**=परंतु जो; **प्रेयः वृणीते**=सांसारिक भोगों के साधन को स्वीकार करता है; **(सः**=वह) **अर्थात्**=यथार्थ लाभ से; **हीयते**=भ्रष्ट हो जाता है ।।१।।

व्याख्या—मनुष्य-शरीर अन्यान्य योनियों की भाँति केवल कर्मों का फल भोगने के लिये ही नहीं मिला है। इसमें मनुष्य भविष्य में सुख देने वाले साधन का अनुष्ठान भी कर सकता है। वेदों में सुख के साधन दो बताये गये है–(१) श्रेय अर्थात् सदा के लिये सब प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूटकर नित्य आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करने का उपाय और (२) प्रेय अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान,

सम्मान, यश आदि इहलोक की और स्वर्गलोक की जितनी भी प्राकृत सुखभोग की सामग्रियाँ हैं, उनकी प्राप्ति का उपाय। इस प्रकार अपने-अपने ढंग से मनुष्य को सुख पहुँचा सकने वाले ये दोनों साधन मनुष्य को बाँधते हैं—उसे अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। अधिकांश लोग तो 'भोगों में प्रत्यक्ष और तत्काल सुख मिलता है' इस प्रतीति के कारण, उसका परिणाम सोचे-समझे बिना ही प्रेय की ओर खिंच जाते हैं, परंतु कोई-कोई भाग्यवान् मनुष्य भगवान् की दया से प्राकृत भोगों की आपातरमणीयता एवं परिणामदु:खता का रहस्य जानकर उनकी ओर से विरक्त हो श्रेय की ओर आकर्षित हो जाता है। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में से जो भगवान् की कृपा का पात्र होकर श्रेय को अपना लेता है और तत्परता के साथ उसके साधन में लग जाता है, उसका तो सब प्रकार से कल्याण हो जाता है। वह सदा के लिये सब प्रकार के दु:खों से सर्वथा छूटकर अनन्त असीम आनन्दस्वरूप परमात्मा को पा लेता है। परंतु जो सांसारिक सुख के साधनों में लग जाता है, वह अपने मानव-जीवन के परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्तिरूप यथार्थ प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता, इसलिये उसे आत्यन्तिक और नित्य सुख नहीं मिलता। उसे तो भ्रमवश सुखरूप प्रतीत होने वाले वे अनित्य भोग मिलते हैं, जो वास्तव में दु:खरूप ही हैं। अत: वह वास्तविक सुख से भ्रष्ट हो जाता है ॥१॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥२॥

श्रेयः च प्रेयः च=श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही; **मनुष्यम् एतः**=मनुष्य के सामने आते हैं; **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **तौ**=उन दोनों के स्वरूप पर; **सम्परीत्य**=भलीभाँति विचार करके; **विविनक्ति**=उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है; (और) **धीरः**=वह श्रेष्ठबुद्धि मनुष्य; **श्रेयः हि**=परम् कल्याण के साधन को ही; **प्रेयसः**=भोग-साधन की अपेक्षा; **अभिवृणीते**=श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है (परंतु); **मन्दः**=मन्दबुद्धि वाला मनुष्य; **योगक्षेमात्**=लौकिक योगक्षेम की इच्छा से; **प्रेयः वृणीते**=भोगों के साधन रूप प्रेय को अपनाता है॥२॥

व्याख्या—अधिकांश मनुष्य तो पुर्नजन्म में विश्वास न होने के कारण इस विषय में विचार ही नहीं करते, वे भोगों में आसक्त होकर अपने देवदुर्लभ मनुष्य-जीवन को पशुवत् भोगों के भोगने में ही समाप्त कर देते हैं। किन्तु जिनका पुनर्जन्म में और परलोक में विश्वास है, उन विचारशील मनुष्यों के सामने जब ये श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं, तब वे इन दोनों के गुण-दोषों पर विचार करके दोनों को पृथक्-पृथक् समझने की चेष्टा करते हैं। इनमें जो श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न होता है, वह तो दोनों के तत्त्व को पूर्णतया समझकर नीर-क्षीर-विवेकी हंस की तरह प्रेय की उपेक्षा करके श्रेय को

ही ग्रहण करता है। परंतु जो मनुष्य अल्पबुद्धि है, जिसकी बुद्धि में विवेक-शक्ति का अभाव है, वह श्रेय के फल में अविश्वास करके प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले लौकिक योगक्षेम की सिद्धि के लिये प्रेय को अपनाता है, वह इतना ही समझता है कि जो कुछ भोगपदार्थ प्राप्त है, वे सुरक्षित बने रहें और जो अप्राप्त हैं, वे प्रचुर मात्रा में मिल जाएँ। यही योगक्षेम है।।२।।

सम्बन्ध—परमात्मा की प्राप्ति के साधनरूप श्रेय की प्रशंसा करके अब यमराज साधारण मनुष्यों से नचिकेता की विशेषता दिखलाते हुए उसके वैराग्य की प्रशंसा करते हैं—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षी।
नैताँ सृङ्का वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।।३।।

नचिकेत=हे नचिकेता! (उन्हीं मनुष्यों में); **सः त्वम्**=तुम (ऐसे निः स्पृह हो कि); **प्रियान् च**=प्रिय लगने वाले और; **प्रियरूपान्**=अत्यन्त सुन्दर रूपवाले; **कामान्**=इस लोक और परलोक के समस्त भोगों को; **अभिध्यायन्**=भलीभाँति सोच समझकर, **अत्यस्राक्षीः**=(तुमने) छोड़ दिया; **एताम् वित्मयीम् सङ्का**=इस सम्पतिरूप श्रङ्खला (बेड़ी) को; **न अवाप्तः**=(तुम) नहीं प्राप्त हुए (इसके बन्धन में नहीं फँसे); **यस्याम्**=जिसमें; **बहवः मनुष्याः**=बहुत-से मनुष्य; **मज्जन्ति**=फँस जाते हैं।

व्याख्या—यमराज कहते हैं—'हे नचिकेता! तुम्हारी परीक्षा करके मैंने अच्छी तरह देख लिया कि तुम बड़े बुद्धिमान, विवेकी तथा वैराग्यसम्पन्न हो। अपने को बहुत बड़े चतुर, विवेकी और तार्किक मानने वाले लोग भी जिस चमक-दमक वाली सम्पत्ति के मोहजाल में फँस जाया करते है, उसे भी तुमने स्वीकार नही किया। मैंने बड़ी ही लुभावनी भाषा में तुम्हें बार-बार पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े, गौएँ, धन, सम्पति, भूमि आदि अनेकों दुष्प्राप्य और लोभनीय सुन्दरी स्वर्गीय रमणियों के चिर-भोगसुख का लालच दिया; परंतु तुमने सहज ही उन सबकी उपेक्षा कर दी। अतः तुम अवश्य ही परमात्मतत्त्व का श्रवण करने के लिए सर्वोतम अधिकारी हो ।।३।।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।।

या अविद्या=जो कि अविद्या; **च विद्या इति ज्ञाता**=और विद्या नाम से विख्यात हैं; **एते**=से दोनों; **दूरम् विपरीते**=परस्पर अत्यन्त विपरीत; (और) **विषूची**=भिन्न-भिन्न फल देनेवाली हैं; **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेता को; **विद्याभीप्सिनम् मन्ये**=मैं विद्या का ही अभिलाषी मानता हूं (क्योंकि); **त्वा बहवः कामाः**=तुमको बहुत-से भोग; **न अलोलुपन्त**=(किसी प्रकार भी) नहीं लुभा सके ।।४।।

व्याख्या–ये अविद्या और विद्या नाम से प्रसिद्ध दो साधन पृथक्-पृथक् फल देने वाले हैं और परस्पर अत्यन्त विरूद्ध हैं। जिसकी भोगों में आसक्ति है, वह कल्याण-साधन में आगे नहीं बढ़ सकता और जो कल्याणमार्ग का पथिक है, वह भोगों की ओर दृष्टि नहीं डालता । वह सब प्रकार के भोगों को दुःखरूप मानकर उनका परित्याग कर देता है। हे नचिकेता! मै। मानता हूँ कि तुम विद्या के ही अभिलाषी हो, क्योंकि बहुत-से बड़ें-बड़े भोग भी तुम्हारे मन में किच्चिन्मात्र भी लोभ नहीं उत्पन्न कर सके ।।४।।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।५।।

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः=अविद्या के भीतर रहते हुए (भी); **स्वयं धीराः**=अपने आपको बुद्धिमान् (और); **पण्डितम् मन्यमानाः**=विद्वान् मानने वाले; **मूढाः**=(भोग की इच्छा करने वाले) वे मूर्ख लोग; **दन्द्रम्यमाणाः**=नाना योनियों में चारों ओर भटकते हुए; **(तथा) परियन्ति**=ठीक वैसे ही ठोंकरें खाते रहते हैं; **यथा**=जैसे; **अन्धेन एव नीयमाना**=अन्धे मनुष्य के द्वारा चलायें जाने वाले; **अन्धाः**=अन्धे (अपने लक्ष्य तक न नहुंचकर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं)।

व्याख्या–जब अन्धे मनुष्य को मार्ग दिखलाने वाला भी अन्धा ही मिल जाता है, तब जैसे वह अपने अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुंच पाता, बीच मे ही ठोकरें खाता भटकता है और कांटे-कंकड़ों से बिंधकर या गहरे गड्ढे आदि में गिरकर अथवा किसी चट्टान, दीवाल और पशु आदि से टकराकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता है, वैसे ही उन मूर्खों को भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विविध दुःखपूर्ण योनियों में एवं नरकादिमें प्रवेश करके अनन्त जन्मों तक अनन्त यन्त्रणाओं का भोग करना पड़ता है, जो अपने- आपको ही बुद्धिमान् और विद्वान् समझते हैं, विद्या-बुद्धि के मिथ्याभिमान में शास्त्र और महापुरुषों के वचनों की कुछ भी परवाह न करके उनकी अवहेलना करते हैं और प्रत्यक्ष सुखरूप प्रतीत होने वाले भोगों का भोग करने में तथा उनके उपार्जन में ही निरन्तर संलग्न रहकर मनुष्य-जीवन का अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट करते रहते हैं ।।५।।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।६।।

वित्तमोहेन मूढ़म=इस प्रकार सम्पत्ति के मोह से मोहित; **प्रमाद्यन्तम् बालम्**=निरन्तर प्रमाद करने वाले अज्ञानी को; **साम्परायः**=परलोक; **न प्रतिभाति**=नहीं सूझता; **अयम् लोकः**=(वह समझता है) कि यह प्रत्यक्ष दीखने वाला लोक ही सत्य है; **परः न**

अस्ति=इसके सिवा दूसरा (स्वर्ग-नरक आदि लोक) कुछ भी नहीं है; **इति मानी**=इस प्रकार मानने वाला अभिमानी मनुष्य; **पुनः पुनः**=बार-बार; **मे वशम्**=मेरे (यमराज के) वश में; **आपद्यते**=आता है ।।६।।

व्याख्या–इस प्रकार मनुष्य-जीवन के महत्त्व को नहीं समझने वाला अभिमानी मनुष्य सांसारिक भोग-सम्पत्ति की प्राप्ति के साधनरूप धनादि के मोह से मोहित हुआ रहता है; अतएव भोगों में आसक्त होकर वह प्रमादपूर्वक मनमाना आचरण करने लगता है। उसे परलोक नहीं सूझता। उसके अन्तःकरण में इस प्रकार के विचार उत्पन्न ही नहीं होते कि मरने के बाद मुझे अपने समस्त कर्मों का फल भोगने के लिये बाध्य होकर बारम्बार विविध योनियों में जन्म लेना पड़ेगा। वह मूर्ख समझता है कि बस, जो कुछ यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है, यही लोक है। इसी की सत्ता है। यहाँ जितना विषय-सुख भोग लिया जाय, उतनी ही बुद्धिमानी है। इसके आगे क्या है। परलोक को किसने देखा है। परलोक तो लोगों की कल्पनामात्र है इत्यादि। इस प्रकार की मान्यता रखने वाला मनुष्य बारम्बार यमराज के चगुंल में पड़ता है और वे उसके कर्मानुसार उसे नाना योनियों में ढकेलते रहते हैं। उसके जन्म-मरण का चक्र नही छूटता।।६।।

सम्बन्ध–इस प्रकार विषयासक्त, प्रत्यक्षवादी मूर्खों की निन्दा करके अब उस आत्मतत्त्व और उसको जानने, समझने तथा वर्णन करने वाले पुरुषों की दुर्लभता का वर्णन करते हैं–

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।७।।

यः बहुभिः=जो (आत्मतत्त्व) बहुतों को तो; **श्रवणाय अपि**=सुनने के लिये भी; **न लभ्यः**=नहीं मिलता; **यम्**=जिसको; **बहवः**=बहुत से लोग; **शृण्वन्तः अपि**=सुनकर भी; **न विद्युः**=नहीं समझ सकते; **अस्य**=ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्त्व का; **वक्ता आश्चर्यः**=वर्णन करने वाला महापुरुष आश्चर्यमय है (बड़ा दुर्लभ है); **लब्धा कुशलः**=उसे प्राप्त करने वाला भी बड़ा कुशल (सफल जीवन) कोई एक ही होता है; **कुशलनुशिष्टः**=और जिसे तत्त्व की उपलब्धि हो गयी है, ऐसे ज्ञानी महापुरुष के द्वारा शिक्षा प्राप्त किया हुआ; **ज्ञाता**=आत्मतत्त्व का ज्ञाता भी; **आश्चर्यः**=आश्चर्यमय है (परम दुर्लभ है) ।।७।।

व्याख्या–आत्मतत्त्व की दुर्लभता बतलाने के लिये यमराज ने कहा–नचिकेता! आत्मतत्त्व कोई साधरण-सी बात नहीं। जगत् में अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं–जिनको आत्मकल्याण की चर्चा तक सुनने को नहीं मिलती। वे ऐसे वातावरण में रहते हैं कि

जहाँ प्रातःकाल जागने से लेकर रात्रि को सोने तक केवल विषय-चर्चा ही हुआ करती है, जिससे उसका मन आठों पहर विषय-चिन्तन में डूबा रहता है। उनके मन में आत्मतत्त्व सुनने-समझने की कभी कल्पना ही नहीं आती; और भूले-भटके यदि ऐसा कोई प्रसङ्ग आ जाता है तो उन्हें विषय-सेवन से अवकाश नहीं मिलता। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो सुनना-समझना उत्तम समझकर सुनते तो हैं, परंतु उनके विषयाभिभूत मन में उसकी धारणा नहीं हो पाती अथवा मन्दबुद्धि के कारण वे उसे समझ नहीं पाते। जो तीक्ष्णबुद्धि पुरुष समझ लेते हैं, उनमें भी ऐसे आश्चर्यमय महापुरुष कोई विरले ही होते हैं, जो उस आत्मतत्त्व का यथार्थ रूप से वर्णन करने वाले समर्थ वक्ता हों। एवं ऐसे पुरुष भी कोई एक ही होते हैं, जिन्होनें आत्मतत्त्व को प्राप्त करके जीवन की सफलता सम्पन्न की हो; और भलीभाँति समझाकर वर्णन करने वाले सफल जीवन अनुभवी आत्मदर्शी आचार्य के द्वारा उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मनन-निदिध्यासन करते-करते तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष भी जगत् में कोई विरले ही होते है। अतः इसमें सर्वत्र ही दुर्लभता है ।।७।।

सम्बन्ध–अब आत्मज्ञान की दुर्लभता का कारण बताते हैं–

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्।।८।।

अवरेण नरेण प्रोक्तः=अल्पज्ञ मनुष्य के द्वारा बतलाये जाने पर; **बहुधा चिन्त्यमानः**=(और उनके अनुसार) बहुत प्रकार से चिन्तन किये जाने पर भी; **एषः**=यह आत्मतत्त्व; **सुविज्ञेयः न**=सहज ही समझ में आ जाय, ऐसा नहीं हैं; **अनन्यप्रोक्ते**=किसी दूसरे ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदेश न किये जाने पर; **अत्र गतिः न अस्ति**=इस विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं होता; **हि अणुप्रमाणात्**=क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु से भी; **अणीयान्**=अधिक सूक्ष्म है; **अतर्क्यम्**=(इयलिये) तर्क से अतीत है ।।८।।

व्याख्या–प्रकृतिपर्यन्त जो भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, यह आत्मतत्त्व उससे भी सूक्ष्म है। यह इतना गहन है कि जब तक इसे यथार्थरूप से समझाने वाले कोई महापुरुष नहीं मिलते, तब तक मनुष्य का इसमें प्रवेश पाना अत्यन्त ही कठिन है। अल्पज्ञ–साधारण ज्ञानवाले मनुष्य यदि इसे बतलाते हैं और उसके अनुसार यदि कोई विविध प्रकार से इसके चिन्तन का अभ्यास करता है,तो उसका आत्मज्ञान रूपी फल नहीं होता, आत्म- तत्त्व तनिक-सा वितर्कयुक्त विचार करने से भी यह आत्मतत्त्व समझ में नही आ सकता। अतः सुनना आवश्यक है; पर सुनना उनसे है, जो इसे भलीभाँति जानने वाले महापुरुष हों। तभी तर्क से सर्वथा अतीत इस गहन विषय की

जानकारी हो सकती है ॥८॥

नैषा तर्केण मतिरापयेना प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥९॥

प्रेष्ठ=हे प्रियतम! **याम् त्वम् आपः**=जिसको तुमने पाया है; **एषा मतिः**=यह बुद्धि; **तर्केण न आपनेया**=तर्क से नहीं मिल सकती (यह तो); **अन्येन प्रोक्ता एव**=दूसरे के द्वारा कही हुई ही; **सुज्ञानाय**=आत्मज्ञान में निर्मित; (**भवति**=होती है;) **बत**=सचमुच ही (तुम); **सत्यधृति**=उत्तम धैर्य वाले; **असि**=हो; **नचिकेतः**=हे नचिकेता! (हम चाहते हैं कि); **त्वादृक्**=तुम्हारे जैसे ही; **प्रष्टा**=पूछनेवाला; **नः भूयात्**=हमें मिला करें ॥९॥

व्याख्या–नचिकेता की प्रशंसा करते हुए यमराज फिर कहते हैं कि हे प्रियतम! तुम्हारी इस पवित्र मति–निर्मल निष्ठा को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। ऐसी निष्ठा तर्क से कभी नहीं मिल सकती। यह तो तभी उत्पन्न होती है, जब भगवत्कृपा से किसी महापुरुष का सङ्ग प्राप्त होता है और उनके द्वारा लगातार परमात्मा के महत्त्व का विशद विवेचन सुनने का सौभाग्य मिलता है। ऐसी निष्ठा ही मनुष्य को आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न करने में प्रवृत्त करती है। इतना प्रलोभन दिये जाने पर भी तुम अपनी निष्ठापर दृढ़ रहे, इससे यह सि) है कि वस्तुतः तुम सच्ची धारणा से सम्पन्न हो। नचिकेता! हमें तुम-जैसे ही पूछने वाले जिज्ञासु मिला करें ॥९॥

सम्बन्ध–अब यमराज अपने उदाहरण से निष्काम भाव की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

जानाम्यहँ शेवाधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥१०॥

अहम् जानामि=मैं जानता हूं कि; **शेवधिः**=कर्मफलरूप निधि; **अनित्यम् इति**=अनित्य है; **हि अध्रुवैः**=क्योंकि अनित्य (विनाशशील) वस्तुओं से; **तत् ध्रुवम्**=वह नित्य पदार्थ (परमात्मा); **न हि प्राप्यते**=नहीं मिल सकता; **ततः**=इसलिये; **मया**=मेरे द्वारा (कर्तव्यबुद्धि से); **अनित्यैः द्रव्यैः**=अनित्य पदार्थों के द्वारा; **नाचिकेत**=नाचिकेत नामक; **अग्निः चितः**=अग्नि का चयन किया गया (अनित्य भोगों की प्राप्ति के लिये नहीं, अतः उस निष्काम भाव की अपूर्व शक्ति से मैं); **नित्यम्**=नित्य वस्तु परमात्मा का; **प्राप्तवान् अस्मि**=प्राप्त हो गया हूं ॥१०॥

व्याख्या–नचिकेता! मैं इस बात को भलीभाँति जानता हूँ कि कर्मों के फलस्वरूप इस लोक और परलोक के भोगसमूह की जो निधि मिलती है, वह चाहे

कितनी ही महान् क्यों न हो, एक दिन उसका विनाश निश्चित है अतएव वह अनित्य है और यह सिद्ध है कि अनित्य साधनों से नित्य पदार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस रहस्य को जानकर ही मैंने नाचिकेत अग्नि के चयनादिरूप से जो कुछ यज्ञादि कर्तव्यकर्म अनित्य वस्तुओं के द्वारा किये, सब-के-सब कामना और आसक्ति से रहित होकर केवल कर्तव्य बुद्धि से किये। इस निष्कामभाव की यह महिमा है कि अनित्य पदार्थों के द्वारा कर्तव्य-पालन रूप ईश्वर-पूजा करके मैंने नित्य-सुखरूप परमात्मा को प्राप्त कर लिया ।।१०।।

सम्बन्ध–नचिकेता में वह निष्कामभाव पूर्णरूप से है, इसलिये यमराज उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।।११।।

नचिकेतः=हे नचिकेता!; **कामस्य आप्तिम्**=जिसमें सब प्रकार के भोग मिल सकते हैं; **जगतः प्रतिष्ठाम्**=जो जगत् का आधार; **क्रतोः अनन्त्यम्**=यज्ञ का चिरस्थायी फल; **अभयस्य पारम्**=निर्भयता की अवधि (और); **स्तोममहत्**=स्तुति करने योग्य एवं महत्त्वपूर्ण है (तथा); **उरुगायम्**=वेदों में जिसके गुण नाना प्रकार से गाये गये हैं; **प्रतिष्ठाम्**=(और) जो दीर्घकाल तक की स्थिति से सम्पन्न है, ऐसे स्वर्गलोक को; **दृष्ट्वा धृत्या**=देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक; **अत्यस्राक्षीः**=उसका त्याग कर दिया; **(अतः**= इसलिये;) (मैं समझता हूँ कि) **धीरः (असि)**=(तुम) बहुत ही बुद्धिमान् हो ।।११।।

व्याख्या–नचिकेता! तुम सब प्रकार से श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न और निष्काम हो। मैंने तुम्हारे सामने वरदान के रूप में उस स्वर्गलोक को रखा, जो सब प्रकार से भोगों से परिपूर्ण, जगत् का आधारस्वरूप, यज्ञादि शुभकर्मों का अन्तरहित फल, सब प्रकार के दुःख और भय से रहित, स्तुति करने योग्य और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेदों ने भाँति-भाँति से उसकी शोभा के गुणगान किये हैं और वह दीर्घकाल तक स्थित रहने वाला है; तुमने उसके महत्त्व को समझकर भी बड़े धैर्य के साथ उसका परित्याग कर दिया, तुम्हारा मन तनिक भी उसमें आसक्त नहीं हुआ, तुम अपने निश्चय पर दृढ़ और अटल रहे–यह साधारण बात नहीं है। इसलिये मैं यह मानता हूँ कि तुम बड़े ही बुद्धिमान्, अनासक्त और आत्मतत्त्व को जानने के अधिकारी हो ।।११।।

सम्बन्ध–इस प्रकार नचिकेता के निष्काम भाव को देखकर यमराज ने निश्चय कर लिया कि यह परमात्मा के तत्त्वज्ञान का यथार्थ अधिकारी है; अतः उसके अन्तःकरण में परब्रह्म पुरुषोत्तम के तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये

यमराज अब दो मन्त्रों में परब्रह्म परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हैं-

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

गूढम्=जो योगमाया के पर्दे में छिपा हुआ; **अनुप्रविष्टम्**=सर्वव्यापी; **गुहाहितम्**=सबके हृदय रूप में गुफा में स्थित (अतएव); **गह्वरेष्ठम्**=संसाररूप गहन वन में रहने वाला; **पुराणम्**=सनातन है, ऐसे; **तम् दुर्दर्शम् देवम्**=उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्म देव को; **धीरः**=शुद्ध बुद्धियुक्त साधक; **अध्यात्मयोगाधिगमेन**=अध्यात्मयोग की प्राप्ति के द्वारा; **मत्वा**=समझकर; **हर्ष शोकौ जहाति**=हर्ष और शोक को त्याग देता है ॥१२॥

व्याख्या-यह सम्पूर्ण जगत् एक अत्यन्त दुर्गम गहन वन के सदृश है, परंतु यह परब्रह्म परमेश्वर से परिपूर्ण है, वह सर्वव्यापी इसमें सर्वत्र प्रविष्ट है (गीता ९/४)। वह सबके हदयरूपी गुफा में स्थित है (गीता १३/१७; १५/१५;१८/६१)। इस प्रकार नित्य साथ रहने पर भी लोग उसे सहज में देख नहीं पाते; क्योंकि वह अपनी योगमाया के पर्दे में छिपा है (गीता ७/२५), इसलिये अत्यन्त गुप्त है। उसके दर्शन बहुत ही दुर्लभ है। जो शुद्ध-बुद्धिसम्पन्न साधक अपने मन-बुद्धि को नित्य-निरन्तर उसके चिन्तन में संलग्न रखता है, वह उस सनातन देव को प्राप्त करके सदा के लिये हर्ष-शोक से रहित हो जाता है। उसके अन्तःकरण में से हर्ष-शोकादि विकार समूल नष्ट हो जाते हैं ॥१२॥

सतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतँ सद्न नचिकेतसं मन्ये॥१३॥

मर्त्यः=मनुष्य (जब); **एतत्**=इस; **धर्म्यम्**=धर्ममय (उपदेश) को; **श्रुत्वा**=सुनकर; **सम्परिगृह**=भलीभाँति ग्रहण करके; **पृवह्य**=(और) उसपर विवेकपूर्ण विचार करके; **एतम्**=इस; **अणुम्**=सूक्ष्म आत्मतत्व का; **आप्य**=जानकर (अनुभव कर लेता है, तब); **सः**=वह; **मोदनीयम्**=आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को; **लब्ध्वा**=पाकर; **मोदते हि**=आनन्द में ही मगन हो जाता है; **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेता के लिये; **विवृतम् सद्न मन्ये**=(मैं) परमधाम का द्वार खुला हुआ मानता हूं ॥१३॥

व्याख्या-इस अध्यात्म-विषयक धर्ममय उपदेश को पहले तो अनुभवी महापुरुष के द्वारा अतिशय श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये, सुनकर उसका मनन करना चाहिये। तदनन्तर एकान्त में उसपर विचार करके बुद्धि में उसको स्थिर करना चाहिये। इस प्रकार साधन करने पर जब मनुष्य को आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् जब वह आत्मा को तत्त्व से समझ लेता है, तब आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को

प्राप्त हो जाता है। उस आनन्द के महान् समुद्र को पाकर वह उसमें निमग्न हो जाता है। हे नचिकेता! तुम्हारे लिये उस परमधाम का द्वार खुला हुआ है। तुमको वहाँ जाने से कोई रोक नहीं सकता। तुम ब्रह्मप्राप्ति के उत्तम अधिकारी हो, ऐसा मैं मानता हूँ।

सम्बन्ध–यमराज के मुख से परब्रह्म पुरुषोत्तम की महिमा सुनकर और अपने को उसका अधिकारी जानकर नचिकेता के मन में परमात्मतत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी। साथ ही उसके यमराज के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर साधु-सम्मत संकोच भी हुआ। इसलिये उसने यमराज से बीच में ही पूछा–

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ।।१४।।

यत् तत्=जिस उस परमेश्वर को; **धर्मात् अन्यत्र**=धर्म से अतीत; **अधर्मात् अन्यत्र**=अधर्म से भी अतीत; **च**=तथा; **अस्मात् कृताकृतात्**=इस कार्य और कारणरूप सम्पूर्ण जगत् से भी; **अन्यत्र**=भिन्न; **च**=और; **भूतात् भव्यात्**=भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्–इन तीनों कालों से तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थों से भी; **अन्यत्र**=पृथक; **पश्यसि**=(आप) जानते हैं; **तत्**=उसे; **वद**=बतलाइये ।।१४।।

व्याख्या–नचिकेता कहता है–भगवन्! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्म के सम्बन्ध से रहित, कार्य-कारणरूप प्रकृति से पृथक एवं भूत, वर्तमान और भविष्यत्–इन सबसे भिन्न जिस परमात्मतत्व को आप जानते हैं, उसे मुझको बतलाइये।।१४।।

सम्बन्ध–नचिकेता के इस प्रकार पूछने पर यमराज उस ब्रह्मतत्व के वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हुए उपदेश आरम्भ करते हैं–

सर्वे वेदा यत्! पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रेहण ब्रवीम्योमित्येतत्।।१५।।

सर्वे वेदाः=सम्पूर्ण वेद; **यत् पदम्**=जिस परम पद का; **आमनन्ति**=बारम्बार प्रतिपादन करते हैं; **च**=और; **सर्वाणि तपांसि**=सम्पूर्ण तप; **यत्**=जिस पद का; **वदन्ति**=लक्ष्य कराते हैं अर्थात् वे जिसके साधन है।; **यत् इच्छन्तः**=जिसको चाहने वाले साधकगण; **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्य का; **चरन्ति**=पालन करते हैं; **तत् पदम्**=वह पद;**ते**=तुम्हें; (मैं) **संग्रहेण**=संक्षेप से; **ब्रवीमि**=बतलाता हूं; (वह है) **ओम्**=ओम्; **इति**=ऐसा; **एतत्**=यह (यह अक्षर) ।।१५।।

व्याख्या–यमराज यहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तम को परमप्राप्य बतलाकर उसके वाचक ऊँ कार को प्रतीक रूप से उसका स्वरूप बतलाते हैं। वे कहते हैं कि समस्त वेद नाना प्रकार और नाना छन्दों से जिसका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप आदि

साधनों का जो एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है तथा जिसको प्राप्त करने की इच्छा से साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किया करते हैं, उस पुरुषोत्तम भगवान् का परमतत्त्व मैं तुम्हें संक्षेप में बतलाता हूँ। वह है 'ऊँ' यह एक अक्षर ॥१५॥

सम्बन्ध–नाम रहित होने पर भी परमात्मा अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। उनके सब नामों में 'ऊँ' सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अतः यहाँ नाम और नामी का अभेद मानकर 'प्रणव' को परब्रह्म पुरुषोत्तम के स्थान में वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं–

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

एतत्=यह; **अक्षरम् एव हि**=अक्षर ही तो; **ब्रह्म**=ब्रह्म है (और); **एतत्= यह**; अक्षरम् एव हि-अक्षर ही, परम-परब्रह्म हैं; हि- इसलिए; एतत् एवं **एवं**=इसी; **अक्षरम्**=अक्षर को; **ज्ञात्वा**=जानकर; **यः**=जो; **यत्**=जिसको; **इच्छति**=चाहता है; **तस्य**=उसको; **तत्**=वही (मिल जाता है) ॥१६॥

व्याख्या–यह अविनाशी प्रणव–ऊँकार ही तो ब्रह्म (परमात्मा का स्वरूप) है और यही परब्रह्म परमपुरुष पुरुषोत्तम है अर्थात् उस ब्रह्म और परब्रह्म दोनों का ही नाम ऊँकार है; अतः इस तत्त्व को समझकर साधक इसके द्वारा दोनों में से किसी भी अभीष्ट रूप को प्राप्त कर सकता है ॥१६॥

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

एतत्=यही; **श्रेष्ठम्**=अत्युत्तम; **आलम्बनम्**=आलम्बन है; **एतत्**=यही (सबका); **परम् आलम्बनम्**=अन्तिम आश्रय है; **एतत्**=इस; **आलम्बनम्**=आलम्बन को; **ज्ञात्वा**=भलीभाँति जानकर (साधक); **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोक में; **महीयते**=महिमान्वित होता है ॥१७॥

व्याख्या–यह ऊँकार ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये सब प्रकार के आलम्बनों में से सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है और यही चरम आलम्बन है। इससे परे और कोई आलम्बन नहीं है अर्थात् परमात्मा के श्रेष्ठ नाम की शरण हो जाना ही उनकी प्राप्ति का सर्वोत्तम एवं अमोघ साधन है। इस रहस्य को समझकर जो साधक श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इसपर निर्भर करता है, यह निस्संदेह परमात्मा की प्राप्ति का परम गौरव लाभ करता है ॥१७ ॥

सम्बन्ध–इस प्रकार ऊँकार को ब्रह्म और परब्रह्म–इन दोनों का प्रतीक बतलाकर अब नचिकेता के प्रश्नानुसार यमराज पहले आत्मा के स्वरूप का वर्णन

करते हैं–

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१८॥

विपश्चित्=नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा; **न जायते**=न तो जन्मता है; **वा न म्रियते**= और न मरता ही है; **अयम् न**=यह न तो स्वयं; **कुतश्चित्**=किसी से हुआ है; (**न**=न) (इससे); **कश्चित्**=कोई भी; **बभूव**=हुआ है अर्थात् यह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही है; **अयम्**=यह; **अजः**=अजन्मा; **नित्यः**=नित्य; **शाश्वतः**=सदा एक रस रहने वाला (और); **पुराणः**=पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धि से रहित है; **शरीरे हन्यमाने**=शरीर के नाश किये जाने पर भी (इसका); **न हन्यते**=नाश नहीं किया जा सकता॥१८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते ॥१९॥

चेत्=यदि कोई; **हन्ता**=मारने वाला व्यक्ति; **हन्तुम्**=अपने को मारने में समर्थ; **मन्यते**=मानता है (और); **चेत्**=यदि; **हतः**=(कोई) मारा जाने वाला व्यक्ति; **हतम्**=अपने का मारा गया; **मन्यते**=समझता है (तो); **तौ उभौ**=वे दोनों ही; **न विजानीतः**=(आत्मस्वरूप को) नहीं जानतें (क्योंकि); **अयम्**=यह आत्मा; **न हन्ति**=न तो (किसी को) मारता है (और); **न हन्यते**=न मारा ही जाता है ॥१९॥

व्याख्या–यमराज यहाँ आत्मा के शुद्ध स्वरूप का और उसकी नित्यता का निरूपण करते हैं, क्योंकि जब तक साधक को अपनी नित्यता और निर्विकारता का अनुभव नही हो जाता एवं वह जब तक इन अनित्य पदार्थों से वैराग्य होकर उसके अन्त:करण में नित्य तत्त्व की अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती। उसको यह दृढ़ अनुभूति होनी चाहिये कि जीवात्मा नित्य चेतन ज्ञानस्वरूप है; अनित्य, विनाशी जड शरीर और भोगों से वास्तव में इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अनादि और अनन्त है; न तो इसका कोई कारण है और न कार्य ही; अतः यह जन्म-मरण से सर्वथा रहित, सदा एकरस, सर्वथा निर्विकार है। शरीर के नाश से इसका नाश नही होता। जो लोग इसको मारने वाला या मरने वाला मानते हैं, वे वस्तुतः आत्मस्वरूप को जानते ही नहीं, वे सर्वथा भ्रान्त हैं। उनकी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिये। वस्तुतः आत्मा न तो किसी को मारता है और न इसे कोई मार ही सकता है।

साधक को शरीर और भोगों की अनित्यता और अपने आत्मा की नित्यता पर विचार करके, इन अनित्य भोगों से सुखकी आशा का त्याग करके सदा अपने साथ रहने वाले नित्य सुखस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करने का अभिलाषी बनना

चाहिये। १८.१९॥

सम्बन्ध–इस प्रकार आत्मतत्त्व के वर्णन द्वारा नचिकेता के अन्तःकरण में परब्रह्म पुरुषोत्तम के तत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न करके यमराज अब परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं–

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥

अस्य=इस; **जन्तोः**=जीवात्मा के; **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफा में; **निहितः**=रहने वाला; **आत्मा**=परमात्मा; **अणोः अणीयान्**=सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म (और); **महतः महीयान्**=महान् से भी महान् है; **आत्मनः तम् महिमानम्**=परमात्मा की उस महिमा को; **अक्रतुः**=कामना रहित (और); **वीतशोकः**=चिन्ता रहित (कोई विरला साधक); **धातुप्रसादात्**=सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से ही; **पश्यति**=देख पाता है ॥२०॥

व्याख्या–इससे पहले जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन किया गया है, उसी को इस मन्त्र में 'जन्तु' नाम देकर उसकी बद्धावस्था व्यक्त की गयी है। भाव यह है यद्यपि परब्रह्म पुरुषोत्तम उस जीवात्मा के अत्यन्त समीप जहाँ यह स्वयँ रहता है, वहीं हृदय में छिपे हुए हैं, तो भी यह उनकी ओर नहीं देखता। मोहवश भोगों में भूला रहता है। इसी कारण यह 'जन्तु' है–मनुष्य शरीर पाकर भी कीट-पतङ्ग आदि तुच्छ प्राणियों की भाँति अपना दुर्लभ जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहा है। जो साधक पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार अपने-आपको नित्य चेतनस्वरूप समझकर सब प्रकार के भोगों की कामना से रहित और शोकरहित हो जाता है, वह परमात्मा की कृपा से यह अनुभव करता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम अणु से भी अणु और महान् से भी महान्–सर्वव्यापी हैं और इस प्रकार उनकी महिमा को समझकर उनका साक्षात्कार कर लेता है। (यहाँ '**धातुप्रसादात्**' का अर्थ 'परमेश्वर की कृपा' किया गया है। 'धातु' शब्द का अर्थ सर्वाधार परमात्मा माना गया है। विष्णुसहस्रनाम में भी '**अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्मः**'–'धातु' को भगवान् का एक नाम माना गया है) ॥२०॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

आसीनः=(वह परमेश्वर) बैठा हुआ ही; **दूरम् व्रजति**=दूर पहुँच जाता है; **शयानः**=सोता हुआ (भी); **सर्वतः याति**=सब ओर चलता रहता है; **तम् मदामदम् देवम्**=उस ऐश्वर्य के मद से उन्मत न होने वाले देव को; **मदन्यः कः**=मुझसे भिन्न दूसरा कोन; **ज्ञातुम्**=जानने में; **अर्हति**=समर्थ है ॥२१॥

व्याख्या–परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरूद्ध धर्मों के आश्रय है।

एक ही समय में उनमें विरूद्ध धर्मों की लीला होती है। इसी से वे एक ही साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान् से महान् बताये गये हैं। यहाँ यह कहते हैं कि वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाम में विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर-से-दूर चले जाते हैं। परमधाम में निवास करने वाले पार्षद भक्तों की दृष्टि में वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा स्थित हैं। उनकी सर्वव्यापकता ऐसी है कि बैठे भी वही हैं, दूर देश में चलते भी वही है, सोते भी वहीं है और सब ओर जाते-आते भी वही हैं। वे सर्वत्र सब रूपों में नित्य अपनी महिमा में स्थित है। इस प्रकार अलौकिक परमैश्वर्यस्वरूप होने पर भी उन्हें अपने ऐश्वर्य का तनिक भी अभिमान नहीं है। उन परमदेव को जानने का अधिकारी उनका कृपापात्र मेरे (आत्मतत्त्वज्ञ यमराज के सदृश अधिकारियों के) सिवा दूसरा कौन हो सकता है ।।२१।।

सम्बन्ध—अब इस प्रकार उन परमेश्वर की महिमा को समझाने वाले पुरुष की पहचान बताते हैं—

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।२२।।

अनवस्थेषु=(जो) स्थिर न रहने वाले (विनाशशील); **शरीरेषु**=शरीरों में; **अशरीरम्**=शरीररहित (एवं); **अवस्थितम्**=अविचल भाव से स्थित है; **महान्तम्**=(उस) महान् **विभुम्**=सर्वव्यापी; **आत्मानम्**=परमात्मा को; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=बुद्धिमान् महापुरुष; **न शोचति**=(कभी किसी भी कारण से) शोक नहीं करता।।२२।।

व्याख्या—प्राणियों के शरीर अनित्य और विनाशशील हैं, इनमें प्रतिक्षण परिर्वतन होता रहता है। इन सबमें सम्भाव से स्थित परब्रह्म पुरुषोत्तम इन शरीरों से सर्वथा रहित, अशरीरी है। इसी कारण वे नित्य और अचल हैं। प्राकृत देश-काल-गुणादि से अपरि-- च्छिन्न उन महान्, सर्वव्यापी, सबके आत्मरूप परमेश्वर को जान लेने के बाद वह ज्ञानी महापुरुष कभी किसी भी कारण से किच्चिनमात्र भी शोक नहीं करता । यही उसकी पहचान है ।।२२।।

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि वे परमात्मा अपने पुरुषार्थ से नही मिलते, वरं उसी को मिलते हैं जिसको वे स्वीकार कर लेते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।।२३।।

अयम् आत्मा=यह परब्रह्म परमात्मा; **न**=न तो; **प्रवचनेन**=प्रवचन से; **न मेधया**=न बुद्धि से (और); **न बहुना श्रुतेन**=न बहुत सुनने से ही; **लभ्यः**=प्राप्त हो

सकता है; **यम्**=जिसको; **एषः**=यह; **वृणुते**=स्वीकार कर लेता है; **तेन एव लभ्यः**=उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है; (क्योंकि); **एषः आत्मा**=यह परमात्मा; **तस्य**=उसके लिये; **स्वाम् तनूम्**=अपने यथार्थ स्वरूप को; **विवृणुते**=प्रकट कर देता है ।।२३।।

व्याख्या–जिन परमेश्वर की महिमा का वर्णन मैं कर रहा हूँ, वे न तो उनको मिलते हैं, जो शास्त्रों को पढ़ सुनकर लच्छेदार भाषा में परमात्म-तत्त्व का नाना प्रकार से वर्णन करते हैं, न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्यों को ही मिलते हैं, जो बुद्धि के अभिमान में प्रमत्त हुए तर्क के द्वारा विवेचन करके उन्हें समझने की चेष्टा करते हैं और न उनको ही मिलते हैं, जो परमात्मा के विषय में बहुत कुछ सुनते रहते हैं। वे तो उसी को प्राप्त होते है जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसी को करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है। जो अपनी बुद्धि या साधना पर भरोसा न करके केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा निर्भर साधक पर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमाया का परदा हटाकर उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं ।।२३।।

सम्बन्ध–अब यह बतलाते हैं कि परमात्मा किसको प्राप्त नहीं होते–

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।२४।।

प्रज्ञानेन=सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा; **अपि**=भी; **एनम्**=इस परमात्मा को; **न दुश्चरितात् अविरतः आप्नुयात्**=न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणों से निवृत्त नहीं हुआ है; **न अशान्तः**=न वह प्राप्त कर सकता है, तो अशान्त है; न असमाहितः न वह कि जिसके मन, इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं; बा-और; **न अशान्तमानसः (आप्नुयात)**=न वही प्राप्त करता है, जिसका मन शान्त नहीं है।।२४।।

व्याख्या–जो मनुष्य बुरे आचरणों से विरक्त होकर उनका त्याग नहीं कर देता, जिसका मन परमात्मा को छोड़कर दिन-रात सांसारिक भोगों में भटकता रहता है, परमात्मा पर विश्वास न होने के कारण जो सदा अशान्त रहता है, जिसका मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वश में हुई नही हैं, ऐसा मनुष्य सूक्ष्म बुद्धि द्वारा आत्मविचार करते रहने पर भी परमात्मा को नहीं पा सकता, क्योंकि वह परमात्मा की असीम कृपा का आदर नहीं करता, उसकी अवहेलना करता रहता है; अतः वह उनकी कृपा का अधिकारी नहीं होता ।।२४।।

सम्बन्ध–उस परब्रह्म परमेश्वर के तत्त्व को सुनकर और बुद्धि द्वारा विचार करके भी मनुष्य उसे क्यों नहीं जान सकता? इस जिज्ञासा पर कहते हैं–

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥२५॥

यस्य=(संहारकाल में) जिस परमेश्वर के; **ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे**=ब्राह्मण और क्षत्रिय-ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र; **ओदनः**=भोजन; **भवतः**=बन जाते हैं (तथा); **मृत्युः यस्य**=सबका संहार करने वाली मृत्यु (भी) जिसका; **उपसेचनम्**=उपसेचन (भोज्य वस्तु के साथ लगाकर खाने का व्यंजन, तरकारी आदि); **(भवति)**=बन जाता है; **सः यत्र**=वह परमेश्वर जहाँ (और); **इत्था**=जैसा है, यह ठीक-ठीक; **कः वेद**=कौन जानता है ॥२५॥

व्याख्या–मनुष्य-शरीर में भी धर्मशील ब्राह्मण और धर्मरक्षक क्षत्रिय का शरीर परमात्मा की प्राप्ति के लिये अधिक उत्तम माना गया है; किन्तु वे भी उन कालस्वरूप परमेश्वर के भोजन बन जाते हैं, फिर अन्य साधारण मनुष्य-शरीरों की तो बात ही क्या है। जो सबको मारने वाले मृत्युदेव हैं, वे भी उन परमेश्वर के उपसेचन अर्थात् भोजन के साथ लगाकर खाये जाने वाले व्यंजन–चटनी-तरकारी आदि की भाँति है। ऐसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि समस्त प्राणियों के और स्वयं मृत्यु के संहारक अथवा आश्रयदाता परमेश्वर को भला, कोई भी मनुष्य इन अनित्य मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा अन्य ज्ञेय वस्तुओं की भाँति कैसे जान सकता है। किसकी सामर्थ्य है, जो सबके जानने वाले को जान ले। अतः (पूर्वोक्त २३ वें मन्त्र के अनुसार) जिसको परमात्मा अपनी कृपा का पात्र बनाकर अपना तत्त्व समझाना चाहते हैं, वही उनको जान सकता है। अपनी शक्ति से उन्हें कोई भी यथार्थ रूप में नहीं जान सकता; क्योंकि वे लौकिक ज्ञेय वस्तुओं की भाँति बुद्धि के द्वारा जानने में आने वाले नहीं हैं ॥२५॥

तृतीया वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

पदार्थ-**(लोके)** संसार में **(सुकृतस्य)** अपने पुण्य कर्मों के **(ऋतम्)** फल को **(पिबन्तौ)** भोगते हुए **(गुहाम्)** बुद्धिरूपी गुफा में **(परमे परार्धे)** परम ब्रह्म के स्थान में **(ब्रह्मविदः)** ब्रह्म के स्वरूप को जानने वाले **(पञ्चाग्यः)** पाँच प्रकार की अग्नियों का सेवन करने वाले **(त्रिणाचिकेताः)** तीन बार या तीन प्रकार के नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले **(छायातपौ)** छाया और धूप के समान (अन्धकार तथा प्रकाश स्वरूप वाले) होते हैं।

भाषार्थ- संसार में अपने पुण्प कर्मों के फल को भोगते हुओं को बुद्धिरूपी गुफा में परम **ब्रह्म के स्थान में प्रविष्ट हुओं को और जो ब्रह्म के स्वरूप को जानने वाले पाँच प्रकार की**

अग्नियों का सेवन करने, वाले और तीन बार या तीन प्रकार से नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले हैं, इन्हें जीव और ब्रह्म को छाया और धूप अथवा अन्धकार तथा प्रकाश स्वरूप वाला कहते हैं।।१ ।।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।

अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ।। २ ।।

पदार्थ- (**ईजानानाम्**) यज्ञ करने वालों का (**अक्षरम्**) कभी नष्ट न होने वाला (**तितीर्षताम्**) संसार रूपी सागर को पार करने की इच्छा वालों का (**अभयम्**) अभय देने वाला (**नाचिकेतं**) नाचिकेत अग्नि को अर्थात् यज्ञीय अग्नि को (**शकेमहि**) जानने में समर्थ हो सकते हैं।

भाषार्थ – यज्ञ करने वालों का जो संसार रूपी सागर से पार करने का सेतु माध्यम है, जो अनश्वर परम ब्रह्म है, संसार सागर को पार करने की इच्छा वालों को अभय देने वाला है, ऐसी नाचिकेत-अग्नि को जानने में हम समर्थ होवें सकते हैं ।।२ ।।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।। ३ ।।

पदार्थ- (**आत्मानम्**) अपनी आत्मा को (**रथिनम्**) रथ का स्वामी (**विद्धि**) जानों (**सारथि**) रथ को खींचने वाले घोड़ो को हांकने वाला (**प्रग्रहम्**) लगाम समझो।

भाषार्थ – अपनी आत्मा को रथी शरीर रूपी रथ में सवार स्वामी जानों, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि जानों और मन को लगाम ही जानों ।।३ ।।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।। ४ ।।

पदार्थ – (**मनीषिणः**) विद्वान् (**हयान्**) रथ को खींचने वाले घोड़ों को (**इन्द्रयाणि**) इन्द्रिया कहते(**आहुः**) कहते हैं (**विषयान्**) शब्द, स्पर्श आदि विषयों को (**गोचरान्**) मार्ग को (**इन्द्रियमनोयुक्तम्**) इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को (**भोक्ता**) भोक्ता अर्थात् स्वामी, उपभोग करने वाला कहते हैं।

भाषार्थ – विद्धान श्रोत्र, त्वग्, चक्षु, नासिका इन्द्रियों को रथ को खींचने वाले घोड़े कहते हैं और उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों को भोगने के मार्ग कहते है।इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता है, इस प्रकार कहते हैं ।।४ ।।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।५ ।।

पदार्थ- (**अविज्ञानवान्**) अज्ञानी लोग (**अयुक्तेन**) अनियन्त्रित (चंचल) (**सारथे**) सारथि के (**दुष्टाश्वाः**) दुष्ट घोड़े (**अवश्यानि**) अनियन्त्रित (जो वश में न हों)।

भाषार्थ - जो अज्ञानी और सदा अनियन्त्रित चंचल मन वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथि के दुष्ट घोड़ों क समान वश में नहीं रहती हैं ।।५ ।।

यस्तु विज्ञानवान भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ।। ६ ।।

पदार्थ - (**विज्ञानवान्**) ज्ञानी (**युक्तेन**) नियन्त्रित (एकाग्र) (**सदश्वाः**) अच्छे, सधे हुए (नियन्त्रित) घोड़े (**वश्यानि**) वश में रहने वाले ।

भाषार्थ - जो ज्ञानी और सदा नियन्त्रित मन वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ योग्य सारथि के अच्छे सधे हुए घोड़ों के समान वश में रहती हैं ।।६ ।।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।।७ ।।

पदार्थ - (**अमनस्कः**) अनियन्त्रित मन वाला (**अशुचिः**) अपवित्र (**तत्पदम्**) उस परम पद को (**संसारम्**) दुःख रूपी संसार को (**अधिगच्छति**) प्राप्त करता है।

भाषार्थ - जो अज्ञानी सदा अनियन्त्रित मन वाला, अपवित्र पापी होता है, वह उस परम पद ब्रह्म पद को प्राप्त नहीं करता है, और दुःख रूपी संसार को प्राप्त करता है ।।७ ।।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।८ ।।

पदार्थ - (**समनस्कः**) नियन्त्रित मन वाला (**शुचिः**) पवित्र (**तत् पदम्**) उस परम पद को (**भूयः न जायते**) फिर जन्म नहीं लेता ।

भाषार्थ - जो ज्ञानी व्यक्ति सदा नियन्त्रित मन वाला पवित्र होता है वह तो उस परम पद 'ब्रह्मपद' को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर जन्म नहीं लेता है ।।८ ।।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।। ९ ।।

पदार्थ - (**विज्ञानसारथिः**) विज्ञान सारथि वाला (**प्रग्रहवान्**) लगाम वाला (**अध्वनः**) मार्ग के (**पारम्**) पार (**विष्णोः**) परम व्यापक ब्रह्म का (**परम पदम्**) सर्वोच्च पद ।

भाषार्थ - जो मनुष्य ज्ञानरूपी सारथि वाला और मन को लगाम के रूप में नियन्त्रण करने वाला होता है, वह जीवन रूपी मार्ग के पार को प्राप्त कर लेता है। जो वह परमव्यापक ब्रह्म

का सर्वोच्च पद है ।।९ ।।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ।। १० ।।

पदार्थ – (अर्थाः) विषय (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से (पराः) सूक्ष्म (बुद्धेः) बुद्धि से ।

भाषार्थ – इन्द्रियों से विषय सूक्ष्म है और विषयों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है, बुद्धि से महान् आत्मा सूक्ष्म है ।।१० ।।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरूषः परः ।

पुरूषान्न परः किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।। ११ ।।

पदार्थ – (अव्यक्तम्) दिखायी न देने वाला प्रकृति तत्त्व (महतः) महत् तत्त्व से (परम्) सूक्ष्म (पुरूषः) चेतन तत्त्व, आत्मा (काष्ठा) सीमा (परागतिः) परम गति ।

भाषार्थ – महत् से (महान आत्मा से) अव्यक्त अर्थात् प्रकृति तत्त्व सूक्ष्म है, अव्यक्त से अर्थात् प्रकृति तत्त्व से पुरूष सूक्ष्म है, पुरूष से कुछ भी सूक्ष्म नहीं है वह चरम सीमा है, परम गति है ।।११ ।।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्रयाबुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।। १२ ।।

पदार्थ – (भूतेषु) प्राणियों में (गूढः) छिपा हुआ (न प्रकाशते) प्रकाशित नहीं होता (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शी साधकों द्वारा (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (अग्रया) तीक्ष्ण बुद्धि से ।

भाषार्थ – सभी प्राणियों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता है। सूक्ष्मदर्शी साधकों द्वारा तो सूक्ष्म और तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा देख लिया जाता है ।।१२ ।।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।। १३ ।।

पदार्थ – (प्राज्ञः) बुद्धिमान् (वाक्) वाणी (मनसि) मन से (यच्छेत्) लीन कर दे (ज्ञाने आत्मनि) ज्ञानमय आत्मा से (शान्ते आत्मनि) शान्त आत्मा में ।

भाषार्थ – बुद्धिमान मनुष्य वाणी को मन में लीन कर दे, उस मन को ज्ञानमय आत्मा में लीन कर दे, ज्ञान को महत् तत्वयुक्त आत्मा में लीन कर दे, उस महत्तत्व युक्त आत्मा को शान्त आत्मा में अर्थात् परमात्मा में लीन कर दे ।।१३ ।।

उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य परान्निबोधत!

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति ।। १४ ।।

पदार्थ – **(उत्तिष्ठत)** उठो **(जाग्रत)** जागो **(वरान्)** श्रेष्ठ पुरूषों को **(निबोधत)** जानो **(कवयः)** ज्ञानी पुरूष **(निशिताः)** तीक्ष्ण **(दुरत्यया)** कठिनता से ।

भाषार्थ – हे नचिकेता! उठो! अज्ञान से जागो! श्रेष्ठ पुरूषों को प्राप्त कर वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करो! ज्ञानी पुरूष उस मार्ग को कठिन बताते हैं, जैसे छुरे की तीक्ष्ण धारा कठिनता से लांघी जाती है ।।१४ ।।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तन्मृमुखात्प्रमुच्यते ।। १५ ।।

पदार्थ – **(अशब्दम्)** शब्द रहित **(अस्पर्शम्)** स्पर्श रहित **(अरूपम्)** रूप रहित **(अव्ययम्)** नाश रहित **(अरसम्)** स्वाद रहित **(अगन्धवत्)** गन्ध रहित **(ध्रुवम्)** स्थिर **(निचाय्य)** जानकर **(प्रमुच्यते)** मुक्त हो जाता है ।।

भाषार्थ – जो ब्रह्म रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, नाश रहित तथा स्वाद रहित नित्य, और गन्ध रहित, अनादि, अनन्त जन्म-मरण के बन्धन से रहित महत्तत्त्व से परे और स्थिर है, उसको उस ब्रह्म को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है ।।१५ ।।

नाचिकेतसमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ।। १६ ।।

पदार्थ – **(मृत्युः)** यम **(सनातनम्)** अनादि **(उपाख्यानम्)** कथा को **(महीयते)** सुख प्राप्त करता है।

भाषार्थ – यम द्वारा कहे हुए अनादि नचिकेता के आख्यान को कहकर और सुनकर ज्ञानी पुरूष ब्रह्मलोक में सुख प्राप्त करते हैं ।।१६ ।।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।

प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ।।

तदानन्त्याय कल्पते ।। १७ ।।

पदार्थ – **(प्रयतः)** संयमी व्यक्ति **(ब्रह्मसंसदि)** विद्वानों की सभा में **(श्राद्धकाले)** श्राद्ध के समय में **(गुह्यम्)** रहस्यमय **(आनन्त्याय)** अनन्तफल के लिए (मोक्ष के लिए) **(कल्पते)** समर्थ हो जाता है।

भाषार्थ – जो सयंमी व्यक्ति विद्वानों की सभा में, श्राद्ध के समय में इस परम रहस्य युक्त आख्यान को सुनाता है, वह अनन्तफल मोक्ष के लिए समर्थ हो जाता है, अनन्त मोक्ष फल के लिए समर्थ हो जाता है ।।१७ ।।

कठोपनिषद् द्वितीय-अध्याय

प्रथमा वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः, तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ।। १ ।।

पदार्थ – **(स्वयम्भूः)** स्वयं उत्पन्न होने वाला परमेश्वर **(खानि)** इन्द्रियों को **(पराञ्चि)** बाहर की ओर गति वाला बर्हिमुख प्रवृत्ति वाला **(व्यतृणत्)** बनाया है **(पराङ्)** बाहर की ओर **(अन्तरात्मन्)** अन्तरात्मा को **(अमृतत्वम्)** मोक्ष को **(इच्छन्)** इच्छा करता हुआ **(आवृत्तचक्षुः)** नेत्रों को अन्तर्मुखी करके **(प्रत्यक्)** प्रत्यक्ष **(ऐक्षत्)** देखता है।

भाषार्थ – परमेश्वर ने श्रोत्र आदि इन्द्रियों को बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाला बनाया है, इसलिए मनुष्य बाहर की ओर देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता कोई ज्ञानी मोक्ष की इच्छा करता हुआ नेत्रों को अन्तर्मुखी करके प्रत्यक्ष अन्तरामा को देख लेता है ।।१ ।।

पराचः कामाननुयान्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।। २ ।।

पदार्थ – **(बालाः)** अज्ञानी **(पराचः)** बहिर्मुखी **(कामान्)** काम्य विषयों को **(अनुयान्ति)** पीछा करते हैं **(विततस्य)** चारों ओर फैले हुए **(मृत्योः)** मृत्यु के **(पाशम्)** बन्धन को **(ध्रुवम्)** निश्चित **(अमृतत्वम्)** मोक्ष को **(इह)** इस संसार में **(अध्रुवेषु)** अनित्य पदार्थों के विषय में **(न प्रार्थयन्ते)** याचना नहीं करते हैं।

भाषार्थ – अज्ञानी बाह्य काम्य-विषयों का पीछा करते हैं, वे चारों ओर फैले हुए मृत्यु के बन्धन को प्राप्त होते हैं, परन्तु ज्ञानी निश्चल मोक्ष को जानकर इस संसार में अनित्य पदार्थों के विषय में याचना नहीं करते हैं ।।२ ।।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वैतत् ।। ३ ।।

पदार्थ-**(येन)** जिसके द्वारा **(मैथुनान्)** सांसारिक संभोगों को **(एतेन एव)** इस आत्मा के द्वारा ही **(विजानाति)** जानता है **(परिशिष्यते)** शेष रहता है **(एतत् वैतत्)** यही आत्मा है।

भाषार्थ – जिस, इस आत्मा के द्वारा ही रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन को जानता है। यही वह आत्मा है जिसके विषय में नचिकेता जानने का इच्छुक है ।।३ ।।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।४ ।।

पदार्थ – (स्वप्नान्तम्) स्वप्न में व्याप्त (जागरितान्तम्) जागृत अवस्था में प्राप्त (उभौ) दोनों को (अनुपश्यति) देखता है (आत्मानम्) आत्मा को (महान्तम्) महान् (विभुम्) व्यापक (मत्वा) मानकर (धीरः) बुद्धिमान् (शोचति) शोक को प्राप्त होता है।

भाषार्थ – जिसके द्वारा स्वप्नावस्था में व्याप्त और जाग्रतावस्था में प्राप्त होने वाले दोनों रूपों को ही देखता है, उस महान् सर्वव्यापक आत्मा को जानकर बुद्धिमान् शोक को प्राप्त नहीं होता है ।।४।।

य इदं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।

ईशानं भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते एतद्वै तत् ।।५ ।।

पदार्थ – (मध्वदम्) कर्मों के फल को भोग करने वाले को (जीवम्) जीव को (भूतभव्यस्य) भूत और भविष्य के (ईशानम्) स्वामी को (अन्तिकात्) समीप से (ततः) इस ज्ञान प्राप्त होने के बाद (न विजुगुप्सते) घृणा नहीं करता ।

भाषार्थ – जो इस कर्मों के फल को भोगने वाले जीव को भूत और भविष्य के स्वामी आत्मा को समीप से जान लेता है। इस ज्ञान प्राप्त होने के बाद वह दूसरों से घृणा नहीं करता। यही वह आत्मा है ।।५ ।।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं या भूतेभिर्व्यपश्यत । एत द्वैतत् ।।६ ।।

पदार्थ – (तपसः) तप से (जातम्) उत्पन्न (अद्भ्य) जलों से (गुहाम्) हृदय रूपी गुफा में (व्यपश्यत) देखता है।

भाषार्थ – जो तप से पूर्व उत्पन्न हुआ है, जल से भी पूर्व उत्पन्न हुआ है तथा प्राणियों के द्वारा हृदय रूपी गुफा में प्रवेश कर छिपे हुए को जो ब्रह्म देखता है, यही वह आत्मा है ।।६ ।।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ।।७ ।।

पदार्थ – (देवतामयी) दिव्य शक्तियों से सम्पन्न (प्राणेन) प्राण के साथ (सम्भवति) उत्पन्न होती है (भूतेभिः) भूतों के साथ (व्यजायत) उत्पन्न हुई ।

भाषार्थ – जो दिव्य शक्तियों से सम्पन्न अदिति, प्राण हिरण्यर्भ के साथ उत्पन्न होती है, जो हृदय रूपी गुफा में प्रवेश करके स्थित रहती हुई पञ्चभूतों के साथ उत्पन्न हुई है, यही वह आत्मा है ।।७ ।।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।

दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वैतत् ।।८।।

पदार्थ - **(सुभृत)** अच्छी प्रकार धारण किये हुए **(अरण्योनिहितः)** अरणियों में स्थित **(जातवेदाः)** सभी उत्पन्न वस्तुओं में पायी जाने वाली अग्नि **(जागृवद्भिः)** सावधान **(हविष्मद्भिः)** हवियुक्त **(दिवे दिवे)** प्रतिदिन **(ईड्यः)** स्तुति के योग्य है।

भाषार्थ - गर्भिणी स्त्रियों के द्वारा अच्छी प्रकार धारण किये गये गर्भ के समान, अरणियों में स्थित सभी उत्पन्न वस्तुओं में पायी जाने वाली अग्नि के समान सावधान तथा हवियुक्त मनुष्यों द्वारा प्रतिदिन पूजनीय, स्तुतियोग्य है। यही वह आत्मा है ।।८ ।।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।

तं देवाः सर्वे अपितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वैतत् ।। ९ ।।

पदार्थ - **(यत्)** जहाँ से **(उदेति)** निकलता है **(अर्पिताः)** अर्पित हो जाते है (लीन हो जाते है) **(उ)** निश्चय ही **(कश्चन)** कोई **(अत्येति)** अतिक्रमण करता है।

भाषार्थ - जहाँ से सूर्य निकलता है और जिसमें छिप जाता है, उसमें सभी देवता लीन हो जाते हैं। उससे निश्चय ही कोई अतिक्रमण नहीं करता है। यही वह आत्मा है ।। ९ ।।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।। १० ।।

पदार्थ - **(यत् एव)** जो ही **(इह)** इस संसार में **(तत्)** वही **(अमुत्र)** उस अव्यक्त में **(इह)** इस विषय में **(मृत्योः)** मृत्यु से **(मृत्यम्)** मृत्यु को **(आप्नोति)** प्राप्त करता है।

भाषार्थ - जो सत्ता इस संसार में है वही सत्ता वहाँ परलोक में है अर्थात् अव्यक्त में है, जो परलोक में अर्थात् अव्यक्त में है, वह यहाँ है, जो अज्ञानी इस संसार में अनेकत्व के समान अर्थात् भिन्न-भिन्न देखता है, वह मृत्यु को, जीवन-मरण के चक्र में प्राप्त करता है ।।१० ।।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।। ११ ।।

पदार्थ - **(इदम्)** इस ब्रह्म को **(मनसा)** मन से **(आप्तव्यम्)** प्राप्त करना चाहिये **(इह)** संसार में ।

भाषार्थ - इस ब्रह्म को मन से ही प्राप्त करना चाहिये। प्राप्त हो जाने पर इस संसार में कुछ भी इससे भिन्न नहीं है, जो अज्ञानी यहां भिन्नता के समान देखता है, वह मृत्यु को जीवन-मरण के चक्र में प्राप्त करता है ।।११ ।।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते ।। एतद्वै तत् ।।१२ ।।

पदार्थ – **(अगुष्ठमात्रः)** अँगूठे के बराबर **(पुरूषः)** आत्मा **(आत्मनि)** अपने शरीर के **(भूतभव्यस्य)** भूत और भविष्यत् का **(ईशानः)** स्वामी **(न विजुगुप्सते)** छिपाने की इच्छा नहीं करता।

भाषार्थ – अँगूठे के बराबर छोटे आकार का पुरूष आत्मा अपने शरीर के बीच में स्थित है। वही भूत और भविष्य का स्वामी है। उसे जानकर, उससे कुछ भी छिपाने की इच्छा नहीं करता। यही वह आत्मा है ।।१२ ।।

अंगुष्ठमात्रः पुरूषो ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ।। १३ ।।

पदार्थ – **(अधूमकः)** घूमरहितत **(ज्योतिः इव)** अग्नि के समान **(स एव)** वही **(श्वः)** कल (भविष्य में) ।

भाषार्थ – अँगूठे के बराबर आत्मा धुँए से रहित ज्योति के समान प्रकाशमान भूत और भविष्य का स्वामी है। वह ही आज वर्तमान समय में है, वह ही कल भविष्य में रहेगा। वही यह आत्मा है ।।१३ ।।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।

एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुधावति ।। १४ ।।

पदार्थ – **(दुर्गे)** दुर्गम पहाड़ी पर चोटी पर **(वृष्टम्)** बरसा हुआ **(उदकम्)** जल **(विधावति)** सब ओर बहता है **(धर्मान्)** आत्माओं को (वस्तुओं को) **(पश्यन्)** देखता हुआ **(तान् एव)** उनको ही **(अनुधावति)** पीछे दौड़ती है।

भाषार्थ – जिस प्रकार दुर्गम पर्वत चोटियों पर बरसा हुआ जल घाटियों में अनेक रूपों में बहता है। इसी प्रकार वस्तुओं के गुणों को आत्मा से भिन्न देखता हुआ मनुष्य उनके ही पीछे दौड़ता है ।।१४ ।।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।

एवं मुने विजानत आत्मा भवति गौतम ।। १५ ।।

पदार्थ – **(गौतम)** हे नचिकेता **(शुद्धे)** शुद्ध जल में **(आसिक्तम्)** डाला गया **(जादृक् एव)** वैसा ही **(विजानतः)** आत्मा के स्वरूप को जानने वाले **(मुनेः)** मुनि की।

भाषार्थ – हे नचिकेता ! जिस प्रकार जल शुद्ध पात्र में डाला हुआ वैसा ही शुद्ध आकार वाला हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी मुनि की आत्मा ब्रह्म में मिलकर वैसी ही, अर्थात् उसी आकार की हो जाती है ।।१५ ।।

द्वितीया वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वैतत् ।। १ ।।

पदार्थ – **(अजस्य)** अजन्मा **(अवक्र चेतसः)** सरल चित्त वाला **(एकादशद्वारम्)** ग्यारह द्वारों वाला **(पुरम्)** शरीर रूपी नगर **(अनुष्ठाय)** ध्यान करके **(न शोचति)** शोक को प्राप्त नहीं होता है **(विमुक्तः)** जन्म-मरण से मुक्त हुआ **(विमुच्यते)** छुट जाता है।

भाषार्थ – अजन्मा और सरल चित्त वाले जीवात्मा का ग्यारह द्वार वाला शरीर रूपी नगर है, इस नगर में आत्मा का ध्यान करके प्रतिष्ठित करके, मनुष्य शोक को प्राप्त कर लेता है। वही यह आत्मा है ।।१ ।।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर्दुरोणसत् ।।

नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।।२।।

पदार्थ – **(हंस)** सूर्य **(शुचिषद्)** आकाश में स्थित **(वसुः)** वायु **(अन्तरिक्षसद्)** अन्तरिक्ष आकाश और पृथिवी के मध्य में स्थित **(होता)** अग्नि **(वेदिषद्)** यज्ञवेदी में स्थित है **(अतिथिः)** सोम **(दुरोणसत्)** कलश में रहने वाला **(नृषद्)** मनुष्यों में रहने वाला **(वरसद्)** देवताओं में रहने वाला **(ऋतसद्)** सत्य में या यज्ञ में रहने वाला **(व्योमसद्)** आकाश में रहने वाला **(अब्जाः)** जल से उत्पन्न (शंख शुक्ति आदि) **(गोजाः)** पृथ्वी से उत्पन्न **(ऋतजाः)** यज्ञ से उत्पन्न **(अद्रिजाः)** पर्वत से उत्पन्न **(ऋतम्)** सत्य **(बृहत्)** महान् ।

भाषार्थ – वह आत्मा सूर्य के रूप में आकाश में स्थित है, वायु के रूप में अन्तरिक्ष में स्थित है, अग्नि के रूप में यज्ञ देवी में स्थित है, सोम के रूप में कलश में रहने वाला है, यह मनुष्यों में रहने वाला है, देवताओं में रहने वाला है, सत्य में अथवा यज्ञ में रहने वाला है, आकाश में रहने वाला है, जल से उत्पन्न शंख शुक्ति आदि है, पृथ्वी से उत्पन्न चावल, गेहूँ आदि है, यज्ञादि से उत्पन्न है पर्वत से उत्पन्न नदी आदि है सत्य और महान् है ।। २ ।।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।

मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ।। ३ ।।

पदार्थ – **(प्राणम्)** प्राणवायु को **(ऊर्ध्वम्)** ऊपर की ओर **(उन्नयति)** ले जाता है **(अपानम्)** अपान वायु को **(प्रत्यक्)** नीचे की ओर **(अस्यति)** फेंकता है **(मध्ये)** शरीर के मध्य में **(आसीनम्)** स्थित **(वामनम्)** वामन की **(विश्वेदेवाः)** सभी देव (इन्द्रियाँ) **(उपासते)** उपासना करते है।

भाषार्थ – यह आत्मा प्राण वायु को ऊपर ले जाता है, अपान वायु को नीचे फेंकना है, शरीर के मध्य में स्थित इस वामन की सभी देव, इन्द्रियाँ, उपासना करते हैं ।। ३ ।।

अस्य विस्रंसमानस्थ शरीरस्थस्य देहिनः ।

देहाद्विमुच्यमानस्थ किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ।।४ ।।

पदार्थ – **(शरीरस्थस्य)** शरीर में स्थित **(देहिनः)** आत्मा के **(विस्रंसमानस्य)** शरीर के विनष्ट होते हुए के **(देहात्)** शरीर से **(विमुच्यमानस्य)** पृथक् होते हुए का **(परिशिष्यते)** शेष रहात है।

भाषार्थ – शरीर में स्थित इस आत्मा के शरीर के विनष्ट होने पर तथा शरीर से पृथक् होते हुए का यहाँ इस शरीर में क्या शेष रहता है ? कौन सा तत्त्व बचता है, अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता है। वही यह आत्मा है ।।४ ।।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।५ ।।

पदार्थ – **(मर्त्यः)** मनुष्य **(इतरेण)** इन दोनों से (प्राण और अपान से) भिन्न **(एतौ)** ये दोनों (प्राण और अपान) **(उपाश्रितौ)** आश्रित है।

भाषार्थ – कोई भी मनुष्य या प्राणी वायु से और न अपान वायु से जीता है। अपितु इन दोनों से भिन्न आत्मा से जीवित रहता है जिस पर (आत्मा पर) ये दोनों प्राण और अपान वायु आश्रित रहते हैं ।।५ ।।

हन्त ते इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।।६ ।।

पदार्थ – **(गुह्यम्)** रहस्यमय **(समातनम्)** अनादि शाश्वत **(प्रवक्ष्यामि)** कहूँगा।

भाषार्थ – हे गौतम ! नचिकेता ! प्रसन्नता की बात है कि मैं तुम्हें इस रहस्यमय अनादि ब्रह्म के विषय में कहूँगा और जिस प्रकार मृत्यु प्राप्ति के बाद आत्मा होती है। अर्थात् मृत्यु के पश्चात् आत्मा की क्या गति होती है ।।६ ।।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।।७ ।।

पदार्थ – **(अन्ये)** कुछ **(देहिन)** जीवात्मा **(शरीरत्वाय)** शरीर प्राप्त करने के लिए **(योनिम्)** गर्भाशय को **(प्रपद्यन्ते)** प्राप्त होते हैं **(यथाकर्म)** कर्मों के अनुसार **(यथाश्रुतम्)** अपने ज्ञान के अनुसार **(स्थाणुम्)** सर्वत्र स्थित ब्रह्म को **(अनुसंयन्ति)** प्राप्त करते हैं।

भाषार्थ – कुछ जीवात्मा शरीर प्राप्त करने के लिए गर्भाशय को प्राप्त होते हैं, कुछ अन्य अपने कर्मों के अनुसार तथा अपने ज्ञान के अनुसार सर्वत्र स्थित ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ।।७ ।।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरूषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ।।८ ।।

पदार्थ – (**कामम्**) कमनीय (**निर्मिमाणः**) निर्माण करता हुआ (**जागर्ति**) जागता है (**तदेव**) वही (**शुक्रम्**) पवित्र (**सर्वे लोकाः**) समस्त लोक (**श्रिताः**) स्थित रहते हैं (**तत् उ**) उससे ही (**अत्येति**) अतिक्रमण करता है।

भाषार्थ – जो यह पुरूष आत्मा सब कमनीय कर्मों का निर्माण करता हुआ सभी के सोये हुए होने पर सब भूतों में जागता रहता है पवित्र है यही ब्रह्म है, वही अमर कहा जाता है। उसी में समस्त लोक स्थित हैं, उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह आत्मा है ।।८ ।।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।। ९ ।।

पदार्थ – (**भुवनम्**) संसार में (**प्रविष्टः**) प्रविष्ट हुआ (**रूपम् रूपम्**) तदाकार होकर (**प्रतिरूपः**) प्रतिबिम्बित (**सर्वभूतान्तरात्मा**) सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में रहने वाला (**बहिः**) पदार्थों से बाहर ।

भाषार्थ – जिस प्रकार एक ही अग्नि संसार में प्रविष्ट हुआ तदाकार रूप में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार समस्त प्राणियों के हृदय में रहने वाला आत्मा भी एक ही प्रत्येक रूप में उसी आकार वाला है और उससे बाहर भी है ।।९ ।।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।१० ।।

पदार्थ – (**यथा**) जिस प्रकार (**प्रविष्टः**) प्रविष्ट हुआ (**प्रतिरूपः**) प्रतिबिम्ब (**बहिः**) बाहर।

भाषार्थ – जिस प्रकार एक ही वायु संसार में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ में तदाकर रूप में हो जाता है उसी प्रकार अकेली समस्त प्राणियों के हृदय में रहने वाली आत्मा, प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में तदाकार रूप में हो जाती है, और उससे बाहर भी है ।।१० ।।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु नं लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।। ११ ।।

पदार्थ – (**सर्वलोकस्य**) सभी लोकों के (**चाक्षुषैः**) नेत्र सम्बन्धी (**बाह्यदोषैः**) बाहरी दोषों से (**न लिप्यते**) लिप्त नहीं होता (**सर्वभूतान्तरात्मा**) सब प्राणियों के हृदय में अवस्थित (**लोकदुःखेन**) सांसारिक दुःख से।

भाषार्थ – जिस प्रकार सूर्य सभी लोगों का चक्षु होता हुआ नेत्र सम्बन्धी दोषों से अन्धता आदि से लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार एक सब प्राणियों के हृदय में अवस्थित अन्तरात्मा सांसारिक दु:खों से लिप्त नहीं होता है, क्योंकि वह आत्मा इन दु:खों से बाहर भी है ।।११ ।।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।। १२ ।।

पदार्थ – (**वशी**) वश में रहने वाला (**एकं रूपं**) एक रूप को (**बहुधा**) अनेक रूप वाला (**धीरा**) विद्वान् (**अनुपश्यन्ति**) देखते है (**आत्मास्थम्**) आत्मा में स्थित को (**शाश्वतम्**) नित्य (**इतरेषाम्**) दूसरे पुरूषों को ।

भाषार्थ – एक, सबको वश में रखने वाला, सभी प्राणियों के हृदय में स्थित जो एक रूप को अनेक रूपों वाला बना देता है, उस आत्मा में स्थित तत्त्व को जो बुद्धिमान् देखते हैं, उनको नित्य सुख प्राप्त होता है। उनसे भिन्न दूसरे पुरूषों को नहीं ।।१२ ।।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। १३।।

पदार्थ – (**अनित्यानाम्**) अनित्य पदार्थों में (**चेतनानाम्**) चेतन प्राणियों में (**कामान्**) कामनाओं को (**विदधाति**) उत्पन्न करता है (**शाश्वती**) नित्य।

भाषार्थ – जो अनित्य पदार्थों में नित्य है, चेतन प्राणियों में चेतन है, बहुतों में एक है जो कामनाओं को उत्पन्न करता है उस आत्मा में स्थित को जो बुद्धिमान् देखते हैं, उनको ही नित्य सुख शान्ति प्राप्त होती है, अन्य (दूसरों) को नहीं ।।१३ ।।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।

कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ।। १४ ।।

पदार्थ – (**तत् एतत्**) वही यह (**अनिर्देश्यम्**) अनिर्वचनीय (**कथम्**) किस प्रकार (**विजानीयाम्**) जानूं (**किमु**) क्या (**भाति**) प्रकाशित होता है (**विभाति**) दूसरों के द्वारा प्रतिभासित होता है।

भाषार्थ – नचिकेता फिर शंका करता है–वही यह है इस प्रकार परम आनन्द तत्त्व को विद्वान् अनिर्वचनीय मानते हैं उसको किस प्रकार मैं जानूँ ? क्या वह स्वयं प्रकाशित होता है, अथवा दूसरों के द्वारा प्रतिभासित होता है ।।१४ ।।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। १५ ।।

पदार्थ -(**भाति**) प्रकाशित होता है (**न चन्द्रतारकम्**) न चन्द्रमा न तारे (**इमाः**) ये (**विद्युतः**) बिजलियाँ (**भान्तम्**) प्रकाशित होते हुए के (**अनुभाति**) प्रकाशित होता है (**तस्य**) उसी की (**भासा**) कान्ति से (**सर्वमिदम्**) ये सब सूर्य, चन्द्रमा आदि (**विभाति**) प्रकाशित होते हैं।

भाषार्थ – नचिकेता द्वारा पूछे गए प्रश्न को कि क्या आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है या किसी अन्य के द्वारा सूर्य, चन्द्रमा आदि के द्वारा प्रकाशित किया जाता है ? आचार्य यम उत्तर देते हुए यह कहते हैं, कि उस आत्मा के प्रति न सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा और न तारे न ही ये बिजलियाँ प्रकाशित होती हैं, फिर यह अग्नि कहाँ से प्रकाशित हो सकती है ? उसके प्रकाशित होते हुए ही ये सब प्रकाशित होते हैं। उसकी कान्ति से ही यह सब कुछ सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशित होते हैं ।।१५ ।।

तृतीया वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे, तदु नात्येति कश्चन ।। एतद्वै तत् ।। १ ।।

पदार्थ - (**एषः**) यह (**सनातनः**) सदा से एक ही रूप में रहने वाला पुरातन (**अश्वत्यः**) पीपल का वृक्ष (**ऊर्ध्वमूलः**) जिसकी जड़ ऊपर की ओर है (**अवाक्शाखः**) जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई है (**तद् एव**) वही (**शुक्रम्**) पवित्र (**श्रिताः**) आश्रित रहते है (**अत्येति**) अतिक्रमण करता है।

भाषार्थ – यह सदा से एक ही रूप में रहने वाला संसार रूपी पीपल का वृक्ष है, जिसकी जड़ ऊपर की ओर है, और जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई है। वही पवित्र है, वही ब्रह्म है और वही अमृत अमरणधर्मा तत्त्व कहा जाता है, उसमें सब लोक आश्रित हैं, उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह ही वह आत्मा है ।।१ ।।

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। २ ।।

पदार्थ - (**प्राणे**) ब्रहम में (**एजति**) गतिशील होता है (काँपता है) (**निःसृतम्**) निकला है (**उद्यत वज्त्रम्**) उठे हुए वज्त्र (**महत् भयम्**) बड़ा भय (**विदुः**) जानते है (**ते**) वे (**अमृताः भवन्ति**) अमर हो जाते हैं।

भाषार्थ – जो यह कुछ भी सम्पूर्ण संसार है उसी ब्रह्म में गतिशील है, उसी से निकला है तथा उठे हुए वज्र के समान एक बड़ा भय है, जो इस तथ्य को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ।।२।।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।। ३ ।।

पदार्थ - **(अस्य)** इस ब्रहम के **(भयात्)** भय से **(तपति)** तपता है (जलता है) **(पञ्चमः)** पाँचवां ।

भाषार्थ - इस ब्रह्म के भय से अग्नि तपती है, इसके भय से सूर्य तपता है, इसके भय से इन्द्र, वायु और पाँचवीं मृत्यु दौड़ती है ।। ३ ।।

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।। ४ ।।

पदार्थ - **(चेत)** यदि **(इह)** इस जन्म में **(विस्रसः)** विनाश से **(प्राक्)** पहले **(बोद्धुम्)** जानने में **(अशकत्)** समर्थ होता है **(सर्गेषु)** नयी सुष्टि के निर्माण के समय **(लोकेषु)** लोकों में **(शरीरत्वाय)** शरीर धारण करने के लिए **(कल्पते)** समर्थ हो जाता है।

भाषार्थ - यदि इस जन्म में मनुष्य शरीर के विनाश से पूर्व इस अमरता के रहस्य के जानने में समर्थ होता है, उसे मोक्ष मिलता है, अन्यथा नयी-नयी सृष्टियों के निर्माण के समय भिन्न-भिन्न लोकों में शरीर धारण करने में समर्थ होता है ।।४ ।।

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।

यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके, छायातपयोरिव ब्रहमलोके ।। ४ ।।

पदार्थ - **(यथा)** जिस प्रकार **(आदर्शे)** दर्पण में **(तथा)** उसी प्रकार **(आत्मनि)** अपने शरीर में **(स्वप्ने)** स्वप्न में **(पितृलोके)** पितृलोक में **(अप्सु)** जलों में **(परिददृशे इव)** दिखायी सा पड़ता है **(छायातपयोः इव)** छाया और धूप के समान ।

भाषार्थ - जिस प्रकार दर्पण में, उसी प्रकार अपने शरीर में, जिस प्रकार स्वप्न में उसी प्रकार पितृलोक में, जिस प्रकार जलों में, उसी प्रकार गन्धर्वलोक में इस आत्मा का स्वरूप दिखायी सा पड़ता है, ब्रह्मलोक में छाया और धूप के समान दिखायी देता है।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।

पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ।।६ ।।

पदार्थ - **(धीरः)** बुद्धिमान् **(पृथगभावम्)** परस्पर पृथक्ता के **(उदयास्तमयौ)** उदय और अस्त होने की **(उत्पद्यमानानाम्)** उत्पन्न होने वालो का **(मत्वा)** जानकार **(न शोचति)** शोक नहीं करता ।

भाषार्थ - बुद्धिमान् मनुष्य इन्द्रियों की परस्पर पृथक्ता को, तथा और जो उनके उदय

और अस्त होने को, और भिन्न-भिन्न उत्पन्न होने वाली इन्द्रियों को जानकर, शोक नहीं करता।।६।।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।।

सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ।।७ ।।

पदार्थ - **(इन्द्रियेभ्यः)** इन्द्रियों से **(परम)** श्रेष्ठ **(सत्त्वम्)** बुद्धि **(महतः)** महत् से।

भावार्थ - इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धि से भी बढ़कर महान् आत्मा है, महत् से, बुद्धि से, श्रेष्ठ अव्यक्त है ।।७ ।।

अव्यक्तात्तु परः पुरूषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।

यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ।।७ ।।

पदार्थ - **(अव्यक्तात्)** अव्यक्त से **(परः)** श्रेष्ठ **(व्यापक)** व्यापक **(अलिङ्ग)** लिङ्ग से रहित (कारण रहित) **(यम्)** जिसकी **(जन्तुः)** प्राणी **(ज्ञात्वा)** जानकर **(मुच्यते)** मुक्त हो जाता है **(अमृतत्वम्)** अमरता को।

भाषार्थ - अव्यक्त से भी श्रेष्ठ पुरूष है, जो सर्वव्यापक लिङ्ग से रहित ही है। प्राणी जिसको जानकर मुक्त हो जाता है, और अमरता को प्राप्त करता है ।।७ ।।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।८ ।।

पदार्थ - **(अस्य)** इस आत्मा का **(संदृशे)** दर्शन (प्रत्यक्ष) का विषय **(कश्चन अभिक्लृप्तः)** स्थिर होकर देखते हैं **(एतद्)** यह **(विदुः)** जानते हैं।

भाषार्थ - इस आत्मा का रूप दर्शन का विषय नहीं है, कोई इसको नेत्रों से नहीं देख सकता। इसके हृदय से बुद्धि से और मन से स्थिर होकर देखते हैं जो यह जानते हैं वे अमर हो जाते है ।।८।।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।।१० ।।

पदार्थ - **(पञ्चज्ञानानि)** पाँचों ज्ञान (इन्द्रियों) **(मनसा सह)** मन के साथ **(अवतिष्ठन्ते)** स्थिर हो जाते हैं (अपने-अपने व्यवहार से रुक जाते हैं) **(न विचेष्टते)** गति नहीं करती **(ताम्)** उसको **(परमाम्)** परम **(आहुः)** कहते हैं।

पदार्थ - जब पाँचों ज्ञान ज्ञानेन्द्रियाँ, मन के साथ स्थिर हो जाती है और बुद्धि भी सांसारिक विषयों के प्रति गति नहीं करती, उसको उस स्थिति को परम गति मोक्ष कहते हैं।।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति हि प्रभवाप्ययौ ।। ११ ।।

पदार्थ – **(ताम्)** उसको गति को **(स्थिराम्)** स्थिर अर्थात् आत्म केन्द्रित की हुई **(इन्द्रिधारणाम्)** इन्द्रियों की नियन्त्रित स्थिति को **(अप्रमत्तः)** प्रमाद रहित (सावधान) **(प्रभवाप्ययौ)** उत्पत्ति और विनाश ।

भाषार्थ – उस स्थिर अर्थात् आत्मकेन्द्रित की हुई इन्द्रियां की नियन्त्रित स्थिति को विद्वान् योग ऐसा मानते हैं, तब उस योग की स्थिति में प्रमाद रहित हो जाता है, क्योंकि योग का उत्पत्ति और विनाश सम्भव है ।।११ ।।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।। १२ ।।

पदार्थ – **(वाचा)** वाणी से **(मनसा)** मन से **(चक्षुषा)** चक्षु से **(प्राप्तुं शक्यः)** प्राप्त किया जा सकता है **(अस्ति)** है **(इति)** ऐसा **(ब्रुवतः)** मानने वाले का **(तत्)** उसे **(अन्यत्र)** अतिरिक्त **(कथम्)** किस प्रकार **(उपलभ्यते)** पा सकता है।

भाषार्थ – यह आत्मा न तो वाणी से, न मन से और न चक्षु से प्राप्त किया जा सकता है उसका, अस्तित्व है ऐसा मानने वाले के अतिरिक्त उसे किस प्रकार पा सकता है ।।१२ ।।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ।। १३ ।।

पदार्थ – **(अस्ति इति)** वह है **(उपलब्धव्यः)** प्राप्त किया जा सकता है **(तत्त्वभावेन)** तात्त्विक रूप से **(प्रसीददति)** स्वयं प्राप्त हो जाता है।

भाषार्थ – 'वह आत्मा है', इस रूप में वह प्राप्त किया जा सकता है तथा तात्त्विक रूप से भी मिलता है, दोनों में से वह है, इस रूप में प्राप्त करने वालों को तात्त्विक रूप स्वयं प्राप्त हो जाता है ।।१३ ।।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। १४ ।।

पदार्थ – **(यदा)** जब **हृदि)** हृदय में **(स्थिता)** स्थित **(ये)** जो **(कामा)** कामनाएँ **(प्रमुच्यन्ते)** छूट जाती है **(मर्त्यः)** मनुष्य **(अमृतः)** अमर **(अत्र)** यहीं (इस जीवन में **(समश्नुते)** प्राप्त कर लेता है।

भाषार्थ – जब सम्पूर्ण कामनाएँ, जो इसके हृदय में स्थित हैं, छूट जाती है, तब मनुष्य

अमर हो जाता है, और यहीं इसी जीवन में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।।१४ ।।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।। १५ ।।

पदार्थ – (**हृदयस्य**) हृदय की (**ग्रन्थयः**) ग्रन्थियां (गांठे,, बन्धन) (**इह**) इसी जन्म में (**प्रतिद्यन्ते**) खुल जाती है (**एतावत्**) इतना ही (**अनुशासनम्**) उपदेश ।

भाषार्थ – जब हृदय की सारी ग्रन्थियाँ अर्थात् गाँठे बन्धन इसी जन्म में खुल जाती है। तब मनुष्य अमर हो जाता है, इतना ही उपदेश है ।।१५ ।।

शतचक्रा च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।। १६ ।।

पदार्थ – (**हृदयस्य**) हृदय की (**शतं च एका**) एक सौ एक (**नाड्यः**) नाड़ियाँ (**मूर्धानम्**) सिर की ओर (**अभिनिःसृता**) निकली हुई है (**ऊर्ध्वम्**) ऊपर को (**आयन्**) जाता हुआ (**अमृतत्वम्**) अमरता को (**एति**) प्राप्त होता है (**उत्क्रमणे**) प्राणों के निकलते समय (**विष्वक्**) चारों ओर (भिन्न-भिन्न) मार्गों से ।

भाषार्थ – हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक सुषुम्ना नाडी सिर की ओर ब्रह्मरन्ध्र की ओर निकली हुई है, उससे ऊपर जाता हुआ जीवमुक्त हो अमरता को प्राप्त होता है। अन्य नाड़ियाँ प्राणों के निकलते समय चारों ओर अर्थात् भिन्न-भिन्न मार्गो से जाती है ।।१६ ।।

अंगुष्ठमात्रः पुरूषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धर्मेण तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतम् ।। १७ ।।

पदार्थ – (**अंगुष्ठमात्रः**) अँगूठे के बराबर (**सन्निविष्टः**) विद्यमान रहता है (**स्वात्**) अपने (**मुञ्जात्**) मूँज से (**इषीकाम् इव**) सींक अलग करने के समान (**धैर्येण**) धैर्य के साथ (**प्रवृहेत्**) अलग करे (**शुक्रम्**) शुद्ध (**अमृतम्**) अमर रहने वाला (**विद्यात्**) जाने।

भाषार्थ – अँगूठे के बराबर आकार का पुरूष अन्तरात्मा सदा मनुष्यों के हृदय में विद्यमान रहता है। उसको अपने शरीर से मूञ्ज से सींक अलग करने के समान, धैर्य से अलग करे। उसे शुद्ध एवं अमर जाने ।।१७ ।।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथं लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।

ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येव योऽविदध्यात्ममेव ।। १८ ।।

पदार्थ – (**अथ**) इसके बाद (**मृत्युप्रोक्ताम्**) मृत्यु (यम) द्वारा बतायी गयी (**एताम्**)

इस **(कृत्स्नम्)** सम्पूर्ण **(योगविधिम्)** योगविधि को **(विरजः)** भौतिक दुःखों से रहित **(विमृत्युः)** मृत्यु से रहित **(ब्रह्मप्राप्तः)** ब्रहम को प्राप्त ।

भाषार्थ – इसके बाद मृत्यु अर्थात् यम द्वारा कही हुई इस ब्रह्मविद्या को और सम्पूर्ण योग विधि को प्राप्त कर नचिकेता भौतिक दुःखों से रहित तथा मृत्यु से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया मुक्त हो गया। अन्य भी जो इस प्रकार आत्मा के विषय में जानता है। वह भी मुक्त हो जाता है ।।१८ ।।

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै ।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।।११ ।।

ओ३म् शान्तिः ! शान्ति ! शान्ति !!!

३. तैत्तिरीय उपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्णयतुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकका अङ्ग है। तैत्तिरीय आरण्यकके दस अध्याय हैं। उनमें से सातवें, आठवें और नवें अध्यायों को ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता है।

ॐ शं नोमित्रः शं वरुणः ।शं नो भवत्वर्यमा ।शं न इन्द्रो बृहस्पतिः ।शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे ।नमस्ते वायो ।त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ।ऋतं वदिष्यामि।सत्यं वदिष्यामि ।तन्मामवतु ।तद्वक्तारमवतु ।अवतु माम् ।अवतु वक्तारम् ।

शीक्षा-वल्ली

प्रथम अनुवाक

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः ।शं नो भवत्वर्यमा ।शं न इन्द्रो बृहस्पतिः।शं नो विष्णुरुरुक्रमः।नमो ब्रह्मणे ।नमस्ते वायो ।त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ।ऋतं वदिष्यामि।सत्यं वदिष्यामि ।तन्मामवतु ।तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् ।अवतु वक्तारम् ।ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ इस परमेश्वर के नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है। **नः** – हमारे लिये; **मित्रः** – (दिन और प्राण के अधिष्ठाता) मित्र देवता; **शम् (भवतु)** – कल्याणप्रद हों (तथा); **वरुणः** – (रात्रि और अपान के अधिष्ठाता) वरुण (भी); **शम् (भवतु)** – कल्याणप्रद हों; **अर्यमा** – (चक्षु और सूर्य-मण्डल के अधिष्ठाता) अर्यमा; **नः** – हमारे लिये; **शम् भवतु** – कल्याणकारी हो; **इन्द्रः** – (बल और भुजाओं के अधिष्ठाता) इन्द्र (तथा);

बृहस्पतिः - (वाणी और बुद्धि के अधिष्ठाता) बृहस्पति (दोनों); **नः** - हमारे लिये; **शम् (भवताम्)** - शान्ति प्रदान करने वाले हों; **उरुक्रमः** - त्रिविक्रमरूप से विशाल डगोंवाले; **विष्णुः** - विष्णु (जो पैरों के अधिष्ठाता हैं); **नः** - हमारे लिये; **शम् (भवतु)** - कल्याणकारी हो; **ब्रह्मणे** - (उपर्युक्त सभी देवताओं के आत्मस्वरूप) ब्रह्म के लिये; **नमः** - नमस्कार है; **वायो** - हे वायुदेव; **ते** - तुम्हारे लिये; **नमः** - नमस्कार है; **त्वम् एव** - तुम ही (इसलिये मैं); **त्वाम् एव** - तुमको ही; **प्रत्यक्षम्** - प्रत्यक्ष; **ब्रह्म** - ब्रह्म:; **वदिष्यामि** - कहूँगा; **ऋतम्** - (तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैं तुम्हें) ऋत नामसे; **वदिष्यामि** - पुकारूँगा; **सत्यम्** - (तुम सत्य के अधिष्ठाता हो, अतः मैं तुम्हें) सत्य नामसे; **वदिष्यामि** - कहूँगा; **तत्** - वह (सर्वशक्तिमान् परमेश्वर); **माम् अवतु** - मेरी रक्षा करें; **तत्** - वह; **वक्तारम् अवतु** - वक्ताकी अर्थात् आचार्य की रक्षा करे; **अवतु माम्** - रक्षा करे मेरी (और); **अवतु वक्तारम्** - रक्षा करे मेरे आचार्य की; **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः** - भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या - इस प्रथम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियों के अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वर की भिन्न-भिन्न नाम और रूपों में स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियों के रूप में तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरूण आदि देवताओं के रूप में जो सबके आत्मा - अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकार से हमारे लिये कल्याणमय हों। हमारी उन्नति के मार्ग में और अपनी प्राप्ति के मार्ग में किसी प्रकार का विघ्न न आने दें। सबके अन्तर्यामी उन ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार परमात्मा से शान्ति की प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राण के रूप में समस्त प्राणियों में व्याप्त उन परमेश्वर की वायु के नामसे स्तुति करते हैं - हे सर्वशक्तिमान् सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं समस्त प्राणियों के प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, अतः मैं तुम्हीं को प्रत्यक्ष ब्रह्म के नाम से पुकारूँगा। मैं 'ऋत' नाम से भी तुम्हें पुकारूँगा; क्योंकि सारे प्राणियों के लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋत के तुम्हीं अधिष्ठाता हो। तथा मैं तुम्हें 'सत्य' नाम से पुकारा करूँगा; क्योंकि सत्य (यथार्थ भाषण) के अधिष्ठातृ देवता तुम्हीं हो। वे सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर मुझे सत्-आचरण एवं सत्य-भाषण करने की और सत्-विद्या को ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसार चक्र से मेरी रक्षा करें तथा मेरे आचार्य को इन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्य का प्रचार करने की शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा करें। यहाँ 'मेरी रक्षा करें', 'वक्ताकी रक्षा करें' - इन वाक्यों को दुबारा कहने का अभिप्राय शान्ति पाठ की समाप्ति को सूचित करना है।

ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः - इस प्रकार तीन बार कहने का भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक - तीनों प्रकार के विघ्नों का सर्वथा उपशमन हो जाय। **भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, अतः उनके स्मरण से सब प्रकार की शान्ति निश्चित है।**

द्वितीय अनुवाक

शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम संतानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ।

शीक्षाम् व्याख्यास्यामः – अब हम शिक्षा का वर्णन करेंगे, **वर्णः** – वर्ण; **स्वरः** – स्वर; **मात्राः** – मात्रा; **बलम्** – प्रयत्न; **साम** – वर्णों का समवृति से उच्चारण अथवा गान करने की रीति (और); **संतानः** – संधि; **इति** – इस प्रकार; **शीक्षाध्यायः** – वेद के उच्चारण की शिक्षा का अध्याय; **उक्तः** – कहा गया ।

व्याकरण – इस मन्त्र में वेद के उच्चारण नियमों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करके उनका संकेत मात्र किया गया है। इससे मालूम होता है कि उस समय जो शिष्य परमात्मा की रहस्य विद्या का जिज्ञासु होता था, वह इन नियमों को पहले से ही पूर्णतया जानने वाला होता था; अतः उसे सावधान करने के लिये संकेतमात्र ही यथेष्ट था। इन संकेतों का भाव यह प्रतीत होता है कि मनुष्य को वैसे तो प्रत्येक शब्द के उच्चारण में सावधानी के साथ शुद्ध बोलने का अभ्यास रखना चाहिये। पर यदि लौकिक शब्दों में नियमों का पालन नहीं भी किया जा सके तो कम-से-कम वेदमन्त्रों का उच्चारण तो अवश्य ही शिक्षा के नियमानुसार होना चाहिये। क, ख आदि व्यञ्जन-वर्णों और अ, आ आदि स्वर वर्णों का स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये। दन्त्य 'स' के स्थान में तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। 'व' के स्थान में 'ब' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य वर्णों के उच्चारण में भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। इसी प्रकार बोलते समय किस वर्ण का किस जगह क्या भाव प्रकट करने के लिये उच्च स्वर से उच्चारण करना उचित है, किस का मध्य स्वर से और किसका निम्न स्वर से उच्चारण करना उचित है – इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखकर यथोचित स्वर से बोलना चाहिये। वेदमन्त्रों के उच्चारण में उदात्त आदि स्वरों का ध्यान रखना और कहाँ कौन स्वर है – इसका यथार्थ ज्ञान होना विशेष आवश्यक है; क्योंकि मन्त्रों में स्वर भेद होने से उनका अर्थ बदल जाता है तथा अशुद्ध स्वर का उच्चारण करने वाले को अनिष्ट का भागी होना पड़ता है ह्रस्व, दीर्घ और लुप्त – इस प्रकार मात्राओं के भेदों को भी समझकर यथायोग्य उच्चारण करना चाहिये; क्योंकि ह्रस्व के स्थान में दीर्घ और दीर्घ के स्थान में ह्रस्व उच्चारण करने में अर्थ का बहुत अन्तर हो जाता है – जैसे 'सिता और सीता'। बल का अर्थ है प्रयत्न। वणों के उच्चारण में उनकी ध्वनि को व्यक्त करने में जो प्रयास करना पड़ता है, वही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं – आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर के पाँच और बाह्य के ग्यारह भेद माने गये हैं। स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट, विवृत, ईषद् विवृत, संवृत – ये आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित – ये बाह्य प्रयत्न हैं। उदाहरण के लिये 'क' से लेकर 'म' तक के अक्षरों का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है; क्योंकि कण्ठ आदि स्थानों में प्राणवायु के स्पर्श से इनका उच्चारण होता है। 'क' का बाह्य प्रयत्न

विवार, श्वास, अघोष तथा अल्पप्राण है - इस विषय का विशद ज्ञान प्राप्त करने के लिये व्याकरण देखना चाहिये। वर्णो का समवृत्ति से उच्चारणा या सामगान की रीति ही साम है। इसका भी ज्ञान और तदनुसार उच्चारण आवश्यक है। संतान का अर्थ है संहिता - संधि। स्वर, व्यञ्जन, विसर्ग अथवा अनुस्वार आदि अपने परवर्ती वर्ण के संयोग से कहीं-कहीं नूतन रूप ध ारण कर लेते है; इस प्रकार वर्णों का यह संयोगजनित विकृतिभाव - 'संधि' कहलाता है। किसी विशेष स्थल में जहाँ संधि बाधित होती है, वहाँ वर्ण में विकार नहीं आता, अतः उसे 'प्रकृतिभाव' कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्णों के उच्चारण में उक्त छहों नियमों का पालन आवश्यक है।

तृतीय अनुवाक

सम्बन्ध - अब आचार्य अपने और शिष्य के अभ्युदय की इच्छा प्रकट करते हुए संहिताविषयक उपासनाविधि आरम्भ करते हैं -

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधित्जोतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्॥

नौ - हम (आचार्य और शिष्य) दोनों का; **यशः** - यश; **सह** - एक साथ बढ़े (तथा); **सह** - एक साथ ही; **नौ** - हम दोनों का; **ब्रह्मवर्चसम्** - ब्रह्मतेज भी बढ़े; **अथ** - इस प्रकार शुभ इच्छा प्रकट करने के अनन्तर; **अतः** - यहाँ से (हम); **अधिलोकम्** - लोकों के विषय में; **अधि ाकरणेषु** - स्थानों में; **संहिताया** - संहिता के; **उपनिषदम् व्याख्यास्यामः** - रहस्य का वर्णन करेंगे; **ताः** - इन सबको; **महासंहिताः** - महासंहिता; **इति** - इस नाम से; **आचक्षते** - कहते हैं; **अथ** - उनमें से (यह पहली); **अधिलोकम्** - लोकविषयक संहिता है; **पृथिवी** - पृथ्वी; **पूर्वरूपम्** - पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **द्यौः** - स्वर्गलोक; **उत्तररूपम्**- उत्तररूप (परवर्ण) है; **आकाशः** - आकाशः; **संधिः** - संधि - मेल से बना हुआ रूप (तथा); **वायुः** - वायु; **संधानम्** - दोनों का संयोजक है; **इति** - इस प्रकार (यह); **अधिलोकम्** - लोकविषयक संहिता की उपासना-विधि पूरी हुई।

व्याख्या - इस अनुवाक में पहले समदर्शी आचार्य के द्वारा अपने लिये और शिष्य के लिये भी यश और तेज की वृद्धि के उद्देश्य से शुभ आकाङ्क्षा की गयी है। आचार्य की अभिलाषा यह है कि हमको तथा हमारे श्रद्धालु और विनयी शिष्य को भी ज्ञान और उपासना से उपलब्ध होने वाले यश और ब्रह्मतेज की प्राप्ति हो। इसके पश्चात् आचार्य संहिताविषयक उपनिषद् की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा करते हुए उसका निरूपण करते हैं। वर्णों में जो संधि होती है, उसको

'संहिता' कहते हैं। वही संहिता-दृष्टि जब व्यापकरूप धारण करके लोक आदि को अपना विषय बनाती है, तब उसे 'महासंहिता' कहते हैं। संहिता या संधि पाँच प्रकार की होती है, यह प्रसिद्ध है। स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार - ये ही संधि के अधिष्ठान बनने पर पञ्चसंधि के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। वस्तुतः ये संधि के पाँच आश्रय हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त महासंहिता या महासंधि के भी पाँच आश्रय हैं - लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और आत्मा (शरीर)। तात्पर्य यह कि जैसे वर्णों में संधि का दर्शन किया जाता है, उसी प्रकार इन लोक आदि में भी संहिता-दृष्टि करनी चाहिये। वह किस प्रकार हो, यह बात समझायी जाती है। प्रत्येक संधि के चार भाग होते हैं - पूर्ववर्ण, परवर्ण, दोनों के मेल से होने वाला रूप तथा दोनों का संयोजक नियम। इसी प्रकार यहाँ जो लोक आदि में संहिता-दृष्टि बतायी जाती है, उसके भी चार विभाग होंगे - पूर्वरूप, उत्तररूप, संधि (दोनों के मिलने से होने वाला रूप) और संधान (संयोजक)।

इस मन्त्र में लोकविषयक संहिता-दृष्टि का निरूपण किया गया है। पृथ्वी अर्थात् यह लोक ही पूर्वरूप है। तात्पर्य यह कि लोकविषयक महासंहिता में पूर्व वर्ण के स्थान पर पृथ्वी को देखना चाहिये। इसी प्रकार स्वर्ग ही संहिता का उत्तररूप (परवर्ण) है। आकाश अर्थात् अन्तरिक्ष ही इन दोनों की संधि है और वायु इनका संधान (संयोजक) है। जैसे पूर्व और उत्तर वर्ण संधि में मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राण वायु के द्वारा पूर्ववर्ण स्थानीय इस भूतल का प्राणी उत्तरवर्ण स्थानीय स्वर्ग लोक से मिलाया जाता है। (सम्बद्ध किया जाता है) - यह भाव हो सकता है।

यहाँ यह अनुमान होता है कि इस वर्णन में यथेष्ट लोकों की प्राप्ति का उपाय बताया गया है, क्योंकि फलश्रुति में इस विद्या को जानने का फल स्वर्गलोक से सम्बद्ध हो जाना बताया है; परन्तु इस विद्या की परम्परा नष्ट हो जाने के कारण इस संकेत मात्र के वर्णन से यह बात समझ में नहीं आती कि किस प्रकार कौन-से लोक की प्राप्ति की जा सकती है। इतना तो समझ में आता है कि लोकों की प्राप्ति में प्राणों की प्रधानता है। प्राणों के द्वारा ही मन और इन्द्रियों के सहित जीवात्मा प्रत्येक लोक में गमन होता है - यह बात उपनिषदों में जगह-जगह कही गयी है; किन्तु यहाँ जो यह कहा गया है कि पृथ्वी पहला वर्ण है और द्युलोक दूसरा वर्ण है एवं आकाश संधि (इनका संयुक्तरूप) है - इस कथन का क्या भाव है, यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता।

अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आपः संधिः । वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम् ।

अथ - अब; **अधिज्यौतिषम्** - ज्योतिविषयक संहिता का वर्णन करते हैं; **अग्निः** - अग्नि; **पूर्वरूपम्** - पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **आदित्यः** - सूर्य; **उत्तररूपम्** - उत्तररूप (परवर्ण) है; **आपः** - जल - मेघ; **संधिः** - इन दोनों की संधि - मेल से बना हुआ रूप है (और); **वैद्युतः**

– बिजली; (इनका) **संधानम्** – संधान (जोड़ने का हेतु) है; **इति** – इस प्रकार; **अधिज्यौतिषम्** – ज्योतिविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या – अग्नि इस भूतल पर सुलभ है; अत: उसे संहिता का 'पूर्ववर्ण' माना है; और सूर्य द्युलोक में – ऊपर के लोक में प्रकाशित होता है, अत: वह उत्तररूप (परवर्ण) बताया गया है। इन दोनों से उत्पन्न होने के कारण मेघ ही संधि है तथा विद्युत्-शक्ति ही संधि की हेतु (संध ाान) बतायी गयी है।

इस मन्त्र में ज्योतिविषयक संहिता का वर्णन करके ज्योतियों के संयोग से नाना प्रकार के भौतिक पदार्थों की विभिन्न अभिव्यक्तियों के विज्ञान का रहस्य समझाया गया है। उन ज्योतियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले भोग्य पदार्थों को जल का नाम दिया गया है और उन सबकी उत्पत्ति में बिजली को संयोजक बताया गया है, ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि आजकल के वैज्ञानिकों ने भी बिजली के सम्बन्ध से नाना प्रकार के भौतिक विकास करके दिखाये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद में यह भौतिक उन्नति का साधन भी भलीभाँति बताया गया है; परंतु परम्परा नष्ट हो जाने के कारण उसको समझने और समझाने वाले दुर्लभ हो गये हैं।

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः । प्रवचनं संधानम् । इत्यधिविद्यम् ।

अथ – अब; **अधिविद्यम्** – विद्याविषयक संहिता का आरम्भ करते हैं; **आचार्यः** – गुरू; **पूर्वरूपम्** – पहला वर्ण है; **अन्तेवासी** – समीप निवास करने वाला शिष्य; **उत्तररूपम्** – दूसरा वर्ण है; **विद्या** – (दोनों के मिलने से उत्पन्न) विद्या; **संधिः** – मिला हुआ रूप है; **प्रवचनम्** – गुरुद्वारा दिया हुआ उपदेश ही; **संधानम्** – संधिका हेतु है; **इति** – इस प्रकार (यह); **अधिविद्यम्** – विद्याविषयक संहिता कही गयी ।

व्याख्या – इस मन्त्र में विद्या के विषय में संहिता-दृष्टि उपदेश दिया गया है। भाव यह है कि जिस प्रकार वर्णों की संधि में एक पूर्ववर्ण और एक परवर्ण होता है, उसी प्रकार यहाँ विद्या रूप संहिता में गुरु तो मानो पूर्ववर्ण है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरु की सेवा करने वाला विद्याभिलाषी शिष्य परवर्ण है; तथा संधि में दो वर्णों के मिलने से एक तीसरा नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली विद्या – ज्ञान ही यहाँ संधि है। इस विद्या रूप संधि के प्रकट होने का कारण है – प्रवचन अर्थात् गुरू का उपदेश देना और शिष्य द्वारा उसको श्रद्धापूर्वक सुन-समझकर धारण करना – यही संधान है। जो मनुष्य इस रहस्य को समझकर विद्वान् गुरू की सेवा करता है, वह अवश्य ही विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जाता है।

अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननंसंधानम् । इत्यधिप्रजम् ।

अथ – अब; **अधिप्रजम्** – प्रजाविषयक संहिता कहते हैं; **माता** – माता; **पूर्वरूपम्** – पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **पिता** – पिता; **उत्तररूपम्** – उत्तररूप (परवर्ण) है; **प्रजा** – (उन दोनों के मेल से उत्पन्न) संतान; **संधिः** – संधि है (तथा); **प्रजननम्** – प्रजनन (संतानोत्पत्ति के अनुकूल व्यापार); **संधानम्** – संधान (संधि का कारण) है; **इति** – इस प्रकार (यह); **अधिप्रजम्** – प्रजाविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या – इस मन्त्र में संहिता के रूप में प्रजा का वर्णन करके संतान-प्राप्ति का रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि इस प्रजाविषयक संहिता में माता तो मानो पूर्ववर्ण है और पिता परवर्ण है। जिस प्रकार दोनों वर्णों की संधि से एक नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होने वाली संतान ही इस संहिता में दोनों की संधि (संयुक्तस्वरूप) है। तथा माता और पिता जो ऋतुकाल में शास्त्रविधि के अनुसार यथोचित नियमपूर्वक संतानोत्पत्ति के उद्देश्य से ऋतुकाल में धर्मयुक्त स्त्रीसहवास करता है, वह अवश्य ही अपनी इच्छा के अनुसार श्रेष्ठ संतान प्राप्त कर लेता है।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् ।

अथ – अब; **अध्यात्मम्** – आत्मविषयक संहिता का वर्णन करते हैं; **अधरा हनुः** – नीचे का जबड़ा; **पूर्वरूपम्** – पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **उत्तराहनुः** – ऊपर का जबड़ा; **उत्तररूपम्** – दूसरा रूप (परवर्ण) है; **वाक्** – (दोनों के मिलने से उत्पन्न) वाणी; **संधिः** –संधि है (और); **जिह्वा** – जिह्वा:; **संधानम्** – संधान (वाणीरूप संधि की उत्पत्ति का कारण) है; **इति** – इस प्रकार (यह); **अध्यात्मम्** –आत्मविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या – इस मन्त्र में शरीर विषयक संहिता – दृष्टि का उपदेश किया गया है। शरीर में प्रधान अङ्ग मुख है, अतः मुख के ही अवयवों में संहिता का विभाग दिखाया गया है। तात्पर्य यह कि नीचे का जबड़ा मानो संहिता का पूर्ववर्ण है, ऊपर का जबड़ा परवर्ण है; इन दोनों के संयोग से इनके मध्य भाग में अभिव्यक्त होने वाली वाणी ही संधि है और जिह्वा ही संधान (वाणीरूप संधि के प्रकट होने का कारण) है; क्योंकि जिह्वा के बिना मनुष्य कोई भी शब्द नहीं बोल सकता। वाणी में विलक्षण शक्ति है। वाणी द्वारा प्रार्थना करके मनुष्य शरीर के पोषण और उसे उन्नत करने की सभी सामग्री प्राप्त कर सकता है तथा ओंकाररूप परमेश्वर के नाम – जप से परमात्मा को भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वाणी में शारीरिक और आत्मविषयक – दोनों तरह की उन्नति करने की सामर्थ्य भरी हुई है। इस रहस्य को समझकर जो मनुष्य अपनी वाणी का यथायोग्य उपयोग करता है, वह वाक्शक्ति पाकर उसके द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

इतीमा महासंहिता य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।

इति – इस प्रकार; **इमाः** – ये; **महासंहिता** – पाँच महासंहिताएँ कही गयी हैं; **यः** – जो मनुष्य; **एवम्** – इस प्रकार; **एताः** – इन; **व्याख्याताः** – ऊपर बतायी हुई; **महासंहिताः** – महासंहिताओं को; **ब्रह्मवर्चसेन** – ब्रह्मतेज से; **अन्नाद्येन** – अन्न आदि भोग्यपदार्थों से (और); **सुवर्गेण लोकेन** – स्वर्गरूप लोक से; **संधीयते** – सम्पन्न हो जाता है।

व्याख्या – इस मन्त्र में पाँच प्रकार से कही हुई महासंहिताओं के यथार्थ ज्ञान का फल बताया गया है। इनको जानने वाला अपनी इच्छा के अनुकूल संतान प्राप्त कर सकता है, विद्या के द्वारा ब्रह्मतेज सम्पन्न हो जाता है, अपनी इच्छा के अनुसार नाना प्रकार के पशुओं को और अन्न आदि आवश्यक भोग्य-पदार्थों को प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति भी हो जाती है। इनमें से लोकविषयक संहिता के ज्ञान से स्वर्ग आदि उत्तम लोक, ज्योतिविषयक संहिता के ज्ञान से नाना प्रकार की भौतिक सामग्री, प्रजाविषयक संधि के ज्ञान से संतान, विद्याविषयक संहिता के ज्ञान से विद्या और ब्रह्मतेज तथा अध्यात्मसंहिता के विज्ञान से वाक्शक्ति की प्राप्ति – इस प्रकार पृथक्-पृथक् फल समझना। श्रुति में समस्त संहिताओं के ज्ञान का सामूहिक फल बतलाया गया है। श्रुति ईश्वर की वाणी है; अतः इसका रहस्य समझकर श्रद्धा और विश्वास के साथ उपर्युक्त उपासना करने से निस्संदेह वे सभी फल प्राप्त हो सकते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

चतुर्थ अनुवाक

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय ।

यः – जो; **छन्दसाम्** – वेदों में; **ऋषभः** – सर्वश्रेष्ठ है; **विश्वरूपः** – सर्वरूप है (और); **अमृतात्** – अमृतस्वरूप; **छन्दोभ्यः** – वेदों से; **अधि** – प्रधान रूप में; **सम्बभूव** – प्रकट हुआ है; **सः** – वह (ओंकार स्वरूप); **इन्द्रः** – सबका स्वामी (परमेश्वर); **मा** – मुझे; **मेधया** – धारणायुक्त बुद्धि से; **स्पृणोतु** – सम्पन्न करे; **देव** – हे देव ! (मैं आपकी कृपा से); **अमृतस्य धारणः** – अमृतमय परमात्मा को (अपने हृदय में) धारण करने वाला; **भूयासम्** – बन जाऊँ; **मे** – मेरा; **शरीरम्** – शरीर; **विचर्षणम्** – विशेष फुर्तीला – सब प्रकार से रोग रहित हो (और); **मे** – मेरी; **जिह्वा** – जिह्वा; **मधुमत्तमा** – अतिशयमधुमती (मधुरभाषिणी); **(भूयात्)** – हो जाय; **कर्णाभ्याम्** – (मैं) दोनों कानो द्वारा; **भूरि** – अधिक; **विश्रुवम्** – सुनता रहूँ; (हे प्रणव ! तू)

मेधया – लौकिक बुद्धि से; **पिहितः** – ढकी हुई; **ब्रह्मणः** – परमात्मा की; **कोशः** – निधि; **असि** – है; (तू) **मे** – मेरे; **श्रुतम् गोपाय** – सुने हुए उपदेश की रक्षा कर ।

व्याख्या – इस चतुर्थ अनुवाक में '**मे श्रुतम् गोपाय**' इस वाक्य तक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये आवश्यक बुद्धिबल और शारीरिक बल की प्राप्ति के उद्देश्य से परमेश्वर से उनके नाम ओंकार द्वारा प्रार्थना करने का प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'ओम्' यह परमेश्वर का नाम वेदोक्त जितने भी मन्त्र हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है और सर्वरूप है; क्योंकि प्रत्येक मन्त्र के आदि में ओंकार के उच्चारण से सम्पूर्ण वेदों के उच्चारण का फल प्राप्त होता है। तथा अविनाशी वेदों से यह ओंकार प्रकार रूप में प्रकट हुआ है। ओंकार नाम है और परमेश्वर नामी; अत: दोनों परस्पर अभिन्न हैं। वे प्रणवरूप परमात्मा सबके परमेश्वर होने के कारण 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध हैं। वे इन्द्र मुझे मेधा से सम्पन्न करें। –'**धीधार्रणावती मेधा**' इस कोषवाक्य के अनुसार धारण शक्ति से सम्पन्न बुद्धि का नाम मेधा है। तात्पर्य यह कि परमात्मा मुझे पढ़े हुए और समझे हुए भावों को धारण करने की शक्ति से सम्पन्न करें। हे देव ! मैं आपकी अहैतु की कृपा से आपके अमृतमय स्वरूप को अपने हृदय में धारण करने वाला बन जाऊँ। मेरा शरीर रोगरहित रहे, जिससे आपकी उपासना में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े। मेरी जिह्वा अतिशय मधुमती अर्थात् मधुर स्वर से आपके अत्यन्त मधुर नाम और गुणों का कीर्तन करके उनके मधुर रस का आस्वादन करने वाली बन जाय। मैं अपने दोनों कानों द्वारा कल्याणमय बहुत-से शब्दों को सुनाता रहूँ, अर्थात् मेरे कानों में आचार्य द्वारा वर्णन किये हुए रहस्य को पूर्णतया सुनने की शक्ति आ जाय और मुझे आपका कल्याणमय यश सुनने को मिलता रहे। हे ओंकार ! तू परमेश्वर की निधि है, अर्थात् वे पूर्णब्रह्म परमेश्वर तुझमें भरे हुए हैं; क्योंकि नामी नाम के ही आश्रित रहता है। ऐसा होते हुए भी तू मनुष्यों की लौकिक बुद्धि से ढका हुआ है – लौकिक तर्क से अनुसंधान करने वालों की बुद्धि में तेरा प्रभाव व्यक्त नहीं होता। हे देव! तू सुने हुए उपदेश की रक्षा कर अर्थात् ऐसी कृपा कर कि मुझे जो उपदेश सुनने को मिले, उसे मैं स्मरण रखता हुआ उसके अनुसार अपना जीवन बना सकूँ।

सम्बन्ध – अब ऐश्वर्य की कामना वाले के लिये हवन करने के मन्त्रों का आरम्भ करते हैं-

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणाचीरमात्मनः । वासांसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा ।

ततः – उसके बाद (अब ऐश्वर्य प्राप्त करने की रीति बताते हैं – हे देव !) **(या श्रीः)** – जो श्री; **मम** – मेरे; **आत्मनः** – अपने लिये; **अचीरम्** – तत्काल ही; **वासांसि** – नाना प्रकार के वस्त्र; **च** – और; **गावः** – गौएँ; **च** – तथा; **अन्नपाने** – खाने-पीने के पदार्थ; **सर्वदा**- सदैव; **आवहन्ती** – ला देने वाली; **लोमशाम्** – रोएँ वाले – भेड़-बकरी आदि; **पशुभिः सह** – पशुओं के सहित; **(ताम्) श्रियम्** – उस श्री को; **मे** – मेरे लिये (तू) ; **आवह** – ले आ; **स्वाहा**- स्वाहा

(इसी उद्देश्य से तुझे यह आहुति समर्पित की जाती) है।

व्याख्या - चतुर्थ अनुवाक के इस उपर्युक्त अंश में ऐश्वर्य की कामना वाले सकाम मनुष्यों के लिये, परमेश्वर से प्रार्थना करते हुए अग्नि में आहुति देने की रीति बतायी गयी है। प्रार्थना का भाव यह है कि 'हे अग्नि के अधिष्ठाता परमेश्वर ! जो मेरे निज के लिये आवश्यकता होने पर बिना विलम्ब तत्काल ही नाना प्रकार के वस्त्र, गौएँ और खाने-पीने की विविध सामग्री सदैव प्रस्तुत कर दे, उन्हें बढ़ाती रहे तथा उन्हें नवीन रूप से रच दे, ऐसी श्रीको तू मेरे लिये भेड़-बकरी आदि रोएँ वाले एवं अन्य प्रकार के पशुओं सहित ला दे। अर्थात् समस्त भोग-सामग्री का साधन रूप धन मुझे प्रदान कर।' इस मन्त्र का उच्चारण करके 'स्वाहा' इस शब्द के साथ अग्नि में आहुति देनी चाहिये, यह ऐश्वर्य की प्राप्ति का साधन है।

सम्बन्ध - आचार्य को ब्रह्मचारियों के हितार्थ किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है -

आ मायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

ब्रह्मचारिणः - ब्रह्मचारी लोग; **मा** - मेरे पास; **आयन्तु** - आयें; **स्वाहा** - स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति दी जाती है); **ब्रह्मचारिणः** - ब्रह्मचारी लोग; **विमायन्तु** - कपटशून्य हों; **स्वाहा** - स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः** - ब्रह्मचारी लोग; **प्रमायन्तु** - प्रमाणिक ज्ञान को ग्रहण करने वाले हों; **स्वाहा** - स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः** - ब्रह्मचारी लोग; **दमायन्तु** - इन्द्रियों का दमन करने वाले हों; **स्वाहा** - स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः** - ब्रह्मचारी लोग; **शमायन्तु** - मन को वश में करने वाले हों; **स्वाहा** - स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है)।

व्याख्या - चतुर्थ अनुवाक के इस अंश में शिष्यों के हितार्थ आचार्य को जिन मन्त्रों द्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि आचार्य 'उत्तम' ब्रह्मचारी लोग मेरे पास विद्या पढ़ने के लिये आयें, इस उद्देश्य से मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्द के साथ पहली आहुति दे; 'मेरे ब्रह्मचारी कपटशून्य हों, इस उद्देश्य से मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्द के साथ दूसरी आहुति दे; 'ब्रह्मचारी लोग उत्तम ज्ञान को ग्रहण करने वाले हों' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चरणपूर्वक 'स्वाहा' शब्द के साथ तीसरी आहुति दे; 'ब्रह्मचारी लोग इन्द्रियों का दमन करने वाले हों' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्द के साथ चौथी आहुति दे तथा 'ब्रह्मचारी लोग मन को वश में करने वाले हों' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्द के साथ पाँचवीं आहुति दे।

सम्बन्ध - आचार्य को अपने लौकिक और पारलौकिक हित के लिये किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है -

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा ।

जने – लोगों में (मैं); **यशः** – यशस्वी; **असानि** – होऊँ; **स्वाहा** – स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है); **वस्यसः** – महान् धनवानों की अपेक्षा भी; **श्रेयान्** – अधिक धनवान्; **असानि** – हो जाऊँ; **स्वाहा** – स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है); **भग** – हे भगवन्!; **तम् त्वा** – उस आप में; **प्रविशानि** – मैं प्रविष्ट हो जाऊँ; **स्वाहा** – स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है); **भग** – हे भगवन्!; **सः** – वह (तू); **मा** –मुझमें; **प्रविश** – प्रविष्ट हो जा; **स्वाहा** – स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है); **भग** – हे भगवन्!; **तस्मिन्** – उस; **सहस्रशाखे** – हजारों शाखा वाले; **त्वयि** – आप में (ध्यान द्वारा निमग्न होकर); **अहम्** – मैं; **निमृजे** – अपने को विशुद्ध कर लूँ; **स्वाहा** – स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है)।

व्याख्या – चतुर्थ अनुवाक के इस अंश में आचार्य को अपने हित के लिये जिन मन्त्रों द्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि 'लोगों में मैं यशस्वी बनूँ, जगत् में मेरा यश-सौरभ सर्वत्र फैल जाय, मुझसे कोई भी ऐसा आचरण न बने, जो मेरे यश में ध ाब्बा लगाने वाला हो, इस उद्देश्य से '**यशो जनेऽसानि**' इस मन्त्र का उच्चारण करके 'स्वाहा' शब्द के साथ पहली आहुति डालनी चाहिये। 'महान् धनवानों की अपेक्षा भी मैं अधिक सम्पत्तिशाली बन जाऊँ' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्द के साथ दूसरी आहुति अग्नि में डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! आपके उस दिव्य स्वरूप में मैं प्रविष्ट हो जाऊँ' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्द के साथ तीसरी आहुति अग्नि में डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! वह आपका दिव्य स्वरूप मुझमें प्रविष्ट हो जाय – मेरे मन में बस जाय' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्द के साथ चौथी आहुति अग्नि में डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! हजारों शाखावाले आपके उस दिव्य रूप में ध्यानद्वारा निमग्न होकर मैं अपने-आपको विशुद्ध बना लूँ' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्द के साथ पाँचवीं आहुति अग्नि में डालनी चाहिये।

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरयन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ।।

यथा – जिस प्रकार; **आपः** – (नदी आदि के) जल; **प्रवता** – निम्न स्थान से होकर; **यन्ति** – समुद्र में चले जाते हैं; **यथा** – जिस प्रकार; **मासाः** – महीने; **अहर्जरम्** – दिनों का अन्त करने वाले संवत्सर रूप काल में; **(यन्ति)** – चले जाते हैं; **धातः** – हे विधाता!; **एवम्** – इसी प्रकार; **माम्** – मेरे पास; **सर्वतः** – सब ओर से; **ब्रह्मचारिणः** – ब्रह्मचारी लोग; **आयन्तु** – आयें; **स्वाहा** – स्वाहा (इस उद्देश्य से यह आहुति है); **प्रतिवेशः** – (तू) सबका विश्राम स्थान; **असि** – है; **मा** – मेरे लिये; **प्र भाहि** – अपने को प्रकाशित कर; **मा** – मुझे; **प्र पद्यस्व** – प्राप्त हो जा।

व्याख्या – 'जिस प्रकार समस्त जल-प्रवाह नीचे की ओर बहते हुए समुद्र में मिल जाते हैं तथा जिस प्रकार महीने दिनों का अन्त करने वाले संवत्सररूप काल में जा रहे हैं, हे विधाता! उसी प्रकार मेरे पास सब ओर से ब्रह्मचारी लोग आयें और मैं उनको विद्याभ्यास कराकर तथा कल्याण का उपदेश देकर अपने कर्तव्य का एवं आपकी आज्ञा का पालन करता रहूँ।' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चारण करके 'स्वाहा' शब्द के साथ छठी आहुति अग्नि में डालनी चाहिये। 'हे परमात्मन्। आप सबके विश्राम-स्थान हैं, अब मेरे लिये अपने दिव्य स्वरूप को प्रकाशित कर दीजिये और मुझे प्राप्त हो जाइये' इस उद्देश्य से मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्द के साथ सातवीं आहुति अग्नि में डाले।

इस प्रकार इस चौथे अनुवाक में इस लोक और परलोक की उन्नति का उपाय परमात्मा की प्रार्थना और उसके साथ-साथ हवन को बताया गया है। प्रकरण बड़ा ही सुन्दर और श्रेयस्कर है। अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को इसमें बताये हुए प्रकार से अपने लिये जिस अंश की आवश्यकता प्रतीत हो, उस अंश के अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये।

पंचम् अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते।

भूः – भूः; **भुवः** – भुवः; **सुवः** – स्वः; **इति** – इस प्रकार; **एताः** – ये; **वै** – प्रसिद्ध; **तिस्रः** – तीन; **व्याहृतयः** – व्याहृतियाँ हैं; **तासाम् उ** – उन तीनों की अपेक्षा से; **चतुर्थीम्** – जो चौथी व्याहृति; **महः इति** – 'मह' इस नाम से; **ह** – प्रसिद्ध है; **एताम्** – इसको; **माहाचमस्यः** – महाचमस के पुत्र ने; **प्रवेदयते स्म** – सबसे पहले जाना था; **तत्** – वह चौथी व्याहृति ही; **ब्रह्म** – ब्रह्म है; **सः** – वह; **आत्मा** – (ऊपर कही हुई व्याहृतियों का) आत्मा है; **अन्याः** – अन्य; **देवताः** – सब देवता; **अङ्गानि** – (उसके) अङ्ग हैं; **भूः** – 'भूः'; **इति** – यह व्याहृति; **वै** – ही; **अयम् लोकः** – यह पृथ्वीलोक है; **भुवः** – 'भुवः'; **इति** – यह; **अन्तरिक्षम्** – अन्तरिक्ष लोक है; **सुवः** – 'स्वः'; **इति** – यह; **असौ लोकः** – वह प्रसिद्ध स्वर्गलोक है; **महः** – 'महः'; **इति** – यह; **आदित्य** – आदित्य – सूर्य है; **आदित्येन** – (क्योंकि) आदित्य से; **वाव** – ही; **सर्वे** – समस्त; **लोकाः** – लोक; **महीयन्ते** – महिमान्वित होते हैं।

व्याख्या – इस पञ्चम् अनुवाक में भूः, भुवः, स्वः और महः – इन चारों व्याहृतियों की उपासना का रहस्य बताकर उसके फल का वर्णन किया गया है। पहले तो इसमें यह बात कही गयी है कि भूः, भुवः और स्वः – ये तीन व्याहृतियाँ तो प्रसिद्ध हैं; परन्तु इनके अतिरिक्त जो चौथी

व्याहृति 'महः' है, इसकी उपासना का रहस्य सबसे पहले महाचमस के पुत्र ने जाना था। भाव यह है कि इन चारों व्याहृतियों को चार प्रकार से प्रयोग करके उपासना करने की विधि, जो आगे बतायी गयी है, तभी से प्रचलित हुई है। इसके बाद उन चार व्याहृतियों में किस प्रकार की भावना करके उपासना करनी चाहिये, यह समझाया गया है। इन चारों व्याहृतियों में 'महः' यह चौथी व्याहृति सर्व-प्रधान है। अतः उपास्य देवों में 'महः' व्याहृति को ब्रह्म का स्वरूप समझना चाहिये - यह भाव समझाने के लिये कहा गया है कि वह चौथी व्याहृति 'महः' ब्रह्म का नाम होने से ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म सबके आत्मा हैं, सर्वरूप हैं और अन्य सब देवता उनके अङ्ग हैं; अतः जिस किसी भी देवता की इन व्याहृतियों के द्वारा उपासना की जाय, उसमें इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि यह सर्वरूप परमेश्वर की ही उपासना है। सब देवता उन्हीं के अङ्ग होने से अन्य देवों की उपासना भी उन्हीं की उपासना है। (गीता ९ । २३-२४) उसके पश्चात् इन व्याहृतियों से लोकों का चिन्तन करने की विधि इस प्रकार बतायी गयी है - 'भूः' यह तो मानो पृथ्वीलोक है, 'भुवः' यह अन्तरिक्ष लोक है, 'स्वः' यह सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक है और 'महः' यह सूर्य है; क्योंकि सूर्य से ही सब लोक महिमान्वित हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि भूः, भुवः, स्वः - ये तीनों व्याहृतियाँ तो उन परमेश्वर के विराट शरीर रूप इस स्थूल ब्रह्माण्ड को बताने वाली - अर्थात् परमेश्वर के अङ्गों के नाम हैं तथा 'महः' यह चौथी व्याहृति इस विराट् शरीर को प्रकाशित करने वाले उसके आत्मा रूप परमेश्वर को बताने वाली है। 'महः' यह सूर्य का नाम है, सूर्य के भी आत्मा हैं परमेश्वर; अतः सूर्यरूप से सब लोकों को वे ही प्रकाशित करते हैं। इसलिये यहाँ सूर्य के उपलक्षण से इस विराट् शरीर को प्रकाशित करने वाले इसके आत्मारूप परमेश्वर की ही उपासना का लक्ष्य कराया गया है।

भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूंषि । मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे महीयन्ते ।

भूः - 'भूः'; **इति** - यह व्याहृति; **वै** - ही; **अग्निः** - अग्नि है; **भुवः** - 'भुवः'; **इति** - यह; **वायुः** - वायु है; **सुवः** - 'स्वः'; **आदित्यः** - आदित्य है; **महः** - 'महः'; **इति**-यह; **चन्द्रमाः** - चन्द्रमा है; (क्योंकि) **चन्द्रमसा** - चन्द्रमा से; **वाव** - ही; **सर्वाणि** - समस्त; **ज्योतींषि** - ज्योतियाँ; **महीयन्ते** - महिमावाली होती है; **भूः** - 'भूः'; **इति** - यह व्याहृति; **वै** - ही; **ऋचः** - ऋग्वेद है; **भुवः** - 'भुवः'; **इति** - यह; **सामानि** - सामवेद है; **सुवः** - 'स्वः'; **इति** - यह; **यजुंषि** - यजुर्वेद है; **महः** - 'महः'; **इति** - यह; **ब्रह्म** - ब्रह्म है; (क्योंकि) **ब्रह्मणा** - ब्रह्म से; **वाव** - ही; **सर्वे** - समस्त; **वेदाः** - वेद; **महीयन्ते** - महिमावान् होते हैं।

व्याख्या - इसी प्रकार फिर ज्योतियों में इन व्याहृतियों द्वारा परमेश्वर की उपासना का प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि '**भूः**' यह व्याहृति अग्नि का नाम होने से मानो अग्नि ही है।

अग्नि देवता वाणी का अधिष्ठाता है और वाणी भी प्रत्येक विषय को व्यक्त करके प्रकाशित करने वाली होने से ज्योति है; अत: वह भी ज्येतियों की उपासना में मानो '**भू:**' है। '**भुव:**' यह वायु है। वायुदेवता त्वक्-इन्द्रिय का अधिष्ठाता है और त्वक्-इन्द्रिय स्पर्श को प्रकाशित करने वाली ज्योति है; अत: ज्योतिविषयक उपासना में वायु और त्वचा को '**भुव:**' रूप समझना चाहिये। '**स्व:**' यह सूर्य है। सूर्य चक्षु-इन्द्रिय का अधिष्ठातृ देवता है, चक्षु-इन्द्रिय भी सूर्य की सहायता से रूप को प्रकाशित करने वाली ज्योति है; अत: ज्योतिविषयक उपासना में सूर्य और चक्षु-इन्द्रिय को '**स्व:**' व्याहृतिस्वरूप समझना चाहिये। '**मह:**' यह चौथी व्याहृति ही मानो चन्द्रमा है, चन्द्रमा मनका अधिष्ठातृ देवता है। मन की सहायता से मन के साथ रहने पर ही समस्त इन्द्रियाँ अपने--अपने विषय को प्रकाशित कर सकती हैं, मन के बिना नहीं कर सकतीं; अत: सब ज्योतियों में प्रधान चन्द्रमा और मन को ही '**मह:**' व्याहृतिरूप समझना चाहिये; क्योंकि चन्द्रमा से अर्थात् मन से ही समस्त ज्योतिरूप इन्द्रियाँ महिमान्वित होती हैं। इस प्रकार मन के रूप में परमेश्वर की उपासना करने की विधि समझायी गयी है। फिर इसी भाँति वेदों के विषय में व्याहृतियों के प्रयोग द्वारा परमेश्वर की उपासना का प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि '**भू:**' यह ऋग्वेद है, '**भुव:**' यह सामवेद है, '**स्व:**' यह यजुर्वेद है और '**मह:**' यह ब्रह्म है; क्योंकि ब्रह्म से ही समस्त वेद महिमा युक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण वेदों में वर्णित समस्त ज्ञान परब्रह्म परमेश्वर से ही प्रकट और उन्हीं से व्याप्त है तथा उन परमेश्वर के तत्त्व का इन वेदों में वर्णन है, इसीलिये इनकी महिमा है। इस प्रकार वेदों में इन व्याहृतियों का प्रयोग करके उपासना करनी चाहिये।

भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता वा एताश्चतस्त्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ।

भूः - 'भूः'; **इति** - यह व्याहृति; **वै** - ही; **प्राणः** - प्राण है; **भुवः** - 'भुवः'; **इति** - यह; **अपानः** - अपान है; **सुवः** - 'स्वः'; **इति** - यह; **व्यानः** - व्यान है; **महः** - 'महः'; **इति** - यह; **अन्नम्** - अन्न है; (क्योंकि) **अन्नेन** - अन्नसे; **वाव** - ही; **सर्वे** - समस्त; **प्राणाः** - प्राण; **महीयन्ते** - महिमायुक्त होते हैं; **ताः** - वे; **वै** - ही; **एताः** - ये; **चतस्त्रः** - चारों व्याहृतियाँ; **चतुर्धा** - चार प्रकार की हैं; (अतएव) **चतस्त्रः चतस्त्रः** - एक एक के चार चार भेद होने से कुल सोलह; **व्याहृतयः** - व्याहृतियाँ हैं; **ताः** - उनको; **यः** - जो; **वेद** - तत्त्व से जानता है; **सः** - वह; **ब्रह्म** - ब्रह्म को; **वेद** - जानता है; **अस्मै** - इस ब्रह्मवेत्ता के लिये; **सर्वे** - समस्त; **देवाः** - देवता; **बलिम्** - भेंट; **आवहन्ति** - समर्पण करते हैं।

व्याख्या - उसके बाद प्राणों के विषय में इन व्याहृतियों का प्रयोग करके उपासना का प्रकार समझाया गया है। भाव यह है कि '**भू:**' यही मानो प्राण है, '**भुव:**' यह अपान है, '**स्व:**'

यह व्यान है। इस प्रकार जगद्व्यापी समस्त प्राण ही मानो ये तीनों व्याहृतियाँ हैं और अन्न 'महः' रूप चतुर्थ व्याहृति है; क्योंकि जिस प्रकार व्याहृतियों में 'महः' प्रधान है, उसी प्रकार समस्त प्राणों का पोषण करके उनकी महिमा को बनाये रखने और बढ़ाने के कारण उनकी अपेक्षा अन्न प्रधान है; अतः प्राणों के अन्तर्यामी परमेश्वर की अन्न के रूप में उपासना करनी चाहिये।

इस तरह चारों व्याहृतियों को चार प्रकार से प्रयुक्त करके उपासना करने की रीति बताकर फिर उसे समझकर उपासना करने का फल बताया गया है। भाव यह कि चार प्रकार से प्रयुक्त इन चारों व्याहृतियों की उपासना के भेद को जो कोई जान लेता है, अर्थात् समझकर उसके अनुसार परब्रह्म परमात्मा की उपासना करता है, वह ब्रह्म को जान लेता है और समस्त देव उसको भेंट समर्पण करते हैं – उसे परमेश्वर का प्यारा समझकर उसका आदर-सत्कार करते हैं।

षष्ठ अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरूषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।

सः – वह (पहले बताया हुआ); **यः** – जो; **एषः** – यह; **अन्तर्हृदये** – हृदय के भीतर; **आकाशः** – आकाश है; **तस्मिन्** – उसमें; **अयम्** – यह; **हिरण्मयः** – विशुद्ध प्रकाशस्वरूप; **अमृतः** – अविनाशी; **मनोमयः** – मनोमय; **पुरुषः** – पुरुष (परमेश्वर) रहता है।

व्याख्या – इस अनुवाक में चार बातें कही गयी हैं, उनका पूर्व अनुवाक में बतलाये हुए उपदेश से अलग-अलग सम्बन्ध है और उस उपदेश की पूर्ति के लिये ही यह आरम्भ किया गया है, ऐसा अनुमान होता है।

पूर्व अनुवाक में मन के अधिष्ठातृ-देवता चन्द्रमा को इन्द्रियों के अधिष्ठातृ-देवताओं का प्रकाशक बताया गया है और उसकी ब्रह्मरूप से उपासना करने की युक्ति समझायी गयी है; वे मनोमय परब्रह्म – सबके अन्तर्यामी पुरुष कहाँ हैं; उनकी उपलब्धि कहाँ होती है – यह बात इस अनुवाक के पहले अंश में समझायी गयी है। अनुवाक के इस अंशका अभिप्राय यह है कि पहले बतलाया हुआ जो यह हृदय के भीतर अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला आकाश है, उसी में ये विशुद्ध प्रकाश स्वरूप अविनाशी मनोमय अन्तर्यामी परम पुरुष परमेश्वर विराजमान हैं; वहीं उनका साक्षात्कार हो जाता है, उन्हें पाने के लिये कहीं दूसरी जगह नहीं जाना पड़ता।

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि।

अन्तरेण तालुके – दोनों तालुओं के बीच में; **यः** – जो; **एषः** – यह; **स्तनः इव** – स्तन के सदृश; **अवलम्बते** – लटक रहा है; **(तम् अपि अन्तरेण)** – उसके भी भीतर; **यत्र** – जहाँ; **असौ** – वह; **केशान्तः** – केशों का मूलस्थान (ब्रह्मरन्ध्र); **विवर्तते** – स्थित है; (वहाँ)

शीर्षकपाले – सिर के दोनों कपालों को; **व्यपोह्य** - भेदन करके; **(विनिःसृता या)** - निकली हुई जो सुषुम्णा नाड़ी है; **सा** - वह; **इन्द्रयोनिः** - इन्द्रयोनि (परमात्मा की प्राप्ति का द्वार) है; (अन्तकाल में साधक); **भूः इति** - 'भूः' इस व्याहृति के अर्थ रूप; **अग्नौ** - अग्नि में; **प्रतितिष्ठति** - प्रतिष्ठित होता है; **भुवः इति** - 'भुवः' इस व्याहृति के अर्थ रूप; **वायौ** - वायु देवता में स्थित होता है; (फिर) **सुवः इति** - 'स्वः' इस व्याहृति के अर्थरूप; **आदित्ये** - सूर्य में स्थित होता है; (उसके बाद); **महः इति** - 'महः' इस व्याहृति के अर्थस्वरूप; **ब्रह्मणि** - ब्रह्म में स्थित होता है।

व्याख्या - उन परब्रह्म परमेश्वर को अपने हृदय में प्रत्यक्ष देखने वाला महापुरुष इस शरीर का त्याग करके जब जाता है, तब किस प्रकार किस मार्ग से बाहर निकलकर किस क्रम से भूः; भुवः और स्वःरूप समस्त लोकों में परिपूर्ण सबके आत्मरूप परमेश्वर में स्थित होता है - यह बात इस अनुवाक के दूसरे अंश में समझायी गयी है। भाव यह है कि मनुष्यों के मुख में तालुओं के बीचों बीच जो एक थन के आकार का मांस-पिण्ड लटकता है, जिसे बोलचाल की भाषा में 'घाँटी' कहते हैं, उसके आगे केशों का मूलस्थान ब्रह्मरन्ध्र है; वहाँ हृदय-देश से निकलकर घाँटी के भीतर से होती हुई दोनों कपोलों को भेदकर गयी हुई जो सुषुम्णा नाम से प्रसिद्ध नाड़ी है, वही उन इन्द्र नाम से कहे जाने वाले परमेश्वर की प्राप्ति का द्वार है। अन्तकाल में वह महापुरुष उस मार्ग से शरीर के बाहर निकलकर 'भूः' इस नाम से अभिहित अग्नि में स्थित होता है। गीता में भी यही बात कही गयी है कि ब्रह्मवेत्ता जब ब्रह्मलोक में जाता है, तब वह सर्वप्रथम ज्योतिर्मय अग्नि के अभिमानी देवता के अधिकार में आता है (गीता ८.२४) उसके बाद वायु में स्थित होता है। अर्थात् पृथ्वी से लेकर सूर्य लोक तक समस्त आकाश में जिसका अधिकार है, जो सर्वत्र विचरने वाली वायु का अभिमानी देवता है और जो 'भुवः' नाम से पञ्चम अनुवाक में कहा गया है, उसी के अधिकार में वह आता है। वह देवता उसे 'स्वः' इस नाम से कहे हुए सूर्यलोक में पहुँचा देता है, वहाँ से फिर वह 'महः' इस नाम से कहे हुए 'ब्रह्म' में स्थित हो जाता है।

आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति ।

स्वाराज्यम् - (वह) स्वराज्य को; **आप्नोति** - प्राप्त कर लेता है; **मनसस्पतिम्** - मन के स्वामी को; **आप्नोति** - पा लेता है; **वाक्पतिः (भवति)** - वाणी का स्वामी हो जाता है; **चक्षुष्पतिः** - नेत्रों का स्वामी; **श्रोत्रपतिः** - कानों का स्वामी; (और) **विज्ञानपतिः** - विज्ञान का स्वामी हो जाता है; **ततः** - उस पहले बताये हुए साधन से; **एतत्** - यह फल; **भवति** - होता है।

व्याख्या - वह ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित महापुरुष कैसा हो जाता है - यह बात इस अनुवाक के तीसरे अंश में बतलायी गयी है। अनुवाक के इस अंश का अभिप्राय यह है कि वह

स्वराट् बन जाता है। अर्थात् उस पर प्रकृति का अधिकार नहीं रहता, अपितु वह स्वयं ही प्रकृति का अधिष्ठाता बन जाता है; क्योंकि वह मन के अर्थात् समस्त अन्तःकरण समुदाय के स्वामी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों और उनके देवताओं का तथा विज्ञान स्वरूप बुद्धि का भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् ये सब उसके आधीन हो जाते हैं। उस पहले बताये हुए साधन से यह उपर्युक्त फल मिलता है।

आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ।

ब्रह्म – वह ब्रह्म; **आकाशशरीरम्** – आकाश के सदृश शरीर वाला; **सत्यात्म** – सत्तारूप; **प्राणारामम्** – इन्द्रियादि समस्त प्राणों को विश्राम देने वाला; **मनआनन्दम्** – मन को आनन्द देने वाला; **शान्तिसमृद्धम्** – शान्ति से सम्पन्न; (तथा) **अमृतम्** – अविनाशी है; **इति** – यों मानकर; **प्राचीनयोग्य** – हे प्राचीन-योग्य !; **उपास्स्व** – तू उसकी उपासना कर।

व्याख्या – वे प्राप्तव्य ब्रह्म कैसे हैं, उनका किस प्रकार चिन्तन और ध्यान करना चाहिये – यह बात अनुवाक के चौथे अंश में बतायी गयी है। अभिप्राय यह है कि वे ब्रह्म आकाश के सदृश निराकार, सर्वव्यापी और अतिशय सूक्ष्म शरीरवाले हैं। एकमात्र सत्तारूप हैं। समस्त इन्द्रियों को विश्राम देने वाले और मन के लिये परम आनन्ददायक हैं। अखण्ड शान्ति के भंडार हैं और सर्वथा अविनाशी हैं। परम विश्वास के साथ यों मानकर साधक को उनकी प्राप्ति के लिये उनके चिन्तन और ध्यान में तत्परता के साथ लग जाना चाहिये, यह भाव दिखलाने के लिये अन्त में श्रुति की वाणी में ऋषि अपने शिष्य से कहते हैं – 'हे प्राचीनयोग्य । तू उन ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार का मानकर उनकी उपासना कर।'

सप्तम अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः ।अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि ।आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा।इत्यधिभूतम् ।अथाध्यात्मम् ।प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः ।चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म मांसँस्नावास्थि मज्जा ।एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति ।

पृथिवी – पृथ्वीलोक; **अन्तरिक्षम्** – अन्तरिक्षलोक; **द्यौः** – स्वर्गलोक; **दिशः** – दिशाएँ; **अवान्तरदिशः** – अवान्तर दिशाएँ – दिशाओं के बीच के कोण (यह पाँच लोकों की पङ्क्ति है); **अग्निः** – अग्नि; **वायुः** – वायु; **आदित्यः** – सूर्य; **चन्द्रमाः** – चन्द्रमा; **नक्षत्राणि** – (तथा) समस्त नक्षत्र (यह पाँच ज्योतिः - समुदाय की पङ्क्ति है;) **आपः** – जल; **ओषधयः** – ओषधियाँ; **वनस्पतयः** – वनस्पतियाँ; **आकाशः** – आकाश; **आत्मा** – (तथा) इनका संघातस्वरूप अन्नमय स्थूलशरीर (ये पाँचों मिलकर स्थूल पदार्थों की पङ्क्ति है); **इति** – यह;

अधिभूतम् - आधिभौतिक दृष्टि से वर्णन हुआ; **अथ** - अब; **अध्यात्मम्** - आध्यात्मिक दृष्टि से बतलाते हैं; **प्राणः** - प्राण:; **व्यानः** - व्यान; **अपानः** - अपान; **उदानः** - उदान; (और) **समानः** - समान (यह पाँचों प्राणों की पङ्क्ति है); **चक्षुः** - नेत्र; **श्रोत्रम्** - कान; **मनः** - मन; **वाक्** - वाणी; (और) **त्वक्** - त्वचा; (यह पांचों करणों की पङ्क्ति है); **चर्म** - चर्म; **मांसम्** - मांस; **स्नावा** - नाड़ी; **अस्थि** - हड्डी; (और) **मज्जा** - मज्जा (यह पाँच शरीरगत धातुओं की पङ्क्ति है); **एतत्** - यह (इस प्रकार); **अधिविधाय** - सम्यक् कल्पना करके; **ऋषिः** - ऋषि ने; **अवोचत्** - कहा; **इदम्** - यह; **सर्वम्** - सब; **वै** - निश्चय ही; **पाङ्क्तम्** - पाङ्क्त है; **पाङ्क्तेन एव पाङ्क्तम्** - (साधक) इस आध्यात्मिक पाङ्क्त से ही बाह्य पाङ्क्त को और बाह्य से अध्यात्म पाङ्क्त को; **स्पृणोति इति** - पूर्ण करता है। पंक्तियों के समूह को पांक्त कहते है।

व्याख्या - इस अनुवाक के दो भाग हैं। पहले भाग में मुख्य-मुख्य आधिभौतिक पदार्थों को लोक, ज्योति और स्थूल पदार्थ - इन तीन पङ्क्तियों में विभक्त करके उनका वर्णन किया है और दूसरे भाग में मुख्य-मुख्य आध्यात्मिक (शरीरस्थित) पदार्थों को प्राण, कारण और धातु - इन तीन पङ्क्तियों में विभक्त करके उनका वर्णन किया है। अन्त में उनका उपयोग करने की युक्ति बतायी गयी है।

भाव यह है कि पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पूर्व-पश्चिम आदि दिशाएँ और आग्नेय, नैर्ऋत्य आदि अवान्तर दिशाएँ - इस प्रकार यह लोकों की आधिभौतिक पङ्क्ति है। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र - इस प्रकार यह ज्योतियों की आधिभौतिक पङ्क्ति है; तथा जल, ओषधियाँ, वनस्पति, आकाश और पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर - इस प्रकार यह स्थूल जड़ पदार्थों की आधिभौतिक पङ्क्ति है। यह सब मिलकर आधिभौतिक पाङ्क्त अर्थात् भौतिक पङ्क्तियों का समूह है। इसी प्रकार यह आगे बताया हुआ आध्यात्मिक शरीर के भीतर रहने वाला पाङ्क्त है। इसमें प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान - इस प्रकार यह प्राणों की पङ्क्ति है। नेत्र, कान, मन, वाणी और त्वचा - इस प्रकार यह करण-समुदाय की पङ्क्ति है; तथा चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा - इस प्रकार यह शरीरगत धातुओं की पङ्क्ति है। इस प्रकार प्रधान-प्रधान आधिभौतिक और आध्यात्मिक पदार्थों की त्रिविध पङ्क्तियाँ बनाकर वर्णन करना यहाँ उपलक्षण रूप में है, अत: शेष पदार्थों को भी इनके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। इस प्रकार वर्णन करने के बाद श्रुति कहती है कि ये पङ्क्तियों में विभक्त करके बताये हुए पदार्थ सब-के-सब पङ्क्तियों के समुदाय हैं। इनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस रहस्य को समझकर अर्थात् किस आधिभौतिक पदार्थ के साथ किस आध्यात्मिक पदार्थ का क्या सम्बन्ध है, इस बात को भलीभाँति समझकर मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति से भौतिक पदार्थों का विकास कर लेता है और भौतिक पदार्थों से आध्यात्मिक शक्तियों की उन्नति कर लेता है।

पहली आधिभौतिक लोकसम्बन्धी पङ्क्ति से चौथी प्राण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्ति का सम्बन्ध है; क्योंकि एक लोक से दूसरे लोक को सम्बद्ध करने में प्राणों की ही

प्रधानता है – यह बात संहिता-प्रकरण में पहले बता आये हैं। दूसरी ज्योतिविषयक आधिभौतिक पङ्क्ति से पाँचवीं करण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्ति का सम्बन्ध है; क्योंकि वे आधिभौतिक ज्योतियाँ इन आध्यात्मिक ज्योतियों की सहायक हैं, यह बात शास्त्रों में जगह-जगह बतायी गयी है। इसी प्रकार तीसरी जो स्थूल पदार्थों की आधिभौतिक पङ्क्ति है, उसका छठी शरीरगत धातुओं की आध्यात्मिक पङ्क्ति से सम्बन्ध है; क्योंकि ओषधि और वनस्पतिरूप अन्न से ही मांस-मज्जा आदि की पुष्टि और वृद्धि होती है, यह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व को भली भाँति समझकर उनका उपयोग करने से मनुष्य सब प्रकार की सांसारिक उन्नति कर सकता है, यही इस वर्णन का भाव मालूम होता है।

अष्टम अनुवाक

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदंसर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति। ओंशोमिति । शस्त्राणि शँ सन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति ।ओमिति ब्रह्मा प्रसौति ।ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मौवोपाप्नोति ।

ओम् – 'ओम्'; **इति** – यह; **ब्रह्म** – ब्रह्म है; **ओम्** – 'ओम्'; **इति** –ही; **इदम्** – यह प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला; **सर्वम्** – समस्त जगत् है; **ओम्** – 'ओम्'; **इति** – इस प्रकार का; **एतत्** – यह अक्षर; **ह** – ही; **वै** – निःसंदेह; **अनुकृतिः** – अनुकृति (अनुमोदन) है; **स्म** – यह बात प्रसिद्ध है; **अपि** – इसके सिवा; **ओ** – हे आचार्य; **श्रावय** – मुझे सुनाइये; **इति** – यों कहने पर; **आश्रावयन्ति** – 'ओम्' यों कहकर शिष्य को उपदेश सुनाते हैं; **ओम्** – 'ओम्' (बहुत अच्छा); **इति** – इस प्रकार (स्वीकृति देकर); **(सामगाः)** – सामगायक विद्वान्; **सामानि** – सामवेद मन्त्रों को; **गायन्ति** – गाते हैं; **ओम् शोम्** – 'ओम् शोम्'; **इति** – यों कहकर ही; **शास्त्राणि** – शस्त्रों की अर्थात् मन्त्रों को; **शंसन्ति** – पढ़ते हैं; **ओम्** – 'ओम्'; **इति** – यों कहकर; **अध्वर्युः** – अध्वर्यु नामक ऋत्विक्; **प्रतिगरम् प्रतिगृणाति** – प्रतिगर मन्त्र का उच्चारण करता है; **ओम्** – 'ओम्'; **इति**– यों कहकर; **ब्रह्मा** – ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्); **प्रसौति** – अनुमति देता है; **ओम्** – 'ओम्'; **इति** – यह कहकर; **अग्निहोत्रम् अनुजानाति** – अग्निहोत्र करने की आज्ञा देता है; **प्रवक्ष्यन्** – अध्ययन करने के लिये उद्यत; **ब्राह्मणः** – ब्राह्मण; **ओम् इति** – पहले ओम् का उच्चारण करके; **आह** – कहता है; **ब्रह्म** – (मैं) वेद को; **उपप्नवानि इति** – प्राप्त करूँ; **ब्रह्म** – (फिर वह) वेद को; **एव** – निश्चय ही; **उपाप्नोति** – प्राप्त करता है।

व्याख्या – इस अनुवाक में 'ॐ' इस परमेश्वर के नाम के प्रति मनुष्य की श्रद्धा और रूचि उत्पन्न करने के लिये 'ॐ' कार की महिमा का वर्णन किया गया है। भाव यह है कि 'ॐ' यह परब्रह्म परमात्मा का नाम होने से साक्षात् ब्रह्म ही है; क्योंकि भगवान् का नाम भी भगवत्स्वरूप ही होता है। यह प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला समस्त जगत् 'ॐ' अर्थात् उस ब्रह्म का ही स्थूल रूप

है। 'ॐ' यह अनुकृति अर्थात् अनुमोदन का सूचक है। अर्थात् जब किसी की बात का अनुमोदन करना होता है, तब श्रेष्ठ पुरुष परमेश्वर के नाम स्वरूप इस 'ॐ' कार का उच्चारण करके संकेत से उसका अनुमोदन कर दिया करते हैं, दूसरे व्यर्थ शब्द नहीं बोलते - यह बात प्रसिद्ध है। जब शिष्य अपने गुरू से तथा श्रोता किसी व्याख्यान दाता से उपदेश सुनाने के लिये प्रार्थना करता है, तब गुरू और वक्ता भी 'ॐ' इस प्रकार कहकर ही उपदेश सुनाना आरम्भ करते हैं। सामवेद का गान करने वाले भी 'ॐ' इस प्रकार पहले परमेश्वर के नाम का भलीभाँति गान करके उसके बाद सामवेद का गान किया करते हैं। यज्ञकर्म में शस्त्र-शंसनरूप कर्म करने वाले शास्ता नामक ऋत्विक् 'ओम् शोम्' इस प्रकार कहकर ही शस्त्रों का अर्थात् तद्विषयक मन्त्रों का पाठ करते हैं। यज्ञकर्म कराने वाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक् भी 'ॐ' इस परमेश्वर के नाम का उच्चारण करके ही प्रतिगर मन्त्र का उच्चारण करता है। ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्) भी 'ॐ' इस प्रकार परमात्मा के नाम का उच्चारण करके यज्ञकर्म करने के लिये अनुमति देता है, तथा 'ॐ' यों कहकर ही अग्निहोत्र करने की आज्ञा देता है। अध्ययन करने के लिये उद्यत ब्राह्मण ब्रह्मचारी 'ॐ' इस प्रकार परमेश्वर के नाम का पहले उच्चारण करके कहता है कि 'मैं वेद को भली प्रकार पढ़ सकूँ।' अर्थात् 'ॐकार' जिसका नाम है, उस परमेश्वर से 'ॐकार' के उच्चारणपूर्वक यह प्रार्थना करता है कि 'मैं वेद को - वैदिक ज्ञान को प्राप्त कर लूँ - ऐसी बुद्धि दीजिये।' इसके फलस्वरूप वह वेद को निःसंदेह प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस मन्त्र में ॐकार की महिमा का वर्णन है।

नवम अनुवाक

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्पद्धि तपः ।

ऋतम् - यथायोग्य सदाचार का पालन; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - शास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना भी (यह सब अवश्य करना चाहिये); **सत्यम्** - सत्यभाषण; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **दमः** - इन्द्रियों का दमन; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **शमः** - मन का निग्रह; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अग्नयः** - अग्नियों का चयन; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का

पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अग्निहोत्रम्** - अग्निहोत्र; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अतिथयः** - अतिथियों की सेवा; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **मानुषम्** - मनुष्योचित लौकिक व्यवहार; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **प्रजा** - गर्भाधान संस्काररूप कर्म; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **प्रजनः** - शास्त्रविधि के अनुसार स्त्रीसहवास; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **प्रजातिः** - कुटुम्बवृद्धि का कर्म; **च** - और; **स्वाध्यायप्रवचने च** - शास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **सत्यम्** - सत्य ही इनमें श्रेष्ठ है; **इति** - यों; **राथीतरः** - रथीतर के पुत्र; **सत्यवचाः** - सत्यवचा ऋषि कहते हैं; **तपः** - तप ही सर्वश्रेष्ठ है; **इति** - यों; **पौरुशिष्टिः** - पुरुशिष्ट के पुत्र; **तपोनित्यः** - तपोनित्य नामक ऋषि कहते हैं; **स्वाध्यायप्रवचने च** - वेदों का पढ़ना-पढ़ाना सर्वश्रेष्ठ है; **इति** - यों; **मौद्गल्यः** - मुग्दल के पुत्र; **नाकः** - 'नाक' मुनि कहते हैं; **हि** - क्योंकि; **तत्** - वही; **तपः** - तप है; **तत् हि** - वही; **तपः** - तप है।

व्याख्या - इस अनुवाक में यह बात समझायी गयी है कि अध्ययन और अध्यापन करने वालों को अध्ययन के साथ-साथ शास्त्रों में बताये हुए मार्ग पर स्वयं चलना भी चाहिये। यही बात उपदेश और उपदेश सुनने वालों के विषय में भी समझनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि अध्ययन और अध्यापन दोनों बहुत ही उपयोगी हैं, शास्त्रों के अध्यन से ही मनुष्य को अपने कर्तव्य का तथा उसकी विधि और फल का ज्ञान होता है; अतः इसे करते हुए ही उसके साथ-साथ यथायोग्य सदाचार का पालन, सत्यभाषण, स्वधर्म पालन के लिये बड़े-से-बड़े कष्ट सहना, इन्द्रियों को वश में रखना, मन को वश में रखना, अग्निहोत्र के लिये अग्नि को प्रदीप्त करना, फिर उसमें हवन करना, अतिथि की यथायोग्य सेवा करना, सबके साथ सुन्दर मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना, शास्त्रविधि के अनुसार गर्भाधान करना और ऋतुकाल में नियमित रूप से स्त्री-सहवास करना तथा कुटुम्ब को बढ़ाने का उपाय करना - इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिये। अध्यापक तथा उपदेश के लिये तो इन सब कर्तव्यों का समुचित पालन और भी आवश्यक है; क्योंकि उनके आदर्श का अनुकरण उनके छात्र तथा श्रोता ग्रहण करते हैं। रथीतर के पुत्र सत्यवचा नामक ऋषि का कहना है कि 'इन सब कर्मों में सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि प्रत्येक कर्म सत्यभाषण और सत्यभावपूर्वक किये जाने पर ही यथार्थ रूप से सम्पन्न होता है।' पुरुशिष्टपुत्र 'तपोनित्य' नामक ऋषि का कहना है कि 'तपश्चर्या ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि तपसे ही सत्यभाषण आदि समस्त धर्मों के पालन करने की और उनमें दृढ़तापूर्वक स्थित रहने की शक्ति आती है।' मुद्गल के पुत्र नाक नामक मुनि का कहना है कि 'वेद और धमशास्त्रों का पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि वही तप है, वही तप है अर्थात् इन्हीं से तप आदि समस्त धर्मों का ज्ञान होता है।' इन सभी ऋषियों का कहना यथार्थ

है। उनके कथन को उद्धृत करके यह भाव दिखाया गया है कि प्रत्येक कर्म में इन तीनों की प्रधानता रहनी चाहिये। जो कुछ कर्म किया जाय, वह पठन पाठन से उपलब्ध शास्त्रज्ञान के अनुकूल होना चाहिये। कितने ही विघ्न क्यों न उपस्थित हों, अपने कर्तव्यपालनरूप तप में सदा दृढ़ रहना चाहिये और प्रत्येक क्रिया में सत्यभाव और सत्यभाषण पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

दशम अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।

अहम् - मैं, **वृक्षस्य** - संसारवृक्ष का; **रेरिवा** - उच्छेद करने वाला हूँ; **(मम) कीर्तिः** - मेरी कीर्ति; **गिरे** - पर्वत के; **पृष्ठम् इव** - शिखर की भाँति उन्नत है; **वाजिनि** - अन्नोत्पादक शक्ति से युक्त सूर्य में; **स्वमृतम् इव** - जैसे उत्तम अमृत है, उसी प्रकार मैं भी; **ऊर्ध्वपवित्रः अस्मि** - अतिशय पवित्र अमृत स्वरूप हूँ; (तथा मैं) **सवर्चसम्** - प्रकाशयुक्त; **द्रविणम्** - धन का भंडार हूँ; **अमृतोक्षितः** - (परमानन्दमय) अमृत से अभिषिञ्चित (तथा); **सुमेधा** - श्रेष्ठ बुद्धि वाला हूँ; **इति** - इस प्रकार (यह); **त्रिशङ्कोः** - त्रिशङ्कु ऋषिका; **वेदानुवचनम्** - अनुभव किया हुआ वैदिक प्रवचन है।

व्याख्या - त्रिशङ्कु नामक ऋषि ने परमात्मा को प्राप्त होकर जो अपना अनुभव व्यक्त किया था, उसे ही इस अनुवाक में उद्धृत किया गया है। त्रिशङ्कु के वचनानुसार अपने अन्तःकरण में भावना करना भी परमात्मा की प्राप्ति का साधन है, यही बताने के लिये इस अनुवाक का आरम्भ हुआ है। श्रुति का भावार्थ यह है कि मैं प्रवाह रूप में अनादिकाल से चले आते हुए इस जन्म-मृत्युरूप संसार वृक्ष का उच्छेद करने वाला हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। इसके बाद मेरा पुनः जन्म नहीं होने का। मेरी कीर्ति पर्वत-शिखर की भाँति उन्नत एवं विशाल है। अन्नोत्पादक शक्ति से युक्त सूर्य में जैसे उत्तम अमृत का निवास है, उसी प्रकार मैं भी विशुद्ध रोग-दोष आदि से सर्वथा मुक्त हूँ, अमृतस्वरूप हूँ। इसके सिवा मैं प्रकाशयुक्त धन का भंडार हूँ, परमानन्दरूप अमृत में निमग्न और श्रेष्ठ धारणायुक्त बुद्धि से सम्पन्न हूँ। इस प्रकार यह त्रिशङ्कु ऋषि का वेदानुवचन है अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के बाद व्यक्त किया हुआ आत्मा का उद्गार है।

मनुष्य जिस प्रकार की भावना करता है, वैसा ही बन जाता है, उसके संकल्प में यह अपूर्व - आश्चर्यजनक शक्ति है। अतः जो मनुष्य अपने में उपर्युक्त भावना का अभ्यास करेगा वह निश्चय वैसा ही बन जायेगा। परंतु इस साधन में पूर्ण सावधानी की आवश्यकता है। यदि भावना के अनुसार गुण न आकर अभिमान आ गया तो पतन भी हो सकता है। यदि इस वेदानुवचन के रहस्य को ठीक समझकर इसकी भावना की जाय तो अभिमान की आशङ्का भी नहीं की जा सकती।

एकादश अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

वेदम् अनूच्य – वेद का भली भाँति अध्ययन कराकर; **आचार्य** – आचार्य; **अन्तेवासिनम्** – अपने आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी विद्यार्थी को; **अनुशास्ति** – शिक्षा देता है; **सत्यम् वद** – तुम सत्य बोलो; **धर्मम् चर** – धर्म का आचरण करो; **स्वाध्यायात्** – स्वाध्याय से; **मा प्रमदः** – कभी न चूको; **आचार्याय** – आचार्य के लिये; **प्रियम् धनम्** – दक्षिणा के रूप में वाञ्छित धन; **आहृत्य** – लाकर (दो; फिर उनकी आज्ञा से गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करके) ; **प्रजातन्तुम्** – संतान-परम्परा को (चालू रखो, उसका) ; **मा व्यवच्छेत्सीः** – उच्छेद न करना; **सत्यात्** – (तुमको) सत्यसे; **न प्रमदितव्यम्** – कभी नहीं डिगना चाहिये; **धर्मात्** – धर्म से; **न** – नहीं; **प्रमदितव्यम्** – डिगना चाहिये; **कुशलात्** – शुभ कर्मों से; **न प्रमदितव्यम्** – कभी नहीं चूकना चाहिये; **भूत्यै** – उन्नति के साधनों से; **न प्रमदितव्यम्** – कभी नहीं चूकना चाहिये; **स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्** – वेदों के पढ़ने और पढ़ाने में; **न प्रमदिव्यम्** – कभी भूल नहीं करनी चाहिये; **देपितृकार्याभ्याम्** – देव कार्य से और पितृ कार्य से; **न प्रमदितव्यम्** – कभी नहीं चूकना चाहिये।

व्याख्या – गृहस्थ को अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये, यह बात समझाने के लिये इस अनुवाक का आरम्भ किया गया है। आचार्य शिष्य को वेद का भली भाँति अध्ययन कराकर समावर्तन-संस्कार के समय गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके गृहस्थ-धर्म का पालन करने की शिक्षा देते हैं – पुत्र ! तुम सदा सत्य-भाषण करना, आपत्ति पड़ने पर भी झूठ का कदापि आश्रय न लेना, अपने वर्ण-आश्रम के अनुकूल शास्त्र-सम्मत धर्म का अनुष्ठान करना, स्वाध्याय से अर्थात् वेदों के अभ्यास, संध्यावन्दन, गायत्रीजप और भगवन्नाम-गुणकीर्तन आदि नित्य कर्म में कभी भी प्रमाद न करना – अर्थात् न तो कभी उन्हें अनादरपूर्वक करना और न आलस्यवश उनका त्याग ही करना। गुरु के लिये दक्षिणा के रूप में उनकी रूचि के अनुरूप धन लाकर प्रेमपूर्वक देना; फिर उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके स्वधर्म का पालन करते हुए संतान-परम्परा को सुरक्षित रखना-उसका लोप न करना। अर्थात् शास्त्रविधि के अनुसार विवाहित धर्मपत्नी के साथ ऋतुकाल में नियमित सहवास करके संतानोत्पत्तिका कार्य अनासक्तिपूर्वक करना। तुमको कभी भी सत्य से नहीं चूकना चाहिये अर्थात् हँसी-दिल्लगी या व्यर्थ की बातों में वाणी की शक्ति को न तो नष्ट करना चाहिये और न परिहास आदि के बहाने कभी झूठ ही बोलना चाहिये। इसी प्रकार धर्मपालन में भी भूल नहीं करनी चाहिये अर्थात् कोई

बहाना बनाकर या आलस्यवश कभी धर्म की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। लौकिक और शास्त्रीय - जितने भी कर्तव्यरूप से प्राप्त शुभ कर्म हैं, उनका कभी त्याग या उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, अपितु यथायोग्य उनका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। धन-सम्पत्ति को बढाने वाले लौकिक उन्नति के साधनों के प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिये। इसके लिये भी वर्णाश्रमानुकूल चेष्टा करनी चाहिये। पढ़ने और पढ़ाने का जो मुख्य नियम है, उसकी कभी अवहेलना या आलस्यपूर्वक त्याग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अग्निहोत्र और यज्ञादि के अनुष्ठानरूप देव कार्य तथा श्राद्ध-तर्पण आदि पितृ कार्यों के सम्पादन में भी आलस्य या अवहेलनापूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकसुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ।

मातृदेवः भव - तुम माता में देव बुद्धि करने वाले बनो; **पितृदेव भव** - पिता को देवरूप समझने वाले होओ; **आचार्यदेवः भव** - आचार्य को देवरूप समझने वाले बनो; **अतिथिदेवः भव** - अतिथि को देवतुल्य समझने वाले होओ; **यानि** - जो-जो; **अनवद्यानि** - निर्दोष; **कर्माणि** - कर्म हैं; **तानि** - उन्हीं का; **सेवितव्यानि** - तुम्हें सेवन करना चाहिये; **इतराणि** - दूसरे (दोषयुक्त) कर्मों का; **नो** - कभी आचरण नहीं करना चाहिये; **अस्माकम्** - हमारे (आचरणों में से भी); **यानि** - जो-जो; **सुचरितानि** - अच्छे आचरण हैं; **तानि** - उनका ही; **त्वया** - तुमको; **उपास्यानि** - सेवन करना चाहिये; **इतराणि** - दूसरों का; **नो** - कभी नहीं; **ये के च** - जो कोई भी; **अस्मत्** - हमसे; **श्रेयांस** - श्रेष्ठ (गुरूजन एवं); **ब्राह्मणाः** - ब्राह्मण आयें; **तेषाम्** - उनको; **त्वया** - तुम्हें; **आसनेन** - आसन-दान आदि के द्वारा सेवा करके; **प्रश्वसितव्यम्** - विश्राम देना चाहिये; **श्रद्धया देयम्** - श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये; **अश्रद्धया** - बिना श्रद्धा के; **अदेयम्** - नहीं देना चाहिये; **श्रिया देयम्** - आर्थिक स्थिति के अनुसार देना चाहिये; **ह्रिया देयम्** - लज्जा से देना चाहिये; **भिया देयम्** - भय से भी देना चाहिये (और); **संविदा देयम्** - (जो कुछ भी दिया जाय, वह सब) विवेकपूर्वक देना चाहिये।

व्याख्या - पुत्र ! तुम माता में देव बुद्धि रखना, आचार्य में देवबुद्धि रखना तथा अतिथि में भी देवबुद्धि रखना। आशय यह कि इन चारों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा भक्तिपूर्वक सदा इनकी आज्ञा का पालन, नमस्कार और सेवा करते रहना; इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहार से प्रसन्न रखना। जगत् में जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिये। उनसे भिन्न जो दोषयुक्त-निषिद्ध कर्म हैं, उनका कभी भूलकर-स्वप्न में भी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे-अपने गुरुजनों के आचार-व्यवहार में भी जो उत्तम-शास्त्र एवं शिष्ट

पुरुषों द्वारा अनुमोदित आचरण हैं, जिनके विषय में किसी प्रकार की शङ्का को स्थान नहीं है, उन्हीं का तुम्हें अनुकरण करना चाहिये, उन्हीं का सेवन करना चाहिये। जिनके विषय में ज़रा-सी भी शङ्का हो, उनका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये। जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ-वय, विद्या, तप, आचरण आदि में बड़े तथा ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुष घर पर पधारें, उनको पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि प्रदान करके सब प्रकार से उनका सम्मान तथा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। अपनी शक्ति के अनुसार दान करने के लिये तुम्हें सदा उदारतापूर्वक तत्पर रहना चाहिये। जो कुछ भी दिया जाय, वह श्रद्धापूर्वक देना चाहिये। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये; क्योंकि बिना श्रद्धा के किये हुए दान आदि कर्म असत् माने गये हैं (गीता १९. २९)। लज्जापूर्वक देना चाहिये अर्थात् सारा धन भगवान् का है, मैं यदि इसे अपना मानूँ तो यह अपराध है। इसे सब प्राणियों के हृदय में स्थित भगवान् की सेवा में ही लगाना मेरा कर्तव्य है। मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है। यों सोचकर संकोच का अनुभव करते हुए देना चाहिये। मन में दानीपन के अभिमान को नहीं आने देना चाहिये। सर्वत्र और सब में भगवान् हैं, अतः दान लेने वाले भी भगवान् ही हैं। उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दिया हुआ स्वीकार कर रहे हैं। यों विचारकर भगवान् से भय मानते हुए दान देना चाहिये। 'हम किसी का उपकार कर रहे हैं' ऐसी भावना मन में लाकर अभिमान या अविनय नहीं प्रकट करना चाहिये। परन्तु जो कुछ दिया जाय - वह विवेकपूर्वक, उसके परिणाम को समझकर निष्काम भाव से कर्तव्य समझकर देना चाहिये (गीता १९. २०)। इस प्रकार दिया हुआ दान ही भगवान् की प्रीति का - कल्याण का साधन हो सकता है। वही अक्षय फल का देने वाला है।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।

अथ - इसके बाद; **यदि** - यदि; **ते** - तुमको; **कर्मविचिकित्सा** - कर्तव्य के निर्णय करने में किसी प्रकार की शङ्का हो; **वा** - या; **वृत्तविचिकित्सा** - सदाचार के विषय में कोई शङ्का; **वा** - कदाचित्; **स्यात्** - हो जाय तो; **तत्र** - वहाँ; **ये** - जो; **सम्मर्शिनः** - उत्तम विचार वाले; **युक्ताः** - परामर्श देने में कुशल; **आयुक्ताः** - कर्म और सदाचार में पूर्णतया लगे हुए; **अलूक्षाः** - स्निग्ध स्वभाव वाले; (तथा) **धर्मकामाः** - एकमात्र धर्म के ही अभिलाषी; **ब्राह्मणः** - ब्राह्मण; **स्युः** - हों; **ते** - वे; **यथा** - जिस प्रकार; **तत्र** - उस कर्म और आचरण के क्षेत्र में; **वर्तेरन्** - बर्ताव करते हों; **तत्र** - उस कर्म और आचरण के क्षेत्र में; **तथा** - वैसे ही; **वर्तेथाः** - तुमको भी बर्ताव करना चाहिये; **अथ** - तथा यदि; **अभ्याख्यातेषु** - किसी दोष से लाञ्छित

मनुष्यों के साथ बर्ताव करने में (संदेह उत्पन्न हो जाय, तो भी); ये जो; **तत्र** - वहाँ; **सम्मर्शिनः** - उत्तम विचार वाले; **युक्ताः** - परामर्श देने में कुशल; **आयुक्ताः** - सब प्रकार से यथायोग्य सत्कर्म और सदाचार में भली भाँति लगे हुए; **अलूक्षाः** - रूखेपन से रहित; **धर्मकामाः** - धर्म के अभिलाषी; **ब्राह्मणाः** - (विद्वान्) ब्राह्मण; **स्युः** - हों; **ते** - वे; **यथा** - जिस प्रकार; **तेषु** - उनके साथ; **वर्तेरन्** - बर्ताव करें; **तेषु** - उनके साथ; **तथा** - वैसा ही; **वर्तेथाः** - तुमको भी बर्ताव करना चाहिये; **एषः आदेशः** - यह शास्त्र की आज्ञा है; **एषः उपदेशः** - यही (गुरुजनों का अपने शिष्यों और पुत्रों के लिये) उपदेश है; **एषा** - यही; **वेदोपनिषत्** - वेदों का रहस्य है; **च** - और; **एतत्** - यही; **अनुशासनम्** - परम्परागत शिक्षा है; **एवम्** - इसी प्रकार; **उपासितव्यम्** - तुमको अनुष्ठान करना चाहिये; **एवम् उ** - इसी प्रकार; **एतत्** - यह; **उपास्यम्** - अनुष्ठान करना चाहिये।

व्याख्या - 'यह सब करते हुए भी यदि तुमको किसी अवसर पर अपना कर्तव्य निश्चित करने में दुविधा उत्पन्न हो जाय, अपनी बुद्धि से किसी एक निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाय - तुम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाओ, तो ऐसी स्थिति में वहाँ जो कोई उत्तम विचार रखने वाले, उचित परामर्श देने में कुशल, सत्कर्म और सदाचार में तत्परतापूर्वक लगे हुए, सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करने वाले तथा एकमात्र धर्मपालन की ही इच्छा रखने वाले विद्वान् ब्राह्मण (या अन्य कोई ऐसे ही महापुरुष) हों - वे जिस प्रकार ऐसे प्रसङ्गों पर आचरण करते हों, उसी प्रकार का आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। ऐसे स्थलों में उन्हीं के सत्परामर्श के अनुसार उन्हीं के स्थापित आदर्श का अनुगमन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी दोष के कारण लाञ्छित हो गया हो, उसके साथ किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये - इस विषय में भी यदि तुमको दुविधा प्राप्त हो जाय - तुम अपनी बुद्धि से निर्णय न कर सको तो वहाँ भी जो विचारशील, परामर्श देने में कुशल, सत्कर्म और सदाचार में पूर्णतया संलग्न तथा धर्मकामी (सांसारिक धनादि की कामना से रहित) निःस्वार्थी विद्वान् ब्राह्मण हों, वे लोग उसके साथ जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तुमको भी करना चाहिये। उनका व्यवहार ही इस विषय में प्रमाण है।'

'यही शास्त्र की आज्ञा है - शास्त्रों का निचोड़ है। यही गुरु एवं माता-पिता का अपने शिष्यों और संतानों के प्रति उपदेश है तथा यही सम्पूर्ण वेदों का रहस्य है। इतना ही नहीं अनुशासन भी यही है। 'ईश्वर की आज्ञा तथा परम्परागत उपदेश का नाम अनुशासन है'। इसलिये तुमको इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचार का पालन करना चाहिये। इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचार का पालन करना चाहिये।'

द्वादश अनुवाक

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् । ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

नः – हमारे लिये; **मित्रः** – (दिन और प्राण के अधिष्ठाता) मित्रदेवता; **शम् (भवतु)** –कल्याणप्रद हों; **वरूणः** – (रात्रि और अपान के अधिष्ठाता) वरुण भी; **शम् (भवतु)** – कल्याणप्रद हों; **इन्द्र** – (बल और भुजाओं के अधिष्ठाता) इन्द्र; (तथा) **बृहस्पतिः** – (वाणी और बुद्धि के अधिष्ठाता) बृहस्पति; **नः** – हमारे लिये; **शम् (भवतु)** – शान्ति प्रदान करने वाले हों; **उरुक्रमः** – त्रिविक्रमरूप से विशाल डगोंवाले; **विष्णुः** – विष्णु (जो पैरों के अधिष्ठाता हैं); **नः** – हमारे लिये; **शम् (भवतु)** – कल्याणमय हों; **ब्रह्मणे** – (उपर्युक्त सभी देवताओं के आत्मस्वरूप) ब्रह्मा के लिये; **नमः** – नमस्कार है; **वायो** – हे वायुदेव ! ते – तुम्हारे लिये; **नमः** – नमस्कार है; **त्वम्** – तुम; **एव** – ही; **प्रत्यक्षम्** – प्रत्यक्ष (प्राणरूप से प्रतीत होने वाले); **ब्रह्म असि** – ब्रह्म हो (इसलिये मैंने); **त्वाम्** – तुझको; **एव** – ही; **प्रत्यक्षम्** – प्रत्यक्ष; **ब्रह्म** – ब्रह्म; **अवादिषम्** – कहा है; **ऋतम्** – (तुम ऋत के अधिष्ठाता हो, इसलिये मैंने तुम्हें) ऋत नाम से; **अवादिषम्** – पुकारा है; **सत्यम्** – (तुम सत्य के अधिष्ठाता हो, अतः मैंने तुम्हें) सत्य नाम से; **अवादिषम्** – कहा है; **तत्** – उस (सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने); **माम् आवीत्** – मेरी रक्षा की है; **तत्** – उसने; **वक्तारम् आवीत्** – वक्तांकी – आचार्य की रक्षा की है; **आवीत् माम्** – रक्षा की है मेरी; (और) **आवीत् वक्तारम्** – रक्षा की है मेरे आचार्य की; **ॐ शान्तिः** – भगवान् शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः** – शान्ति स्वरूप हैं; **शान्तिः** – शान्ति स्वरूप हैं।

व्याख्या – शीक्षावल्ली के इस अन्तिम अनुवाक में भिन्न-भिन्न शक्तियों के अधिष्ठाता परब्रह्म से भिन्न-भिन्न नाम और रूपों में उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थनापूर्वक कृतज्ञता प्रकट की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियों के रूप में तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओं के रूप में जो सबके आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकार से हमारे लिये कल्याणमय हों – हमारी उन्नति के मार्ग में किसी प्रकार विघ्न न आने दें। हम सबके अन्तर्यामी ब्रह्म को नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार परमात्मा से शान्ति की प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राण के रूप में समस्त प्राणियों में व्याप्त परमेश्वर की वायु के नाम से स्तुति करते हैं – 'हे सर्वशक्तिमान्, सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर ! आपको नमस्कार है। आप ही समस्त प्राणियों के प्राण स्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं; अतः मैंने आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहकर पुकारा है। मैंने नाम से भी आपको ही पुकारा है; क्योंकि सारे प्राणियों के लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋत के आप ही

अधिष्ठाता हैं। यही नहीं, मैंने 'सत्य' नाम से भी आपको ही पुकारा है; क्योंकि सत्य - यथार्थ भाषण के अधिष्ठातृ-देवता भी आप ही हैं। उन सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर ने मुझे सत्-आचरण एवं सत्य-भाषण करने की और सत्-विद्या को ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसार चक्र से मेरी रक्षा की है तथा मेरे आचार्य को उन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्य का प्रचार करने की शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा - उनका भी सब प्रकार से कल्याण किया है। यहाँ 'मेरी रक्षा की है, मेरे वक्ताकी रक्षा की है' इन वाक्यों को दुहराने का अभिप्राय शीक्षावल्ली की समाप्ति की सूचना देना है।'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः - इस प्रकार तीन बार '**शान्तिः**' पद का उच्चारण करने का भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक - तीनों प्रकार के विघ्नों का सर्वथा उपशमन हो जाय। भगवान् शान्ति स्वरूप हैं। अतः उनके स्मरण से सब प्रकार की शान्ति निश्चित है।

❋ ❋ ❋

चतुर्थ घटकम्

वेदाङ्गसाहित्यम्

सामान्य परिचय

वेदों के अध्ययन को सरल तथा सुगम बनाने के लिये छः वेदाङ्गों का प्रणयन हुआ। बहुत-सी उन विद्याओं अथवा विषयों का, जिनके सूक्ष्म संकेत इन ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में विद्यमान थे, व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन करके वेदाङ्ग के रूप में छः प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई।

इन छः वेदाङ्गों के नाम हैं–शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। शिक्षा-ग्रन्थों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि स्वरों तथा वर्णों के उच्चारण के नियम बताये गये हैं। इन शिक्षा-ग्रन्थों की एक लम्बी परम्परा रही है। आजकल भी पाणिनी, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा रचित अनेक शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

व्याकरण के समान निरुक्त-ग्रन्थों की भी एक लम्बी परम्परा रही है जिसके पर्याप्त प्रमाण आज अन्वेषकों को उपलब्ध हो चुके हैं तथा सम्प्रति उपलब्ध यास्कीय निरुक्त में उद्धृत अनके नैरुक्त आचार्यों के मतों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इन निरुक्त-ग्रन्थों में प्रधानतः वैदिक तथा प्रसङ्गतः लौकिक दोनों प्रकार के दुरूह अथवा रूढ़िभूत शब्दों का निर्वचन किया गया था।

वेदों की व्याख्या की दृष्टि से नैरुक्तों का अपना एक अलग सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुका था। ये नैरुक्त आचार्य वैदिक मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या के पक्षपाती थे जिसमें इन्द्र, वरुण इत्यादि सभी देव प्रकृति के अधिष्ठानभूत देवता के रूप में ही अभीष्ट थे। तथा तीन लोकों की दृष्टि से प्रधानभूत अग्नि, इन्द्र या वायु तथा सूर्य इन तीन देवताओं में ही सभी अन्य देवताओं का अन्तर्भाव माना गया था। याज्ञिक, ऐतिहासिक, तथा अध्यात्मविद् आचार्यों ने जहाँ अपने-अपने दृष्टिकोण से मन्त्रों में विविध अभिप्राय का दर्शन किया तथा उनका प्रवचन किया उसी प्रकार, उससे भिन्न

शैली अपनाकर, इन नैरुक्त आचार्यों ने मन्त्रों की अपनी दृष्टि से एक दूसरी ही व्याख्या प्रस्तुत की थी।

वेदाङ्गों में निरुक्त का स्थान

निरुक्त शास्त्र की महत्ता बतलाते हुए स्वयं यास्क ने यह स्पष्ट कहा कि निरुक्त के अध्ययन के बिना, मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। द्र०–'अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते' (निरुक्त १/१७)। निरुक्त के द्वारा मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान अथवा मन्त्रों के अर्थ करने की पद्धति का ज्ञान तो होता ही है साथ ही अनेक वैदिक और लौकिक दुरूह शब्दों के निर्वचन करने का ढ़ंग भी ज्ञात होता है। इसलिए निरुक्त को व्याकरणशास्त्र की परिपूर्णता मानी गयी–'व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम् (निरुक्त १/१५)। इसके अतिरिक्त वेदों के 'पदपाठ' और 'देवता' आदि के ज्ञान के विषय में निरुक्त पर्याप्त सहायक ग्रन्थ है। इसलिये वेदाध्ययन की दृष्टि से व्याकरण के समान अथवा उससे कहीं अधिक निरुक्त का महत्त्व माना जाता रहा है।

यास्कीय निरुक्त के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है अपितु कुछ वैदिक शब्दों के संग्रहभूत एक कोष, जिसका नाम 'समाम्नाय' अथवा 'निघण्टु' है, की व्याख्या के रूप में लिखा गया है। सायण ने इस बात पर विचार किया है कि जब निरुक्त स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर केवल एक व्याख्या-ग्रन्थ है तो उसे वेदाङ्ग क्यों माना गया है? और इस निरुक्त के व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु को वेदाङ्ग क्यों नहीं माना गया? इस प्रश्न के उत्तर में सायण ने स्वयं ही निरुक्त के लक्षण किये हैं–'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्' अर्थात् जिसमें स्वतन्त्र पदों का संग्रह हो वह निरुक्त है। इस लक्षण के अनुसार निघण्टु भी निरुक्त बन गया।

यास्कीय निरुक्त के व्याख्येय ग्रन्थ के रूप में जो निघण्टु आज मिलता है। वह पाँच अध्यायों में विभक्त है। उनमें से प्रथम तीन अध्याय को 'नैघण्टु काण्ड' कहा जाता है।

निघण्टु के चतुर्थ अध्याय को तीन खण्डों में विभक्त करके उसमें स्वतन्त्र शब्दों का संग्रह किया गया है। इस अध्याय को 'नैगम' या 'ऐकपदिक काण्ड' कहा जाता है। निघण्टु के पंचम अध्याय में, जो छः खण्डों में विभक्त है, भिन्न-भिन्न देवताओं के नामों का संग्रह है। इन छः खण्डों की व्याख्या निरुक्त के छः अध्यायों में की गयी।

सातवें अध्याय में देवतावाचक शब्दों का निर्वचन आरम्भ करने से पहले भी यास्क ने 'दैवत' तथा 'देवता' की परिभाषा दी, अनिर्दिष्ट देवता वाले मन्त्रों के देवता-ज्ञान का उपाय बताया, आध्यात्मिक दृष्टि से एकदेवतावाद, आधिदैविक दृष्टि से त्रिविधदेवतावाद तथा आधियाज्ञिक दृष्टि से बहुदेवतावाद की चर्चा की तथा तीनों का बड़े संक्षेप से समन्वय करते हुए देवताओं के पुरुषविध अपुरुषविध, उभयविध अथवा कर्मात्मा होने की बात कही और नैरुक्तों के आधिदैविक पक्ष के अनुसार तीनों लोकों की दृष्टि से तीन प्रधान देवताओं अग्नि, इन्द्र और आदित्य–के सहचारियों का उल्लेख करने के पश्चात् देवतावाचक नामों के निर्वचन और उदाहरणों को प्रस्तुत किया।

निरूक्तम् (प्रथम अध्याय)

प्रथम पाद

निरुक्त की रचना का उद्देश्य बतलाते हुए आचार्य यास्क-निरुक्त का व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु को मानते हैं।

मूल–समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तम् इमं समाम्नायं निघण्टवं इत्याचक्षते।

अनुवाद–(वैदिक शब्दों का) संग्रेह संगृहीत हो चुका। (अब) उसकी व्याख्या करनी है। इस संग्रह को (आचार्य लोग) 'निघण्टु' कहते हैं।

मूल–निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। अपि वा आ हननाद् एव स्युः। समाहता भवन्ति। यद् वा समाहृता भवन्ति।

अनुवाद–'निघण्टुः' नाम कैसे? ये (संगृहीत शब्द) अर्थबोधक होते हैं, दोनों से चुन-चुन कर शब्द इकट्ठे किये गये होते हैं। (इसलिये) ये (शब्द) 'निगन्तु' (अर्थ बोधक) होते हुए ही, अर्थ-बोधन के कारण 'निघण्टवः' कहे जाते हैं यह औपमन्वय का विचार है।

अथवा 'आहत' अर्थात् मर्यादा एवं विभाग के साथ पठित होने के कारण ही इन शब्दों के नाम 'निघण्टव' हुए हों (क्योंकि ये शब्द) 'समाहत' अर्थात् एक साथ पठित होते हैं अथवा ये शब्द वेदों से चुने हुए होते हैं इसलिए इन्हे निघण्टवः कहा जाता है।

प्रथम निर्वचन - प्रथम निर्वचन के अनुसार 'निघण्टु' शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'गम्' धातु से बना है। चूँकि 'समाम्नायों' में बड़ी सावधानी के साथ वेदों से शब्द चुन-चुन कर इकट्ठे किये जाते हैं इसलिए इन शब्दों के अर्थ-ज्ञान के द्वारा वैदिक मन्त्रों के अर्थों का बोध होता है। अतः अर्थबोधक होने के कारण ये शब्द 'निगम' के (नि+गम्+अच्) अर्थात् अर्थ के निश्चायक होते हैं। इस कारण 'निगम' के पर्याय के रूप में 'नि+गम्' के साथ औणादिक 'तुन्' प्रत्यय लगाकर 'निगन्तु' शब्द और उसके बाद 'त' का 'ट' तथा 'ग' का 'घ' होकर 'निघण्टु' शब्द बना। यास्क ने यह प्रथम व्युत्पत्ति, निरुक्त के प्राचीन आचार्य औपमन्यव के अनुसार है।

द्वितीय निर्वचन - **आ हननाद् एव स्युः समाहता भवन्ति** - के अनुसार 'निघण्टु' शब्द 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गों के साथ 'हन्' धातु से निष्पन्न होगा। 'समाहनन' तथा 'समाम्नान' का इस प्रसङ्ग में लगभग एक ही अर्थ है और वह है मर्यादापूर्वक विशिष्ट विभाजन और दृष्टिकोण के साथ शब्दों का एक क्रम में संग्रह।

तृतीय निर्वचन - तीसरे निर्वचन **'यद्वा समाहृता भवन्ति'** में 'समाहरण', अर्थात् वेदों से शब्दों को चुन-चुन कर एकत्र करना, अर्थ पर जोर दिया गया। इसीलिए यहाँ 'सम्' तथा 'आ' उपसर्गों के साथ 'हृ' धातु से तु' प्रत्यय की कल्पना की गयी। 'सम्' तथा 'आ' के स्थान पर 'नि', 'हृ' का गुण हर्तु', 'र्' का 'न्' 'ह' का 'ध ' और 'न' का 'ट' होकर 'निघण्टु' शब्द बनेगा।

निघण्टु में शब्दों के चार विभाग

मूल - तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति।

अनुवाद - तो जो ये चार (प्रकार के) प्रसिद्ध पद-नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात हैं वे (उस प्रकार के ही) ये ('समाम्नाय' के पद भी) हैं।

व्याख्या - इस वाक्य में यह कहा गया है कि भाषा में चार प्रकार के प्रसिद्ध पद हैं - नाम, आख्यात उपसर्ग तथा निपात - उन्हीं चार प्रकार के पदों का इस 'समाम्नाय' में भी संग्रह किया गया है। इसलिए 'इमानि' का अर्थ करना चाहिए 'समाम्नाय' के पद अथवा शब्द', अभिप्राय यह है कि इन चार विभागों के अन्तर्गत ही बस 'समाम्नाय' के सभी शब्द भी आ जाते हैं - कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जो इन चार विभागों के अन्तर्गत न आ सके।

मूल–तत्रैतन् नामाख्यातयोर् लक्षणं प्रदिशन्ति। भावप्रधानम् आख्यातम्। सत्वप्रधानानि नामानि।

अनुवाद–उन (चार प्रकार के भेदों) में से नाम और **आख्यात** की (निम्न)

परिभाषा (आचार्य लोग) बताते हैं। जिन (पदों) में भाव (क्रिया) की प्रधानता हो वह 'आख्यात' है तथा जिनमें सत्व (द्रव्य अथवा सिद्ध भाव) की प्रधानता हो वह 'नाम' है।

मूल–तद् यत्रोभे, भावप्रधाने भवतः पूर्वापरिभूत भावम् आख्यातेन आचेष्ट, व्रजति पचतीति उपक्रम-प्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्। मूर्त्त सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः ब्रज्या पक्तिरीति।

अनुवाद–जहां दोनों (नाम तथा 'अख्यात' पद) होते हैं (वहां अर्थात् वाक्य में दोनों) क्रियाप्रधान होते हैं 'व्रजति' 'पचति' जैसे ('आख्यात' पदों द्वारा (वक्ता) पहले तथा पीछे (एक विशेष क्रम से) होने वाली आरम्भ से लेकर अन्त तक की क्रिया को कहता है। मूर्त (सिद्ध) एवं द्रव्य के समान बने भाव (सिद्ध भाव) को (वक्ता) 'व्रज्या पंक्ति' जैसे 'नाम' शब्दों से कहता हैं।

व्याख्या – 'नाम' तथा 'आख्यात' की परिभाषा देने के पश्चात् यह विचारणीय है कि वाक्य में जहाँ दोनों ही 'आख्यात' तथा 'नाम' पदों का प्रयोग होता है वहाँ 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता मानी जाए या सत्व अर्थात् द्रव्य की? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि वाक्य में जब 'नाम' तथा 'आख्यात' दोनों का प्रयोग होगा तो भी क्रिया की ही प्रधानता होगी। पृथक्-पृथक् जब दोनों का प्रयोग होता है तभी 'आख्यात' को क्रियाप्रधान तथा 'नाम' को द्रव्यप्रधान मानना चाहिए। परन्तु वाक्य में तो जहाँ भी क्रिया की प्रधानता होगी – द्रव्य वहाँ गौणरूप धारण कर लेगा। क्योंकि क्रिया साध्य होती है – निष्पाद्य होती है। उस क्रिया की सिद्धि के लिए 'नामों अथवा कारकों या दूसरे शब्दों में साधनों का प्रयोग किया जाता है।

मूल–'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशः। 'गौर् 'अश्व', 'पुरुष' 'हस्ति' इति। 'भवति' इति भावस्य। 'आस्ते' 'शते', 'वज्रति', 'तिष्ठति' इति।

अनुवाद–'अदस्' (इस प्रकार के सर्वनाम शब्दों) के द्वारा 'नाम' (वस्तुओं या सिद्धि भाव) का (सामान्य रूप से) कथन होता है तथा 'गौ अश्व' 'पुरुष' 'हाथी', (इत्यादि शब्दों से) विशेष रूप से। (इसी प्रकार) 'भवति' (जैसे अस्तित्त्व के वाचक तिङन्त पदों) के द्वारा साध्यभाव (अथवा क्रिया) का सामान्य रूप से कथन होता है तथा 'आस्ते', 'शेते' 'वज्रति' तिष्ठति (इत्यादि विशिष्ट क्रिया के वाचक तिङन्त पदों) के द्वारा विशेष रूप से।

मूल–इन्द्रिय नित्यं वचनम् औदुम्बरायणः। तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते अयुगपद् उत्पन्नां वा शब्दानाम् इतरेतरोपदेशः, शास्कृतो योगश्च।

अनुवाद–शब्द जिह्वा इन्द्रिय में ही, नित्य है। ऐसा औटुम्बरायण आचार्य का मत है। इस मत में (पदों के) चार विभाग नहीं बन पाते। भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न हुए शब्दों का एक-दूसरे के साथ (गौण-प्रधान-भाव से सम्बन्ध तथा व्याकरण शास्त्र में प्रदर्शित प्रकृति प्रत्यय आदि का संयोग भी नहीं सुसंगत हो पाता।

व्याख्या - औदुम्बरायण एक प्राचीन आचार्य हो चुके हैं। यास्क ने इन्हें जिस रूप में यहाँ उद्धृत किया है उससे यह प्रतीत होता है कि वे शब्द को अनित्य मानते थे - केवल वाग् इन्द्रिय में ही उसकी सत्ता मानते थे। अर्थात् जब तक जिह्वा वाणी या शब्द का उच्चारण करती है तभी तक शब्द की सत्ता है तथा उच्चरित होते ही वह नष्ट हो जाता है। सम्भवत: इस मत में शब्द तथा उसकी ध्वनि में कोई अन्तर न मानते हुए ध्वनि को ही शब्द माना जाता रहा।

पर यदि शब्द को इस प्रकार अनित्य स्वभाव वाला माना गया तो, उसकी अनित्यता के कारण 'नाम, 'आख्यात' 'उपसर्ग' तथा 'निपात' ये चतुर्विध विभाग नहीं बन सकेंगे। इसका कारण यह है कि जब "शब्द उच्चरित होते ही नष्ट हो जाता है", यह मान लिया गया तो फिर वाक्य में अनेक शब्दों की एक साथ स्थिति सम्भव नहीं है। और शब्दों की एक साथ स्थिति न होने पर 'नाम', 'आख्यात' आदि का विभाग किया जाना भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए जब वक्ता 'गौ:' गृहम् आयाति कहेगा तो जब तक उसकी वाणी 'ग' का उच्चारण करके आगे 'गौ' को उच्चारण करने का प्रयास करेगी उसी समय 'ग' नष्ट हो चुका होगा। इस प्रकार एक पूरा शब्द भी एक साथ उपस्थित नहीं हो सकेगा पूरे वाक्य की बात और है। जब ये तीनों शब्द एक साथ उपस्थित नहीं हो सकेंगे तब यह कैसे कहा जा सकता है कि 'गौ:' तथा 'गृहम्' नाम शब्द हैं तथा 'आयाति' आख्यात शब्द हैं।

औदुम्बरायण के इस सिद्धान्त में तीसरा दोष यह है कि व्याकरणशास्त्र में शब्दों के स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए उनमें प्रकृति-प्रत्यय का संयोग या धातु उपसर्ग तथा संयोग आदि दिखलाया गया है। यह सब असंगत हो जाएगा क्योंकि जब पूरा छन्द ही विद्यमान नहीं - विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं नष्ट हो जाती हैं - तो प्रकृति तथा प्रत्यय धातु और उपसर्ग आदि भी एक साथ विद्यमान हैं तो प्रकृति नहीं, जब धातु है तो उपसर्ग नहीं और जब उपसर्ग है तो धातु नहीं - तो ऐसी स्थिति में इन दोनों के योग की कल्पना कैसे सम्भव हो सकती है।

मूल–व्याप्तिमत्वात् तु शब्दस्य।

अनुवाद–परन्तु शब्द के व्याप्तिमान् नित्य होने के कारण उपर्युक्त तीनों दोषों का समाधान हो जाता है।

व्याख्या - शब्द तथा ध्वनि ये दोनों पृथक-पृथक तत्त्व हैं। शब्द नित्य हैं अर्थात् सदा ही वक्ता और श्रोता की बुद्धि अथवा हृदय में विद्यमान रहते हैं। ध्वनियों के द्वारा केवल उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। शब्द की, ध्वनियों के द्वारा होने वाली, यह अभिव्यक्ति ही अनित्य है क्योंकि ध्वनियाँ वाग् इन्द्रिय आदि के द्वारा उच्चरित होती हैं तथा तुरन्त नष्ट हो जाती हैं। परन्तु शब्द अभिव्यक्त या अनभिव्यक्त चाहे जिस रूप में रहे - दोनों स्थितियों में यह नित्य है। पतञ्जलि ने महाभाष्य (/१/७०) में 'स्फोटस् तात्वान् एव ध्वनिकृता वृद्धिः' कहकर शब्द के इसी नित्य रूप को स्पष्ट किया है। शब्द के इस नित्य स्वरूप की दृष्टि से ही शब्द का दूसरा नाम 'स्फोट' या 'शब्द ब्रह्म' पड़ा। कात्यायन, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि ने न केवल शब्द को ही अपितु शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है। इस रूप में शब्दों के नित्य होने के कारण शब्दों के उपर्युक्त चार प्रकार का विभाजन वाक्य में विद्यमान शब्दों का पारस्परिक गौण-प्रधान-भाव तथा प्रकृति-प्रत्यय या धातु उपसर्ग आदि का योग अर्थात् सम्बन्ध, सब कुछ उत्पन्न हो जाएगा।

मूल-अणीयत्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अनुवाद-अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट होने के कारण लोक में (पारस्परिक) व्यवहार के लिये शब्द से (ही वस्तु या व्यक्ति का) नाम रखा जाता है।

व्याख्या - यहाँ यह पूछा जा सकता है कि विचारों के आदान-प्रदान के लिए शब्दों का या शब्दों के समूह भाषा को माध्यम क्यों अपनाया जाये ? विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं, जैसे - हाथ या आँख के इशारे, तथा अन्य संकेतों से भी काम चलाया जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यास्क ने संक्षेप में यह कहा है कि भावों या विचारों को अधिक से अधिक सरल तथा सुस्पष्ट रूप में शब्दों के माध्यम से ही प्रकट किया जा सकता है। संकेत या शारीरिक चेष्टाओं द्वारा बहुत थोड़ी बातें प्रकट की जा सकती हैं तथा साथ ही उनमें बहुत कुछ अस्पष्टता एवं सन्दिग्धता बनी ही रहेगी।

मूल-तेषां मनुष्यवदू देवताभिधानम्।

अनुवाद-वे (शब्द) जिस प्रकार (लौकिक भाषा में) मनुष्यों के प्रति विभिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार वैदिक भाषा में वे देवताओं के प्रति (विभिन्न अभिप्रायों को भी) प्रकट करते हैं।

व्याख्या - जहाँ तक अर्थ-प्रकाशन की क्षमता का सम्बन्ध है, लौकिक भाषा तथा वैदिक भाषा दोनों ही समान हैं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार लौकिक भाषा में 'गौ' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर 'गाय' 'वाणी' आदि अर्थों की प्रतीति होती

है, उसी प्रकार वैदिक भाषा में भी इन 'गौ' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर 'गाय', 'पृथ्वी', 'किरण', 'वाणी' इत्यादि का ज्ञान होता है।

मूल–पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर मंत्रो वेदे।

अनुवाद–पुरुष के ज्ञान के अनित्य होने के कारण वेद में कर्मों के सम्पूरक मन्त्र संगृहीत हैं।

व्याख्या - यह पूछा जा सकता है कि यदि वैदिक भाषा और लौकिक भाषा दोनों समान रूप से सार्थक हैं तो फिर यज्ञ आदि कार्यों में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग की अनिवार्यता क्यों मानी जाती है। अपनी इच्छानुसार जिस किसी भी भाषा में रचित पद्यों या वाक्यों द्वारा यज्ञ आदि कार्य क्यों न किए जायें। इस प्रश्न का उत्तर यास्क यह देते हैं कि दोनों भाषाओं के समान होने पर भी वेद-मन्त्र अपौरुषेय हैं और लौकिक भाषा में निबद्ध वाक्य या पद्य पौरुषेय हैं, अर्थात् मानव निर्मित हैं। भारतीय परम्परा इस बात को मानती आयी है कि वेद मानवीय ज्ञान न होकर स्वतन्त्र रूप से समुद्भूत शाश्वत ज्ञान है, जिसका ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किया गया। दूसरी ओर मानव का ज्ञान अनित्य है, अपूर्ण है, तथा उसकी शक्ति एवं बुद्धि सीमित है। इसलिए उसकी भाषा में भी यह अपूर्णता अवश्य होगी। अत: मानवीय भाषा का प्रयोग होने पर यज्ञ आदि कार्यों की फलोत्पादकता या दूसरे शब्दों में इनकी सफलता के विषय में सन्देह हो सकता है। परन्तु वेद-मन्त्र के द्वारा किए जाने पर यज्ञ आदि कार्य निश्चित रूप से फल के उत्पादक होंगे।

मूल–षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते विनश्यति इति।

'जायते' इति पूर्वभावस्य आदिम् आचष्टे, न अपरभावम् आचष्टे न प्रतिषेधति। 'अस्ति' इत्युपन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। 'विपरिणमते' इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद् विकारम्। वर्धते, इति स्वाङ्गाभ्युच्चयम्, सांयौगिकानां वाऽर्थानाम्। 'वर्धते विजयेन' इति वा, वर्धते शरीरेण, इति वा। 'अपक्षीयते' इत्येतेनैव व्याख्यात: प्रतिलोमम्। विनश्यति इत्यपराभावस्य आदिम् आचष्टे न पूर्वभावम् आचष्टे न प्रतिषेधति। अतोऽन्ये भाव-विकारा एतेषाम् एव विकारा भवन्तीति ह स्माह। ते यथावचनम् अभ्युहितव्या:।

अनुवाद–छ: प्रकार के भाव विकार होते हैं–उत्पन्न होना, परिवर्तित होना, बढ़ना, घटना तथा नष्ट होना वार्ष्यायणि का मत है 'जायते' यह (शब्द) पूर्वभाग (उत्पत्ति) के प्रारम्भ को कहता है, अपरभाव होना को न तो कहता है न (उसका) प्रतिषेध करता है। 'अस्ति' (होना) (रूप भाव) उत्पन्न पदार्थ की स्थिति को (कहता) है। 'विपरिणमते' यह (परिणत होना) (रूप भाव) अपने स्वरूप से

अपरिवर्तित वस्तु के विकार को (कहता है) 'वर्धते' यह (बढ़ना रूप भाव) अपने अङ्गों अथवा स्व सम्बद्ध पदार्थों की वृद्धि (या पुष्टि) को (कहता है) (जैसे) 'विजयेन वर्धते अथवा 'शरीरेण वर्धते' 'अपक्षीयते' यह (घटना) रूप भाव इसी ('वर्धते की व्याख्या) से विपरीत रूप में व्याख्यात हो गया। 'विनश्यति' यह (नष्ट होना रूप भाव) अन्तिम भाव है और (नाश) के प्रारम्भ को कहता है। (इससे) पहले के भाव (घटना) को न कहता है और न (उसका) निषेध करता है। इन (छः भाव विकारों से) अन्य भाव विकार इनके ही विकार (अवान्तर) भेद हैं ऐसा (वार्ष्यायणि ने) कहा है कि उन (भाव विकारों) का वचन (प्रसङ्ग या मन्त्र) के अनुसार निश्चय कर लेना चाहिये।

व्याख्या - आचार्य वार्ष्यायणि का विचार यह है कि उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों में ये छः विकार देखे जाते हैं। इन विकारों का स्वभाव यह है कि वे अपने से पहले आने वाले विकार के समय में ही सूक्ष्म रूप से अपना स्वरूप धारण करने लगते हैं और अपने से पहले वाले विकार के तिरोहित हो जाने पर अपने स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट करते हैं।

यहाँ प्रथम भाव विकार है **'जायते'** अर्थात् उत्पन्न होना। बीज से जब अंकुर निकलता है तब यह कहा जाता है कि अंकुर पैदा हुआ। यद्यपि 'पैदा होना' के साथ-साथ 'होना रूप क्रिया या भाव विकार भी है ही। परन्तु यहाँ 'जायते' शब्द 'उत्पन्न होने' रूप भाव विकार को ही कहता है, 'होने' रूप भाव विकार को नहीं कहता और न उस 'भाव' का प्रतिषेध करता है। कहता इसलिये नहीं कि 'जायते' का अर्थ केवल 'होना' न होकर 'उत्पन्न होना' अर्थ है और निषेध इसलिए नहीं करता कि 'उत्पन्न होना' रूप भाव विकार हो ही तब कह सकता है जब कोई पदार्थ हो, अर्थात् वहाँ 'होना' रूप भाव-विकार भी हो। यदि अंकुर उत्पन्न होता है, यह कहा भी नहीं जा सकता।

दूसरा भाव-विकार है **'अस्ति'** जिसका अर्थ है 'होना', अपनी सत्ता धारण करना'। वैयाकरणों ने भी 'अस्ति' का अर्थ किया है 'आत्म-धारणानुकूलो व्यापारः'। 'अस्ति', 'भवति', 'विद्यते', 'वर्तते' ये सभी धातुएँ सामान्य सत्ता अथवा 'भाव' को ही कहती हैं, जिसका अर्थ होता है - अपने को 'धारण करना'। इसीलिए यास्क ने 'भवति इति भावस्य' कहकर 'सत्ता' को भाव-सामान्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। कैयट ने इसी दृष्टि से 'आत्म-भरण-वचनो भवतिः' (महाभाष्य १/३/१, पृ० १६५) कहा भृर्तहरि से 'अस्ति' के अर्थ के विषय में चर्चा करते हुए यह कहा कि 'अपने को अपने द्वारा धारण करने की स्थिति को 'अस्ति' पद के द्वारा कहा जाता है - आत्मानम् आत्मना विभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते' वाक्यपदीय (३, सं०, ७)।

तीसरा भाव विकार है – **'विपरिणमते'** जिसका अभिप्राय है 'परिवर्तन,। यहाँ 'परिवर्तन' का अभिप्राय वह सामान्य विकार है जिसमें वस्तु अपने मौलिक धर्म, तत्व या स्वभाव से रहित नहीं होती। जैसे मानव शरीर में विविध परिवर्तन हो सकते हैं, परन्तु शरीर के स्वभाव में कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

चौथा विकार है **'वर्धते'** अर्थात् 'वृद्धि'। यह 'वृद्धि' दो प्रकार की हो सकती है। पहली अपने शरीर की वृद्धि तथा दूसरी अपने से सम्बद्ध या संयुक्त पदार्थों की वृद्धि अथवा पुष्टि। यहाँ निरुक्त में 'स्वाङ्ग' शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में किया गया है – शरीर के अङ्ग के अर्थ में नहीं। पहले प्रकार की 'वृद्धि' की दृष्टि से 'वध 'ते शरीरेण' यह उदाहरण दिया गया तथा दूसरे प्रकार की दृष्टि से 'वर्धते विजयेन' उदाहरण दिया गया। इस प्रकार के और उदाहरण 'वर्धते धनेन', 'वर्धते यशसा' इत्यादि हो सकते हैं। निरुक्त में 'वर्धते शरीरेण' यह उदाहरण 'वर्धते विजयेन' के पहले आना चाहिए।

पांचवा भाव-विकार है **'अपक्षीयते'** अर्थात् 'ह्रास' अथवा 'अपक्षय'। 'अपक्षय से 'विनाश' को छठे भाव-विकार के रूप में गिनाया गया है। यह 'ह्रास' भी 'वृद्धि' के समान दो प्रकार का हो सकता है – पहला शरीर का ह्रास तथा दूसरा अपने से युक्त या सम्बद्ध पदार्थों का ह्रास। पहले का उदाहरण है – 'अपक्षीयते शरीरेण' तथा दूसरे का उदाहरण है – 'अपक्षीयते अपजयेन' इत्यादि। इसीलिए यास्क ने यहाँ केवल "अपक्षीयते इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्" इतना कहना ही पर्याप्त समझा।

छठा भाव-विकार है **'विनश्यति'** अर्थात् 'विनाश' यह इन छः भाव-विकारों में अन्तिम विकार है। जब 'ह्रास' अपनी अन्तिम सीमा पर आ जाता है तब 'विनाश' का प्रारम्भ माना जाता है। इसी कारण यह 'विनश्यति' पद अन्तिम भाव-विनाश' की प्रारम्भिक व्यवस्था को कहता है। परन्तु उससे पूर्व के भाव-विकार 'अपक्षय' को न तो कहता ही है और न उनका निषेध ही करता है। कहता इसलिए नहीं कि 'विनश्यति' का अर्थ 'अपक्षय' अथवा 'ह्रास' न होकर 'पूर्ण विनाश' हुआ करता है और निषेध इसलिए नहीं कर सकता है कि 'अपक्षय' के हुए बिना 'विनाश' हो ही नहीं सकता।

यास्क के अनुसार, वार्ष्यायणि का यह भी कहना है कि इन छः विकारों के अतिरिक्त जितने भी भाव-विकार उपलब्ध होते हैं, उन सबको इन छः विकारों के अन्तर्गत ही मान लेना चाहिए।

मूल–'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान् निराहू:' इति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोसंयोगद्योतका भवन्ति। 'उच्चावचाः पदार्था भवन्ति' इति गार्ग्यः। तद् य एषु पदार्थः प्राहुर इमे तं नामख्यातयोर् अर्थविकरणम्।

अनुवाद–स्वतंत्र (रूप से प्रयुक्त) उपसर्ग निश्चय ही अर्थों को नहीं कहते अपितु 'नाम' तथा 'तिङन्त' पद के अर्थ सम्बन्ध के द्योतक मात्र होते हैं–यह आचार्य शाकटायन का मत है। परन्तु (इसके विपरीत) आचार्य गार्ग्य का मत यह है कि (उपसर्ग) विभिन्न अर्थों वाले होते हैं। तो इन (उपसर्गों) में जो पदार्थ (उपसर्ग पदों का अर्थ) है, जिसके द्वारा 'नाम' तथा 'आख्यात' के अर्थ में विकार (परिवर्तन) उत्पन्न हो जाता है, उसको ये (उपसर्ग) अच्छी तरह से कहते हैं।

शाकटायंन का यह विचार है कि उपसर्ग सदा ही नाम' (प्रतिपादक) अथवा 'आख्यात' (तिङन्त) पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही आते हैं। कभी भी वे स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होकर किसी विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं करते। अतः यही मानना चाहिये कि उपसर्ग जिन 'नाम' या 'तिङन्त' पदों के साथ प्रयुक्त होते हैं उनके ही अर्थों को द्योतित करते हैं - स्वयं किसी ऐसे अर्थ का कथन नहीं करते जो 'नाम' या 'तिङन्त' पदों के अर्थ से भिन्न अर्थ हों जिनके साथ ये प्रयुक्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि उपसर्ग के प्रयुक्त होने से जिस अर्थ का प्रकाशन होता है वह उपसर्ग का न होकर उन्हीं 'नाम' या 'तिङन्त' पदों का होता है - उपसर्ग तो केवल उन अर्थों का प्रकाशन या द्योतन मात्र करते हैं। जैसे घर में सारा सामान विद्यमान होने पर भी अन्धकार के कारण दिखाई नहीं देता पर जब दीपक जल जाता है तो वह सब दिखाई देता है। यहाँ जिस प्रकार दीपक उन सामान या वस्तुओं का द्योतक मात्र होता है - लाने वाला नहीं होता - उसी प्रकार उपसर्ग भी केवल उन अर्थों के द्योतक मात्र होते हैं - वाचक नहीं।

मूल–'आ' इत्यर्वागर्ये प्र' 'परा' इत्येतस्य प्रतिलोम्यम्। 'अभि' इत्याभिमुख्यम्। 'प्रति' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। 'अति' 'सु' इत्यभिपूजितार्थे। 'निर्' 'दूर' इत्येतयो, प्रातिलोम्यम्। 'नि' 'अव' इति विनिग्रहार्थीयो। 'उद्' इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। 'सम' इत्येकीभावम्। 'वि' 'अप' इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। 'अनु' इति सादृश्यापरभावम्। 'अपि' इति संसर्गम्। 'उप' इति सर्वतोभावम्। 'अधि' इत्युपरिभावमैश्वर्य वा। एवम् उच्चावचान् अर्थान् प्राहुः। ते उपेक्षितव्याः।

अनुवाद–'आ' 'इधर' के अर्थ में (प्रयुक्त होता है) तथा 'प्र' और 'परा' इस ('आ') के विपरीत अर्थ उधर को (कहते हैं)। 'अभि' 'सामुख्य' (अर्थ) को

(कहता है।) तथा 'प्रति' इस ('अभि') के विपरीत पीछे अर्थ को कहता है। 'अति' तथा 'सु' आदर, सम्मान अर्थ में (प्रयुक्त होते हैं) और निर् तथा 'दुर' अर्थ इन दोनों ('अति तथा 'सु') के विपरीत (अनादर या अपमान) अर्थ को (कहते हैं) 'नि' तथा 'अव' विनिग्रह अर्थ वाले हैं तथा 'उत' इस (विनिग्रह) के विपरीत अर्थ को कहता है। 'सम्' एकत्व (अर्थ) को (कहता है) तथा 'अनु' यह सादृश्य तथा 'अपरभाव' (पीछे होने) को (कहता है)। 'उप' यह उपजन (आधिक्य) को (कहता है) 'परि' यह चारों ओर होने को (कहता है)। 'अधि' यह ऊपर होना' अथवा 'ऐश्वर्य' को (कहता है)। इस रूप में (उपसर्ग) अनेक तरह के अर्थों को अच्छी तरह कहते हैं (द्योतन मात्र नहीं करते)। उन अर्थों पर ध्यान देना चाहिये।

द्वितीयः पादः

निपातों के विषय में विचार

मूल–अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे। अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि पदपूरणाः।

अनुवाद–जब निपातों का वर्णन कियाा जाता है। ऐ निपात, विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। कुछ (निपात) 'उपमा' अर्थ में, कुछ (निपात अर्थ, 'समुच्चक' के अर्थ में तथा कुछ निपात 'पूर्ति' के लिए प्रयुक्त होते हैं।

व्याख्या - 'नाम', 'आख्यात' तथा उपसर्गों की चर्चा कर चुकने के पश्चात् यास्क अब निपात विषयक विवेचन आरम्भ करते हैं। 'निपात' शब्द की निष्पत्ति 'नि' उपसर्गपूर्वक 'पत्' धातु से होगी। चूँकि ये निपात विविध अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, इसलिए इन्हें 'निपात' कहा जाता है। कुछ विद्वान 'निपात' शब्द का अर्थ यह करते हैं कि ये शब्द भाषा में अज्ञात रूप से आ गिरे जिनके प्रकृति प्रत्यय आदि के विषय में स्पष्ट कुछ ज्ञात नहीं होता इसलिए उन्हें 'निपात' कहा गया।

'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' कहकर यास्क ने यह स्पष्ट कर दिया कि निपात भी विविध अर्थों के वाचक होते हैं। वैयाकरणों, ने कम से कम नवीन वैयाकरणों ने, निपातों को भी, उपसर्गों के समान, अर्थ का द्योतक ही माना है।

अप्युपमार्थे अपि कर्मोपसंग्रहार्थे अपि पद्पूरणाः - सामान्यतया निपात तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम वे जो 'उपमा' या जो 'सादृश्य' अर्थ को कहते हैं। दूसरे वे जो 'कर्मोपसङ्ग्रह' अर्थ वाले (अनेक अर्थों के सङ्ग्राहक या समुच्चायक) होते हैं तथा तीसरे वे निपात हैं जिनका अपना अर्थ कोई नहीं होता - जो केवल पद या वाक्य

की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं। यास्क ने यहाँ तीनों प्रकार के निपातों का निर्देश करते हुए, समुच्चय अर्थ वाले 'अपि' उपसर्ग का प्रयोग किया है जो सम्भवतः उनके समय में इस रूप में रखा जा सकता है - 'निपाता उपमार्थे च कर्मोपसंग्रहः च पदपूर्णाश्च भवन्ति' अर्थात् निपात 'उपमा' अर्थ वाले, कर्मोपसंग्रह' अर्थ वाले तथा पद पूर्ति करने वाले होते हैं।

मूल—तेषाम् एते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। 'इव' इति भाषायां च अन्वध्यायं च। 'अग्निर् इव' (ऋ० वे० १०/८४/२) 'इन्द्र इव' (ऋ० वे० १०/८४/१ इति।

'न' इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयम् अन्वध्यायम्। 'नेन्द्र देवम् अमंसत (ऋ० वे० १०/८६/१) इति प्रतिषेधार्थीयः। पुरस्ताद उचारस् तस्य यत् प्रतिषेधति। 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (ऋ० वे० ८/२/१२) इति उपमार्थीयः। उपरिष्टाद् उपाचारस तस्य येनोपमिमीते।

'चिद्' इत्येषोऽनेककर्मा। आचार्यश चिद् ब्रुयाद्' इति पूजायाम्। (आचार्यः कस्मात्?) आचार्य आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्। आचिनोति बुद्धिम् इति वा। 'दधिचित् इत्युपमार्थीयो कुलमाषांश् चिद् आहर' इत्यवकुत्सिते। 'कुलमाषाः' कुलेषु सीदन्ति।

'न' इत्येषोऽनेककर्मा। 'इदं नु करिष्यति' इति हेत्वपदेशे। 'कथं नु करिष्यति' इत्यनुपृष्टे। 'नन्वेतद् अकार्षीद' इति च। अथापि उपमार्थे अवति='वृक्षस्य ते नु पुरुहूत वयाः' (ऋ० वे० ६/२४/३)। वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः 'वयाः' शाखा वेतेः वातायना भवन्ति। 'शाखाः खशयाः शक्नोतेर वा।

अनुवाद—उन (तीन प्रकार के निपातों) में से चार निपात 'उपमा' अर्थ वाले हैं। 'इव' यह (निपात) भाषा (लौकिक संस्कृत) तथा वेद (दोनों) में (उपमा अर्थ वाला है) जैसे='अग्निर् इव' (अग्नि के समान), 'इन्द्र इव' (इंद्र के समान)।

'न' यह (निपात) भाषा में निषेध अर्थ वाला है। (परन्तु) वेद में)(इसके) दोनों (निषेध तथा उपमा) अर्थ हैं। जैसेः नेन्द्र देवम् अमंसत (इन्द्र को देव नहीं माना)। यहां 'न' प्रतिषेध अर्थ वाला है। जब (यह 'न' निपात) प्रतिषेध करता है तब उसका (प्रतिषेध) से पहले प्रयोग किया जाता है। दुर्मदासो न सुरायाम् (सुरा-पान किये हुये लोगों के समान) यहां ('न', उपमा अर्थ वाला है। जिस ('न' निपात) से उपमा अर्थ कहा जाता है उस (उपमावाचक 'न') का प्रयोग उपमान के पश्चात् किया

जाता है।

'चित्' यह (निपात) अनेक अर्थ वाला है। जैसे–'आचार्यश्' चिद् इदं ब्रूयात् (केवल आचार्य ही इस अभिप्राय को बता सकते हैं)। यहां (चिद् का प्रयोग) पूजा या आदर के अर्थ में हुआ है। आचार्य शब्द कैसे बना? आचार्य (विद्यार्थी में) आचार (सदाचार) को धारण करता है, अर्थों (शास्त्रों के अभिप्रायों) का संग्रह करता है। 'दधिचित् (दहि के समान)। यहां (ज्ञान-विज्ञान) का चयन (संग्रह) करता है। 'दधिचित्' (दहि के समान)। यहां ('चित्) उपमा अर्थ वाला है। 'कुलमाषांश चिद् आहर' (कुल्माषों को ही लाओ, और अधिक क्या ला सकते हो?)। यहां 'चिद्' निन्दा अर्थ वाला है। 'कुल्माष' कुलों में नष्ट होते हैं या निकृष्ट माने जाते हैं।

'नु' यह (निपात भी) अनेक अर्थ वाला है। 'इदं नु करिष्यति' (चूंकि इस काम को करेगा इस कारण) यहां हेतु को कहने के लिये ('नु' का प्रयोग किया गया)। 'कथं नु करिष्यति' (अरे! वह कैसे करेगा? यहां पुनः प्रश्न करने के लिये ('नु' का प्रयोग किया गया)। 'नन्वेतद् अकार्षीत्'? क्या इस काम को पहले नहीं किया था?) यहां भी (पुनः प्रश्न के अर्थ में 'नु' का प्रयोग हुआ है)। 'उपमा' को अर्थ में भी 'नु' का प्रयोग होता है। जैसे–वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः (हे बहुस्तुत? वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी हे पुरुहूत? (बहुतों के द्वारा संस्तुत) वृक्ष की शाखाओं के समान तुम्हारी (सहायतायें) वयाः का अर्थ है शाखायें। 'वी' धातु से ('वयाः' शब्द बना है)। क्योंकि (शाखाएं वातायन (हवा से चलने वाली) होती है अथवा 'शक्' (धातु) से (शाखा शब्द बनाया जा सकता है)।

मूल–अथ यस्यागमाद् अर्थ-पृथक्त्वम् अह विज्ञायते न त्वौद्देशिकम् इव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः।

अनुवाद–जिस निपात के आ जाने से अर्थ पृथक् रूप में तो ज्ञात होता है, परन्तु वह उद्दिष्ट (साक्षात् निर्दिष्ट) अर्थ के समान नहीं होता। क्योंकि (उद्दिष्ट अर्थ में) विग्रह (रूप) की भिन्नता होती है।

व्याख्या - ऊपर इस प्रकरण के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि निपात तीनं प्रकार के होते हैं जिनमें प्रथम प्रकार अर्थात् उपमा अर्थ वाले निपातों का प्रदर्शन किया जा चुका, अब दूसरे प्रकार के निपातों की चर्चा की जा रही है। इन निपातों का अर्थ 'कर्मोपसंग्रह' अथवा 'अर्थोपसंग्रह' है। अर्थात् ये निपात दूसरे पदों के अर्थों के संग्राहक होते हैं। कर्मोपसंग्रह अर्थ में निम्नलिखित निपात आते हैं:-

मूल–'च' इति समुच्चयार्थे उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते। 'अहं च त्वं च वृत्रहन् (ऋ० वे० ७/७२/५१) इति।

'एतस्मिन्नेवार्थे देवेभ्यश्च पितृभ्य आ' (१९/१६/१) इति 'आकारः'।

'वा' इति विचारणार्थे। 'हन्ताहं पृथिवोम् इमां निदधनानीह वेह वा' (ऋ० वे० १०/११८/८) इति। अथापि समुच्चयार्थे भवति 'वायुर् वा त्वा मनुर् वा त्वा' (तैत्तिरीय संहिता १/७७/२) इति।

'अहं' इति च 'ह' इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते 'अयम् अह इदं करोतु, अयम् 'इदम्'। 'इद ह करिष्यति, इदं न करिष्यति' इति।

अथापि 'उकार' एतस्मिन्नेवार्थे उत्तरेण। 'मृषेमे वदन्ति, सत्यम् उ ते वदन्ति' इति। अथापि पद पूरणः–'इदम् उ' (ऋ० वे९ ४/५/१/१), 'तद उ' (ऋ० वे० १/६२/६)।

अनुवाद–'समुच्चय' अर्थ वाला 'च' (कभी-कभी) दोनों (समुच्चीय मान शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है जैसे अहं चं त्वं च वृत्रहन् (हे वृत्रहन्ता! मैं और तुम दोनों)।

इसी (समुच्चय) अर्थ में देवेभ्यश्च पितृभ्य आ (देवताओं तथा पितरों के लिए) यहां 'आकार' (आ) का प्रयोग हुआ है।

'वा' निपात हन्ताह पृथिवीम् इमां निदधानीह वेह वा (अरे! इस पृथ्वी को यहां उठा कर रख दूंगा या वहां) यहां सन्देह (एक प्रकार का अनिश्चय अथवा विकल्प के अर्थ में तथा वायुर् वा त्वा मनुर् वा त्वा (वायु और मनु तुम को) इस मन्त्रांश में समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

नियम अर्थ वाले 'अह' तथा 'हि' निपात (प्रस्तुत दो वाक्यों में से) पहले (वाक्य) के साथ प्रयुक्त होते हैं। ('अह' का उदाहरण) 'अयम्' अह इदं करोतु' (यह ही इस काम को करें और दूसरा व्यक्ति इस दूसरे काम को करे) तथा ('ह' का उदाहरण) इदं ह करिष्यति इदं न करिष्यति (यह इसी काम को करेगा, इस दूसरे काम को नहीं)।

इसी (नियम अथवा विनिग्रह) अर्थ में 'उ' (निपात) का (प्रस्तुत दो वाक्यों में से) दूसरे वाक्य के साथ प्रयोग होता है। जैसे 'मृषेमे वदन्ति, सत्यम् उ ते वदन्ति' (ये झूठ बोलते हैं, केवल वे सत्य बोलते हैं)। पदपूर्ति के लिये भी ('उ' निपात) प्रयुक्त होता है। जैसे 'इदम् उ' 'तद् उ'।

मूल–हि' इत्येषोऽनेककर्मा। 'इदं हि करिष्यति' इति हेत्वपदेशे'। 'कथं हि करिष्यति' इत्यनुपृष्टे। 'कथं हि व्याकरिष्यति' इत्यसूयायाम्।

'किल' इति विद्या-प्रकर्षे। 'एवं किल' इति। अथापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्यां सम्प्रज्युतेऽनुपृष्टे। 'न किल एवम्' ननु किल एवम्'।

'मा' इति प्रतिषेधे। 'मा' 'कार्षीः' 'माः हार्षीः' इति च।

'खलु' इति च। 'खलु कृत्वा। 'खलु कृतम्'। अथापि पदपूरणः। 'एव खलु तद् बभूव' इति।

'शश्वत्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्–शश्वद् एवम् इत्यनुपृष्टे। 'एवं शश्वत्' इत्यस्वयंपुष्टे।

अनुवाद–'हि' यह (निपात) अनेक अर्थों वाला है। 'इदं हि करिष्यति' (चूंकि इस कार्य को करेगा) यहां हेतु कहने के लिए ('हि' का प्रयोग किया गया है), 'कथं हि करिष्यति' (वह भला कैसे कर लेगा?) यहां दुबारा पुनः प्रश्न करने के अर्थ में तथा 'कथं हि व्याकरिष्यति' (यह कैसे उत्तर दे देगा?) यहां असूया (ईर्ष्या) के अर्थ में ('हि' का प्रयोग हुआ है)।

'किल' यह (निपात) निश्चित ज्ञान को बताने के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे 'एवं किल' (यह बात ऐसी ही है)। इसके अतिरिक्त पुनः प्रश्न करने में भी 'न' 'ननु' इन दो (निपातों) के साथ (किल) प्रयुक्त होता है। जैसे 'न' किलैवम्'? 'ननु किलैवम्'?

'मां' यह (निपात) प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे–'मा कार्षी (मत कर), 'मा हार्षी' (मत छीन)।

'खलु' यह (निपात) भी प्रतिषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे -खलु कृत्वा' (न करो), 'खलु कृतम्' (नहीं किया)। इसके अतिरिक्त पद पूरणार्थ भी ('खलु) प्रयुक्त होता है। जैसे–एवं खलु तद् वभूव' (वह ऐसे हुआ)।

'शश्वत्' यह (निपात) भाषा में निश्चय अर्थ वाला है। जैसे–'शश्वत् एवम्? (क्या निश्चित ही ऐसा है?) यहां (शश्वत् का एवम्' से पूरक प्रयोग) पुनः प्रयोग करने के अर्थ में है। 'एवम् शश्वत्' (हां, निश्चित रूप से ऐसा ही है) यहां ('शश्वत्' का 'एवम्' के पश्चात् प्रयोग) दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर (उत्तर के रूप में) हुआ है।

तृतीयः पादः

निश्चयार्थक 'नुनम्' निपात

मूल–'नूनम' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। उभयम् अन्वध्यायम् विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च। अगस्त्य इन्द्राय हविर् निरूप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्साञ्चकार। स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रेः।

न नूनम् अस्ति नो श्वः, कस् तद् वेद यद् अद्भूतम्।
अन्यस्य चित्तम् अभिसंचरेण्यम् उताधीतं विनश्यति।।

न नूनम् अस्त्यद्यतनम्। नो एव श्वस्तनम्। अद्य अस्मिन् द्यवि। 'द्युः' इत्यहनो नामधेयम्। द्योतते इति सतः श्वः उपाशंसनीयः कालः। ह्यो, हीनः कालः। कस्तद् वेद यद् अद्भूतम्–कस्तद् वेद, यद अभूतम्। इदम् अपि इतरत 'अद्भूतम् इव। अन्यस्य चित्तम्। अभिसंचरेण्यम्– अभिवंचारि। अन्यो न आनेयः। चित्तं चेततेः। उताधीतं विनश्यति [अप्याध्यातं विनश्यति] आध्यातम्–अभिप्रेतम्।

अनुवाद–'नूनम्' यह (निपात) भाषा में निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु वेद में निश्चयार्थक तथा पद-पूरणार्थक दोनों रूपों में इसका प्रयोग मिलता है।

अगस्त्य ने इन्द्र को हवि देने का निश्चय करके भी उसे मरुतों को देने की इच्छा की (इस पर) वह इन्द्र आकर (निम्न मन्त्र द्वारा) विलाप करने लगा।

मन्त्रान्वय–नूनं नास्ति। नः श्वः (अस्ति)। यद् अद्भूतं तत् कः वेद। अन्यस्य चित्तम् अभिसंचरेण्यं (भवति)। अधीतम् उत विनश्यति।

मन्त्रानुवाद–(हवि) निश्चत ही (आज) नहीं है। (और) न कल (ही) है। जो हुआ नहीं उसे कौन जानता है। दूसरे का चित्त चंचल होता है। सोचा हुआ भी नष्ट हो जाता है।

अनुवाद–(हवि का भोजन) निश्चित ही आज नहीं है। और न ही कल है। 'अद्य' (अर्थात्) आज के दिन। 'द्यु' चमकते हुए दिन का नाम है। श्वः (अर्थात्) जिनके आने की आशा की जाती है, ऐसा समय (आने वाला कल) 'ह्यः' (अर्थात्) उसको कौन जानता है जो (अभी) हुआ ही नहीं? वह दूसरा ('आश्यर्च' अर्थ वाला) 'अद्भूत्' (शब्द) भी 'न हुये' के समान ही है। दूसरे का चित्त 'अभिसंचरेण्यं' अर्थात् अभिसंचारी (चञ्चल) होता है। 'अन्य' (शब्द का अर्थ है) आनेय (अर्थात्) अविश्वसनीय। 'चित्त' (सोचना) से बना है। उताधीतं विनश्यति (का अर्थ है)

(अच्छी तरह चाही हुई या सोची हुई वस्तु या बात) भी नष्ट हो जाती है। (अधीतं के नियमित रूप) आध्यात (का अर्थ है) अभिप्रेत (अर्थात्) अभीष्ट।

मूल–अथापि पद-पूरणः–

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयद् इन्द्र दक्षिणां मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो धग् भगो नो बृहद् वदेम विदथे सुवीराः॥

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। बरो वरयितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा। मघोनी मधवती। मघम् इति धन नायधेयम् महतेर् दानकर्मणः। दक्षिणा दक्षतेः समर्धयति कर्मणः। वृद्धं समर्धयति इति। अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशम् अभिप्रेत्य। दिग् हस्तप्रकृति दक्षिणा। हस्तो दक्षतेर् उत्साहकर्मणः दाशतेर वा स्याद् दानकर्मणः। हस्तो हन्ते। प्राशुर्हनने। देहिस्तोतृभ्यः कामान् मा अस्मान्। अतिदहीः- मा अस्मान् अतिहाय दाः। भगोनोऽस्तु) बृहद् वदेम स्वे वेदने। भगो भजतेः। बृहद् इति महतो नामधेयम्। परिवृढं भवति। वीरवन्तः कल्याणवीरा वा। वीरो वीरयत्यमित्रान्। वेतेर्वा स्याद गतिकर्मणः वीरयतेर् वा।

अनुवाद–इसके अतिरिक्त (ननु निपात) 'पद-पूरण' अर्थ वाला भी है।

मन्त्रार्थं–हे इन्द्र! सा ते मघोनी दक्षिणा जरित्रे नूनं वरं प्रति दुहीयत्। स्तोतृभ्यः शिक्ष। माति धग् भगः न (अस्तु)। सुवीराः (वयं) विदथे बृहद् वदेम।

मन्त्रानुवाद–हे इन्द्र तुम्हारी वह (प्रसिद्ध) धन वाली दक्षिणा (पुरस्कार) स्तोता के लिये आज ही (अभी) वह (अभीष्ट वस्तु) प्रदान करे। हमें छोड़कर मत दो (हमें भी दो)। हमको भी ऐश्वर्य प्राप्त हो। सुन्दर वीरों (पुत्रों) वाले (हम लोग अपने) घर (या यज्ञ) में ऊँचे स्वर से तुम्हारी स्तुति करें।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद–वह तुम्हारी (दक्षिणा) वरं अभीष्ट वस्तु को स्तोता के लिये (प्रदान करे) वह वरणीय होता है। जरिता (का अर्थ है) गरिता (स्तोता)। मघोनी (अर्थात्) मघवती। 'मघ' यह घन का नाम है तथा 'दान' अर्थ वाली 'मह' धातु से (निष्पन्न है)। 'दक्षिणा (शब्द) 'स्मृद्धि' अर्थ वाली 'दक्ष' धातु से (निष्पन्न है)। (क्योंकि दक्षिणा) निर्धन को समृद्ध बना देती है। अथवा दक्षिण (दिशा) की ओर आने के कारण दिशा की दृष्टि से ('दक्षिणा') शब्द बना है। (दक्षिण) 'दिशा' (को 'दक्षिण' कहे जाने) का मूल (कारण) है दाहिना हाथ। 'दक्षिणः' हस्तः' यहां 'दक्षिण' (शब्द) उत्साह अर्थ वाली 'दक्ष' अथवा 'दान' अर्थ

वाली 'दाश्' (धातु से) (निष्पन्न है। 'हस्त' (शब्द) 'हन्' धातु से (निष्पन्न है) क्योंकि वह मारने (अथवा गति) में तेज है। स्तुति करने वाले को अभीष्ट वस्तु दो। ('मा अतिधक्' का अर्थ है) 'मा अस्मान् अतिहाय देहि' (अर्थात् हमें छोड़कर (अन्यों को) मत दो। हमें (भी धन आदि (ऐश्वर्य) की प्राप्ति हो। (बृहद् वदेम का अर्थ है) बृहद् वदेम स्वे वेदने अर्थात् (हम) अपने घर (या यज्ञ) में उच्च स्वर से या (विस्तृत रूप में) बोलें (स्तुति करे)। 'भग' शब्द 'भज्' (सेवायाम्) से निष्पन्न है। 'बृहत्' (शब्द) 'महत् का पर्याय है क्योंकि वह चारों ओर बढ़ा हुआ होता है। (सुवीराः का अर्थ है) 'वीरवन्त' अर्थात् वीरों (या पुत्रों) से युक्त अथवा सुन्दर या कल्याणकारी वीरों (या पुत्रों) से युक्त। 'वीर' शत्रुओं को कंपाता है, इसलिये 'वि ईर' से निष्पन्न है) अथवा 'गति' अर्थ वाले 'वा' या (चुरादिगणीय) 'वीर्' (धातु) से निष्पन्न है)।

मूल– 'सीम्' इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा। प्रसीम् आदित्यौ असृजत् (ऋ० वे० २/२८/४)

'प्रासृजतु' इति वा। प्रासृजत् सर्वतः इति वा।

अनुवाद–'सीम्' यह (निपात) 'परिग्रह' (सर्वत्र) अर्थ वाला है अथवा पदपूरणार्थक है। जैसे प्रसीम् आदित्यौ 'असृजत्'। सीम् को पद-पूरणार्थक मानते हुए उस मंत्रांश का अर्थ होगा) आदित्य ने (नदियों को) तेज़ी से बहाया (यदि सीम् को परिग्रहार्थीय माना जाय तो इस अंश का अर्थ होगा) आदित्य ने (नदियों को) चारों ओर तेज़ी से बहाया।

मूल–वि सीमतः सुरुचो वेन आवः (अ ४/१/१) इति च।

व्यावृणोत् सर्वतः आदित्यः। 'सुरुचः' आदित्यरश्मयः' सुरोचनात्। अपि वा, 'सीम्' इत्येतद् अनर्थकम् उपबन्धम् आददीत पञ्चमीकर्माणम्। सीम्नः सीमतः सीमातः मर्यादातः। सीमा मर्यादा, विषीव्यति, देशौ इति।'

अनुवाद–विसीमतः सुरुचो वेन आवः यहां ('सीमतः भी) परिग्रहार्थीय अथवा पद-पूरणार्थक है। (इसका अर्थ है) आदित्य ने प्रशस्त दीप्ति वाली रश्मियों को सब ओर उन्मुक्त कर दिया। 'सुरुचः' (शब्द का अर्थ है) आदित्य की रश्मियां क्योंकि वे अच्छी तरह प्रकाशित होती हैं।

अथवा ('सीमतः' शब्द में 'सीम्' को प्रातिपादिक मानकर यह माना जाय कि) 'सीम्' (शब्द) ने (प्रायः) पञ्चमी अर्थ वाले, (पर यहां) अनर्थक (स्वार्थ में) 'तस्' प्रत्यय को अपने साथ युक्त कर लिया है। इस दृष्टि से 'सीमतः' का पर्याय 'सीम्नः' है या (दूसरे शब्दों में) 'सीमतः' अथवा 'मर्यादातः' 'सीमा' मर्यादा को

कहते हैं क्योंकि 'सीमा' दो देशों को अलग करती है।

मूल– 'त्व' इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुद्रात्तम्। अर्धनाम इत्येके। ऋचां त्वः पोषम् आस्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वा गायति शक्वरीषु ब्रह्मा त्वो वदति जातिवद्याम् यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः) (१०.७१.११)

मन्त्रान्वयः–त्वः ऋचां पुपुष्वान् आस्ते। त्वः शक्वरीषु गायत्रं गायति। उ त्वः ब्रह्मा जातविद्या वदति। उ त्वः यज्ञस्य मात्रां विमिमीते।

इति ऋत्विक्कर्माणां विनियोगम् आचष्टे। ऋचाम् एकः पोषम् आस्ते पुपुष्वान होता। ऋग् अर्चनी। गायत्रम् एको गायति शक्वरीषुः- उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः शक्वर्यः ऋच शक्नोतेः। (तद् यद् आभिर् वृत्रम् अशकद् हन्तुम् तत् छक्वरीणां शक्वरीत्वम् इति विज्ञायते। ब्रह्मै को जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः। सर्व वेदितुम अर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। ब्रह्मा परिवृढं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः अध्वर्युः। अध्यवर्युर् अध्यरयुः। अध्वरं युनक्तिः। अध्वरस्य नेता। अध्वरं कामयते इति वा। अपि वाऽधीयाने युर् उपबन्धः। अध्वर् इति यज्ञनाम। ध्वरितिर् हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः।

अनुवाद–'त्व विनिग्रह (नियमन) अर्थ वाला अनुदात्त सर्वनाम है। कुछ विद्वान् इसे 'आधे' अर्थ का वाचक मानते हैं। विनिग्रह अर्थ वाले 'त्व' का उदाहरण है–'ऋचां त्वः पोषम्।

मन्त्रानुवाद–(यज्ञ में) एक ('होता' नामक ऋत्विज) ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण में लगा हुआ है। एक (उद्गाता नामक ऋत्विज) 'शक्वरी' ऋचाओं पर 'गायत्र' (नामक साम) का गान करता है। एक 'ब्रह्मा' (नामक ऋत्विज) प्रत्येक अवसर पर विशेष ज्ञान को प्रकट करता है। (दूसरा ऋत्विज 'अध्वर्यु') के सम्पूर्ण क्रिया कलाप को करता है।

यास्कीय व्याख्या का अनुवाद–(ऋचां त्व०) इस मन्त्र के द्वारा (वेद) ऋत्विजों के कार्य की व्यवस्था बताता है। (एक) अर्थात् 'होता' ऋचाओं का उच्चारण करता है। 'ऋक्' (का अर्थ है) अर्चनी (जिसके द्वारा अर्चन-स्तुति) की जाय। एक उद्गाता 'शक्वरी' ऋचाओं पर गायत्र' (नामक साम) गाता है, 'गायत्र' (शब्द) स्तुति अर्थ 'गै' (स्तुतौ) धातु से निष्पन्न होगा। 'शक्वरी' कुछ ऋचाओं का नाम है तथा 'शक्' 'धातु' से बना है। 'ब्राह्मण ग्रन्थों से, यह ज्ञात होता है कि इन ऋचाओं के द्वारा 'इन्द्र' वृत्र को मारने में समर्थ हुआ। यह 'शक्वरी' ऋचाओं का शक्वरीत्व हैं एक 'ऋत्विज' 'ब्रह्मा' अवसर-अवर पर अपने ज्ञान को प्रकट करता है।

'ब्रह्मा' सब विद्याओं का ज्ञाता है—सब कुछ जान सकता है। 'ब्रह्मा' शब्द 'वृह' धातु से बनेगा क्योंकि ज्ञान के द्वारा बहुत बढ़ा होता है। 'ब्रह्म' (परमब्रह्म या वेद) सबसे बढ़ा हुआ होता है। एक (ऋत्विज) अध्वर्यु है यज्ञ की इतिकर्तव्यता (सम्पूर्ण क्रियाकलाप) को मापता है (पूर्ण करता है)। 'अध्वर्यु' शब्द वस्तुतः 'अध्वरयुः' है। (जिसकी चार व्युत्पत्तियां सम्भव है। १.'अध्वरं युनक्ति—यज्ञ का संयोजक। २. 'अध्वरस्य नेता'—यज्ञ का नेतृत्व अथवा सम्पादन करने वाला। ३. अध्वरं कामयते'—यज्ञ की जो कामना करता है। ४. अथवा यज्ञ के अध्ययन करने के अर्थ में (अध्वर शब्द से) 'यु' (लगाया गया)। 'अध्वर' शब्द 'यज्ञ' का पर्याय हैं 'ध्वृ' (धातु) 'हिंसा' अर्थ वाली है उस (हिंसा) का (यज्ञ में) निषेध होता है।

मूल—निपात इत्येके। तन् कथम् अनुदात्त प्रकृति नाम स्यात्? दृष्टव्यं तु भवति उत त्वं सख्ये स्थिरपीतम् आहुः (ऋ० वे० १०/७१/५) इति द्वितीयायाम् उतो त्वस्मै तन्त्रं? विसस्त्रे (ऋ० वे० १०/७१/४) इति चतुर्थ्याम्। अथापि प्रथमा बहुवचनेः।

अक्षण्वन्त कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवः।
आदध्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे॥

मन्त्रान्वय—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः मनोजवेषु असमा बभूवुः उत्वे आदध्नासः (ह्रदा इव, उत्व) उपकक्षासः (ह्रदा इव), उत्वे स्नात्वा ह्रदा इव ददृशे।

अक्षिमन्तः कर्णवन्त [सखायः]। अक्षिः चष्टे। अनक्तेर, इत्याग्रायणः। 'तस्माद् एते व्यक्तरे इव भवतः' इति ह विज्ञायते। कर्णः कृन्तते। निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेर् इत्याग्रायणः। ऋच्छन्तीव, खे उद्गन्ताम् इति ह विज्ञायते। मनसां प्रजवेषु असमाः बभूवः। आस्यदध्नाः अपरे। उपकक्षदध्ना अपरे। आस्यम् अस्यतेः। आस्यदन्ते एतत् अन्नम् इति वा। दध्नम् दध्यतेः स्त्रवतिकर्मणः। दस्यतेर्वा स्यात् विदस्ततरं भवति। प्रस्नेयाः ह्रदा इव एके प्रस्नेया ददृशिरे। स्नानार्हाः। ह्रदां ह्रदतेः शब्दकर्मणः। ह्लादतेर् वा स्यात् छीतीभावकर्मणः।

अनुवाद—('त्व') निपात है ऐसा कुछ लोगों का मत है। (परन्तु 'त्व' निपात न होकर सर्वनाम है क्योंकि) यदि ऐसा न होता (निपात होता) तो 'त्व' अनुदात्त स्वर वाला कैसे होता? ('त्व' शब्द के रूप का) परिवर्तन (भी) तो देखा जाता है। जैसे-उत त्व सख्ये स्थिर पीतम् आहुः (और कुछ को ज्ञान के विषय में प्रौढ़ अभ्यास वाला मानते हैं) यहां द्वितीया विभक्ति में उत त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे (और किसी

विशिष्ट व्यक्ति के लिये शरीर को अनावृत कर देती है) यहां चतुर्थी (विभक्ति) में ('त्व') का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रथमा विभक्ति में ('त्व' के) प्रयोग मिलते हैं। जैसे-अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः।

मूल–अथापि समुच्चयार्थे भवति-पर्याया इव, त्वद् आश्विनम् (कौषीतकी ब्राह्मण १७/४) आश्विनं च पर्यायाश्चेति।

अनुवाद–इसके अतिरिक्त (एक अन्य 'नाम' अथवा सर्वनाम त्वत् भी) समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे-पर्याया इव त्वद् अश्विनम् (अर्थात् अश्विन और पर्याय)।

मूल–अथ ये प्रवृत्ते अर्थे अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषुवाक्यपूरणाः आगच्छन्ति, पद-पूरणास्ते मिताक्षरेषु। अनर्थकाः। 'कम्', 'ईम् उद्, 'उ' इति।

अनुवाद–(विवक्षित) अर्थ के परिसमाप्त (पूर्णतया प्रकट) हो जाने पर गद्यात्मक गन्थों में वाक्य पूरण के रूप में कम् 'ईम्' 'उ' निपात प्रयुक्त होते हैं। वे (ही) अनर्थक (निपात) छन्दोबद्ध ग्रन्थों में 'पद-पूरण' (माने जाते) हैं।

मूल– निष्ट्वक्त्रासश् चिद इन् नरो भूरितोका वृकाद् इव।
बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्॥

शिशिरं जीवनाय। शिशिरं श्रृणातेः शम्नातेर वा। एम् एनं सृजता सुते (ऋ० वे० १/८/१) आ सृजत एन सुते। तम् पद वर्धन्तु नो गिरः (ऋ० वे० ८/९२/२१) त वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः। अयम् उ ते समतसि (ऋ० वे० १/३०/४)। अयं ते समतसि। 'इवोऽपि दृश्यते–'सुविदुर इव' (काठक संहिता ८/३), सुवितायेते इव (काठक सहिता, ६/२)।

अनुवाद–('कम्' का उदाहरण–निष्ट्वक्त्रासः'०–वस्त्र रहित तथा बहुत सन्तान वाले मनुष्य (ही) भेड़िये से डरते हुए के समान चिल्लाते हैं कि शिशिर (ऋतु) जीवन के लिये (सुखदायी) है। शिशिर (ऋतु) जीने के लिये हैं। 'शिशिर' (शब्द) 'शृ' या 'शम्' (धातु) से बनेगा। ('ईम' का उदाहरण)–एवम् एनं सृजता सुते छान लिये जाने पर सोम को बहने दो। ('इत्' का उदाहरण है) 'तम्' इद् वर्धन्तु, नो गिरः'–हमारी स्तुतियां उसको (ही) 'अयम् उ ते समतसि–यह (ही वह सोम) तुम्हारे लिये हैं (जिसके प्रति तुम) अच्छी तरह जाते हो। 'इव' (निपात) भी (पद पूरण के रूप में प्रयुक्त) दिखाई देता है। जैसे-'सुविदुर् इव'–उन्होंने जाना, 'सुविज्ञायेते इव' अच्छी तरह जाने वाले हैं।

मूल– अथापि 'न' इत्येष। इत् इत्येतेन सम्प्रयुज्यते 'परिभये'।
(यथा)– हविभिरे के स्वर इत सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्। शचीर् मदन्त उत दक्षिणाभिर् नेत् जिहयायन्त्यो नरकं पताम॥ इति (ऋ० वे० खिल० १०/१०६/१)

नरकं न्यरकं नीचैर् गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानम् अल्पम् अप्यस्तीति वा।

अथापि 'न च' इत्येष 'इत' इत्येतेन सम्प्रयुज्यते अनुपृष्टे। 'न चेत् सुरां पिबन्ति' इति। सुरा सुनीतेः। एवम् उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति। ते उपेक्षितव्याः।

अनुवाद–इसके अतिरिक्त 'परिभये' (अत्याधिक भय) के अर्थ में 'ईत्' के साथ 'न' का प्रयोग होता है। जैसे–'हविर्भिर् एके०।

मन्त्रान्वय–एके हविर्भिः इतः स्वः सचन्ते। एके स्वनेषु सोमान् सुन्वन्ति (इतः स्वः सचन्ते)। (एके) दक्षिणाभिः, शची मदन्तः (इतः स्वः सचन्ते)। जिह्मायन्त्यः वयं नेत् नरकं पताम।

चतुर्थः पादः

शब्दों को धातुज मानने के विषय में दो मत

मूल–इतिमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि नामाख्यातेचोपसर्गनिपाताश्च। तत्र 'नामान्याख्यातजानि' इति शाकठायनः नैरुक्तसमयश्च। 'न सर्वाणि' इति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।

अनुवाद–इस रूप में पदों का नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात इन चार भेदों की क्रम से की गई चर्चा समाप्त हुई। इनमें (सभी) नाम धातु से उत्पन्न हुए हैं। यह (वैयाकरणों में) शाकटायन तथा निरुक्त के आचार्यों के सिद्धान्त हैं। (परन्तु नैरुक्तों में) गार्ग्य तथा (शाकटायन के अतिरिक्त) कुछ वैयाकरणों का यह मत है कि सभी नाम धातु से उत्पन्न नहीं हैं (अपितु कुछ थोड़ से नाम ही धातुज है)।

व्याख्या - निरुक्त तथा व्याकरण शास्त्र के प्रमुख आचार्यों में सम्भवतः बहुत प्राचीनकाल से 'शब्दों के धातुज' सिद्धान्त को लेकर विवाद चला आ रहा है। गार्ग्य को छोड़कर प्रायः सभी नैरुक्त आचार्य तथा प्रसिद्ध वैयाकरण शाकटायन यह मानते थे कि सभी शब्द धातुओं से बने हुए हैं - उनका मूल कोई न कोई धातु ही है। पातञ्जल महाभाष्य से उद्धृत निम्न कारिका में भी धातुज सिद्धान्त की इस स्थिति का

उल्लेख मिलता है :-

नाम च धातुजम् आह निरुक्ते व्याकरणे शाकटस्य च तोकम् (३/३/१)

दूसरी ओर नैरुक्त में गार्ग्य तथा कुछ व्याकरण के विद्वानों का यह मत है कि सभी शब्दों को धातुज नहीं माना जा सकता - केवल कुछ थोड़े से यौगिक शब्दों को ही धातु से उत्पन्न माना जा सकता है।

यास्क की संक्षिप्त शब्दावली दोनों वादों के प्रमुख आचार्यों तथा उनके अनुयायियों का स्पष्ट संकेत दे रही है। प्रथम वाद के पोषक है आचार्य शाकटायन तथा प्रायः निरुक्त सम्प्रदाय के सभी आचार्य। 'नैरुक्त-समयः' तथा वैयाकरणानां चैके' का अभिप्राय यही है कि यदि प्रथम सिद्धान्त नैरुक्तों का है तो द्वितीय सिद्धान्त वैयाकरणों का। परन्तु प्रथम सिद्धान्त के पोषक शाकटायन भी हैं जो नैरुक्त सम्प्रदाय के विद्वान नहीं है, यदि ऐसा होता तो अलग से उनका नाम लेने की आवश्यकता न होती। इसी प्रकार द्वितीय सिद्धान्त के पोषक गार्ग्य भी हैं जो सम्भवतः, व्याकरण-सम्प्रदाय के विद्वान होते तो 'वैयाकरणानां चैके' में ही उनका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट है कि आचार्य यास्क भी नैरुक्त होने के कारण प्रथम पक्ष के ही अनुयायी हैं तथा सभी शब्दों को धातु से निष्पन्न मानते हैं। इसलिए स्वाभिमत धातुज सिद्धान्त के पोषण के लिए यह आवश्यक है कि गार्ग्य तथा वैयाकरणों के अभिमत सिद्धान्त तथा उसके प्रतिपादन एवं पोषण के लिए प्रस्तुत किये गये हेतुओं का उल्लेख करके उनका खण्डन किया जाये इसी दृष्टि से यहाँ गार्ग्य के मत का स्वरूप तथा उनके हेतुओं को यास्क ने पहले प्रस्तुत किया है।

गार्ग्य मत और उसकी युक्तियां-

मूल-तद् तत्र स्वरसंकारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेण अन्वितौ स्याताम्। संविज्ञातानि तानि। यथा-'गौ', 'अश्वः', 'पुरुषः', 'हस्ती', इति।

अथ चेत् सर्वाणि नामानि आख्यातजानि स्युर् यः कश्च तत् कर्म कुर्यात् सर्व तत सत्वं तथा आचक्षीरन्। यः कश्च अध्वानम् अश्नुवीत् 'अश्वः' स वचनीयः स्यात्। यत् किंचित् तृन्द्यात् 'तृणम्' तत्।

अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युर यावदभिर् भावै। स्म्प्रयुज्येत तावदभ्यः नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं स्थूणा 'दरशया' वा 'आसंजनी' च स्यात्।

अथापि निस्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति प्रथनात् 'पृथिवी' इत्याहुः। क एनाम् अप्रथयिष्यत् किम आधाश्चेति।

अथ अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्द्धान संचस्कार शाकटायनः। एते कारितम् यकारादि चान्तकरम्। अस्तेः शुद्ध च सकरादि च।

अथापि 'सत्त्वपूर्वो भावः' इत्याहुः। अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते इति।

अनुवाद–गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरणों के मत में केवल ये शब्द धातुज है) जिनमें स्वर (उदात्त आदि) तथा संस्कार (व्याकरणशास्त्रीय प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग) सुसंगत हों और प्रादेशिक गुण (प्रमुख क्रिया के वाचक धातु अथवा शब्दार्थ में विद्यमान क्रिया) से संयुक्त हों। (इनके विपरीत), 'गौ', 'अश्व', 'पुरुषः', 'हस्ती', इत्यादि (शब्द) रूढ़ि हैं।

यदि सभी नाम धातुज हों तो जो कोई भी उस कर्म को करे उन सब प्राणी अथवा वस्तु को उसी नाम से कहा जाता (जैसे) जो कोई भी मार्ग को व्याप्त करे उसे 'अश्व' तथा जो कुछ भी वस्तु चुभे उसे 'तृण' कहा जाना चाहिये।

तथा, यदि सभी नाम धातुज हों तो जिन-जिन क्रियाओं से वस्तु या प्राणी का सम्बन्ध हो उन सब क्रियाओं के आधार पर उस-उस पर वस्तु या प्राणियों का नाम पड़ना चाहिये। ऐसा होने पर स्थूणा (खम्भे) को 'दरशया' बिल में सोने वाली तथा 'आसंजनी' शहतीर या छत को धारण करने वाली भी कहा जाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इन नामों का जो व्याकरण से सिद्ध एवं कर्म (क्रिया) के आधार पर होने वाला प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग है और जिस रूप में ये नाम स्पष्ट अर्थ वाले हों उस रूप में इन नामों का प्रयोग किया जाना चाहिये था, (जैसे) पुरुष को 'पुरिशय', अश्व को 'अष्टा' तथा तृण को 'तर्दन' कहा जाना चाहिये था।

इसी प्रकार ('पृथिवी' इत्यादि शब्दों के) प्रयोग (व्यवहार) के प्रसिद्ध हो जाने पर (सभी शब्दों को धातुज मानने वाले विद्वान्) यह विचार करते हैं कि फैली हुई होने के कारण पृथिवी को 'पृथिवी' कहते हैं। लेकिन शंका होती है कि इस पृथिवी को किसने फैलाया तथा कहां खड़े होकर फैलाया।

और इस सिद्धान्त के प्रबल पोषक आचार्य शाकटायन ने (शब्द के) अर्थ से स्वर तथा संस्कार के अन्वित या सुसंगत न होने तथा प्रादेशिक विकार अर्थात् प्रमुख क्रिया के वाचक धातु अथवा शब्द के अर्थ में विद्यमान क्रिया के न होने पर (भी) विख्यात आख्यात पदों से 'सत्य' पद (शब्द) के आधे-आधे (दोनों) भागों को सिद्धमाना है। (जैसे 'इ' (इण् धातु) के णिजन्त (आययति रूप में) यकारादि (य) को अन्त में करना तथा 'अस्' (धातु) के शुद्ध ('शतृ' प्रत्यान्त) सकारादि (सत्)

रूप को आदि में करना उचित प्रतीत नहीं होता।

इसी तरह इस सिद्धान्त में एक और दोष यह है कि यह माना गया है कि पहले वस्तु या प्राणी की सत्ता और उसके पश्चात् (उस वस्तु या प्राणी के द्वारा की जाने वाली, क्रिया होती है। इसलिये बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान वस्तु या प्राणी का नाम नहीं पड़ सकता।

गार्ग्य की युक्तियों का खण्डन–

मूल–तदेतन्नोपपद्यते। यथो हि नु वै एतत्। 'तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणोन्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकम् इत्येव सत्यनुपालम्भ एष भवति।

यथो एतद् 'यः' कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन् इति', पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भम् एकेषां नैकेषां यथा 'तक्षा', 'परिव्राजकः', 'जीवनः', 'भूमिजः' इति।

एतेनैव उत्तरः प्रत्युक्तः।

यथा एतद् 'यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस तथैनान्याचक्षीरन्' इति सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः। यथा–'व्रततिः', दमूनाः' 'जाट्यः', 'आट्णारः' 'जागरूक', दर्विहोमी' इति।

यथो एतत् 'निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति' इति, भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टीः। प्रथयनात् पृथिवी इत्याहुः। क एनाम् अप्रथयिष्यत्? किम् आधारश्च? इति? अथ वै दर्शनेन पृथुः, अप्रथिता चेद् अप्यन्यैः। अथाप्येवं सैव एव दृष्टप्रवादाः उपालभ्यन्ते।

यथो एतद 'पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार' इति, योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः। सैषा पुरुष गर्हा न शास्त्रगर्हा।

यथो एतत् 'अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते' इति। पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानाम् अपरस्मात् भावात् नामधेय प्रतिलम्भम् एकेषां न एकेषाम्। यथा–'बिल्वादः', 'लम्बचूडकः' इति। बिल्वम्

भिल्वं भरणाद् वा भेदनाद् वा।

अनुवाद–(गार्ग्य पक्ष की ओर से जो हेतु दिये गये) वे सब सुसंगत नहीं प्रतीत होते।

(१) जो यह कहा गया कि 'जहां स्वर और संस्कार समर्थ हों तथा अर्थ भूर्त वस्तु में विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से अन्वित हो (वे) सभी (शब्द) धातुज हैं, ऐसा मानने से "सभी शब्द धातुज हैं" इस सिद्धान्त पर कोई आक्षेप नहीं आता।

(२) जो यह (कहा गया) कि 'जो कोई भी उस कार्य को करे उन सबके लिये उस विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिये।' (उसका उत्तर यह है कि) लोक में देखते हैं कि समान कर्म करने वालों में से (केवल) कुछ के लिये उस विशिष्ट शब्द का प्रयोग होता है, अन्यों के लिये नहीं। जैसे–'तक्षा', 'परिव्राजक', 'जीवन' तथा भूमिज' (शब्दों का प्रयोग उन क्रियाओं से युक्त सब तथ्यों के लिये नहीं होता)।

(३) इस बात से अगले (आक्षेप) का भी खण्डन हो गया।

(४) (जो यह कहा गया) कि 'जिस रूप में (शब्द) स्पष्ट अर्थ वाले हों उस रूप में उसका प्रयोग किया जाय' (उत्तर यह है कि), कृदन्त शब्द थोड़े प्रयोग वाले हैं। जैसे–'जाट्य:', 'जागरूक:', 'दर्विहोमी, तथा (उनके विपरीत) 'एकपदिक अस्पष्टार्थक शब्द बहुत अधिक हैं, जैसे–'व्रतति:', 'दमूना:', आट्णार:'।

(५) जो यह (कहा गया) कि '(शब्दों के प्रयोग के) प्रसिद्ध हो जाने पर (नैरुक्त उनके प्रकृति-प्रत्यय आदि विषय में) विचार करते हैं (उसका उत्तर यह है कि), प्रयोग के प्रसिद्ध हो जाने पर योग अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध की परीक्षा होती है। फैली हुई होने के कारण भूमि को 'पृथिवी' कहते हैं। किसने इसे फैलाया? तथा उस फैलाने वाले का आधार क्या था? (इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि) किसी के द्वारा फैलायी हुई न होने पर भी क्योंकि देखने में यह फैली हुई लगती है (इसलिये भूमि को 'पृथिवी' कहा जाता) है। और इस प्रकार तो देखने के आधार पर किसी बात को उस रूप में कहने वाले सभी आक्षेप के भागी होंगे। अथवा इस प्रकार तो सभी दृष्ट अर्थ के कथनों पर आक्षेप किया जा सकता है।

(६) जो यह (कहा गया कि) अनेक (धातु) पदों से (एक ही) पद के आधे-आधे भागों को बनाया, तो (इसका यह उत्तर है कि) जिसने अनन्वित अर्थ में शब्द के (प्रकृति प्रत्यय आदि) संस्कार की कल्पना की वह निन्दनीय है। यह संस्कार की कल्पना करने वाले पुरुष की निन्दा है। (निर्वचन शास्त्र अथवा सभी नामों को धातुज मानने वाले सिद्धान्त की निन्दा नहीं है)।

जो यह (कहा गया) कि बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर पहले से विद्यमान पदार्थ का नाम उत्पन्न नहीं हो पाता, इसका उत्तर यह है कि देखते हैं कि लोक में भी पहले उत्पन्न (केवल) कुछ वस्तुओं का बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर नाम रखा जाता है, कुछ का नहीं। जैसे–'बिल्वाद' 'लम्बचूड़क' 'बिल्व'

(शब्द) 'भृ' या 'भिद्' (धातु) से बनेगा।

टिप्पणी - इन दोनों गार्ग्य तथा शकटायन, के सिद्धान्तों का समन्वय इस रूप में किया जा सकता है कि गार्ग्य का यह कथन तो ठीक है कि सभी शब्दों को 'धातुज' नहीं माना जा सकता। केवल वे शब्द जिसमें स्वर और संस्कार सुसंगत हों तथा शब्द के अर्थ में विद्यमान क्रिया के वाचक धातु से युक्त हों, उन्हे 'आख्यातज' मानना उचित है। सभी शब्दों के लिए यह कहना कि वे 'धातुज' ही हैं - वे सीधे धातु से बने हुए हैं, दुस्साहस मात्र है। क्योंकि शब्द की निष्पत्ति में अनेक कारण और तत्व काम करते दिखाई देते हैं, तथा देश, काल और वातावरण आदि के भेद से शब्द के रूप, ध्वनि तथा अर्थ में निरन्तर अनेकानेक परिवर्तन होते रहते हैं। यह भाषा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शब्द न जाने कब कितने वर्ष पूर्व किस रूप में अपनी प्राथमिक सत्ता में आये यह कह सकना किसी के लिए भी असम्भव कार्य है। यदि उणादि कोष, जैसे ग्रन्थों का सहारा लेकर सब शब्दों को धातुज सिद्ध करने का प्रयास किया जाएगा तो वह शब्दों के रूप और उनके अर्थ के साथ एक खिलवाड़ मात्र होगा।

पञ्चम् पादः

निरुक्त वेदार्थ के ज्ञान में सहायक

मूल–अथापि इदम् अन्तरेण–मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः। तद् इदं विद्या-स्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्यनम् स्वार्थ साधकं च।

अनुवाद–इसके अतिरिक्त इस (निरुक्त) के अध्ययन के बिना मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता। तथा अर्थ को न जानने वाले व्यक्ति को (शब्दों के) स्वर और संस्कार का अत्याधिक (अच्छी प्रकार) निर्णय नहीं हो सकता। इस रूप में यह (निरुक्त) ज्ञान का स्रोत है, व्याकरण की पूर्णता है तथा स्वार्थ अर्थात् मन्त्रों के व्याख्यान का भी साधक है।

व्याख्या - यहाँ 'अथापि' शब्द समुच्चय के अर्थ में है तथा यह सूचित कर रहा है कि यहाँ निरुक्त का एक प्रयोजन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पहले यह कहा जा चुका है कि गार्ग्य को छोड़कर अन्य सभी नैरुक्तों का यह सिद्धान्त है कि सभी शब्द धातुज हैं। यह कथन ही इस बात को बताता है कि निरुक्त का एक प्रयोजन यह है कि वह सभी कठिन वैदिक शब्दों का निर्वचन बताये। इस पूर्व निर्दिष्ट प्रयोजन की दृष्टि से ही यास्क ने यहाँ 'तथापि' का प्रयोग किया है।

अभिप्राय यह है कि निरुक्त के अध्ययन का प्रथम प्रयोजन यह है कि उसके अध्ययन से दुरूह वैदिक शब्दों के निर्वचन में सहायता मिलती है। दूसरा प्रयोजन यह है कि निर्वचन के द्वारा वैदिक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान होता है।

'अथापि के पश्चात् प्रयुक्त 'इदम्' का अर्थ है यह 'निरुक्त शास्त्र'। अर्थात् निरुक्त शास्त्र के अध्ययन के बिना - इस शास्त्र में निपुणता प्राप्त किए बिना मन्त्रों में निहित विविध अर्थों का ज्ञान नहीं होता। निरुक्त में इस 'निरुक्त ग्रन्थ' के लिए भी 'निरुक्त' शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई देता।

जब तक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता तब तक उनमें प्रयुक्त कठिन शब्द के स्वर तथा संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय आदि) का 'उद्देश' अर्थात् निर्धारण करना बहुत कठिन होगा। यह ठीक है कि स्वर तथा संस्कार के ज्ञान से शब्द के अर्थ का निर्णय होता है पर यह बात भी काफी हद तक ठीक है कि स्वर तथा संस्कार की ठीक-ठीक कल्पना तभी हो सकती है जब कि मन्त्र के अर्थ आदि का कुछ ज्ञान हो। क्योंकि एक ही शब्द एक ही प्रसङ्ग में दूसरे प्रकार के स्वर तथा संस्कार को अपना सकता है तथा उससे भिन्न प्रसङ्ग में दूसरे स्वर तथा संस्कार से युक्त पाया जा सकता है। यहाँ 'अप्रतियत:' शब्द 'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'इ' धातु से 'शतृ' प्रत्यय और उसके बाद 'नञ्' समास करके षष्ठी विभक्ति एक वचन में प्रयुक्त हुआ है।

इस रूप में मन्त्रों के अर्थ के ज्ञान में सहायक होने के कारण निरुक्त को विद्या अर्थात् वेद-विद्या (वैदिक ज्ञान) का 'स्थान' कहा गया है। वेद के मन्त्र ज्ञान के महान् स्रोत हैं - आगार हैं। और मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में निरुक्त सहायक है इसलिए इसको भी 'विद्यास्थान' मानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त व्याकरण की परिपूर्णता भी निरुक्त के अध्ययन से ही होती है। क्योंकि व्याकरण तो केवल कुछ यौगिक या योगरूढ़ि शब्दों में प्रकृति प्रत्यय का प्रदर्शन करता है, जबकि निरुक्त सभी शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन, उनके निर्वचन की शैली बताता है तथा अनेक शब्दों के विविध निर्वचन भी प्रस्तुत करता है, वस्तुत: व्याकरण के सीमित नियमों का यहाँ बहुत ही व्यापक क्षेत्र में उपयोग किया जाता है। 'कात्स्न्यर्म्' शब्द 'कृत्स्नस्य भाव:' इस अर्थ में 'कृत्स्न' शब्द से 'व्यञ्' प्रत्यय करके निष्पन्न होगा। इसलिए इसका अर्थ है पूर्णता। पर इन प्रयोजनों के साथ-साथ निरुक्त स्वार्थ का भी साधक है, अर्थात् अपने प्रमुख प्रयोजन - वेदार्थ - का भी साधक है।

इस प्रकार निरुक्त सभी शब्दों के निर्वचन के उपाय बताकर व्याकरण को पूर्ण बनाता है तथा वेदार्थ में सहायक बनता है। इसीलिए निरुक्त वेदों का अंग अर्थात् वेदार्थ तक पहुंचने का सोपान माना गया।

मूल–यदि मन्त्रार्थ प्रत्ययाय अनर्थक भवति इति कोत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः। तद् एतेनोपेक्षितव्यम्।

(१) नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्याः भवन्ति।

(२) अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते–उरु प्रथस्व (यजुर्वेद १/२१) इति प्रथमयति, प्रोहाण इति प्रोहति।

(३) अथापि अनुपपन्नार्थाः भवन्ति–औषधे त्रायस्व एनम् (तैत्तिरीय संहिता १/२/१/१) स्वधिते मैन हिंसी (यजुर्वेद ४/१) इत्याह हिंसन।

(४) अथापि विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति–एक एव रुद्रोऽवतथे न द्वितीयः, असंख्याता सहस्त्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् (यजुर्वेद १६/५४)। अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे (ऋ० वे० १-२/१), शत सेना अजयत् साकम् इन्द्रः। ऋ० वे० १०/१०३/१) इति।

(५) अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति–अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि (तै० सं० ३/३/७) इति।

(६) अथापि आहु अदितिः सर्वमिति अदितिर द्यौरदितिर अन्तरिक्षम् (ऋ० वे० १/८९/१०) इति। तद उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

(७) अथापि अविस्पष्टार्थाः भवन्ति–'अम्यक्' (द्र० ऋ० वे० १/१६९)/१) 'यादृश्मिन्' (द्र० ऋ० वे० ५/४४/८), 'जारयायि' (द्र० ऋ० वे० ६/१२/४) 'काणुका' (८/७७/२)।

अनुवाद–यदि मन्त्रों के अर्थ ज्ञान के लिए है तो वे अनर्थक हैं। क्योंकि मन्त्र अनर्थक हैं–'यह कौत्स का मत है', उस मत की इसमें (निरुक्त) के द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। (कौत्स के मत की पुष्टी में निम्न हेतु दिए गए हैं।)–

१– मन्त्र शब्दों की नियत योजना वाले तथा निश्चित क्रम वाले होते हैं।

२– ब्राह्मण (के वाक्यों) द्वारा वेद मन्त्र अर्थ युक्त बनाये जाते हैं। (जैसे) 'उरु प्रथस्व' इस (मन्त्र) से पुरोडाश को फैलता है, 'प्रोहाणि' इस (मन्त्र) से आगे बढ़ाता है।

३– (मन्त्र) असंगत अर्थ वाले होते हैं। (जैसे) औषधे त्रायस्व एनम्– हे औषधे (कुश) तुम इस वृक्ष की रक्षा करो, स्वधिते मैनं हिंसीः (हे स्वधिते)।

(कुल्हाड़ी) तुम इस (वृक्ष) की हिंसा मत करो)। इन (मन्त्रांशो) का प्रयोग (यजमान) वृक्ष को काटते हुए करता है।

४– (मन्त्र) विरोधी अर्थ वाले होते हैं। (जैसे) एक एक रुद्रो अवतस्थे न द्वितीयः–रुद्र एक ही है दूसरा नहीं, 'असंखायाताः' सहश्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्, हजारों और असंख्य रुद्र जो भूमि पर हैं। (इसी प्रकार) अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे–हे इन्द्र तुम शत्रु रहित उत्पन्न हो। शतं सेना अजयत् साकम् इन्द्रः–सैकड़ों सेनाएं इन्द्र ने एक साथ जीत लीं।

५– (मन्त्र) जानने वाले को (विधि) बताता है। (जैसे) अग्नये समिध्यमानाय अनूब्रूहि–अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर अनुवाक्या (मन्त्रों) के पाठ करो।

६– (मन्त्रों में ऋषियों ने) यह कहा है कि अदिति ही सब कुछ है– 'अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम्'–अदिति द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है, इत्यादि। इस (मन्त्र) की व्याख्या आगे करेंगे।

७– इसके अतिरिक्त (मन्त्र के अनेक शब्द) अस्पष्ट अर्थ वाले हैं। (जैसे)–'अम्यक्' 'यादृश्मिन्' 'जारयायि' 'काणुका'।

व्याख्या - निरुक्त का मुख्य प्रयोजन मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करना है, इस बात को ऊपर - 'इदम् अन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते' तथा 'स्वार्थ-सार्थकं च' इन शब्दों में दो बार कहा गया। परन्तु कौत्स का विचार है कि मन्त्र अनर्थक हैं। उनका महत्त्व केवल उनके पाठ मात्र में ही है तथा उनके उच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट है। इसलिए कौत्स के अनुसार जब मन्त्र अनर्थक हैं, तो मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान की दृष्टि से प्रणीत निरुक्त-शास्त्र भी अनर्थक सिद्ध हो जाता है। अतः निरुक्त के प्रणेता के लिए आवश्यक है कि वह इस बात की परीक्षा करें कि क्या सचमुच मन्त्र अनर्थक हैं। इस दृष्टि से यास्क ने कौत्स के सात हेतुओं को पूर्व पक्ष के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है, जिनमें मन्त्रों की अनर्थकता सिद्ध की गई है।

'मन्त्र सार्थक है' इस मत का प्रतिपादन–

मूल–(१) अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियामाणम् ऋग् यजुर् वा अभिवदतीति (गोपथ ब्राह्मण २/२/६) इति च ब्राह्मणम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर् नप्तृभिः (ऋ० वे० १०/६५/४२) इति।

अनुवाद–(१) (वैदिक तथा लौकिक वाक्यों में) शब्दों की समानता के कारण (वेदों के मन्त्र में) अर्थवान् (ग्रन्थों) में यह कहा गया है कि–'जो रूप में

समृद्ध होता है....(अर्थात् यज्ञ में) किये जाते हुए कर्म को ऋक् तथा यजुष् का मन्त्र कहता है–यह यज्ञ की पूर्णता है'। जैसे–विवाह के अवसर पर प्रयुक्त यह मन्त्र) 'क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः' (हे दम्पती तुम दोनों पुत्रों तथा पौत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए)।

व्याख्या - कौत्स के मत में - 'मन्त्र अनर्थक हैं' - का खण्डन करने से पूर्व यास्क ने इन पंक्तियों में यह प्रतिपादन किया है कि मन्त्र सार्थक होते हैं अनर्थक नहीं। मन्त्रों की सार्थकता के प्रतिपादन के लिए यहाँ दो हेतु दिए गए हैं।

पहले हेतु को 'अर्थवन्तः शब्द-सामान्यात्' इस वाक्य में प्रस्तुत किया गया जो एक दम सूत्र-शैली में निबद्ध जान पड़ता है। इस वाक्य का पूरा अभिप्राय यह है कि लौकिक संस्कृत भाषा तथा वैदिक भाषा के शब्दों में पूरी समानता है। इसलिए यदि लौकिक शब्द अर्थवान हैं तो वैदिक शब्द भी अर्थवान होंगें।

दूसरा हेतु यास्क ने यह दिया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ आदि कार्यों की पूर्णता तभी मानते हैं जब यज्ञ में की जा रही क्रियाओं तथा विधियों का समर्थन ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के मन्त्र करते हों। अभिप्राय यह है कि यज्ञ की उन-उन क्रियाओं को करते हुए जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जा रहा है यदि उन मन्त्रों में भी, उस समय होने वाली, क्रियाओं का उल्लेख या संकेत हो तभी यज्ञ की वे क्रियायें तथा विधियाँ, यज्ञ के वे अंग अथवा दूसरे शब्दों में स्वयं यज्ञ सार्थक माना जाएगा ' सफल माना जायेगा तथा - उससे अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकेगी। इसके विपरीत यदि किसी यज्ञ में उच्चरित अथवा विनियुक्त मन्त्रों में उन क्रियाओं का उल्लेख नहीं मिलता तो उस यज्ञ को अधूरा मानना चाहिए तथा ऐसे यज्ञ से किसी प्रकार की सफलता की आशा नहीं की जानी चाहिए।

मूल–(२) यथा एतत् 'नियतवाचोयुक्तयों नियतानुपूर्व्याः भवन्ति इति। लौकिकेष्वप्येतत्। यथा 'इंद्राग्नी', 'पितापुत्रौ' इति।

(३) यथा एतद् 'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते' इति, उदितानुवादः स भवति।

(४) यथा एतद् 'अनुपपन्नार्था भवन्ति', इति आम्नायवचनाद् अंहिसा प्रतीयते।

(५) यथा एतद् 'विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति', इति, लौकिकेष्वप्येतत्। यथा– 'असपत्नोय ब्राह्मण', 'अनमित्रो राजा' इति।

(६) येथा एतद् 'जानन्तं सम्प्रेष्यति' इति जानन्तम् अभिवादयते, जानते मधुपर्कं प्राह।

(७) यथा एतद् 'अदितिः सर्वम् इति, लौकिकेष्वप्येतत्। यथा–सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम् इति।

(८) अया तदत् 'अविस्प्ष्टार्थाः भवन्ति' इति, नैष स्थाणोर रपराधो यद् एनम् अन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।

अनुवाद–(२) जो यह (कहा गया) कि (मन्त्रों में) शब्दों की योजना तथा क्रम नियत हैं '(इसलिये मंत्र अनर्थक है)' यह तो लौकिकों (संस्कृत आदि भाषाओं) में भी देखा जाता है। जैसे–'इन्द्राग्नी', पिता पुत्रौ'।

(३) जो यह (कहा गया) कि 'ब्राह्मण (मन्त्रों को) रूप (अर्थ या प्रयोजन) से युक्त करते हैं वह तो (मन्त्रों के द्वारा) कथित (बात) का अनुवाद (मात्र) है।

(४) जो यह (कहा गया) कि '(मन्त्र)' असंगत अर्थ वाले हैं? वहां (वृक्ष के छेदन आदि क्रियाओं में) वेद के वचन से ही अहिंसा मान ली जानी चाहिये।

(५) जो यह (कहा गया) कि '(मन्त्र)' विरोध अर्थ वाले हैं' तो ऐसे प्रयोग तो लोक में भी होते हैं। (जैसे दो एक शत्रु होने पर भी) 'असत्नोऽयं ब्राह्मणः (यह ब्राह्मण शत्रु रहित है) तथा 'अनमित्रोऽयं राजा' इस राजा का कोई शत्रु नहीं है' इत्यादि।

(६) जो यह (कहा गया) कि 'जानते हुए को सम्प्रेषण (आदेश या प्रेरणा) दिया जाता है, तो (यह तो लौकिक भाषा में भी होता है) जैसे, जानते हुये (गुरु) को अपना नाम बताकर शिष्य अभिवादन करता है (यह मधुपर्क है इस बात को जानते हुए वर को) यह मधुपर्क है इसे (ग्रहण कीजिए इत्यादि) कहा गया है।

(७) जो यह (कहा गया) कि 'अदिति सब कुछ है, लौकिक (भाषाओं) में भी इस प्रकार का प्रयोग मिलता है। (जैसे–'सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयम्' (पानी में सभी रस हैं)।

(८) जो यह (कहा गया) कि मन्त्रों के शब्द अविस्पष्ट अर्थ वाले हैं, जो यदि अन्धा खम्भे को नहीं देखता है तो यह खम्भे का दोष नहीं है, अपितु यह (न देखने वाले अन्धे) पुरुष का दोष।

व्याख्या - यास्क और सम्भवतः सभी नैरुक्त मन्त्रों को सार्थक मानते हैं। यदि मन्त्र अनर्थक हों तो फिर मन्त्रों के शब्दों का निर्वचन इत्यादि करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस रूप में निरुक्त का सारा प्रयोजन ही समाप्त हो

जाता है। इसलिए कोई भी नैरुक्त विद्वान् मन्त्रों को अनर्थक नहीं मान सकता। क्योंकि मंत्रों को अनर्थक मानने से उसके सम्प्रदान पर ही कुठाराघात होता है। इस कारण अनुमानतः, मन्त्रों को अनर्थक मानने वाला वह कौत्स याज्ञिक सम्प्रदाय का आचार्य है जिसकी दृष्टि में वैदिक मन्त्रों की महत्ता उनके उच्चारण, अथवा दूसरे शब्दों में, यज्ञों में विनियोग मात्र में ही है जिससे एक विशेष अदृष्ट या अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

एक नैरुक्त होने के नाते यास्क का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने मत – 'मन्त्र सार्थक हैं' का प्रतिपादन कर चुकने के पश्चात् मंत्रों की अनर्थकता के विषय में कौत्स के द्वारा प्रस्तुत किए गए आक्षेपों अथवा हेतुओं का खण्डन करें। इसी दृष्टि से यास्क ने संक्षिप्त शैली में निरुक्त में इन युक्तियों का खण्डन किया जिसे नीचे दिया जा रहा है।

प्रथम हेतु में मन्त्रों में शब्दों की निश्चित योजना तथा क्रम की जो बात कही गयी वह ठीक नहीं है क्योंकि लौकिक संस्कृत में भी अनेक ऐसे प्रयोग मिलते हैं जिसमें शब्द की योजना तथा क्रम दोनों ही निश्चित हैं। जैसे – 'इन्द्राग्नि' 'पितापुत्रौ', 'मातापितरौ' इत्यादि शब्द।

दूसरे हेतु में जो यह कहा गया कि ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा मन्त्र 'रूप' अर्थात् 'अर्थ' या 'सामर्थ्य' से 'सम्पन्न' अर्थात् युक्त बनाये जाते हैं तो उसका उत्तर यह है कि वेद-मन्त्रों में जो बात कही गयी होती है उसी बात का ब्राह्मण वाक्य अनुवाद मात्र करते हैं – वे कोई नई बात नहीं करते। उदितानुवादः भवतिः का अर्थ है कि ऋषि उदितस्य (कथितस्य) अर्थस्य ब्राह्मणवाक्यै अनुवादः स कथयति। किसी बात का अनुवाद कर दिये जाने मात्र से अनुवाद्य अंश अनर्थक नहीं हो जाता।

तीसरे हेतु में जो बात कही गयी कि मन्त्र असंगत अर्थ वाले होते हैं उसका उत्तर यह है कि चूँकि ऐसा कहते हैं – विधान करते हैं – इसलिए लौकिक दृष्टि से प्रतीत होने वाली हिंसा भी वस्तुतः हिंसा नहीं – अपितु अहिंसा ही है क्योंकि भारतीय परम्परा में वेदों की जो स्वतः प्रामाण्य की स्थिति दी गई है उसको ध्यान में रखते हुए, क्या हिंसा है तथा क्या अहिंसा है इस प्रश्न का अन्तिम निर्णायक तो वेद को ही मानना होगा।

चौथे आक्षेप में, जो यह कहा गया कि मन्त्र परस्पर विरोधी अर्थ वाले हैं वह भी उचित नहीं है क्योंकि वैसी बात तो लौकिक भाषा के प्रयोगों में भी मिलती है। जिसके एक दो या बहुत कम शत्रु होते हैं उसके लिए 'असपत्न' 'अनमित्र (शत्रु रहित) का प्रयोग किया जाता ही है। इसी दृष्टि से प्राचीन काल में युधिष्ठिर को कई बार युद्ध-भूमि में उतरना पड़ा तथा गाँधी जी शत्रु की ही गोली से मृत्यु को प्राप्त

हुए। ऐसे प्रयोगों में 'न' का अर्थ हो सकता है सापेक्षिक कल्पना - सर्वथा अभाव नहीं क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई नहीं हो सकता जिसके शत्रु या मित्र न हों। द्र० -

मुनेर् अपि वनस्थस्य स्वानि कार्याणिः कुर्वतः ।

उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रणः।। (दुर्ग टीका से उद्धृत)।

पाँचवे हेतु में जानने वाले 'होता' को 'सम्प्रेष' देने की जो बात कही गयी है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि लौकिक व्यवहार में अनेक स्थलों पर जानने वाले को भी बताया ही जाता है। जैसे शिष्य जब गुरू को अभिवादन करता है तो गुरु शिष्य का नाम जानता है फिर भी शिष्य अपना नाम उच्चारण करके 'अभिवादये देवदत्तोहम्भोः इस रूप में अभिवादन करता है। (द्र० मनुस्मृति २/१२२)। इस प्रकार विवाह में वर को, जो कि यह जानता है कि यह सामने रखी हुई वस्तु मधुपर्क (दही, शहद तथा घृत मिश्रित भोज्य वस्तु) है तथा मुझे ही इसे खाना है फिर भी यह कहा ही जाता है कि यह मधुपर्क रखा हुआ है इसे आप खायें ('मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्')।

छठे हेतु में जो एक मन्त्र में, अदिति को सब कुछ कहे जाने की बात कही गयी वह भी दोष नहीं है क्योंकि लौकिक प्रयोगों में भी ऐसे अनेक काव्य या श्लोक मिलते हैं जिनमें इस प्रकार के भाव उपनिबद्ध मिलते हैं। जैसे यह कहा गया कि 'सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम्' अर्थात् पानी में सभी रस विद्यमान हैं। अथवा इसी प्रकार भक्ति की भावना से ओत-प्रोत भक्त भगवान से आज भी कह उठता है -

त्वम् एव माता च पिता त्वम् एव, त्वम् एव बन्धुश्च सखा त्वम् एव।
त्वम् एव विद्या द्रविणं त्वम् एव, त्वम् एव सर्वं मम देव देव।।

सातवें आक्षेप में मन्त्रों के अनेक शब्दों के अस्पष्टार्थक होने की जो बात कही गयी है, वह तो कहने वाले का ही दोष है जिसे वे शब्द अस्पष्टार्थक प्रतीत होते हैं। इनमें उन शब्दों का क्या दोष है कि उन्हें अनर्थक मान लिया जाए? यदि किसी अन्धे व्यक्ति को खम्भा न दिखाई दे तो इसमें खम्भे का क्या दोष है ? यह तो उस अन्धे व्यक्ति की दृष्टिहीनता का दोष माना जाएगा।

मूल–यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

अनुवाद–जिस प्रकार जनपद (देहात आदि) में रहने वाली (अनपढ़) जनता में (थोड़ी सी) विद्या से (भी कोई) पुरुष विशेष बन जाता है। परन्तु आगम परम्परा से (वेद के) ज्ञाता विद्वानों में (तो बहुत ज्ञान वाला) व्यक्ति ही मन्त्रार्थ को अच्छी तरह जानने के कारण प्रशंसा का पात्र बन जाता है।

षष्ठः पादः

वैदिक संहिता पाठ का पद-पाठ में परिवर्तन 'निरुक्त' पर ही निर्भर करता है। यह निरुक्त का दूसरा प्रयोजन है।

मूल–अथापीदमन्तेण पद-विभागो न विद्यते। 'अवसाय' पद्वते रुद्र 'मृळ' (ऋ० १०/१६९/१) इति। 'पद्वद्' 'अवसम्' गावः पथ्यदनम्। अवतेर्गत्यर्थस्यासौ नामकरणः। तस्मान्नावगृह्णन्ति। 'अवसायाश्वान्' (ऋ० १/१०४/१)। इति स्यतिरुपसृष्टो विमोचनं। तस्मादवगृह्णन्ति।

अनुवाद–इसके अतिरिक्त इस (निरुक्तशास्त्र) के अभाव में (सहिंता पाठ का) पदों के रूप में विभाजन–पदपाठ सम्भव नहीं है। हे रुद्र, चरण वाले, भूसा (चरण) भक्षक (गाय) के लिये दया कीजिये। इस (वैदिक उद्धरण) में 'पद्वद्' (शब्द का अर्थ है–पैरों वाला) अर्थात् गायें और ('अवसाय' के अङ्गभूत) 'अवस' (शब्द का अर्थ है) मार्ग में खाए जाने वाले (भूसे या चारे) को खाने वाला। ('अवस' शब्द) गत्यर्थक अव् धातु में 'अस्' नाम पद बनाने वाले (प्रत्यय) के योग से निष्पन्न है। इसीलिए (पदपाठकार इस 'अवसाय' पद को) अवगृहीत नहीं करते। 'घोड़ों को खोलकर' इस (वैदिक उद्धरण) में(स्थित 'अवसाय' पद) खोलने के अर्थ में सा धातु में 'अव्' उपसर्ग के योग से निष्पन्न है, इसीलिए (पदपाठकार इस पद का 'अवऽसाय' के रूप में अवग्रह करते हैं।

व्याख्या - यास्क का कहना है कि इस निरुक्त शस्त्र की दूसरी उपयोगिता या प्रयोजन यह है कि इसके बिना वैदिक मन्त्रों के संहिता पाठ को पद-पाठ में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी दृष्टि में निरुक्त ही वह शास्त्र है जो पद सामान्य के साथ-साथ - नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप-पद विशेष का भी ज्ञान कराता है। जब तक पाठक को इस प्रकार का ज्ञान न होगा तब तक वह संहिता-पाठ को पद-पाठ में परिवर्तित नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'ऋग्वेद' से दो उदाहरण देकर यह समझाया है कि उक्त दोनों ही उद्धरणों में एक जैसा दिखलाई पड़ने वाला 'अवसाय' यह पद निरुक्त का ज्ञान रखने वाले पाठक की दृष्टि में भिन्न-भिन्न पद होने के कारण पद-पाठ में दो सर्वथा भिन्न रूपों में गृहीत हुआ है, एक रूप में नहीं।

मूल–'दूतो निर्ऋत्या' इदमाजगाम' (ऋ० १०/१६५/१) इति। पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा। आःकारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आचक्ष्व। (ऋ० १०/१६४/१) इति। चतुर्थ्यप्रेक्षा, ऐकारान्तम्।

अनुवाद–'निर्ऋति का दूत इस (स्थान) पर आया' इस (उद्धरण) में (निर्ऋति' शब्द में) पञ्चमी विभक्ति के अर्थ की कल्पना अथवा षष्ठी विभक्ति के अर्थ की कल्पना हो सकती है और दोनों ही अर्थो के अनुसार उक्त पद पद पाठ में आ:कारान्त (निर्ऋत्या' ' इस रूप में) रखा गया है। 'दूर (रहकर) निर्ऋति (मृत्यु) के लिये कहो' इस (उद्धरण) में ('निर्ऋति' पद में) चतुर्थी के अर्थ की कल्पना है (इसलिए पदपाठ में इसे) ऐकारान्त ('निर्ऋत्यै' रूप में) रखा गया है।

मूल–परः सन्निकर्षः संहिता। पद प्रकृतिः संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।

अनुवाद–(पदों की) अत्यधिक निकटता को 'संहिता' कहते हैं। पद (ही) संहिता की प्रकृति या मूल है। सभी (वैदिक) शाखाओं के व्याकरण-ग्रन्थ (प्रातिशाख्य) पद को मूल मानते हैं।

मूल–अथापि याज्ञ दैवते बहवो प्रदेशा भवन्ति। तदेतेनोपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयूर्लिङ्गजा वयं स्मः इति। 'इन्द्र' नत्वा शवसा देवता वायुम्पृणन्ति' (ऋ० १/४/७) इति। वायु-लिङ्गं 'चेन्द्रलिङ्गं' चाग्नेये मन्त्रे। 'अग्निररिव मन्यो त्विषितः सहस्वः' इति यथाग्निर्मान्यवे मन्त्रे। त्विषितो ज्वलितस्त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिर्नाम भवति॥१७॥

अनुवाद–इसके अतिरिक्त यज्ञ कर्म में देवता के आधार पर बहुत से (कार्यों के) निर्देश (किए गए) हैं। उस (देवाततत्त्व) का ज्ञान इस निरुक्त के द्वारा करना चाहिये। यदि (लिङ्ग के द्वारा देवताओं की पहचान करने वाले) वे (मीमांसक लोग) कहें (कि) हम यहां देवताओं के लिङ्गों (विशिष्ट चिह्नों) के ज्ञाता हैं (और इस आधार पर ही देवत्व का ज्ञान हो जाएगा, तो उनसे पूछा जा सकता है कि) देवता लोग शक्ति में 'इन्द्र और वायु के तुल्य तुझको तृप्त करते हैं। इस अग्नि देवता से सम्बद्ध मन्त्र में वायु देवता और इन्द्र देवता का लिङ्ग प्राप्त होता है (और) हे मन्यु, अग्नि के समान देदीप्यमान (तुम इसे) दबाओं या दृढ़ रहो, इस मन्यु देवता से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र में उसी प्रकार अग्नि देवता (का लिङ्ग विद्यमान) है। मन्यु देवता से सम्बद्ध उपर्युक्त मन्त्र में स्थित) 'त्विषित्' शब्द का अर्थ 'प्रज्वलित' 'त्विषि' यह भी इस (अग्नि देवता) की दीप्ति का वाचक नामपद है। १७॥

व्याख्या - 'निरुक्त' का तीसरा प्रयोजन यास्क की दृष्टि में वैदिक-मन्त्रों से सम्बद्ध देवतातत्त्व का ज्ञान है। उनका कहना है कि यज्ञों में ऐसे बहुत से कार्यों का निर्देश किया जाता है जिनका सम्बन्ध तत्तत् देवताओं से होता है। यदि यज्ञों में प्रयुक्त मन्त्रों के देवता का ज्ञान न हो तो यज्ञ में विधीयमान निर्देशों को भी समझा नहीं जा

सकता। मन्त्रस्थ इस देवतातत्त्व का ज्ञान 'निरुक्त' के द्वारा ही होता है (इस सम्बन्ध में 'निरुक्त' का 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्धपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' (निरुक्त सप्तम अध्याय, दैवतोपपरीक्षा) में यह सिद्धान्त द्रष्टव्य है।

मूल--अथापि ज्ञान प्रशंसा, भवत्यज्ञान निन्दा च–

'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्दधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा।।
'यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्केन्धो न तज्जवलति कर्हिचित्।।
स्थाणुस्तिष्ठतेः अर्थोऽर्तेः, अरणस्थः वा।।१८।।

अनुवाद–इसके अतिरिक्त (लोक में) ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है।

जो वेद को अध्ययन करने के पश्चात् (भी उसके) अर्थ को नहीं जानता, वह ठूंठ केवल भार का ढोने वाला है। (इसके विपरीत) जो अर्थ को जानने वाला होता है, वह (इस लोक के) समस्त कल्याणों को प्राप्त करता है तथा ज्ञान के द्वारा (अपने) पापों को विध्वस्त करके (अन्त में) स्वर्ग-लोक को प्राप्त करता है।

जो ग्रहण (कण्ठस्थ) कर लिया गया, (किन्तु) (समझा) नहीं गया(तथा जिसका) शब्द के रूप में (केवल) उच्चारण किया जाता है, यह अग्निरहित सुखी लकड़ी के समान कभी प्रकाशित नहीं होता।

'स्थाणु' शब्द √स्था धातु से निष्पन्न होता है। 'अर्थ' शब्द √ऋ धातु से बना है अथवा अरण (गमन, हो जाने पर भी) रहने वाला होता है।।१८।।

व्याख्या - यास्क निरुक्त का चतुर्थ प्रयोजन ज्ञानप्राप्ति मानते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे उपनिषद ग्रन्थ-ब्राह्मण के लिए वेद का अध्ययन और ज्ञान आवश्यक मानते हैं - 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च।' इस ज्ञानप्राप्ति में अज्ञान का निवारण भी गतार्थ है, क्योंकि उसके अभाव में ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। किन्तु यास्क (ज्ञानप्राप्ति रूप प्रयोजन को) स्पष्ट रूप में नहीं कहते - वे इस लोक में की जाने वाली ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा के रूप में व्यक्त करते हैं। संसार वेदज्ञ की प्रशंसा करता है और उसको न जानने वाले की निन्दा करता है। प्रत्येक व्यक्ति निन्दा से दूर रह कर प्रशंसा - केवल प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है। उसकी यह इच्छा तभी पूर्ण हो सकती है, जब उसमें वेद के सम्बन्ध में अज्ञान निवृत्ति के साथ-साथ ज्ञान की प्राप्ति हो। निरुक्त, क्योंकि वेद के सम्बन्ध में उठने वाले समस्त सन्देहों को

निरस्त कर तद्विषयक ज्ञानप्राप्ति की ओर व्यक्ति को उन्मुख करता है, इसलिए उसकी इच्छा को पूर्ण करता है। इस प्रकार निरुक्त का चौथा प्रयोजन ज्ञानप्राप्ति है।

यही बात वेदमन्त्रों में भी इस प्रकार कही गई है-

मूल- "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतं त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्व विसस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥" (ऋ. 10.71.4)

अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमपि च शृण्वन्न शृणोत्येनामित्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्त्रे इति स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा। उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा।।१९।।

अनुवाद- कोई (व्यक्ति तो) देखता हुआ भी वाणी को नहीं देखता। कोई सुनता हुआ (भी) इसे नहीं सुनता। (और) किसी को (यह वाणी अपना शरीर (उसी प्रकार) समर्पित कर देती है जिस प्रकार (पति की) कामना करने वाली, सुन्दर वस्त्रों वाली (सुन्दरी) नारी अपने पति को (अपना शरीर समर्पित कर देती है)।

कोई तो देखता हुआ भी वाणी को नहीं देखता, और कोई सुनता हुआ भी इसे नहीं सुनता-इस प्रकार (ऋचा का) पूर्वार्द्ध अविद्वान् (मूर्ख) का कथन करता है। (और) किसी को (यह वाणी) अपने शरीर को समर्पित कर देती है-इसका तात्पर्य यह है कि (उसके लिए वह) अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। (ऋचा अपने तीसरे चरण रूप) इस वाणी के द्वारा अर्थ के ज्ञान अर्थात् प्रकाशन को व्यक्त करती है। (ऋचा के उत्तम अर्थात् अन्तिम चरण में उपमा-तुलना है। जिस प्रकार ऋतुकाल में (स्नान करने के पश्चात्) सुन्दर वस्त्रों वाली (और) पति की (संभोग के लिए) कामना करती हुई स्त्री अपने शरीर को पति के लिए समर्पित कर देती है। जिस प्रकार वह (पति) उस-समर्पित नारी को देखता है (और) वह सुनता है-(इस अंश में) अर्थ को जानने वाले (व्यक्ति) की प्रशंसा (की गई है)।।१९।।

व्याख्या- व्यास की दृष्टि में ऋग्वेद का प्रस्तुत मन्त्र एक साथ ही अर्थ को न जानने वाले की निन्दा तथा अर्थ को जानने वाले की प्रशंसा करता है। अर्थ को न समझने वाला व्यक्ति वाणी भाषा को उपरी दृष्टि से देखता और सुनता तो है किन्तु वह उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। भाषा का ध्वनिसंघातात्मक ढाँचा उसका बाहरी रूप भारत है, अर्थ को बिना समझे भाषा (वेद) को कण्ठस्थ करने वाले व्यक्ति की गति यहीं तक होती है। इस बात को मन्त्र के पूर्वार्द्ध में व्यक्त किया गया है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उपमा के सहारे अर्थज्ञ की प्रशंसा की गई है। जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों से

विभूषित नारी अपने पति कामना करने वाली होती है और उसके लिए स्वयं को समर्पित कर देती है। उसी प्रकार वाणी भी समस्त रहस्यों का ज्ञान स्वयं प्रदान करती है।

मूल– तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय–

''उत त्व सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्।।'' (ऋ० १०/७१/५)

अप्येक वाकसख्ये स्थिर पीतमाहुः रममाण विपीतार्थम्। देवसख्ये, 'रमणीये स्थाने' इति वा। विज्ञानार्थं यं नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि। अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाकप्रतिरूपया। 'नास्मै फलामपुष्पाम् इति। अफलाऽस्मै अपुष्पा वाग्भवतीति वा। 'किदिचत्पुष्पफलेति' वा। अर्थं वाचः दैवते पुष्पफले, देवताऽध्यात्मे वा।

अनुवाद–(उपर्युक्त मन्त्र के) पश्चात् आने वाला (मन्त्र) इस (तथ्य) को और अधिक स्पष्ट करता है–

(विद्वान् लोग) किसी को मित्रता में, खूब-छककर पिया हुआ कहते हैं। (वे लोग वाणी सम्बन्धी) स्पर्द्धाओं या प्रतियोगिताओं में उसको जीत नहीं पाते। (किन्तु जो व्यक्ति) फल और फूल रहित वाणी को सुना हुआ होता है, वह (किसी फल का) दोहन करने वाली अवास्तविक वाणी के साथ विचरण करता है।

(विद्वान् लोग) किसी को तो वाणी की मित्रता में पूर्णतया पिया हुआ अर्थात् रमण करता हुआ अथवा अर्थ को अच्छी प्रकार से आत्मसात् किया हुआ कहते हैं अथवा (मुख्य का अर्थ) देवताओं की मित्रता रूप मन को रमाने वाला (रमणीय) स्थान है। वाणी के द्वारा जानने योग्य बड़ी-बड़ी वाक् प्रतियोगिताओं में भी (विद्वान् लोग) अर्थ को पूर्णतया ज्ञान रखने वाले जिस (व्यक्ति) के पास नहीं पहुंच पाते। जो (अर्थ रूप) फल और और फूल रहित वाणी को सुना हुआ होता है, वह (कामनाओं का) दोहन न करने वाली अवास्तविक (नकली) वाणी के साथ विचरण करता है। (इसका तात्पर्य यह है कि वाणी) देवलोक तथा मानवलोक में वाणी के द्वारा दिये जाने वाले उसके भोगों को उसे प्रदान नहीं करती। (अफलाम् अपुष्पां वाचं शुश्रुवान् का अर्थ) 'उसके लिए वाणी फूल और फल रहित हो जाती है' अथवा 'थोड़े फूलों' और फलों वाली होती है' यह (भी हो सकता है)। (मन्त्र) अर्थ को वाणी का फल और फूल बतलाता है, अथवा यज्ञ कर्म और देवता को (क्रमशः) फूल और फल (बतलाता है) अथवा देवता और अध्यात्म को (उसका फल और फूल बतलाता है)।

वाणी के फूल और फल से क्या समझा जाए ? इस सम्बन्ध में उन्होंने तीन विकल्प सुझाए हैं - (१) अर्थ सामान्य रूप से वाणी का फल और फूल दोनों अर्थात् सर्वस्व हैं। (२) यज्ञकर्म वैदिक वाणी का पुष्प है और देवता ज्ञान उसका फल। (३) देवता ज्ञान पुष्प है और सभी देवताओं में एक आत्मतत्त्व का ज्ञान उसका फल है।

मूल–साक्षात्कृतधर्माण: ऋषयो बभूवु:। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु:। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं=भिल्मं। भासनमिति वा।

अनुवाद–(प्रारम्भ में) धर्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव कर चुके हुए ऋषि हुए। उन्होंने धर्म का साक्षात् अनुभव न प्राप्त किये हुये परवर्ती लोगों को उपदेश के द्वारा मन्त्रों को प्रदान किया। (बाद में) उपदेश देने में ग्लानि या संकोच का अनुभव करते हुये उन अवर लोगों ने स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए इस ग्रन्थ को, वेद को और वेदाङ्गो को बनाया बिल्म=भिल्म या प्रकाशन।

व्याख्या - यास्क के कहने का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल में होने वाले ऋषियों ने धर्मतत्त्व या वेदों का स्वत: साक्षात्कार किया हुआ था, उनके सामने वेद स्वत: आविर्भूत हो गये थे। किन्तु बाद में होने वाले ऋषियों को वैदिक ज्ञान - इस प्रकार - स्वत: - नहीं हुआ। इसलिए प्राचीन ऋषियों ने बाद में होने वाले ऋषियों को वाचिक उपदेश के द्वारा वैदिक मन्त्रों का ज्ञान कराया। ये अवर या बाद में उत्पन्न ऋषि प्रतिपद का उच्चारण करके उपदेश के द्वारा वेदों को पढ़ने में कष्ट का अनुभव करते थे, इसलिए उन लोगों ने वेदों को सुविधा और सुगमतापूर्वक ग्रहण करने के लिए 'निघण्टु' का संकलन किया, साथ ही मौखिक-परम्परा से चले आते हुए वेदों को लिपिबद्ध किया और उनमें अध्ययन की सरलता को ध्यान में रखकर विभिन्न 'वेदाङ्गों' का प्रणयन किया।

मूल–एतावन्त: समानकर्माणो धातव: धातुदर्धाते:। एतावन्तयस्य सत्त्वस्य नामधेयानि। एतावतामर्थानामिदमभिधानम्। नैघण्टुकमिदं देवतानाम्। प्राधान्येदमिति।

अनुवाद–इतनी धातुएं समान अर्थो वाली है। 'धातु' (शब्द) √'धा' (धातु) से व्युत्पन्न है। इस पदार्थ के इतने नाम है। इतने अर्थों का यह नाम है। देवता का यह नाम गौण है (और) यह प्रधान।

व्याख्या - निघण्टु में तीन काण्ड हैं - (१) नैघण्टुक' (२) नैगम और (३) दैवत। नैघण्टुक काण्ड में संकलित शब्द प्राय: दो प्रकार के हैं - (क) धातु और (ख) नाम। ये दोनों ही प्रकार के शब्द उक्त काण्ड में पर्यायवाची के रूप में गृहीत

हुए हैं अर्थात् उसमें यह दिखाया गया है कि समान अर्थ वाली धातुएं कौन-सी हैं तथा किसी एक पदार्थ के और कौन-कौन से नाम हैं। दूसरे नैगम काण्ड में अनेकार्थक शब्दों का संकलन किया गया है अर्थात् उसमें यह दिखाया गया है कि यह नाम इतने (अधिक) अर्थों का वाचक है (और एक से अधिक अर्थों वाले शब्दों को अनेकार्थक कहा जाता है)। तीसरे-दैवत काण्ड में दो प्रकार के देवतावाचक शब्दों का संकलन है - (क) गौण देवता-वाचक और (ख) प्रधानदेवतावाचक। गौण देवता को ही यहाँ 'नैघण्टुक' कहा गया है। वैसे 'निघण्टु' में पहले प्रधान देवतावाचक शब्दों का उल्लेख है और तदनन्तर गौणदेवतावाचकों का, किन्तु यहाँ निरुक्त' में उनके क्रम में विपर्यय कर दिया गया है।

मूल–तद् यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्। 'अश्वं न त्वा वारवन्तम् (ऋ०१/२७/१) अश्वमिव त्वा बालवन्तम्। बालाः दश वारणार्थाः भवन्ति। दंशो दशतेः। 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' (ऋ० १२१५४/२ तथा १०/१८०/२) मृगः इव भीमः कुचरः गिरिष्ठाः। मृगः मार्ष्टिर्गतिकर्मणः। भीमः बिभ्यत्यस्मात्। भीष्मोऽप्येतस्मादेव। कुचरः इति चरगतिकर्मा कुत्सितम्। अथ चेद देवताभिधानम्–क्वा न चरतीति। गिरिष्ठाः गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा। अर्धमासपर्व–'देवानास्मिन् प्रीणन्तीति। तत्प्रकृतीस्तत् सन्धिसामान्यात्। मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव।

अनुवाद–तो, जो (देवतावाचक नामपद) अन्य वक्ता वाले मन्त्र में आ जाता है, वह 'नैघण्टुक' है। 'घोड़े के समान बाल वाले तुझको, बाल (बार) डांस (आदि) के निवारण के लिये होते हैं। दंश शब्द√दश् (धातु) से निष्पन्न होता है। 'कुत्सित कर्म करने वाले (तथा) पर्वत पर रहने वाले सिंह के समान भयङ्कर') मृग शब्द गति अर्थ वाली√मृज् (धातु) से निष्पन्न है, इससे (लोग)डरते हैं (इसलिए इसे) भीम (कहते हैं)। इसी कारण से (इसे) भीष्म भी (कहते हैं)। कुत्सित कर्म को करता है इसलिए वह 'कुचर' (कहलाता है)। और यदि ('कुचर' शब्द) देवता का वाचक हो तो (उसका निर्वचन होगा)–यह कहां नहीं विचरता?, 'गिरिष्ठा' शब्द का अर्थ है–गिरि अर्थात् पर्वत पर रहने वाला। 'गिरि' पर्वत कहलाता है, (क्योंकि) वह (ऊपर की ओर) उभरा होता है। पर्व (पोर) वाला होता है (इसलिए वह) पर्वत (कहलाता है)। और ('पर्वत' का अङ्गभूत) 'पर्वत' शब्द √पृ अथवा √प्री धातु से निष्पन्न माना जा सकता है। महीने के आधे भाग पर पड़ने वाले दिन को 'पर्व ' कहा जाता है, क्योंकि उस दिन (अमावस्या अथवा पूर्णिमा) को (लोग) देवताओं को

प्रसन्न करते हैं। उसी के आधार पर अन्य (वस्तु) को (भी) पर्व कहते हैं, सन्धि की समानता के कारण। (गिरिष्ठा शब्द का देवपक्ष में अर्थ) मेघ में रहने वाला है। इसी (उभरे हुए) के कारण मेघ को भी 'गिरि' कहते हैं।

मूल–तद्यानि नामानि प्राधान्य स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। नैघण्टुकानि नैगमानिदेह।

अनुवाद–तो (निघण्टु के जिस काण्ड में) प्रधान रूप से स्तुति वाले देवताओं के नामों का संकलन किया गया है, उसे 'दैवत' कहते हैं। उसकी व्याख्या (हम) आगे (निरुक्त के ७-१३ अध्यायों में करेंगे। नैघण्टुक और नैगम काण्ड में निर्दिष्ट शब्द यहां-यहां (पहले नैघण्टुक काण्ड के बाद और तत्पश्चात् नैगम काण्ड के शब्द हैं)।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमःपादः

मूल–अथ निर्वचनम्।

अनुवाद–अब निर्वचन का प्रारम्भ किया जा रहा है।

व्याख्या–'निरुक्त' का मुख्य उद्देश्य निघण्टु में संकलित शब्दों का अर्थ और प्रकृति-प्रत्यय की दृष्टि से निर्वचन करना है। इसलिये 'निरुक्त' के प्रथम अध्याय में 'निरुक्त' से साक्षात् और असाक्षात् सम्बन्ध रखने वाले विषयों का निरूपण तथा निघण्टु के *काण्डत्रय* के विषय का संकेत करने के पश्चात् यास्क अब निर्वचन का प्रारम्भ करना चाहते हैं। उपर्युक्त वाक्य उनकी एतद् विषयक प्रतिज्ञा का संकेत कर रहा है।

'अथ' शब्द का अर्थ है 'अनन्तर' अथवा (इसके पश्चात्) तथा 'निर्वचन' पद का अर्थ है किसी शब्द या पद के प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग करके उसके स्वरूप को स्पष्ट करना–**निष्कृय–विगृह्य वचनं निर्वचनम् (दुर्ग)**। शब्द का इस प्रकार का निर्वचन उसके अर्थ को आधार बना कर किया जाता है, यह बात आगे स्पष्ट होगी।

किसी भाषा के शब्द, रचना की दृष्टि से कई प्रकार के होते हैं, इसलिए उन सब का निर्वचन किसी एक आधार पर नहीं हो सकता। यास्क ने निघण्टु में संकलित शब्दों को ध्यान में रखकर यहां निर्वचन के तीन आधारों या सिद्धान्तों को

प्रस्तावित कियाा है।

मूल–(१) तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्।

(२) अथानन्वितेर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।

(३) अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्ण सामान्यान्निर्ब्रूयात्।

अनुवाद–(१) तो जिन पदों में (उदात्तादि) स्वर और व्याकरण की प्रक्रिया अनुकूल अर्थ वाली हो (तथा वे) धातु में (प्रायः) होने वाले उचित परिवर्तन से युक्त हों, उनका निर्वचन उसी (स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होने वाली प्रकृति-प्रत्यय रूप व्याकरण की प्रक्रिया के आधार पर (सामान्य) प्रकार से करना चाहिये।

(२) किन्तु (जिन पदों में) अर्थ (स्वर और पद में दृष्टिगत व्याकरण की प्रक्रिया के) अनुकूल, हो तथा जिसमें धातु का परिवर्तन या विकार भी दृष्टिगत न होता हो ऐसे पदों (की रचना में विद्यमान अवयवों) का परीक्षण (निर्वचन), उनके अर्थ के प्रति सतत् जागरूक अन्वेषक को किसी समान प्रवृत्ति या विशेषता के आधार पर करना चाहिए।

(३) जिन पदों में उपर्युक्त प्रवृत्ति या विशेषागत) समानता भी विद्यमान न हो उनका निवर्चन निर्वचनीय पदों तथा उनके घटक के रूप में सम्भावित प्रकृति (धातु या प्रातिपदिक)–प्रत्यय में दृश्यमान अक्षरों (केवल स्वर तथा स्वरसहित व्यंजन और व्यंजनों) की समानता के आधार पर करना चाहिए।

व्याख्या–'निरुक्त' के व्याख्याकारों की दृष्टि में शब्द तीन प्रकार के होते हैं–(१) प्रत्यक्ष वृत्ति–जिनमें प्रकृतिप्रत्यय स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं, अतः उनका निर्वचन सीधे व्याकरण के द्वारा ही हो जाता है। उनके लिए 'निरुक्त' की कोई आवश्यकता नहीं। (२) परोक्षवृत्ति–जिनमें मूल प्रकृति-प्रत्यय काफी बदल गये होते हैं इसलिए केवल व्याकरण के द्वारा उनका निर्वचन नहीं हो पाता। ऐसे शब्दों को ध्यान में रखकर उनमें प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है। (३) अतिपरोक्षवृत्ति–ऐसे शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय में इतना अधिक परिवर्तन हो चुका होता है कि किसी भी रूप में उनको उनके मूल रूप में उद्धाटित करना बहुत कठिन होता है। फलतः ऐसे शब्दों के निर्वचन में काफी कठिनाई आती है। यास्क इन्हीं तीन प्रकार के शब्दों को ध्यान में रखकर अपने निर्वचन सिद्धान्तों को क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) यास्क का कहना है कि जिन वैदिक शब्दों में उसके उदात्तादि स्वर

और लोप-आगम आदि व्याकरण की प्रक्रिया उन शब्दों के अनुकूल हो तथा उसके अर्थ को प्रतिपादित करने वाली धातु अपने मूल रूप में अथवा किंचिद् विकृत रूप में उनमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रही हो, उनका निर्वचन उनमें प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर सामान्य रूप में कर देनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वैदिक शब्द में उदात्तादि स्वर की कहीं न कहीं स्थिति अवश्य होती है और उसी के आधार पर यह निश्चित होता है कि वह शब्द संज्ञा है, या क्रिया आदि। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द के अर्थ के अनुसार ही उसमें व्याकरण की प्रक्रिया भी विद्यमान होती है। शब्द का अर्थ यदि इन दोनों के अनुसार हो और उस अर्थ को प्रतिपादित करने वाली धातु भी उसमें (शब्द में) दिखाई पड़ रही हो तो शब्दों का निर्वचन कुछ कठिन नहीं होता है, क्योंकि उसके सभी घटक प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं, उदाहरण के लिए 'पाचक' शब्द लिया जा सकता है। इसमें √पच्+ण्वुल (अक्) के रूप में व्याकरण की प्रक्रिया तथा √पच् धातु को √पाच् के रूप में परिवर्तन स्पष्ट रूप में दीख रहा है। उदात्तादि स्वर भी यस्थास्थान हैं। उन सब के आधार पर 'पाक क्रिया को सम्पन्न करने वाला' रूप (विशेषण) अर्थ को यह व्यक्त कर रहा है। फलतत: इसका निर्वचन (पचतीति पाचक:) पच्+अक् के स्पष्ट रूप में हो जाता है। धावक, गायक, गन्ता आदि ऐसे वे शब्द हैं। कभी-कभी धातु में कोई भी विकार नहीं होता है, जैसे–पच्+अ (पच:)।

'संस्कार' शब्द का अर्थ है–व्याकरण की प्रक्रिया जिसमें प्रकृति और प्रत्यय में विभिन्न रूप आ जाते हैं। 'समर्थौ' का तात्पर्य है अनुकूल अर्थ वाले–**संगतो अनुकूलोऽर्थो यतोस्तौ**–यह '**स्वरसंस्कारौ**' का विशेषण है। '**प्रादेशिक**' शब्द के वैसे तो अनेक अर्थ किए गए हैं, किन्तु उसका उपयुक्त अर्थ 'धातु का' है। *प्रदिश्यते प्रयुज्जते इति प्रदेश:*–धातु:। प्रदेश का अर्थ है धातु और प्रदेश के विकार को प्रादेशिक कहा जायगा (प्रदेश+ठक्+इक्)। विकार शब्द यहां धातु के परिवर्तन और उसके उसी रूप में प्रयोग, इन दोनों अर्थों को व्यक्त करते हैं।

(२) यास्क का यह दूसरा निर्वचन सिद्धान्त परोक्षवृत्ति शब्दों के निर्वचन के लिए है। इसका आशय यह है कि जब शब्द का अर्थ निर्वचन के लिए मानी गई धातु और स्वर के अनुकूल न हों अर्थात् धातु और स्वर के सम्मिलित अर्थ का शब्द के वर्तमान अर्थ के साथ तादात्म्य न हो तथा शब्द में वह धातु किसी भी (पूर्ण या अपूर्ण) रूप में दिखलाई न पड़ती हो तो निर्वचन करने वाले व्यक्ति को एकमात्र शब्द के वर्तमान अर्थ के प्रति जागरूक होकर शब्द के वर्तमान *अभिधेय* और निर्वचन के फलस्वरूप प्राप्य अर्थ में उपलब्ध समान प्रवृत्ति या विशेषता के आधार पर उस शब्द का परीक्षण (निर्वचन) करना चाहिए। उदाहरण के लिए उद्यान् यो अस्मै घ्रसं उत वा या ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमां अह (ऋ०५/३४/३) मन्त्र के ऊधस् (ऊधनि

निर्वचन के प्रतिपादिक) के निर्वचन को ले सकते हैं। यहां पर 'ऊधस' शब्द रात्रि के अर्थ में आया है। निघण्टु (१/७) में रात्रि का पर्याय 'ऊधस्' बताया गया है। (ऊधस्' शब्द का निर्वचन क्लेदने अर्थ वाली √उन्द् (उन्दी) धातु और असुन् प्रत्यय से माना गया है)। इसी आधार पर 'ऊधस्' का अर्थ होता है 'थन' जो अपनी दूध की धारा से भूमि को गीला करता रहता है। किन्तु रात्रि रूप अर्थ में यह नहीं पाई जाती, क्योंकि रात्रि के अर्थ में 'ऊधस्' शब्द का √उन्द् धातु से निर्वचन नहीं किया जा सकता। किन्तु 'थन' और रात्रि में एक समान प्रवृत्ति या विशेषता पाई जाती है--वह है 'स्नेहल' की प्रवृत्ति। 'थन' दूध के द्वारा स्निग्ध करता है जबकि रात्रि ओस की बूंदों के द्वारा। इसी सामान्य प्रवृत्ति के आधार पर 'थन' का वाचक 'ऊधस्' शब्द उपर्युक्त मन्त्र में रात्रि का भी वाचक बन गया है। ('गौ न पर्व विरदा तिरश्च') (ऋ० १/६१/१२) में 'पर्व' शब्द का अर्थ इसी आधार पर 'गौ का अङ्ग' है, समय की सन्धि रूप अमावस्या या पूर्णिमा नहीं।

वाक्य में प्रयुक्त 'अनन्विते' शब्द 'अर्थे' का विशेषण है और अर्थ है–ऐसा अर्थ जो अन्वित, अनुकूल न हो। 'अर्थनित्यः' शब्द अध्याहार्य निर्वचनकर्त्ता का विशेषण है। अर्थ होगा–ऐसा व्यक्ति जो शब्द के अर्थ में निश्चय हो या सदैव अर्थ परायण हों अर्थात् शब्द के अर्थ में सदैव जागरूक हो–(अर्थे नित्यः अर्थनित्य अथवा अर्थो नित्यः यस्य सः तादृशः)। वृत्तिसामान्येन' के अर्थ में व्याखाकारों ने पर्याप्त कल्पना का सहारा लिया है। यहां 'वृत्ति' का अर्थ 'वर्तते शब्देषु इति वृत्तिः' के आधार पर प्रवृत्ति या विशेषता लिया गया है। 'सामान्य' का अर्थ है समानता। ('वृत्तेः सामान्यं वृत्तिसामान्यम् तेन)–समान वृत्ति के आधार पर।

(३) तीसरा सिद्धान्त अतिपरोक्षवृत्ति शब्दों के लिए है। इसका आशय यह है कि शब्द में (अर्थ की अनुकूलता और धातु के विकार की अप्राप्ति के अतिरक्ति) यदि किसी भी प्रवृत्ति की समानता भी दिखलाई पड़ती हो, तो निर्वचनीय शब्द में पाए जाने वाले केवल स्वर अथवा व्यंजनसहित स्वरूप रूप अक्षर और व्यंजनों की समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिए, अर्थात् निर्वचन के द्वारा प्राप्य अर्थ और निर्वचनीय शब्द की कुछ ध्वनियों में यदि समता दिखालाई पड़ती हो तो उसके आधार पर निर्वचन करना चाहिए। उदाहरण के लिए (जैसाकि यास्क ने इसी प्रकरण में आगे चल कर दिखलाया) 'कम्बोज' का निर्वचन 'कम्बलभोज' से दिया गया है। इसमें दोनों शब्दों में विद्यमान कम् (क्+अ+म्), तथा ज (ज्+अ) ध्वनियों के साम्य के अतिरिक्त और कोई साम्य नहीं है।

वाक्य में 'सामान्य' शब्द का अर्थ पूववर्ती वाक्य के आधार पर 'वृत्तिमान्य' है। 'अक्षर' का अर्थ होता है केवल स्वर। 'वर्ण' शब्द का अर्थ मान्य ध्वनि है, किन्तु

यहां उसका प्रयोग व्यंजन के अनुसार किया गया है। अक्षर क्षरवर्ण सामान्यात्' का अर्थ अक्षर और वर्ण की समानता से हैं।

यास्क के उपर्युक्त तीनों निर्वचन-सिद्धान्तों में से प्रथम तो ठीक है, किन्तु अन्तिम दोनों गलत हैं, क्योंकि जिस केवल अर्थ की समानता के आधार पर निर्वचन की बात उन्होंने कही है, वह अत्यन्त परिवर्तित होने वाली वस्तु है। उसी शब्द का किसी एक देशकाल में यदि एक अर्थ है तो दूसरे देशकाल में उसका वही अर्थ होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। कभी-कभी एक ही शब्द के देश और काल में भेद से अनेक अर्थ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में क्या इस शब्द के अनेक निर्वचन होंगे? यास्क ऐसा ही मानते हैं, किन्तु वह निर्वचन के प्रचलित मानदण्ड के प्रतिकूल है। अक्षर और वर्ण की समानता वाला सिद्धान्त भी सिद्धान्त कहे जाने योग्य नहीं है।

आगे की पंक्तियों में यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि प्रत्येक शब्द का निर्वचन अवश्य किया जाना चाहिए, चाहे उसके मार्ग में कितना ही कठिनाईयां क्यों न आवें। निर्वचनकर्ता का मुख्य ध्यान शब्दार्थ पर होना चाहिए और व्याकरण की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

मूल–न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीऽसन्नमयेत।

अनुवाद–ऐसा न हो कि निर्वचन न करे। (निर्वचन के सन्दर्भ में) व्याकरण की प्रक्रियाओं की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि (व्याकरण की या शब्दों की) वृत्तियां (सदैव) संदेहयुक्त होती हैं। (शब्द के) अर्थ अनुसार (उसके प्रकृति और प्रत्यय रूप तथा नाम और आख्यातादि रूप) विभागों की कल्पना कर लेनी चाहिये।

मूल–प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते। अथाप्यसतेर्निवृत्तिस्था-नेष्वादिलोपी भवति–स्तः, सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति–गत्वा, गतमिति। अथाप्युपधालोपो भवति–जग्मतुः, जग्मुरितिः अथाप्युपधाविकारो भवति–राजा दण्डीति। अथापि वर्णलोपो भवति–तत्त्वा यामीति। अथापि द्विर्वालोपः–तृच इति। अथाप्यादि व्यापत्तिर्भवति–ज्येतिर्घनो बिन्दुर्वाट्यः इति। अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति–ओघो, मेघो, नाधो, गाधो, वधूर्मध्विति। अथापि वर्णोपजनः–आस्थद्, द्वारो, भरूजेति।।१।।

अनुवाद–'प्रत्तम्' और 'अवेत्तम्' इन शब्दों में केवल धातु के आदि वर्ण ही शेष रहते हैं। इसके अतिरिक्त गुण और वृद्धि के निषेध स्थलों में √अस् धातु के आदिम वर्ण का लोप हो जाता है, (जैसे) 'स्तः' (और) 'सन्ति' (इन प्रयोगों) में।

इसके अतिरिक्त (कुछ शब्दों में) अन्तिम (वर्ण) का लोप हो जाता है, (जैसे) 'गत्वा' (और) 'गतम्' इनमें। इनके अतिरिक्त–(कुछ शब्दों में) उपधा अर्थात् शब्द की अन्तिमध्वनि से ठीक पूर्व में रहने वाली ध्वनि का लोप हो जाता है (जैसे), 'जग्मतुः' (और) 'जग्मुः' इनमें। इनके अतिरिक्त–(कुछ शब्दों में) उपधा में (विद्यमान ध्वनि में) विकार या परिवर्तन (भी दृष्टिगत) होता है (जैसे) 'राजा' (और) 'दण्डी' इनमें। इसके अतिरिक्त–(कुछ शब्दों में एक) वर्ण का लोप हो जाता है, (जैसे) 'तत्त्वा यामि' इसमें। इसके अतिरिक्त कुछ शब्दों में) दो वर्णों का लोप हो जाता है, (जैसे) 'तृचः' इसमें। इसके अतिरिक्त (कुछ शब्दों में) आदिम वर्ण की व्यापत्ति (परिवर्तन) हो जाती है, जैसे, 'ज्योति', 'धन' 'बिन्दु' और 'बाट्य' इन (शब्दों में)। इसके अतिरिक्त- कुछ शब्दों में) आदिम और अन्तिम ध्वनियों में विपर्यय (पारस्परिक परिवर्तन) हो जाता है, (जैसे) 'ओघ', 'मेघ', 'नाध, 'गाध', 'वधु' और 'मधु' इन (शब्दों) में। इसके अतिरिक्त–(कुछ शब्दों में) वर्ण (स्वर और व्यंजन में से अन्यतर या दोनों) का आगमन हो जाता है, (जैसे) 'आस्थद्', 'द्वार' (और) 'भरूजा' इन (प्रयोगों) में॥१॥

मूल–तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तर्धातु भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धाया, धर्मानायाक मनुपपद्यामानया, मितरयोपपिपा दयिषेत्। तत्रात्येकऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति, तद्यथैतद्–ऊः, मृदुः पृथुः पृषतः कुणारुम् इति।

अनुवाद–तो जिस धातु में, धातु के भीतर ही स्वर के अव्यहित पूर्व या पश्चात्, कोई अन्तस्थ (य्, व्, र्, ल्) होता है। वह (धातु) दो प्रकार की प्रकृतियों या स्वभावों का स्थान (आश्रय) है, ऐसा (विद्वान् लोग) कहते हैं। उन (दो प्रकृतियों वाली धातुओं) में सिद्धा प्रकृति (अधिक प्रयोग वाली धातुओं) की अल्प मात्रा में इच्छा करनी चाहिए। उन (असिद्धा प्रकृति वाली धातुओं में) अल्प मात्रा में बनने वाले कुछ ही शब्द होते हैं, जैसे ये–ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुम्।

मूल–अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमोः कृतो भाष्यन्ते–दमूनाः क्षेत्रसाधाः इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः–उष्णम्, घृतम् इति।

अनुवाद–इसके अतिरिक्त–बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त धातुओं से बनने वाले वैदिक कृदन्त शब्दों का (वेदों में) प्रयोग किया जाता है, जैसे–दमूनस्, क्षेत्रसाधस्, ये शब्द। इसके अतिरिक्त–वेदों में प्रयुक्त धातुओं से बनने वाले कृदन्त शब्दों का प्रयोग बोलचाल की भाषा में होता है। जैसे–उष्णम् 'घृतम्' ये शब्द।

मूल--अथापि प्रकृतयः एवैकेषु, विकृतयः एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। कम्बोजाः कम्बलभोजाः। कयनीय भोजाः वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्थेषु भाष्यन्ते। शवः इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

अनुवाद–इसके अतिरिक्त–देश के कुछ भागों में केवल प्रकृति या (तिङन्त रूप) ही बोली जाती हैं। (जबकि) कुछ में केवल विकृतियां (धातु से बनने वाले कृदन्त शब्द) ही प्रयुक्त होती हैं (उदाहरण के लिए) कम्बोज देश (आधुनिक काबुल-कन्धार का प्रदेश) में √शिव धातु (और उसके आख्यात रूपों) का प्रयोग गति के अर्थ में होता है। 'कम्बोज' (कम्बोज इसलिए कहलाए क्योंकि वे) कम्बल अथवा कमनीय पदार्थ का उपभोग करने वाले हैं। कम्बल कमनीय होता है। (इसके विपरीत) अर्थों में इस धातु का विकार (कृदन्त शब्द) 'शव' को बोलते हैं (इसी प्रकार) √दा धातु का कटाई के अर्थ में प्रयोग पूरब (के देशों) में (और उसके कृदन्त रूप) 'दात्र' (का प्रयोग) उत्तरी (भागों) में होता है)।

मूल–एवमेकपदानि निर्ब्रुयात्।

अनुवाद–इस प्रकार (ऊपर बताए गए ढंग से) एक पद वाले समासरहित और अतद्धितान्त) शब्दों का निर्वचन करना चाहिए।

मूल–अथ तद्धित समासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वमपूर्वम्, अपरमपरं प्रविभज्य निर्बूयात्।

अनुवाद–और तद्धित (प्रत्यय के योग) और समास से बने एक जोड़ तथा अनेक जोड़ वाले शब्दों में (सबसे) पहले) (शब्द) को (और उसके) पश्चात् बाद वाले (शब्द) को, विग्रह के द्वारा अलग-अलग करके (उनका) निर्वचन करना चाहिए।

मूल–दण्ड्यः पुरुषो–दण्डमर्हतीति वा दण्डेन सम्पद्यते' इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः 'अक्रूरो ददते मणिम्' इत्यभिभाषन्ते; दमनादित्यौपमन्यवः। 'दण्डमस्याकर्षत' इति गर्हायाम्। कक्ष्या रज्जुरश्वस्य, कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः। क्सः इति नामकरणः, ख्यातेर्वाऽनर्थकोऽभ्यासः, किमस्मिन् ख्यानमिति वा, कर्षतेर्वा। तत्सामान्यान् मनुष्यकक्षो बाहुमूल-सामान्यादश्वस्य।

अनुवाद–'दण्ड्य पुरुष' इसमें 'दण्ड्य' शब्द का अर्थ है, 'दण्ड के योग्य' अथवा दण्ड के द्वारा सम्पन्न होने व ती वस्तु'। 'दण्ड' (शब्द) धारण अर्थ वाली

√दद् (धातु) से व्युत्पन्न होता है। 'अक्रूर' मणि को धारण करता है, ऐसा (लोग) कहते हैं। औपमन्यव का कहना है कि 'दण्ड' को 'दण्ड' दमन करने के कारण' कहते हैं। इस पर डंडा खींच दो (लगा दो)। यह निन्दा अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'कक्ष्या' घोड़े की रस्सी को कहते हैं, (क्योंकि) वह (घोड़े के कक्ष (कांख) का सेवन करती है। 'कक्ष' (शब्द) में √गाह् (धातु) से 'वस' यह नामपद बनाने वाला प्रत्यय है। अथवा √'ख्या' धातु को बिना किसी प्रयोजन के द्वित्त्व हो गया है। अथवा 'इसमें क्या देखना' इस कारण (यह कक्ष शब्द बना है)। अथवा √कष् धातु से व्युत्पन्न है। उसकी समानता के कारण 'कक्ष' शब्द का अर्थ 'मनुष्य की काख' होता है। (और मनुष्य के) बाहुमूल की समानता के कारण (यह) अश्व (की काख के अर्थ को व्यक्त करता है)।

मूल–राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः राजा। राजतेः। पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरियत्यन्तपुरुषभिप्रेत्य। 'यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्ण पुरुषेण सर्वम्। इत्यपि निगमो भवति। विश्चकद्राकर्षः। वीति, चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्साना; कद्रातीति द्रातिकुत्साना; 'चकद्राति' कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः, तदस्मिन्नस्तीति विश्चकद्रः। [विश्चकद्रमाकर्षति इति विश्चकद्राकर्षः] कल्याणवर्णरूपः। कल्याणर्वणस्येवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः।

अनुवाद–राजा का पुरुष राजपुरुष। राजा (राजन्) शब्द √राज् धातु से (निष्पन्न होता है) 'पुरुष' (पुरुष इसलिए कहलाता है कि वह) 'पुर' में निवास करता है, या 'पुर्' में सोता है' या 'अन्तर को पूर्ण करता है' इस अर्थ वाले 'अन्तपुरुष' (अन्तरात्मा) को लक्ष्य कर √पूरि (धातु) से (निष्पन्न हो सकता है)। इसी अन्तिम अर्थ को ध्यान में रखकर) यह वैदिक मन्त्र है–

'कोई भी वस्तु जिससे न बढ़कर है और न घटकर, जिससे कोई सूक्ष्म नहीं है और न जिससे कोई महान् (ही) है, जो वृक्ष के समान तनकर स्वर्ग में अकेले (ही) खड़ा है, उस पुरुष (अन्तरात्मा) ने इस सम्पूर्ण विश्व को भर दिया है।

'विश्चकद्राकर्ष' अर्थात् कुत्ते की सी गति वाला जुए का पासा। 'वि' इससे युक्त 'चकद्र' यह शब्द कुत्ते की सी गति वाले के अर्थ में प्रयुक्त होता है। √'द्रा' (धातु) का अर्थ है कुत्सि गति 'कद्रा' का अर्थ है कुत्सित द्रा (अत्यन्त कुत्सित चाल); 'चकद्रा' शब्द 'कद्रा' के निश्प्रयोजन द्वित्व से निष्पन्नहै। यह (चकद्रा) इसमें

है, इसलिय यह 'विश्वकद्र' (कहलाता है।

कल्याणवर्णरूप अर्थात् सुन्दर रंग के समान रूप वाला। इसका रूप कल्याण (सोने) के वर्ण जैसा है (इसलिए यह कल्याणवर्णरूप है)। कल्याण कमनीय होता है। √वर्ण शब्द √वृ (आवृत करना) धातु से (निष्पन्न है)। 'रूप' शब्द √रुच्य् (चमकना) धातु से (निष्पन्न है)।

मूल–एवं तद्धितसामासान्निर्ब्रूयात्। नैकपदानि निर्ब्रुयात्।

अनुवाद–इस प्रकार (ऊपर बताए गए के अनुसार) तद्धितान्त और समस्त शब्दों का निर्वचन करना चाहिए। (किन्तु) इक्के-दुक्के (सन्दर्भ रहित) शब्दों का निर्वचन नहीं करना चाहिए।

मूल–नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिंदविंदे वा; नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। उपसन्नयाय तु निर्ब्रूयात्, यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्, मेधाविने, तपस्विने वा।

अनुवाद–(शब्दों का) निर्वचन (अथवा उसकी विद्या का उपदेश) व्याकरण न जानने वाले (व्यक्ति) के लिए नहीं करना चाहिए, (जिज्ञासा की भावना से विनीत शिष्य के रूप में) निकट न आने वाले व्यक्ति के जिए (भी) नहीं करना चाहिए (और) इस (निरुक्तशास्त्र) को न समझने वाले व्यक्ति के लिए (भी) नहीं करना चाहिए, क्योंकि (शास्त्र को) न समझने वाले व्यक्ति भी, विज्ञान के प्रति, सदैव दोषबुद्धि होती है (वह उसमें केवल दोष ही ढूंढता है)। जिज्ञासा की भावना से शिष्य के रूप) में निकट आने वाले के लिए (निरुक्तशास्त्र का उपदश) करना चाहिए, जो (निरुक्तशास्त्र को) विशेष रूप से समझने में समर्थ हो (उसके लिए इसका उपदेश करना चाहिए) तथा जो मेधावी और तपस्वी (कष्ट सहिष्णु) हों (उनके लिए इसका उपदेश करना चाहिये)।

मूल– **विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।**
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।।१।।

य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह।।२।।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा।
यर्थव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्।।३।।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रू हि निधिपाय ब्रह्मन्।।४।।

निधिः शेवधिरिति॥४॥

अनुवाद–विद्या ब्राह्मण के पास आई (और बोली–हे ब्रह्मन्! तुम) मेरी रक्षा करो; मैं तुम्हारी निधि हूं। (तुम) मेरा उपेदश, असूया (गुणों को दोष के रूप में देखना) करने वाले, कुटिल और अजितेन्द्रिय (व्यक्ति) को मत करना, ऐसा करने से मैं शक्तिशालिनी होऊंगी॥१॥ कष्ट न देता हुआ तथा (आनन्दरूपी) अमृत प्रदान करता हुआ जो (गुरु) सत्य (ज्ञान) के द्वारा (शिष्य के) कानों को कुरेदता है (कानों के माध्यम से शिष्य का ज्ञान प्रदान करता है) उस (गुरु) को (अपना) पिता और माता मानना चाहिए तथा उससे किसी भी अवस्था में द्रोह नहीं करना चाहिए॥२॥ (किसी गुरु के द्वारा) पढ़ाए गए जो ब्राह्मण (शिष्य) वाणी, मन और कर्म से गुरु का आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरु के कृपापात्र (रक्षयणीय) नहीं होते उसी प्रकार, (उनके द्वारा अध्ययन किया जाता हुआ) वह (शास्त्र) भी उनकी रक्षा नहीं करता॥३॥ (इसलिए) हे ब्राह्मण! (तुम) जिस किसी को भी पवित्र प्रमाद न करने वाला, मेधावी, ब्रह्मचर्य से युक्त (तपस्वी) समझते हो (तथा) जो तुमसे किसी भी अवस्था में–कभी भी–द्रोह न करता हो, उस (ज्ञानरूपी) निधि की रक्षा करने वलो के लिए मेरा उपदेश करना॥४॥

'शेवधि' का अर्थ निधि (खजाना है)।

द्वितीयः पादः

मूल–अथातोऽनुक्रमिष्यामः।

अनुवाद–इसके पश्चात् (अब), यहां से (शब्दों के निर्वचन का) प्रारम्भ करेंगे।

मूल–(१) गौरिति[१] पृथिव्या नामधयेम्–यद् दूरं गता भवति; यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वोकारो नामकरणः।

अनुवाद–'गो' यह पृथिवी का नाम (वाचक शब्द है)–क्योंकि यह दूर तक गई है; क्योंकि इस पर (भौतिक) पदार्थ गमन करते हैं; अथवा √गा धातु में नाम बनाने वाले प्रत्यय 'ओ' (के योग) से (यह निष्पन्न हुआ है)।

मूल–(२) अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। अथाप्यस्यां तद्धेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति–(क) 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ९/४६/४) इति पयसः। मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः। 'मत्सरः' इति लोभनाम। अभिमत्तः एनेन धनं भवति। पयः पिबतेर्वा, प्यायतेर्वा। क्षीरं क्षरतेः, घसेवेरो नामकरणः, 'उशीरम्' इति यथा। (ख) 'अशु

दुहन्तोऽध्यासते गति, (ऋ०१०/९४/९) इत्यधिषवणचर्मणः। अंशुः शमष्टमात्रः भवति, अननाय शं भवतीति वा। चर्म चरतेर्वा, उच्चृतं भवतीति वा।

(ग) अथापि चर्म च श्लेष्मा च-'गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्व' (ऋ० ६/४७/२६) इति रथस्तुतौ।

(घ) अथापि स्नाव च श्लेष्मा च-'.........सन्नद्धा पतति प्रसूता' (ऋ० ६/७५/११) इतीषु स्तुतौ।

(ङ) ज्योतिर्गौरुरूचते। गव्या चेत् ताद्धितम्।

अथ चेन्न गव्या, 'गमयतीषून इति। 'वृक्षे-वृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वयः पतान् पूरुषादः' (ऋ० १०/२७/२२) वृक्षे-वृक्षे=धनुषि-धनुषि। वृक्षो व्रश्चनात् नियता मायत् गौः-शब्दं करोति; मीमयतिः शब्दकर्मा। ततो वयः प्रयतन्ति पुरुषानदनाय। विरिति शकुनिनाम्म। वेतेर्गतिकर्मणः। अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव।

अनुवाद-इसके अतिरिक्त, इसी (गमन करने के) कारण, यहां (यह 'गौ' शब्द) शब्द में तद्धित अर्थ में पूर्ण (गो) शब्द वाले वैदिक उदाहरण होते हैं-'मत्सर (मतवाला बना देने वाले) को 'गो' (दुग्ध) के साथ पकाओ। इस उदाहरण) में (गो शब्द) दुग्ध (के अर्थ) का (वाचक है)। 'मत्सर' (शब्द) का अर्थ सोम है (और वह) 'तृप्त करना' अर्थ वाली √मन्द् धातु से (निष्पन्न होता है)। (लोक में) 'मत्सर' लोभ का नाम है, (क्योंकि) इसके द्वारा पाणिनि (व्यक्ति) धन के प्रति मतवाला हो जाता है। 'पयस्' शब्द या तो √पिव् (पाणिनि 'प') धातु से (निष्पन्न होता है) या √प्यै धातु से। ('पयस्' का पर्यायवाची) क्षीर' (शब्द) √क्षर् धातु से (निष्पन्न होता है) या (√वश् धातु है)। 'उशीर' के समान √धस् धातु से 'ईर्' नामकरण (नाम बनाने वाले प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है)।

(ख) अशु (सोमरस) को दुहते हुए 'गो' पर बैठते हैं।[३] इसमें 'गो' शब्द अधिषवणचर्म (जिस पर बैठकर सोम को कूटा जाता था ऐसा विशिष्ट चमड़ा) का वाचक है। (सोमरस) 'अशु' (इसलिए है कि वह) 'पीने मात्र से कल्याणकारी होता है' अथवा जीवनयात्रा के लिए कल्याणकारी होता है, 'चर्म' शब्द या तो √चर् धातु से (निष्पन्न होता है) या (वह मृत पशुओं के शरीर से) उधेड़ा हुआ होता है-इसलिये (उसे चर्म कहा जाता है)।

(ग) इसके अतिरिक्त 'गो' (शब्द) चमड़ा और सरेस की भी (कहते

हैं)–जैसे रथ की प्रशंसा में (प्रयुक्त) 'गो' (के चमड़े और सरेस से) वेष्टित (हे रथ! तु) मजबूत हो इस (मन्त्र का 'गो' शब्द)।

(घ) इसके अतिरिक्त ('गो' शब्द) नस और सरेस (के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है) जैसे–बाण की प्रशंसा में (प्रयुक्त) 'गो' (गाय की नसों और सरसे) से मंढा हुआ (तथा धनुष से) फेंका हुआ (बाण) उड़ रहा है।[५] इस मन्त्र का ('गो' शब्द)।

(ङ) प्रत्यञ्चा को भी 'गो' कहते हैं। यदि यह गाय (के चमड़े आदि) से बनी हो तो तद्धित (लक्ष्यार्थ) है और यदि गाय के (चमड़े आदि) से निर्मित नहीं हो तो उसे 'गो' इसलिए (कहते हैं क्योंकि) वह बाणों को गमन कराती है। (उन्हें फेंकती है)। वृक्ष-वृक्ष में बंधी हुई प्रत्यचा (गो) शब्द कर रही है (और) उससे मनुष्यों का भक्षण करने वाले पक्षी (बाण) उड़ रहे हैं।' वृक्ष-वृक्ष में=धनुष-धनुष में। वृक्ष शब्द √व्रश्च् धातु से (निष्पन्न होता है)। बंधी हुई प्रत्यचा 'मीम्' करती है अर्थात् शब्द करती है। √मीम् धातु 'शब्द करना अर्थ वाली है। उससे पुरुषों को खाने के लिए पक्षी (बाण) उड़ते (तेजी से चलते) हैं। 'वि' हय पक्षी का नाम है (वह) गति अर्थ वाली √वी धातु से (निष्पन्न है), इसके अतिरिक्त वह, इसी धातु से 'बाण' का भी नाम (वाचक शब्द) होता है।

मूल–(३) आदित्योऽपि गौरुच्यते–'उतादः परुषे गवि (ऋ० ६/५६/३)। पर्ववति। भास्वतीत्यौपमन्यवः। (४) अथाप्यस्यैको रश्मिचन्द्रमसं प्रति दीप्यते। तदेतेनोपेक्षितव्यम्–'आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति' इति। 'सुषुम्णः सुर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः' (वा० सं० १८/१४) इत्यादि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते–'अत्राह गौरमन्वत' (ऋ० १/८४/१५) इति। तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। (१५) सर्वेऽपिरश्मयो गाव उच्यन्ते॥६॥

अनुवाद–(३) आदित्य को भी 'गो' कहते हैं–'और उस (हिरण्मय चक्र को) पर्ववाले आदित्य में (इस उद्धरण में आए 'पुरुषे' शब्द का अर्थ) पर्ववाला (जोड़ वाला) है। औपमन्यव के मत में (इसका अर्थ) 'चमकीला' है (४) इसके अतिरिक्त इस (आदित्य) की एक रश्मि चन्द्रमा की ओर चमकती है। उसे इस के द्वारा समझना चाहिए, (क्योंकि) 'इस (चन्द्रमा) की चमक आदित्य के द्वारा ही होती है, यह (कहा गया है)। 'सूर्य की रश्मि सुषुम्ण है (और चन्द्रमा गन्धर्व है' यह भी वेदमन्त्र है। उसे भी 'गो' कहा जाता है। 'यहां आदित्य की (रश्मि को) माना' यह (उदाहरण है)। इसकी व्याख्या (हम) बाद में करेंगे। (५) सभी (प्रकार की) रश्मियों को 'गो' कहते हैं–॥६॥

मूल– ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ (१/१५४/६)

तानि वां वास्तूनि कामयामहे प्रभवतीति सतः। श्रृङ्ग श्रयतेर्वा, श्रृणातेर्वा, शम्नातेः वा, शरणाद्गतमिति वा। शिरसौ निर्गतमिति वा। अयासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महायतेः परमं पदं परार्ध्यस्थमव-भाति भूरि। पादःपद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशु-पादप्रकृति प्रभाग पादः। प्रभाग पाद-सामान्यात् इतराणि पदानि।

अनुवाद–'आप दोनों के उन निवासस्थानों पर (हम) जाने की कामना करते हैं, जहां बहुत (या बड़े) सींगों वाली (और) गतिशील गायें हैं। यहीं पर विशाल डगों वाले, वर्षणशील (विष्णु) का वह परम पद (सर्वोच्च स्थान) अत्यन्त सुशोभित होता है।

आप दोनों के उन निवासस्थलों पर जाने की कामना करते हैं, जहां पर बहुत (भूरि) सींगों वाली गाए हैं। 'भूरि' यह 'बहुत' का वाचक है। (क्योंकि वह) प्रकृष्ट रूप में होता है (प्रभवति) इस प्रकार कर्तुकारक से सिद्ध होता है, (इसलिए)। 'श्रृङ्ग' शब्द या तो √श्रि धातु से निष्पन्न होता है, या (हिंसार्थक) √श्रृ' धातु से, या 'शरणोद्गतम्' (इस शब्द समूह से), या 'शिरसोनिर्गतम्' (इस शब्द समूह से निष्पन्न हुआ है)। 'अयासः' का अर्थ गतिशील है। वहां विशाल या महान् गति वाले विष्णु का, परार्द्ध में स्थित वह श्रेष्ठ स्थान बहुत प्रकाशित होता है। 'पाद' शब्द √पद् धातु से (सिद्ध होता है)। उसके रखे जाने के कारण (रखे जाने वाले स्थान को) 'पद' कहते हैं (किसी वस्तु के चौथाई) भाग के लिए (प्रचलित) 'पाद' शब्द का पशुओं के चार 'पाद' हैं। (चौथे) भाग के लिए, (प्रचलित) 'पाद' की समानता के आधार पर अन्य (वस्तुओं के चतुर्थांश भी) पद (कहलाते हैं।)।

मूल–एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहाः विद्यन्ते, तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नाना कर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि।

अनुवाद–इसी प्रकार अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी सन्देह होते हैं। यदि वे समान कर्म (क्रिया) या अर्थ वाले हों तो उनके निर्वचन भी समान ही होंगे (किन्तु) यदि वे भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हुए तो उनके निर्वचन उनके अर्थ के अनुसार किये जाने चाहिएं।

मूल–इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुत्क्रान्तानि। तत्र निर्ऋतिर्–निरमणात्, ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा। सा पृथिव्या सन्दिह्यते। तयोर्विभागः। तस्याः एषा भवति।।७।।

अनुवाद–इस प्रकार पृथ्वी के पर्यायवादी ये २१ नामपद (यहां निघण्टु में) क्रमशः वर्णित किए गए हैं। उनमें से 'निर्ऋतिः' शब्द 'निर्' पूर्वक √रम् धातु से

निष्पन्न होता है, (किन्तु) कष्टप्राप्ति (या मृत्यु) रूप अर्थ वाला दूसरा 'निर्ऋति' शब्द 'निर्' उपसर्ग पूर्व √ऋच्छ् धातु से निष्पन्न होगा। इस कष्टप्राप्ति रूप 'निर्ऋति' का पृथिवी के अर्थ में सन्देह होता है। (किन्तु) उन दोनों में विभाग या भेद है। यह (अधोदत्त) मन्त्र उस (कृच्छ्रापत्ति रूप 'निर्ऋति') का (बोधक) है।।७।।

मूल– **इ ईं चकार न सो अस्य वेद, य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।**

स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश।।११.६४.३२

'बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते इति परिब्राजकाः। वर्षकर्मेति नैरुक्ताः। 'य ईं 'चकार' इति। करोति–किरतौ सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा। न सो अस्य वेद मध्यमः, स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्योपहितम्। स मातुर्योनौ–माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि, योनिरन्तरिक्षम् महानवयवः, परिवीतः वायुना। अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव परियुतो भवति। बहुप्रजाः भूमिमापद्यत वर्षकर्मणा।

अनुवाद–जिसने इसको बनाया (या बिखेरा), वह इसको नहीं जानता, किसने इसको देखा, यह उससे छिपा हुआ है। माता के गर्भ में (जरायु) से परिवेष्टित तथा अधिक सन्तानों वाला व्यक्ति कष्ट (पृथ्वी) को प्राप्त करता है।

परिव्राजकों का कहना है कि बहुत सन्तानों वाला (व्यक्ति) कष्ट को प्राप्त करता है। इसमें वृष्टि के कार्य (का वर्णन है) ऐसा निरुक्त के आचारों का मत है। जिसने इसको बनाया (या) बिखराया' इस वाक्य में ('विद्यमान चकार') की (मूलभूत) क्रियाएं √कृ तथा √क्री वर्षा के कार्य से सन्देहग्रस्त हैं। वहीं, मध्यम इसको नहीं जानता; वहीं मध्यम इसको जानता है, जिसने आदित्य से घिरे हुए (इसे) देखा था। वह माता की योनि में–'(इसमें) माता (शब्द) का अर्थ) अन्तरिक्ष है, (क्योंकि) इसमें भौतिक वस्तुएं बनाई जाती हैं। 'योनि' (का भी अर्थ) अन्तरिक्ष है (क्योंकि) यह महान् अवयव वायु से परिवेष्टित है। यह दूसरा योनि (शब्द) भी धातु से (निष्पन्न होता) है। (क्योंकि वह जरायु से) घिरा हुआ होता है। बहुत सन्तानों को उत्पन्न करने वाला यह वर्षा के कार्य के द्वारा पृथ्वी पर प्रवेश करता है।

मूल–शाकपूणिः सङ्कल्पायञ्चक्रे–'सर्वा देवता जानामि' इति।

तस्मै देवतोभयलिङ्गरूपा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ–'विविदिषाणि त्वा' इति। साऽस्मा एतामृचमादिदेश–'एषा मद्देवता' इति।।८।।

अनुवाद–शाकपूणि (नामक आचार्य) ने विचार किया–'(मैं) सभी

देवताओं को जानता हूं'। (उसी समय) उसके लिए लिङ्गों वाली देवता प्रकट हो गया। (वह) उसे नहीं जान पाया। (इसलिए) उससे पूछा–'(मैं) तुम्हें जानना चाहता हूं'। उस (उभयलिङ्गी देवता) ने उसके लिए इस (वक्ष्यमाण) ऋचा को कहा–'इस ऋचा का देवता मैं ही हूं'।

मूल–अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि-श्रिता। सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत। (ऋ० १/१६४/२९)

अयं स शब्दायते, येन गौरभिवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं करोति। मायुमिव आदित्यामिति वा, वागेषा माध्यमिका। ध्वंसने मेघेऽधिश्रिता।

सा चित्तभिर्निकरोति मर्त्यम्। विद्यूद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम। वव्रिरिति रूपनाम। वृणोतीति सतः। वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते॥९॥

अनुवाद–ध्वंसनशील (मेघ) पर आश्रित (वाणी) जिससे आच्छादित होकर शब्द करती है, वह यह बोल रहा है। उसने (अपने वर्षण रूप) कार्यों से मरण-धर्मा (मनुष्य) को नीचे कर दिया है तथा विद्युत का रूप धारण करते हुए (उसने अपने) आकार को छिपा लिया है।

यह वह शब्द कर रहा है। जिससे आच्छादित वाणी मायु अर्थात् शब्द करती है। अथवा 'मायु' का अर्थ सूर्य है। (और) यह वाणी माध्यमिक (मध्यम लोक अन्तरिक्ष में स्थित मेघों की गर्जन रूपा) है। ध्वंसन अर्थात् ध्वंसनशील मेघ पर आश्रित वह (वाणी) (अपने) कार्यों से मरणधर्मा (मनुष्य) को नीचे कर देती है (भयभीत कर देती है)। बिजली बनती हुई (वह) अपने रूप को छिपा लेती है। 'वव्रि' यह रूप का नाम है, (क्योंकि वह) 'आच्छादित करता है, इसलिए वर्षा के द्वारा पृथिवी को आच्छादित करने के पश्चात् उसे पुनः ले लेती है।

अथ तृतीयः पादः

आगे की पंक्तियों में 'हिरण्य' के निघण्टुक पर्यायों की संख्या का उल्लेख करने के साथ ही उसका निर्वचन किया गया है:

मूल–हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। हिरण्यं कस्मात्? ह्रियते आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमण भवति इति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः।

अनुवाद–बाद के पन्द्रह नाम 'हिरण्य' के नाम है। ('हिरण्य' को)

'हिरण्य' क्यों (कहा जाता है)? वह खींचा जाता हुआ चुराया जाता है, इसलिए, अथवा (एक) व्यक्ति के पास से (दूसरे) व्यक्ति के पास (धन के रूप में) ले जाया जाता है, इसलिए, अथवा 'वह' हित करने के साथ-साथ रमणीय भी होता है, इसलिए अथवा इच्छार्थक+हर्य् धातु से निष्पन्न होने के कारण 'हिरण्य' कहलाता है)।

मूल—अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश। अन्तरिक्षं कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरेमे इती वा, शरीरेष्वन्तरक्षयम् इति वा।

अनुवाद—बाद के सोलह नाम अन्तरिक्ष के पर्यायवाची है (द्युलोक और भूलोक के मध्यवर्ती प्रदेश को) 'अन्तरिक्ष' क्यों कहते हैं! (क्योंकि यह द्यावा पृथिवी के) मध्य में पृथिवी तक स्थित होता है अथवा (यह) इन दोनों (दृश्यमान द्यावापृथिवी) के मध्य में निवास करता है, अथवा शरीरों के अन्दर अक्षय या अविनाशी (रूप में स्थित है)।

मूल—समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः 'समभिद्रन्त्येनमापः' सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा। तयोर्विभागः। तत्रेतिहास माचक्षते। देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनौ राज्यै द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणाः—'अधमस्त्वयाऽऽचरितः—ज्येष्ठ भ्रातरमन्तरित्यभिषेचितम्। तस्मात्ते देवो न वर्षतेति। शन्तनुर्देवापिः शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः—पुरोहितस्तेऽसानि, याजयानि य त्वेति। तस्यैतद् वर्षकामसूक्तम्। तस्येषा भवति॥१॥

अनुवाद—उन (अन्तरिक्ष के षोडष पर्यायों में) 'समुद्र' यह (पर्यायवाची शब्द) पृथिवी पर वर्तमान के साथ सन्दिग्ध है। (अन्तरिक्ष और पृथिवीस्थ समुद्र को), 'समुद्र' क्यों कहा जाता है? (क्योंकि) जल इससे ऊपर की ओर उछलते हैं, जल इसकी ओर दौड़ते हैं, इसमें प्राणी अच्छी प्रकार से प्रसन्न रहते हैं, (वह) अच्छे जल वाला है, अथवा अच्छी तरह से भिगो देता है, इसलिए (उसे 'समुद्र' कहा जाता है)। उन दोनों (समुद्रों) में विभाग का अन्तर है। इस सम्बन्ध में (प्राचीन आचार्य एक) इतिहास बतलाते हैं—ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि और शन्तनु (ये दोनों) कुरुवंशीय भाई थे। (उन दोनों में) छोटे शन्तनु ने (अपना)राज्याभिषेक करा लिया। देवापि ने तपस्या स्वीकार कर ली। उसके बाद शन्तनु के राज्य में देव ने बाहर वर्ष तक वर्षा नहीं की। ब्राह्मणों ने उससे कहा तुमने पाप किया है (क्योंकि अपने) बड़े भाई का अतिक्रमण कर (तुमने अपना—अभिषेक करा लिया है, इसलिए देव तुम्हारे लिए वर्षा नहीं कर

रहा है।

उस शन्तनु ने देदापि को राज्य देने की कामना की देवापि उससे बोला–मैं तुम्हारा पुरोहित हो जाऊँ (तथा) तुमसे यज्ञ करवाऊँ। यह उसका वर्षा की कामना से युक्त सूक्त है, यह (ऋचा) उसी (सूक्त) की है–।।१०।।

मूल– आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमति चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद वर्ष्या अभि।।

आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्येति वा। सेना सेश्वरा, समानगतिर्वा। पुत्रः पुरु त्रायते। निपणाद् वा। पुन्नरकम् ततत्रायते इति वा। होत्रमृषिर्निषीदन्। ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः। 'तद्येनास्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभुभ्यावर्षत्। तदृषीणामृषित्वम्' इति विज्ञायते देवापिर्देवानामाप्त्या स्त्युत्वा च प्रादानेन च देवसुमति देवानां कल्याण मति। चिकित्वान् चेतावान्। स उत्तर स्मादधरां समुद्रम्। उत्तरः उद्धततरो भवति अधरोऽधोरः। अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।।१।।

अनुवाद–अग्निहोत्र (यज्ञ) के निमित्त बैठे हुये, ऋष्टिषेण के पुत्र ऋषि देवापि ने देवाताओं की सुबुद्धि की कामना की। उसने द्युलोक के वर्षाजन्य जल को, ऊपर के समुद्र के नीचे की ओर बहाया।

आर्ष्टिषेण (का तात्पर्य है) ऋष्टिषेण का पुत्र अथवा इषितसेन का (पुत्र)। 'सेना' (का अर्थ है) स्वामी-सहित अथवा एक सी-बात गति वाली। 'पुत्र' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह बहुत रक्षा करता है या पिण्ड दान करने के कारण या पुत (नाम का जो) नरक है उससे रक्षा करता है। (अग्नि) होत्र के लिए बैठा हुआ ऋषि। 'ऋषि' (मन्त्रों का) दर्शन करने के कारण (कहलाता है)। औपमन्यव का कहना है कि उसने 'सूक्तों' का दर्शन किया। (ब्राह्मणों से) ऐसा जाना जाता है कि 'तपस्या करने उन (ऋषियों) के सम्मुख स्वम्भु ब्रह्म (स्वयं) प्रकट हुआ, यह ऋषियों का ऋषित्वं है। 'देवापि' (शब्द) स्तुति अथवा (हवि के प्रदान के द्वारा देवताओं की आप्ति से (निष्पन्न है)। 'देव सुमति' (का अर्थ) है देवताओं की कल्याणकारिणी बुद्धि। 'चिकित्त्वान् (का अर्थ) चेतनावान् है। उसने ऊपर के (समुद्र की) ओर से नीचे के समुद्र की ओर। 'उत्तर' का (अर्थ है) दूसरों की तुलना में अधिक उठा हुआ। 'अधर्' (का अर्थ है) नीचे की ओर जाना। 'अधर्' (का अर्थ है) 'दौड़ता नहीं है' इस प्रकार इससे ऊपर की ओर जाने का निषेध होता है। बाद की (आगे दी जाने वाली) ऋचा इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने वाली है।।११।।

मूल– यद्देवापिः शन्तनेव पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं बृष्टिवनि रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्।।

शन्तनुः। शन्तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा। अस्त्विति वा। पुरोहितः पुरः एनं दधति। होत्राय वृतः। कृपायमाणोऽन्वध्यायत्। देवश्रुतं देवा एनं श्रृण्वन्ति। वृष्टिवनिम्-वृष्टियाचिनम्। रराणोरातिरभ्यस्तः। बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्। सोऽस्मै वाचमयच्छत्। बृहदुप व्याख्यातम्।।१२।।

अनुवाद–जब (अग्नि) होत्र के निमित्त वरण किए गए पुरोहित देवापि ने, कृपा करते हुए, शन्तनु के लिए ध्यान किया, तब उदार (दाता) बृहस्पति ने, देवताओं के द्वारा सुनी हुई (तथा) वर्षा की याचिका (वर्षा कराने में समर्थ) वाणी इसे प्रदान की।

'शन्तनु' (शब्द का अर्थ है) 'हे शरीर, तेरा कल्याण हो' या अथवा 'शरीर के द्वारा इसका कल्याण हो' यह। 'पुरोहित' (पुरोहित इसलिए कहलाता है, क्योंकि लोग) इसे आगे रखते हैं। होत्र के निमित्त वरण किये गये (देवापि ने) कृपा करते हुए ध्यान किया। 'देवश्रुतम्' (का अर्थ है) 'देवता इसे सुनते हैं। 'वृष्टिवनिम्' का अर्थ वर्षा की याचिका (वाणी)। 'रराण' (इस शब्द में) √रा धातु अभ्यस्त है (अर्थात् यह 'रा' धातु इसमें दुहरी हो गई है। बृहस्पति (उस अग्निहोत्र में) ब्रह्मा था। उसने इसको वाणी प्रदान की। 'बृहद्' की व्याख्या की जा चुकी है।।१२।।

अथ चतुर्थः पादः

अगली पंक्तियों में आदित्य और आकाश के सामान्य छह नामों का संकेत करने के उपरान्त 'आदित्य' की व्याख्या की गई है :

मूल–साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च। यानि त्वस्य प्राधान्येन, उपरिष्टात् तानि व्याख्यास्यामः। आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम् आदीप्तो भासेति वा, अदिते पुत्रः इति वा। अल्पप्रयोगं त्वस्यैतद् आर्याभ्याम्नाये सूक्तवाग्-सूर्यमादितेयम्। एवमन्यासामपि देवानामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद् यथैतद्-'मित्रस्य, वरुणस्यार्यम्णो, दक्षस्य, भगस्यांशस्येति। अथापि मित्रावरूणयोः–'आदित्या दानस्पती' (ऋ० १/१३६/३) दानपती। अथापि मित्रस्यैकस्य–'प्र स' मित्र मर्त्यो अस्तु पयस्वान्, यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन' (ऋ० ३/५९/२) इत्यपि निगमो भवति। अथापि वरुणस्यैकस्य–'अथा वयमादित्य व्रते तव' (ऋ० १/२४/१५)। व्रतमिति कर्मनाम् वृणोतीति सतः। निवृत्तिकर्म

वारयति इति सतः। इदमपि इतरतु व्रतमेतस्मादेव अन्नमपि व्रतमुच्यते, यदावृणोति शरीरम्॥१३॥

अनुवाद–बाद के छह नाम आकाश और आदित्य के सामान्य नाम हैं। जो नाम इस (आदित्य) के प्रधानता से हैं। (अर्थात् जो मुख्य रूप से केवल 'आदित्य' अर्थ को ही व्यक्त करते हैं) उनकी व्याख्या हम बाद में अर्थात् (२/१२/१८) में करेंगे। आदित्य (आदित्य) क्यों कहलाता है? (क्योंकि वह) रसों का आदान करता है ज्योतियों (तारों) की चमक का आदान करता है, अथवा (अपनी) कान्ति से आदीप्त होता है अथवा अदिति का पुत्र है इसलिए (समस्त) ऋग्वेद में, इस (आदित्य का नाम (अदितिपुत्र अर्थ वाले) यह सूक्तऋक् के रूप में, बहुत कम प्रयुक्त हुआ है। (जैसे)–'सूर्य अदिति का पुत्र' (१/८८/११) इसमें। इसी प्रकार अन्य देवताओं की भी आदित्य के नाम वाली स्तुतियां होती हैं। जैसे मित्र, वरूण, अर्यमन्, दक्ष, भग और अंश की। (उदाहरण के लिये) मित्र और वरूण (दोनों) की–अदिति के पुत्र-दानु के स्वामी अर्थात् दान के पति। इसके अतिरिक्त अकेले मित्र के विषय में–हे मित्र, वह मनुष्य अन्न से सम्पन्न हो, जो व्रत के द्वारा तुम्हें युक्त करता है, यह भी वैदिक मन्त्र है। इसके अतिरिक्त अकेले वरूण के विषय में भी–अरे अदितिपुत्र (वरूण), हम तुम्हारे व्रत (शासन) में है'। 'व्रत' कर्म का नाम है, क्योंकि वह आवृत करता है। यह दूसरा 'व्रत' 'निवृत्ति' अर्थ वाला (शब्द) भी इसी से निष्पन्न होता है, (क्योंकि वह) निवारण करता है, इसलिए। अन्न को भी 'व्रत' कहा जाता है, क्योंकि वह शरीर को आवृत करता है।॥१३॥

मूल–(१) स्वरादित्यो भवति–सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषाम्, स्वृतो भासेति वा। एतेन द्योर्व्याख्याता। (२) पृश्निरादित्यो भवति–प्राश्नुत एनं वर्णः' इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भास ज्योतिषाम्, संस्पृष्टो भासेति वा। अथ द्यौः। संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। (३) नाकः आदित्यो भवति नेता भासाम्-ज्योतिषां प्रणयः। अथ द्यौः–कमिति सुखनाम्, तत्प्रतिषिद्ध प्रतिषिध्येत-'न वा अमुं लोकजग्मुषु किञ्चनाकम्' (काठक सं० २१/२)-न वा अमुं लोक जग्मुषे किंचनाकम्। न वा अमुं लोक जग्मुषे किञ्चनासुखम्, पुण्यकृतो ह्येवतत्र गच्छन्ति। (४) गौरादित्यो भवति–गमयति–रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौः–यत्पृथिव्या अधिदूरंगता भवति, यच्चास्यां ज्योतीषि गच्छन्ति। (५) विष्टपादित्यौ भवति–आविष्टो रसान् आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासेति गा। अथ द्यौः–आविष्टा ज्योतिभिः पुण्यकृद्भिश्च। (६) नभः आदित्यो भवति–नेता भासाम्,

ज्योतिषाम् प्रणयः अपि वा मनः एव स्याद् विपरीतः, न 'न भातीति' का वा। एतेन द्यौर्व्याखाता॥१४॥

अनुवाद–(१) 'स्वर' (का अर्थ) आदित्य है (क्योंकि वह) अच्छी तरह चलने वाला है, (अन्धकार को) अच्छी तरह तितर-बितर करने वाला या प्रेरक है, रसों में अच्छी तरह व्याप्त है, नक्षत्रों की कान्ति में व्याप्त है, (अपनी) कान्ति से व्याप्त है। इससे आकाश (अर्थ वाले स्वर) की व्याख्या हो गई। (२) 'पृश्नि' (का अर्थ) आदित्य होता है (क्योंकि) 'वर्ण उसको व्याप्त करता है' ऐसा नैरुक्तों का कहना है। (यह) रसों का अच्छी प्रकार से स्पर्श करने वाला है, नक्षत्रों की कान्ति का अच्छी प्रकार से स्पर्श करने वाला है, (अपनी) कान्ति से, अच्छी प्रकार स्पृष्ट है। अब आकाश (अर्थ वाले पृश्नि को लेते हैं)–(वह) नक्षत्रों और पुण्यकर्त्ताओं के द्वारा अच्छी प्रकार से स्पृष्ट (युक्त), है। (३) 'नाक' (का अर्थ) आदित्य है–(क्योंकि वह) आभाओं का नेता, ज्योतिष्पिण्डों का प्रणेता है। अब आकाश (अर्थ वाले 'नाक' को लेते हैं)। 'क' सुख का पर्याय है, उससे रहित (अक) का (उसमें) प्रतिषेध होता है (इसलिए वह न+अक=नाक कहलाता है)। 'उस लोक में जा चुके हुए मनुष्य के लिए वहां कोई असुख (दुःख) नहीं है। उस व्यक्ति के लिए कोई असुख नहीं है, जो उस लोक में जा चुका है, क्योंकि पुण्यकर्त्ता ही वहां जाते हैं। (४) 'गो' (का अर्थ) आदित्य होता–(क्योंकि वह) रसों को पहुंचाता है, अंतरिक्ष में गमन करता है। अब आकाश अर्थ वाले 'गो' को लेते हैं, (आकाश 'गो' इसलिए कहलाता है, क्योंकि वह) पृथिवी से अधिक दूरी पर गया हुआ है, क्योंकि उस पर नक्षत्र चलते हैं। (५) 'विष्टप्' (का अर्थ) आदित्य होता है–(क्योंकि वह) रसों में पूर्णतया प्रविष्ट है, ज्योतिष्पिण्डों की कान्ति में व्याप्त है, अथवा (अपनी) कान्ति से आविष्ट (व्याप्त) है। अब आकाश (अर्थ वाले) 'विष्टप्' को लेते हैं, वह 'विष्टप्' इसलिए कहलाता है, (क्योंकि वह) ज्योतिष्पिण्डों और पुण्यकर्त्ताओं के द्वारा आविष्ट (व्याप्त) है। (६) 'नभस्' आदित्य को कहते हैं–(क्योंकि वह) कान्तियों का नेता है, ज्योतिष्पिण्डों का संचालक है, अथवा 'भनस्' शब्द उल्टा हो गया होगा, अथवा यह नहीं चमकता (ऐसा) नहीं, इस कारण। इससे आकाश (अर्थ वाले 'नभस्' शब्द) की व्याख्या हो गई॥१४॥

अथ पञ्चमः पादः

अगली पंक्तियों में 'रश्मि' वाचक शब्दों की संख्या की सूचना देकर उसका निर्वचन किया गया है :

मूल–रश्मिनामान्युत्तराणि पंचदश। रश्मिर्यमनात्। तेषामादितः साधारणनि पंचाश्वरश्मिभिः।

अनुवाद–बाद के पन्द्रह नाम 'रश्मि' (किरण) के वाचक हैं। 'रश्मि' शब्द यमन अर्थात् बन्धन के कारण निष्पन्न होता है। उनमें से आदि के पांच नाम घोड़े की रस्सी (लगाम) के साथ सामान्य है।

मूल–दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ। दिशः कस्मात्? दिशतेः, आसदनात्, अपि वाऽभ्यशनात्। तत्र 'काष्ठा' इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्यः नाम भवति–(१) 'काष्ठाः' दिशो भवन्ति–क्रात्वा स्थिता भवन्ति, (२) काष्ठा उपदिशो भवन्तीतरेतरं क्रान्तवा स्थिता भवन्ति, (३) आदित्योऽपि काष्ठोच्यते–क्रान्त्वा स्थितो भवति, (४) आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यतेऽ-क्रान्त्वा स्थितो भवति। आपोऽपि काष्ठाः उच्यन्तेऽक्रान्त्वाः स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम्॥१५॥

अनुवाद–बाद के आठ नाम दिशा के नाम है। (दिशा को) दिशा क्यों कहते हैं? √दिश् (धातु) से, समीप में विद्यमान होने से व्यापक होने से। उन (आठ नामों) में से 'काष्ठा' यह शब्द अनेक पदार्थों का वाचक है। 'काष्ठा' दिशाओं को कहते हैं (क्योंकि वे) (प्रत्येक पदार्थ के) पास पहुंचकर स्थित हैं। 'काष्ठा' उपदिशाओं को कहते हैं, (क्योंकि वे) एक दूसरे को अतिक्रमण करके स्थित हैं। आदित्य को भी 'काष्ठा' कहते हैं। (क्योंकि वह) चलकर (या सबको नीचे रखकर) स्थित है। युद्ध का मैदान भी 'काष्ठा' कहलाता है, (क्योंकि वह) फैलकर स्थित होता है। जल भी 'काष्ठा' कहलाता है, (क्योंकि वह) चलकर स्थित होता है, यह (निर्वचन) स्थिर (जल) की है।।१५।।

मूल– अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

अतिष्ठन्तीनामनिविशनानाम्–इत्यस्थावराणां काष्ठानां। मध्ये निहितं शरीरं–मेघः शरीर्म। शरीरं, श्रृणातेः, शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं–निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमस्तनोतेः। आशयदाशेतेः। इन्द्रशत्रुरिन्द्राऽस्य शमयिता वा, शातयिता वा। तस्मादिन्द्रशत्रुः।

अनुवाद–न ठहरने वालों (और) न विश्राम करने वालों (जलों के) मध्य में शरीर (मेघ) रखा हुआ था। जल वृत्र के निम्न-प्रदेश की ओर विचरण करते हैं; इन्द्र रूप शत्रु वाले (उस) ने गहन-गम्भीर अन्धकार को व्याप्त किया हुआ था।

'न ठहरने वालों, न विश्राम करने वालों' से (स्पष्ट है कि) शरीर अर्थात् मेघ अस्थावर किंवा सचल जलों में रखा हुआ था। 'शरीर' शब्द '√श्रृ' धातु या √शम्

धातु से निष्पन्न होता है। जल वृत्र के निण्य अर्थात् निम्न प्रदेश की ओर प्रस्थान करते अर्थात् उसे जानते हैं। 'दीर्घ' शब्द √द्राघ् धातु से निष्पन्न होता है 'तमस्' शब्द √तनु धातु से निष्पन्न होता है। 'आशयत्' शब्द 'आ' उपसर्ग पूर्वक √शी (शीङ् स्वप्ने) धातु से निष्पन्न होता है। 'इन्द्र शत्रु' (का अर्थ है) इन्द्र उसको शान्त करने वाला, नष्ट करने वाला है-इसीलिए (उसे) 'इन्द्र शत्रु' (कहा जाता है)।'

मूल–तत्को वृत्रः? 'मेघ' इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपाञ्च ज्योतिषश्च मिरीभावकर्मणो वर्षणकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णाः ब्राह्मण वादाश्च। विवृद्धया शरीरस्य स्त्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः। तदविभादिन्येषर्ग्भवति–।१६।।

अनुवाद–तो वृत्र कौन है? मेघ (ही वृक्ष है) यह नैरुक्त कहते हैं, स्वष्टा का पुत्र असुरजातीय (कोई ऐतिहासिक पुरुष वृक्ष है। ऐसा ऐतिहासिक लोग मानते हैं। जल और ज्योति के मिश्रण से वर्षा का कार्य होता है। उसमें युद्ध के वर्णन उपमा (समानता प्रदर्शित करने) के निमित्त होते हैं। मन्त्रों के वर्णन और ब्राह्मणों के कथन (उसे) सर्प के समान (सिद्ध करते हैं)। (उसने अपने) शरीर की वृद्धि से जलधाराओं को अवरुद्ध कर दिया। (इंद्र के द्वारा उसका) वध कर देने पर, जल बहने लगे। यह (वक्ष्यमाण) ऋचा इसी (तथ्य) को व्यक्त करने वाली है–।।१६।।

मूल– दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठान्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वां, अप तद्ववार।।

दासपत्नीः दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेः–उपदासयति कर्माणि। अहिगोपा अतिष्ठन्–अहिना गुप्ताः। अहिरयनात्–एत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहर–एतस्मादेव, निर्ह्रसितोपसर्गः आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग् भवति। पणिः पणनात्। वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां विलंमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति–बिभर्तेः। वृत्रं जघन्वान्। अपववार तत्। वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा–'यद्वृणोत् तद् वृत्रत्वम्, इति विज्ञायते। यदवर्त्तते तद् वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते। यदवर्धत तद् वृत्रत्वम्, इति विज्ञायते।।१७।।

अनुवाद–दास रूपी पति वाली तथा सर्प (वृत्र) रूपी रक्षक वाले अवरुद्ध जल, पाणि के द्वारा घिरी हुई गायों के समान स्थिर थे। जल का जो बिल ढका हुआ था, इन्द्र ने वृत्त को मारा (और) उसे खोल दिया।

'दासपत्नी:' का तात्पर्य है दास (वृत्र) रूपी अधिपति (स्वामी) वाले। 'दास' (शब्द) √दस् (धातु से निष्पन्न) होता है-(वह) कर्मों को नष्ट करता है। 'अहिगोप' (का अर्थ है) अहि (सर्प) के द्वारा सुरक्षित है। अहि गमन करने के कारण (अहि कहलाता है, क्योंकि वह) अन्तरिक्ष में गमन करता है। यह दूसरा (लौकिक) अहि-सर्प भी (चलने के) कारण ही अहि कहलाता है। अथवा ह्रस्व लिए गए 'आ' उपसर्ग (पूर्वक) √हन् धातु से निष्पन्न है, इसलिए (अहि कहलाता है), पणि के द्वारा रोकी गई गायों के समान जल रूके हुए थे। 'पणि' (का अर्थ) व्यापारी होता है। 'पणि' पणन अर्थात् व्यवहार करने के कारण (पणि कहलाता है)। (वह) वणिक् (इसलिए कहलाता है, क्योंकि वह) विक्रय वस्तु, को (बेचे जाने के लिए) स्वच्छ रखता है। जल का जो बिल (छेद) बन्द था। 'बिल' (का मूल रूप) भर है जो √भृ (भरण) धातु से निष्पन्न है। वृत्र को मारा। उसको खोल दिया। 'वृत्र' शब्द या तो √वृ (ढंकना अर्थ) धातु से निष्पन्न है जो उसने ढका, वह वृत्र का वृत्रत्व है, ऐसा माना जाता है 'जो' वह (वृत्र) विद्यमान रहा। वह वृत्र का वृत्रत्व है' ऐसा जाना जाता है 'जो' वह (वृत्र) बढ़ा, वह वृत्र का वृत्रत्व है, ऐसा जाना जाता है।।१७।।

अथ षष्ठः पादः

मूल—रात्रिनायान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः। रात्रिः कस्मात्? प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीणि, उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति, रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः। प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः।

अनुवाद—अगले नाम तेईस रात्रि के पर्यायवाची है। (रात को) रात्रि क्यों कहते हैं? (क्योंकि वह) निशाचर प्राणियों को आनन्दित करती है, (उन से) भिन्न प्राणियों को उपरत अर्थात् स्थिर बनाती है? अथवा दानार्थक √रा धातु से वह निष्पन्न है (क्योंकि) उसमें अवश्याम (ओसकण) दिए जाते हैं।

मूल—ऊषोनामान्मुत्तराणि षोडश। उषाः कस्मात्? उच्छातीति सत्याः। रात्रेंरपकालः। तस्या एषा भवति।।१८।।

अनुवाद—बाद के सोलह नाम 'उषस्' के नाम हैं। (उसे) 'उषष्' क्यों कहते हैं? (क्योंकि वह अन्धकार को हटाती है, इसलिए वह 'उषस्' है)। ('उषस्' का अर्थ) रात्रि का अन्तिम· काल है। उस (उषस् से सम्बन्ध रखने वाली) यह (ऋचा) है-।।१८।।

मूल— इदं ज्योतिषां ज्योतिरागाच् चित्रः, प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारंक्।।

इदं श्रेष्ठ ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रं, प्रकेर्तनं, प्रज्ञाततम्। अजनिष्ट। विभूततमम्। यथा प्रसूता सवितुः। प्रसवाय रात्रिरादित्यस्यैवं रात्र्युषसे योनिमरिचत् स्थानम्। स्त्रीयोनिरभियुतः एनां गर्भः। तस्या एषाऽपरा भवति॥१९॥

अनुवादः–यह ज्योतियों से (भी) (उषस्) आ गई है। (यह एक) अद्‌भूत, अत्यन्त प्रख्यात और व्याकतम् (प्रकाश) उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार उत्पन्न हुई यह (रात्रि) सविता के जन्म के लिए (स्थान को रिक्त करती है;) उसी प्रकार (इस) रात्रि ने उषस् के (जन्म के लिए) स्थान को रिक्त कर दिया है।

यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति (उषस्) आ गई है। (यह) अदभूत सुप्रसिद्ध और अत्यन्त व्यापक (प्रकाश) उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार उत्पन्न हुई रात्रि सविता अर्थात् आदित्य के प्रसव के लिए (स्थान को रिक्त करती है) उसी प्रकार रात्रि के उषस के (जन्म के) लिए योनि अर्थात् स्थान को रिक्त कर दिया है। स्त्री का गर्भ (योनि भी) योनि इसलिए कहलाता है क्योंकि भ्रूण इससे संयुक्त होता है। उस (उषस्) की यह दूसरी (ऋचा) है–॥१९॥

मूल– रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्याऽऽगाद आरैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥

रुशद्वत्सा-सूर्यवत्सा। रुशत् इति वर्णनाम, रोचतेः ज्वलति कर्मणः सूर्यमस्याः वत्समाह.......साहचर्यात्, रसहरणाद् वा। रुशती श्वेत्याऽऽगात्। श्वेत्या श्वेततेः। अरिचत् कृष्ण सदनान्स्या–समानबन्धू=समानबन्धने। अमृते=अमरणधर्माणौ। अनूची अनूच्यौ इतरेतरमभिप्रेत्य। द्यावा वर्ण चरितः। त एव द्यावौ। द्योतनात्। अपि वा द्या वा चरतस्तया सह चरत इति स्यात्। आमिनाने= अन्योन्यस्याध्यात्मा कुर्वाणे।

अनुवाद–देदीप्यमान (सूर्य रूप) बछड़े वाली, श्वेत रंग की दीप्तिमती 'उषस्' आ गई है। काले रंग की रात्रि ने इसके लिए स्थान को रिक्त कर दिया है। समान बन्धनों वाली, अमरणधर्मी, एक-दूसरे का अनुसरण करने वाली (तथा) दीप्तिमती (ये दोनों एक-दूसरे के रंग को) नष्ट करती हुई विचरण करती है।

दीप्तिमान् बछड़े वाली (का अर्थ है) सूर्यरूप बछड़े वाली। सूर्य को इस (उषस्) का बछड़ा कहा है–साहचर्य के कारण या रस का हरण करने के कारण। दीप्तिमती, श्वेत रंग की (उषस्) आ गई है। श्वेत्या शब्द √श्वेत् धातु से (निष्पन्न

है)। कृष्णा अर्थात् काले वर्ण वाली रात्रि ने इसके लिए स्थानों को रिक्त कर दिया है। 'कृष्ण' शब्द √कृष् धातु से निष्पन्न होता है, (और उसका अर्थ है) निष्कृष्ट वर्ण। अब इनकी साथ-साथ स्तुति करता है-समान 'बन्धू' (का अर्थ है) समान बन्धन वाली। अमृते (का अर्थ है) अमरणधर्मा। 'अनूची' (का अर्थ है अनुसरण करने वाली और) यह एक-दूसरे के अभिप्राय से (कहा गया है)। द्युतिमती (वे दोनों) वर्ण को चलाती है। वे दोनों (रात्रि और उषस्) ही 'द्यौ' है (क्योंकि वे) द्योतित होती हैं। अथवा द्युलोक के साथ चलती हैं- आभिनाने का अर्थ ही-आपस में अन्तरात्मा को मिलाती हुई।

मूल-अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश। अहः कस्मात्? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति वैश्वानरीयायामृचि॥२०॥

अनुवाद-बाद के बारह नाम 'अहर्' (दिन) के हैं। (दिन को) 'अहर्' क्यों कहते हैं। (लोग) इसमें काम करते हैं (इसलिए इसको 'अहर्' कहा जाता है। वैश्वानर की (इस) ऋचा में इसका यह गौण प्रयोग है॥२०॥

मूल- अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्चः विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमासि॥

अहश्च कृष्ण=रात्रिः शुक्लञ्चाहरर्जुनम्। विवर्तेते। रजसी, वेद्याभिः=वेदितव्याभिः प्रवृर्तिभिः। वैश्वानरा जायमान इव उद्यन्नादित्यः। सर्वेषां ज्योतिषां राजा अवाहन्नग्निर्ज्योतिषा तमांसि।

अनुवाद-काला अहर् (रात्रि) और श्वेत अहर् (दिन) में दोनों रंगीन हैं, और अपने जानने योग्य (क्रियाओं) के साथ आते-जाते हैं। वैश्वानर अग्नि ने उत्पन्न होते ही एक राजा के समान, (अपनी) ज्योति से अन्धकार को नष्ट कर दिया है।

काला 'अहर्' (का अर्थ है) रात्रि (और) शुक्ल 'अहर्' (का अर्थ है दिन (ये दिन) रंगी या रञ्जक हैं (तथा अपनी) वेद्य अर्थात् ज्ञातव्य प्रवृत्तियों के साथ (सदैव) आते-जाते रहते हैं। वैश्वानर अग्नि ने उत्पन्न होते ही उदित होते हुये सूर्य के समान जो कि सभी ज्योतियों का राजा हैं, अन्धकार को नष्ट कर दिया है।

मूल-मेघनामान्युत्तराणि त्रिंशत्। मेघः कस्मात्? मेहतीति सतः। आ उपर, उपल इत्येताभ्यां साधारणनि पर्वतनामभिः। उपरः उपलः मेघो भवति-उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि, उपरता आप इति वा। तेषामषा भवति॥२१॥

अनुवाद-बाद के तीस नाम मेघ के हैं। (इसे) मेघ क्यों कहते हैं? क्योंकि यह जल से सेचन करता है, इसलिए (यह मेघ कहलाता है)। (इन नामों से) उपर,

उपल इन दोनों तक के समस्त नाम पर्वत नामों के साथ सामान्य हैं। उपर, उपल मेघ होते हैं (क्योंकि) इसमें भ्रम (बादल का हलका रूप) आकर ठहरते हैं, अथवा 'जल टिकते हैं, इसलिए। यह (वक्ष्यमाण) ऋचा उनकी (उपर) होती है।।२१।।

मूल– दवानां माने प्रथम अतिष्ठन् कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।

त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूषा द्वा बृबूक वृहतः पुरीषम्।।

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्-माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनामं, प्रतमो भवति। विकर्तनेन मेघानामुदकः जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः–पर्जन्यो, वायुरादित्यः शीतोष्णवर्षैः ओषधीः पाचयन्ति। अनूपाः अनुवपन्ति लोकान्स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेव, अनूप्यते उदकेन, अपिवाऽन्वायिति स्याद्। यथा प्रागिति। तस्यानूपः इति स्यात यथा प्राचीनमिति। द्वा बृबकं वहतः पुरीष। वाय्वादित्यो उदकम्। बृबक्मित्युकनाब्रतीतेः वा शब्द कर्मणः भ्रंशतेर्वा। पुरीषं पृणातेः, पूरयतेर्वा।।२।।

अनुवाद–देवताओं के घर (वे) प्रथम रहे। इनमें से 'उपर' (नामक बादल या जल) 'कृन्तत्र' (नामक स्थान) से ऊपर की ओर उठे। अनुग्रह करने वाले तीन (तत्त्व) पृथिवी को तपाते हैं (और)दो (तत्त्व) प्रसन्न करने वाले या भरने वाले जल का वहन करते हैं।

देवताओं के निर्माण में मध्यम स्थानीय देवगण प्रमुख थे। 'प्रथम' यह मुख्य का पर्याय है (और इसका मूलरूप) 'प्रथम' होता है। 'कृतन्त्र' (का अर्थ है) अन्तरिक्ष (का यह स्थान जहां) मेघों का विकर्तन होता है। मेघों के विकर्त्तन से जल उत्पन्न होता है। तीन अनुग्रह करने वाले पृथिवी को तपाते हैं अर्थात् पर्जन्य, वायु और आदित्य–ये तीनों–शीत, उष्णता और वर्षा से (पृथिवी पर उत्पन्न वाली) औषधियों को पकाते हैं। (उक्त तीनों) 'अनूप' (इसलिए हैं, क्योंकि वे) अपने-अपने कर्मों के द्वारा लोगों पर अनुग्रह करते हैं। यह दूसरा (लौकिक) अनूप (जलसम्पन्न प्रदेश) भी इसी कारण (अनूप कहलाता है, क्योंकि वह) जल के द्वारा अनुगृहीत किया जाता है अथवा 'प्राक्' के समान 'अन्वाप' रहा होगा। (और उससे) अनूप (उसी प्रकार) हो गया, जैसे ('प्राक् से) प्राचीन। (दो तत्व) अर्थात् वायु और आदित्य पालन करने वाले या भरने वाले बृबूक अर्थात् जल का वहन करते हैं। 'बृबूक' यह जल का प्रर्यायवाची है (तथा) शब्द करना अर्थ वाली √ब्रू धातु से (निष्पन्न) है। 'पुरिष' शब्द √प्री (प्रसन्न करना) अथवा √पूरि (पूर्ण करना) से (निष्पन्न) है।

अथ सप्तमः पादः

मूल–वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक् कस्मात्? वचेः तत्र 'सरस्वती' इत्येतस्य नदीवद्, देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद् यद्देवतावद् उपरिष्टात तद् व्याख्यास्यामः। अथेतन्नदीवत्–॥२२॥

अनुवाद–बाद के सत्तावन नाम 'वाक्' के पर्याय हैं। (यह) 'वाक्' शब्द किस (धातु) से (व्युत्पन्न) है? √वच् से। उनमें (वाणी के ५७ नामों में) 'सरस्वती' इस शब्द के देवता के समान और नदी के समान (दोनों ही प्रकार के वैदिक उदाहरण मिलते हैं। तो जो (इसका वैदिक उदाहरण) देवता के समान है, उसकी व्याख्या हम बाद (११/२६, २७) में करेंगे। अब यह नदी के समान (वैदिक मन्त्र) है–॥३३॥

मूल– इयं शुष्मेभिर्विसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभरूर्म्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभि॥

इयं शुष्मैः शोषणैः। शुष्ममितिबलनाम्। शोषयतीति सतः। विस विस्यतेर्भेदनकर्मणः वृद्धिकर्मणः वा। सानु समुच्छितं भवति समुन्नमिति वा। महद्भिरूर्मिभिः पारावतघ्नीं=पारावारघातिनीम्। परं परं भवति, अववरमवरम्। अवनाय सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः सरस्वती नदीं कर्मभिः परिचरेम्।

अनुवाद– यह (सरस्वती नदी) कमल नाल को खोदने वालों के समान, (अपनी) बलवती और सुदृढ़ लहरों से पर्वतों की चोटियों को तोड़ डालती है। (हम अपनी) रक्षा के लिए, अच्छी प्रकार से रची गई स्तुतियों के द्वारा (अपने) दोनों तटों को तोड़ डालने वाली सरस्वती (नदी) की उपासना करें।

यह 'शुष्म' अर्थात् सुखा देने वालों के द्वारा। शुष्म यह बल का नाम है, (क्योंकि वह) सुखा देता है, इसलिए। 'बिस्' शब्द भेदन अर्थ वाली या वृद्धि अर्थ वाली √विस् धातु से (निष्पन्न) है। (चोटी) 'सानु' (इसलिए कहलाती है, (क्योंकि वह) अच्छी प्रकार उठी होती है या अच्छी तरह ऊपर की ओर उठा हुआ होता है, इस कारण। बड़ी-बड़ी लहरों से पारावतघ्नी अर्थात् इधर और उधर के दोनों तटों को तोड़ डालने वाली। 'पार' (का अर्थ है) परला (किनारा और) 'अवर' (का अर्थ है) इधर (का किनारा) रक्षा के लिए, अच्छी प्रकार से रचित सुन्दर स्तुतियों और कर्मों से (हम) सरस्वती (नदी) की उपासना करें।

मूल–उदकनामान्युत्तराण्येकशतम्। उदकं कस्मात्? उन्दतीति सतः।

अनुवाद–बाद के एक सौ एक नाम उदक (जल) के हैं। (इसे) जल 'उदक' क्यों कहते हैं? (क्योंकि यह) भिगो देता है, इसलिए।

मूल–नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत्। नद्यः कस्मात्? नदनाः भवन्ति शब्दवत्यः। बहुलमासां नैघण्टुकवृत्तम्। आश्चर्यमिव प्राधान्येन। तत्रेतिहासमाचक्षते– विश्वामित्रः ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव। विश्वामित्रः–सर्वमित्रः। सर्वं ससृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा, अभिश्रीभावगतिर्वा। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ। अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव 'गाधा भवते' ति। अपि द्विवद्, अपि बहुवत्। तद यद् द्विवद् उपरिष्टात् (९/३९) तद्व्याख्यास्यामः। अथैतद् बहुवत्–॥२४॥

अनुवाद–बाद के सैंतीस नाम 'नदी' के पर्याय हैं। (इन्हें) 'नदी' क्यों कहते हैं? (ये) नदन अर्थात् शब्द करने वाली होती हैं, इसलिए इन (नदियों) का बहुत सा चरित्र गौण है (और वह) मुख्य रूप से आश्चर्यजनक सा है। इस सम्बन्ध में (विद्वान् लोग एक) इतिहास बतलाते हैं–ऋषि विश्वामित्र पैजवन सुदास् के पुरोहित थे। विश्वामित्र (का अर्थ है) सब का मित्र। 'सर्व' (का अर्थ है) अच्छी प्रकार व्याप्त। सुदास् (का अर्थ है) अच्छा दान देने वाला। 'पैजवन' (का अर्थ) पिजवन का पुत्र। और 'पिजवन' (का अर्थ है) स्पर्द्धनीय बेग वाला या न मिलने वाली गति वाला। वह धन लेकर व्यास और सतलुज के संगम पर आ गया। दूसरों ने (उसका) अनुसरण किया। उस विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की 'उथली हो जाओ' इस प्रकार की। (वह स्तुति) दो (नदियों की स्तुती) के समान भी। तो, जो दो की तरह है, उसकी व्याख्या (हम) बाद में (९/३९) करेंगे। इस समय यह (स्तुति) बहुत तरह की है–॥२४॥

मूल– रमध्वं मे वचसे सोम्याय, ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषाऽवस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः॥

उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय–सोमसम्पादिने ऋतावरीऋतवत्यः। ऋतमित्युदकनाम–प्रत्यृतं भवति। मुहूर्तमेवैर्यनैर्वा। मुहूर्तो मुहुऋतुः। ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः। मुहुमूढ इव कालो, यावदभीक्ष्णं चेति। अभाष्णमभिक्षणं भवति। क्षणः क्ष्णोतेः, प्रक्ष्णतुः कालः। कालः कालयतेर्गतिकर्मणः। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या=महत्या मनीष्यामनसः ईषयास्तुत्या प्रज्ञया वाऽवनाय। कुशिकस्य सूनुः कुशिको राजा बभूवऽक्रोशते शब्दकर्मणः,

क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः, साधु विक्रोशियातऽर्थानामिति वा। नद्यः प्रत्युचूः॥२५॥

अनुवाद–हे जलवाली नदियों! मेरे शान्तियुक्त वचन (को सुनने) के लिए (तुम लोग) थोड़ी देर को, अपने गमनों में रुक जाओ। कुशिक का बेटा मैं (विश्वामित्र) कल्याण की कामना से, नदी को, बड़ी इच्छा से, खूब अच्छी तरह बुला रहा हूं।

सोम का सम्पादन करने वाले मेरे वचन (को सुनने) के लिए रूक जाओ। 'ऋतावरी' (का अर्थ है) अरी! जलवालियो! 'ऋ' यह उदक का नाम है, (क्योंकि यह) सब में गया हुआ (व्याप्त) है। थोड़ी देर। 'एवैः' (का अर्थ है), गमन या रक्षा के द्वारा। 'मुहूर्त' शब्द का निर्वचन 'मुहुर्+ऋतु'। 'ऋतु' शब्द गत्यर्थक √ऋ धातु से निष्पन्न होता है। 'मुहुर्' (का अर्थ है) मूढ सा समय (अर्थात् इतना थोड़ा समय जिसके जाने का पता भी न चल सके), जितना कि 'अभीष्ण' होता है। (अर्थात् 'मुहुर्' उतने अत्यल्प समय को कहते हैं जितने को 'अभीक्षण' शब्द व्यक्त करता है)। 'अभीक्ष्ण' क्षण की ओर गया होता है। 'क्षण' शब्द हिंसार्थक √क्षणु धातु से निष्पन्न होता है (और उसका अर्थ है) हिंसित काल (अर्थात् अत्यन्त थोड़ा समय)। 'काल शब्द गत्यर्थक √कालि धातु से निष्पन्न है। कुशिक का पुत्र (मैं विश्वामित्र अपनी) रक्षा के लिए मनीषा अर्थात् मन की इच्छा अर्थात् स्तुति या प्रज्ञा के द्वारा स्यन्दशीला (नदी) को अत्यन्त तीव्रता के साथ बुला रहा हूं। कुशिक (एक) राजा था। (कुशिक शब्द) शब्द करना अर्थ वाली √कुश धातु से प्रकाशित करना अर्थ वाली √क्रंश् धातु से (निष्पन्न होता है) या (वह) धन का अच्छा दान देने वाला है इसलिए (कुशिक कहलाता है)। नदियों ने उत्तर दिया है।।२।।

मूल– **इन्द्रो अस्मां अरदद् वज्रवाहुर् अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम।**
देवोऽनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः॥

इन्द्रोऽस्मानरदद् वज्रबाहुर–रदतिः खनतिकर्मा। 'अपाहन्' वृत्रं परिधि नदीनाम इति व्याख्याम्। देवोऽनयत् सविता, सुपाणिः। पाणिः पाणिः पणायतेः पूधाकर्मणः-प्रगृह्य पाणी देवान पूजयन्ति। तस्य वयं प्रसवे याम उर्वी-उर्व्यः-ऊर्णतिः। वृणौतेरित्यौर्णवाभः। प्रत्याख्यायान्ततः आशुश्रुवुः॥२६॥

अनुवाद–हाथ में वज्रधारण करने वाले इन्द्र ने हमें खोदा (तथा) नदियों के अवरोधक वृत्र को मार डाला। प्रेरणा प्रदान करने वाले (तथा) सुन्दर हाथों वाले देव (इन्द्र ने हमारा) नेतृत्व किया (और) हम विशाल (नदियां) उसके आदेश पर बह रही हैं। हाथ में वज्र धारण करने वाले इन्द्र ने **हमें खोदा**। √रद् धातु 'खोदना' अर्थ

वाली है। नदियों के अवरोधक वृत्र को मार 'डाला', (यह अश-अश अत्यन्त सरल होने के कारण स्वतः) व्याख्यात है प्रेरणा प्रदान करने वाले (और) सुन्दर हाथों वाले देव (इन्द्र ने हमारा) नेतृत्व किया। 'पाणि' शब्द पूजार्थक √पण् से निष्पन्न होता है। (क्योंकि लोग) दोनों हाथों को जोड़कर पूजा करते हैं। हम विशाल (नदियां) उसके आदेश पर बह रही हैं, जा रही हैं। उर्वी शब्द √उर्णुञ् धातु से निष्पन्न होता है। आचार्य और्णवाभ के मत में वह √वृ धातु से निष्पन्न है। (पहले) प्रत्याख्यान करने के पश्चात् अन्ततोगत्वा (विश्वामित्र के प्रस्ताव को उन्होंने) स्वीकार कर लिया।।२५।।

मूल– आ ते कारो शृणवामा वचांसि दूरादनसा रथेन।
नि ते नसै पीप्यानेव योया मर्यायेव कन्या शश्वचै ते।।

आश्रृणवाम ते कारो वचनानि। याहि दूरादनसा रथेन च। निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रम्, मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय। निनमै इति वा।

अनुवाद–हे कवि! हमने तुम्हारे वचनों को सुन लिया है। तुम (बहुत) दूर से, आये हो, (इसलिए अब) बैलगाड़ी और रथ के द्वारा चले जाओ। (पुत्र को दूध) पिलाती हुई युवती (या) पुरुष का आलिंगन करने के लिए। (झुकती हुई) कन्या के समान (हम) तुम्हारे लिए झुक रही है।

हे (शिल्पी) कवि, हमने तुम्हारे वचनों को सुन लिया है। (तुम) दूर से (आए हो अतः थक गए, होंगे) (अब) बैलगाड़ी और रथ से चले जाओ। पुत्र को (दूध) पिलाती हुई युवती के समान हम तुम्हारे लिए झुक रही है या पुरुष का आलिंगन करने के लिए (झुकी हुई) कन्या के समान (मैं तुम्हारे लिए झुकती हूं।

मूल–अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत्। अश्वः कस्मात्? अश्नुतेऽध्वानम्। महाशनो भवतीति वा। तत्र 'दधिक्राः' इत्येतद् 'दधत्क्रामतीति' वा, दधत्क्रन्दमीति वा, दधकारी भवतीति वा। तस्याश्ववद् देवतवच्च निगमाः भवन्ति। यद् यद् देवतावद् उपरिष्टात् (१०/३१) तद् व्याख्यास्यामः। अथैतद् अश्ववत्।।२७।।

अनुवाद–बाद के छब्बीस नाम अश्व के हैं। उनमें बाद के आठ नाम बहुवत् 'बहुवचन में प्रयुक्त होने वाले) हैं। (इसे) 'अश्व' क्यों कहते हैं? (यह) मार्ग का व्याप्त करता है–अथवा महान् अशन (भोजन) वाला है, इसलिए। उन (अश्व नामों) में से 'दधिका' यह पद 'धारण करता हुआ चलता है' अथवा 'धारण करता हुआ क्रन्दन करता है' अथवा 'धारण करता हुआ आकर रवान् होता है, इन कारणों से (सिद्ध होता है)। उसके घोड़े और देवता दोनों के समान है, उसकी व्याख्या हम बाद

(१०/३१) में करेंगे। इस समय यह अश्व के समान है।।२७।।

मूल– उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि। क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत् पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्।। (ऋ० ४/४/४)

अपि स बाजी वेजनवान् क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानम्, ग्रीवायां बद्धः। ग्रीवा–गिरतेर्वा, गृणतेर्वा। अपिकक्षे आसनीति व्याख्यातम्। क्रमुं दधिक्राः–कर्म वा प्रज्ञां वा। अनु सन्तवीत्वत्। तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः। पथामङ्कांसि–पथां कुटिलानि। पन्थाः–पततेर्वा, पद्यतेर्वा, अङ्कोऽञ्चतेः 'अपनीफणद्' इति फणतेश्चर्करीतवृत्तम्।

अनुवाद–और यह ग्रीवा, पार्श्व और मुख में बंधा हुआ वेगवान् घोड़ा चाबुक के बाद (चाबुक के लगते ही) तेजी से चल पड़ता है। (सवार को अपने ऊपर धारण किये हुये वह) घोड़ा मार्ग की कुटिलताओं को पार कर जाता है (तथा) अपने (गमन रूप) कार्य को लक्ष्य करके (उसे) पूरा करता है। और वह बाजी अर्थात् बेगवान् घोड़ा अर्थात् चाबुक के लगते ही, तुरन्त मार्ग में व्याप्त हो जाता है। (वह) ग्रीवा (गले) में बंधा है। 'ग्रीवा' शब्द √गृ (निगरण), अथवा √गृ (बोलना), अथवा √ग्रह, (ग्रहण करना, पकड़ना) से निष्पन्न है। 'और पार्श्व में, मुख में, यह (अंश सरल होने के कारण) व्याख्यात सा है। (सवार को धारण करने वाला वह) घोड़ा (अपने) 'क्रतुः' (जिसका अर्थ) कर्म या प्रज्ञा है, को विस्तृत करता है (पूर्ण करता है)। 'अनुसन्तवीत्वत्' वह √तनु धातु की पूर्व प्रकृति से निष्पन्न वैदिक प्रयोग है। मार्ग की कुटिलताओं को। पथिन् (पन्थाः) शब्द √पत् (गिरना, तेजी से से चलना) से, अथवा (चलना) से निष्पन्न है। 'अङ्कस् शब्द गत्यर्थक √अञ्च् से निष्पन्न है। 'आपनीफणत्' यह शब्द चर्करीतर (के समान यङ् लुगन्त का) प्रयोग है।

मूल–दशोत्तरादिष्टोपयाजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय।

अनुवाद–बाद के दस नामों को 'आदिष्टोपयोजन' ऐसा कहते हैं, साहचर्य को जानने के लिए।

मूल–ज्वलतिकर्माणः उत्तरे धातवः एकादश।

अनुवाद–बाद की ग्यारह धातुएं 'जलना' अर्थ वाली है।

मूल–तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलती नामधेयानि नामधेयानि।

अनुवाद–बाद के उतने ही अर्थात् ग्यारह नाम जलते हुए पदार्थ के हैं।

श्रीः।

श्रीमत्पिङ्गलाचार्यविरचितं

पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्

हलायुधवृत्तियुत—भाषाटीकासहितम्

प्रथमोऽध्यायः

नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे।।१।।

भाषाटीका

वृत्तिकार (हलायुध भट्ट) स्वरचित वृत्तिकी निर्विघ्न समाप्ति के लिये भगवान् शंकर का नमस्कारात्मक मंगल करते हैं-जो शंकर भगवान् सब देवताओं से श्रेष्ठ होने के कारण सबके प्रणम्य हैं, अत्यन्त उन्नत जिनके मस्तक हैं ऐसे मस्तक पर चन्द्ररूपी चामर के होने से जो सुन्दर प्रतीत होते हैं और तीनों लोकरूपी नगर की रचना करने में जो मूलस्तम्भ नींव या बीजस्वरूप हैं ऐसे भगवान् को नमस्कार हैं।।१।।

वेदानां प्रथमाङ्गस्य कवीनां नयनस्य च।
पिङ्गलाचार्यसूत्रस्य मया वृत्तिर्विधास्यते।।२।।

जो पिङ्गलसूत्र वेदों का प्रथम अंग और कविओं का नेत्र है मैं ऐसे पिङ्गल सूत्र की वृत्ति बनाऊंगा।।२।।

क्षीराब्धेरमृतं यद्वद्धृतं देवैः सदानवैः।
छन्दोऽब्धेः पिङ्गलाचार्यैश्छन्दोऽमृतं तथोद्धृतम्।।३।।

देवता और दैत्यों ने क्षीरसमुद्र को मथकर जैसे अमृत निकाला था, उसी प्रकार छन्दसमुद्र से पिङ्गलाचार्य ने छन्दरूपी अमृत निकाला है।।३।।

श्रीमत्पिङ्गलनागोक्तच्छन्दःशास्त्रमहोदधौ।
वृत्तानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम्।।४।।

मैं महर्षि पिङ्गलरचित छन्दःशास्त्ररूपी महासमुद्र में मोतियों की तरह कुछ वृत्तों का संग्रह करता हूं।।४।।

मयरसतजभनलगसम्मितं भ्रमति वाङ्मयं जगति यस्य।
स जयति पिङ्गलनागः शिवप्रसादाद्विशुद्धमतिः।।५।।

भगवान् शंकर की कृपा से विशुद्ध बुद्धि ऐसे पिङ्गलनाग की जय हो जिनके वाङ्मय समस्त साहित्य जगत् में म, य, र, स, त, ज, भ, न, ल और ग ये दश व्याप्त हैं।

विशेष—तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शास्त्रकार ने अपने शास्त्र को संक्षेप से समझाने के लिये पृथक्-पृथक् संकेत का निरूपण किया है, जैसे व्याकरण शास्त्र में अक्, अच्, अण् आदि पदों के द्वारा अ, इ, उ आदि अनेक वर्णों का बोध होता है और इन संक्षेप से वर्णबोधक पदों को प्रत्याहार कहा जाता है उसी प्रकार छन्दशास्त्र में संक्षेप से गुरु लघुबोधक पदों को गण कहा जाता है। तीन-तीन अक्षरों का एक गण होता है ये गण कुल आठ हैं।

जैसे तीनों अक्षरों के सभी अक्षर गुरु हैं इसका ज्ञान एक 'म' वर्ण से हो जाता है, इसे मगण कहते हैं। इसी प्रकार यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण और नगण को समझना चाहिये।

कितने गुरु या लघु होने से कौन-कौन गण होता है इसे आगे के श्लोकों से वृत्तिकार और शास्त्रों द्वारा सूत्रकार सविस्तार वर्णन करेंगे। केवल एक अक्षर का गुरु या लघुबोधक ग् और ल् वर्ण है अर्थात् जहां ग् या ल् से निर्देश किया जायेगा वहां एक ही अक्षर को गुरु या लघु समझना चाहिये।।५।।

त्रिगुरुं विद्धि मकारं लघ्वादिसमन्वितं यकाराख्यम्।
लघुमध्यमं च रेफं सकारमन्ते गुरुनिबद्धम्।।६।।

जिसमें तीनों गुरु हों उसे मगण, जिसमें आदि लघु और दो अक्षर गुरु उसे यगण, जिसमें आदि और अन्त के अक्षर गुरु तथा मध्य के अक्षर लघु हों उसे रगण, और आदि के दो अक्षर लघु तथा अन्त का एक अक्षर गुरु जिसमें हो उसे सगण कहते हैं।।६।।

लघ्वन्त्यं हि तकारं जकारमुभयोर्लघुं विजानीयात्।
आदिगुरुञ्च भकारं नकारमिहपैङ्गले त्रिलघुम्।।७।।

जिसमें आदि, मध्य गुरु तथा अन्त में लघु हो उसे तगण, आदि मध्य गुरु और अन्त में लघु उसे जगण, जिसमें आदि का अक्षर गुरु हो शेष लघु हों उसे भगण और जिसमें तीनों अक्षर लघु हों उसे नगण समझो।।७।।

दीर्घ संयोगपरं तथा प्लुतं व्यञ्जनान्तमुष्मान्तम्।

सानुस्वारञ्च गुरुं क्वचिदवसानेऽपि लघ्वन्त्यम्।।८।।

आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम्।

भजसा गौरवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्।।९।।

दीर्घ, संयुक्तवर्ण परे रहते पूर्व ह्रस्ववर्ण, प्लुत, व्यञ्जन वर्ण के पूर्व ह्रस्ववर्ण, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के पूर्व वर्ण को गुरु समझना चाहिये।।८।।

आदिलघु यगण, मध्यलघु रगण, अन्तलघु तगण, आदिगुरु भगण, मध्यगुरु जगण, अन्तगुरु सगण, तीनों गुरु मगण और तीनों लघु नगण होता है।।९।।

त्रिविरामं दशवर्णं षण्मात्रमुवाच पिङ्गलः सूत्रम्।

छन्दोवर्गपदार्थप्रत्ययहेतोश्च शास्त्रादौ।।१०।।

इस श्लोक से वृत्तिकार प्रथमसूत्र धी, श्री, स्त्री, म्, का तात्पर्य्य वर्णन कर रहे हैं। इसमें धी, श्री, स्त्री, तीन विराम हैं, ध, ई, श, र्, ई स्, त् र्, ये दश वर्ण हैं, और धी-दो मात्रा, श्री-दो मात्रा, स्त्री-दो मात्रा इस प्रकार छःमात्रा हैं।

तीन विरामों से तीन प्रकार का छन्द रूपी पदार्थ सूचित किया गया है। छन्द के तीन भेद हैं, लौकिक, वैदिक और उभयसाधारण। अथवा गण छन्द, मात्रा छन्द और अक्षर छन्द। दश वर्णों के द्वारा म, य, र, स, त, ज, भ, न, ग और ल इन वर्ण वर्ग रूप पदार्थ की सूचना दे रहे हैं। छः मात्राओं से आठवें अध्याय में वर्णित प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्व्यादिलगक्रिया, संख्यान, अध्वयोग, नामक छः प्रत्यय सूचित हो रहे हैं।।१०।।

इह हि त्रैवर्णिकानां साङ्गवेदाध्ययनमाम्नायते। अर्थावबोध-पर्यन्तश्चाध्ययनविधिः। वेदाङ्गञ्च छन्दः, ततस्तदध्ययनं विधिबोधितत्वादनुष्ठेयम्। अथ त्रिष्टुभा यजति, बृहत्या गायति, गायत्र्या स्तौतीत्येवमादिश्रवणादर्थायातमनुष्टुभादिज्ञानम्। किञ्च छन्दसामपरिज्ञानात् प्रत्युत प्रत्यवायः श्रूयते। यथा-'यो ह वा

अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति स स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यते वा म्रियते पापीयान् भवति। यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति।' (छ० ब्रा० ३।७।५) तस्माच्छन्दःपरिज्ञानं कर्त्तव्यम्, तदर्थमिदं शास्त्रमारभ्यते। तत्र लघुनोपायेन शास्त्रावबोधसिद्ध्यर्थं संज्ञाः परिभाषते सूत्रकारः—

इस शास्त्र में त्रैवर्णिक को ही छः अंगों के सहित अध्ययन कहा जाता है अध्ययन का प्रयोजन अर्थज्ञान ही है, छन्द भी वेदांग है। अतः इसका भी अध्ययन वेद में कहे गए अधिकारी को ही कहा गया है।

विशेष—स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, इस वेदवाक्य से वेद का अध्ययन गुरु के द्वारा करके समावर्तन संस्कार करें यह प्रतीत होता है। यद्यपि वेदाध्ययन विधि में फल विशेष का श्रवण न होने से इसका फल विश्वजित्, यज्ञ की तरह (**स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्**) इस सूत्र से अदृष्ट मानना चाहिए था तथापि अदृष्ट फल कल्पनापेक्षया अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल मानना उत्तम है, यह मीमांसाशास्त्र का निर्णय है। किसको पढ़ावे इस प्रश्न पर 'उपनीतमध्यापयीत' इस वाक्य से उपनयन संस्कारवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को पढ़ावे यह सिद्ध होता है।

और त्रिष्टुभा यजति, बृहत्या गायति, गायत्र्या स्तौति। अर्थात् अनुष्टुप् से याग करे। बृहती से सामगान करे और गायत्री से स्तुति करे, इस प्रकार श्रुति मिलती है। छन्दःशास्त्र के ज्ञान के बिना अनुष्टुप् आदि का ज्ञान होना असम्भव है और अनुष्टुप् आदि के ज्ञान हुए बिना उल्लिखित श्रुतियों का अर्थ किस प्रकार मालूम हो सकता है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अनुष्टुप् आदि के ज्ञान के लिये छन्दःशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। इसलिये छन्दःशास्त्र का आरम्भ किया जाता है।

धीश्रीस्त्री म्।।१।।

धीश्रीस्त्री इत्यनेन गुरुत्रयं संज्ञित्वेनोपलक्षयति, मकारञ्च संज्ञात्वेन। ततश्चायमर्थः—सर्वगुरोस्त्रिकस्य (ऽऽऽ) 'म' इति संज्ञा परिभाष्यते। ध्यादीनामुपादानप्रयोजनमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः। मप्रदेशाः 'विद्युन्माला मौ गौ' (पि० सू० ६।६) इत्येवमादयः।।१।।

अब लघु उपाय के द्वारा शास्त्रज्ञान के लिये सूत्रकार छन्दःशास्त्र का संकेत बना रहे हैं। इनमें म, य, र, स, त, भ, ज, ग और ल इन दश अक्षरों से छन्दःशास्त्र के सभी संकेत दिखलाये गये हैं। इस सूत्र से लेकर "नहस न्" (१-८) सूत्र तक मगण आदि आठ गणों की संज्ञा की है। तीन अक्षरों का एकगण होता है। इस सूत्र में धी श्री स्त्री ये तीनों अक्षर तीन गुरुओं के बोधक हैं और तीनों गुरुओं की 'म' संज्ञा करने के कारण वह संज्ञी है और 'म' संज्ञा है। इसलिये इस सूत्र का अर्थ यह हुआ कि जिन तीनों अक्षरों के सबके सब गुरु हों मगण कहते हैं।।

जैसे धी श्री स्त्री ये तीनों अक्षर गुरु होने के कारण मगण हुआ। प्रत्येक शास्त्र में लघु उपाय से व्यवहार सिद्धि के लिये संकेत किया जाता है इसलिये जिन स्थानों में 'म' व्यवहार किया गया है वहां पर ही इसका प्रयोजन समझना चाहिये जैसे "विद्युन्माला मौ गौ" इस सूत्र का अर्थ है कि जहां पर दो मगण और दो गुरु हों उसे विद्युन्माला छन्द कहते हैं। "म" से तीन गुरु समझना चाहिये अर्थात् आठ गुरु ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ जिसमें हों उसे विद्युन्माला छन्द कहते हैं। यदि संज्ञा नहीं की जाती तो इतने कमशब्दों में इतना अधिक अर्थ नहीं समझाया जा सकता। धी आदि शब्दों के द्वारा क्यों निर्देश किया गया है इसका तात्पर्य वृत्तिकार स्वयं (१-१५) सूत्रार्थ में कहेंगे।।१।।

वरासा य्।।२।।

वरासा इत्यनेनादिलघोस्त्रिकस्य (।ऽऽ) 'य' इति संज्ञा परिभाष्यते। यप्रदेशाः 'भुजङ्गप्रयातं यः' (पि० सू० ६।३६) इत्येवमादयः।

इस सूत्र में आदिलघु और बाकी दो गुरु को ही "वरासा" इन अक्षरों से निर्देश किया गया है अर्थात् जहां पर आदि का अक्षर लघु और दो बाकी अक्षर गुरु हों उसे यगण कहते हैं। जैसे–

व रा सा यह यगण हुआ। जिस सूत्र में 'य' से व्यवहार किया जायेगा वहां पर 'य' का अर्थ आदि का एक अक्षर लघु और बाकी दो गुरु ऐसा समझना चाहिये। "भुजङ्गप्रयातं यः" इत्यादिसूत्रों में इसका व्यवहार किया गया है। चार यगण अर्थात् $\frac{\text{य}}{।ऽऽ}$ $\frac{\text{य}}{।ऽऽ}$ $\frac{\text{य}}{।ऽऽ}$ $\frac{\text{य}}{।ऽऽ}$ जिसके पहला चौथा सातवां और दशवां अक्षर लघु हो बाकी अक्षर गुरु वह भुजङ्गप्रयात छन्द कहलाता है।

।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ
भुजङ्ग–प्रयातं भवेद्यैश्चतुर्भिः। वृत्तरत्नाकर।।२।।

का गुहा र्।।३।।

कागुहा इत्यनेन मध्यलघोस्त्रिकस्य (ऽ।ऽ) 'र' इति संज्ञा परिभाष्यते। रप्रदेशाः 'स्रग्विणी रः' (पि० सू० ६।३७) इत्येवमादयः।।

इस सूत्र में मध्यलघु और बाकी दो गुरु को ही कागुह इन अक्षरों से निर्देश किया गया है अर्थात् जहां पर मध्य के अक्षर लघु और बाकी आदि अन्त के अक्षर गुरु हों तो उसे रगण कहते हैं। जैसे का गु हा यह यगण का स्वरूप है। जिन सूत्रों में 'र' व्यवहार किया जायेगा वहां पर र का अर्थ मध्य का एक अक्षर लघु और बाकी गुरु ऐसा समझना चाहिये।

"स्रग्विणी रः" (६।३७।) इत्यादि सूत्रों में इसका व्यवहार किया गया है।

र र र र
चार रगण ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ अर्थात् जिसके एक पाद में दूसरा, पांचवां, आठवां और ग्यारहवां अक्षर लघु हो शेष अक्षर गुरु हों उसे स्रग्विणी छन्द कहा जाता है।।३।।

वसुधा स्।।४।।

वसुधा इत्यनेनान्त्यगुरोस्त्रिकस्य (।।ऽ) 'स' इति संज्ञा परिभाष्यते। सप्रदेशाः 'तोटकं सः' (पि० सू० ६।३१) इत्येवमादयः।।

इस सूत्र में अन्त का गुरु और शेष आदि मध्य दो लघु को ही 'वसुधा', इन अक्षरों से निर्देश किया गया है। अर्थात् जहां अन्त के अक्षर गुरु और शेष दो अक्षर लघु हों उसे सगण कहते हैं जैसे ।।ऽ यह सगण का स्वरूप है। जिन सूत्रों में 'स' से व्यवहार किया जायेगा वहां पर 'स' का अर्थ अन्त का एक अक्षर गुरु, आदि और मध्य के लघु ऐसा समझना चाहिये। **'तोटकं सः'** (पि० सू० ६।३१) इत्यादि सूत्रों में इसका व्यवहार किया गया है। चार सगण स/।।ऽ स/।।ऽ स/।।ऽ स/।।ऽ अर्थात् जिसके एक चरण में तीसरा, छठा, नवां और बारहवां गुरु हो तथा शेष के अक्षर लघु हों ऐसे १२ अक्षर के पादवाला छन्द तोटक कहलाता है। तोटकमम्बुधि सैः प्रमितम्। वृत्तरत्नाकर।।४।।

सा ते क्व त्।।५।।

सातेक्व इत्यनेनान्त्यलघोस्त्रिकस्य (ऽऽ।) 'त' इति संज्ञात्वेनपादीयते। तप्रदेशाः 'तनुमध्या त्यौ' (पि० सू० ६।२) इत्येवमादयः।।५।।

अन्त का एक अक्षर लघु और बाकी गुरु को ही 'सा ते क्व' इन अक्षरों से निर्देश किया गया है अर्थात् जिसमें अन्त का अक्षर लघु, बाकी दो अक्षर, आदि और मध्य के गुरु हों उसे तगण कहते हैं जैसे ऽऽ। यह तगण का स्वरूप है। जिन सूत्रों में 'त' से व्यवहार किया जायेगा वहां पर 'त' का अर्थ अन्त का एक अक्षर लघु और शेष अक्षर गुरु ऐसा समझना चाहिये। **'तनुमध्या त्यौ'** (पि० सू० ६।२) इत्यादि सूत्रों में इसका व्यवहार किया गया है। जिसके एक पाद में तगण और यगण हो $\frac{\text{त}}{\text{ऽऽ।}}$ $\frac{\text{य}}{\text{।ऽऽ}}$ उसे तनुमध्या छन्द कहते हैं।।५।।

कदा स ज्।।६।।

कदास इत्यनेन मध्यगुरोस्त्रिकस्य (।ऽ।) 'ज' इति संज्ञा परिभाष्यते। जप्रदेशाः 'कुमारललिता ज्सौ ग्' (पि० सू० ६।३) इत्येवमादयः।।६।।

मध्य के अक्षर गुरु और शेष अक्षर लघु को ही "क दा स" इन अक्षरों से निर्देश किया गया है। अर्थात् जिसमें मध्य का अक्षर गुरु और बाकी आदि और अन्त के अक्षर लघु हों उसे जगण कहते हैं। जैसे ।ऽ। यह जगण का स्वरूप है। जिन सूत्रों में "ज" का व्यवहार किया गया वहां पर इसका अर्थ मध्य का अक्षर गुरु और शेष अक्षर लघु ऐसा समझना चाहिये। **कुमारललिता ज्सौ ग्** (पि० सू० ६।३) इत्यादि सूत्रों में 'ज' का प्रयोग किया गया है इसलिये इस सूत्र का अर्थ जिसके एक पाद में जगण और सगण और एक गुरु हो उसे "कुमारललिता छन्द" कहते हैं ऐसा होता है।।६।।

किं वद भ्।।७।।

किंवद इत्यनेनादिगुरोस्त्रिकस्य (ऽ।।) 'भ' इति संज्ञा ज्ञाप्यते। भप्रदेशाः 'चित्रपदा भौ गौ' (पि० सू० ६।।) इत्येवमादयः।।७।।

किंवद इन अक्षरों से आदि गुरु और अवशिष्ट लघु को ही निर्देश किया जाता है। अर्थात् आदि का एक अक्षर गुरु और शेष दो, मध्य और अन्त के अक्षर लघु हों उसे भगण कहते हैं। जैसे ऽ।। यह भगण का स्वरूप है। जिन सूत्रों में 'भ' से व्यवहार किया जाये वहां पर इसका अर्थ, आदि का अक्षर गुरु और अवशिष्ट अक्षर लघु ऐसा समझना चाहिये।

"चित्रपदा भौ गौ" (पि. सू. ६।४) इत्यादि सूत्रों में इसका प्रयोग किया गया है। दो भगण और दो गुरु जिसके एक पाद में हों उसे चित्रपदा छन्द कहते हैं।।७।।

न हस न्।।८।।

नहस इत्यनेन सर्वलघोस्त्रिकस्य (।।।) 'न' इति संज्ञोपदिश्यते। नप्रदेशाः 'दण्डको नौ रः' (पि० सू० ७।३१) इत्येवमादयः।।८।।

"न ह स" इन अक्षरों से सबके सब लघुओं का निर्देश किया गया है। अर्थात् तीनों लघुयुक्त अक्षरसमुदाय को ऐसी संज्ञा की जाती है जैसे "न ह स" यहां पर तीनों लघु वर्ण होने के कारण नगण कहा जाता है। जिन सूत्रों में 'न' से व्यवहार किया जाये वहां पर इसका अर्थ तीनों अक्षर लघु ऐसा समझना चाहिये। **"दण्डको नौ रः"** (पि० सू० ७।३३) इत्यादि सूत्रों में इसका प्रयोग किया गया है अर्थात् जिसमें दो नगण और सात रगण हों उसे दण्डक कहते हैं।।८।।

इन आठ सूत्रों से पिङ्गलाचार्य ने आठ गणों का स्वरूप निर्देश किया है इसके आगे के सूत्रों से गुरु और लघु का संकेत निर्देश किया जायेगा।।८।।

गृ ल्।।९।।

गृ इत्यनेनोपलक्षितस्य ह्रस्वस्य(।) 'ल' इति संज्ञा परिभाष्यते। लशब्दश्च लघुवाचकः। तेन ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञं भवतीत्येवमर्थः प्रपद्यते। लप्रदेशाः 'लः समुद्रागणाः' (पि०सू० ४।१२) इत्येवमादायः।।

'गृ' यह पद ह्रस्व(।) का बोधक है। लोक में या शास्त्रान्तर में इससे ह्रस्व का बोध कहीं भी नहीं होता है परन्तु पिङ्गलाचार्य लाघवार्थ विशेष को सामान्यपरक रखकर 'गृ' शब्द से ह्रस्व का बोध कराना चाहते हैं। 'ह्रस्वं ल्'

ऐसा सूत्र यदि होता तो अर्थ स्पष्ट होता परन्तु उसमें तीन मात्रा का गौरव समझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया। पाणिनि जी ने "ह्रस्वं लघु" (पा० १-४-१०) ऐसा ही सूत्र का निर्माण किया है।।९।।

गन्ते।।१०।।

गृ ग्रहणमनुवर्तते। गृशब्दोपलक्षितस्य ह्रस्वाक्षरस्य पादान्ते वर्तमानसय गुरुसंज्ञातिदिश्यते। 'ग' इति प्रथमाक्षर–प्रतीकेन गुरुशब्दस्य ग्रहणम्।।

ननु 'ग्लिति समानी' (पि० सू० ५।६) इत्यादीनां पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य गुरुत्वं न दृश्यते। नैष दोषः। सर्वत्र पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य गुरुत्वमुत्सर्गसिद्धम्। तश्च लकारश्रुत्यपवादेन बाध्यते। यथा–'ग्लिति समानी' (पि० सू० ५।६) 'गीत्यार्या लः' (पि० सू० ४।४७) इत्यादौ। सामान्येन विशेषस्य बाधः कस्य न सम्मतः ? तस्मात् कुचोद्यमेतत्।।

केचिदिदं सूत्रं व्यवस्थितविभाषया व्याचक्षते। 'ल्गिति प्रमाणी' (पि० सू० ५।८) इत्यादीनामन्ते गुरुत्वमेव, 'समानी' (पि० सू० ५।७) इत्यादीनमन्ते लघुत्वमेव। तस्मादियं व्यवस्था प्रमाणम्। शेषाणामिच्छया गुरुत्वं लघुत्वं चेति, तदनुपपन्नम्, विकल्पस्याप्रस्तुतत्वात्कस्य व्यवस्थेति न विद्मः।।

ननु 'केनाप्युक्तम्' 'वा पादान्ते त्वक्रः' (वृ० र० १।९) इति गुरुत्वम्। सत्यमुक्तम्, दुरुक्तं हि तत्। "वान्ते त्वक्र इति प्रोक्तं यैस्तु श्वेतपटादिभिः। तदुत्सर्गस्यापवादेन बाधस्तैर्नाव-धारितः।" इच्छया गुरुत्वं लघुत्वं नोपपद्यते। कस्येच्छा ? किं शास्त्रकारस्य ? कवेर्वा ? न तावदाद्यः पक्षः, सूत्रेष्वदर्शनात्। नापि द्वितीयः, कवेरपीच्छायां व्यवस्थाभावात्। को जानाति कस्य कीदृशीच्छेति।।

अन्ये त्वाहुः–ननु पादान्ते वर्त्तमानस्य ह्रस्वस्य पाणिनिना

गुरुसंज्ञा न कृता। तेनोक्तम् 'संयोगे गुरु' (पा० सू० १।४।११), 'दीर्घं च' (पा० सू० १।४।१२) इति। नायं संयोगादिर्न च दीर्घः। तस्मात् 'गन्ते' इति सूत्रमयुक्तम्।।

अत्रोच्यते–पाणिनिना स्वशास्त्रप्रयोजनार्थं गुरुसंज्ञा कृता। 'गुरोश्च हलः' (पा० सू० ३।३।१०३) इत्यकारप्रत्ययो यथा स्यात्–कुण्डा, हुण्डेत्यादौ। तथा ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे, इत्येवमादिषु 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (पा० सू० ३।१।३६) इत्याम् प्रत्ययश्च। पादान्ते वर्त्तमानस्य लघोर्गुरुत्वातिदेशे पाणिनेः प्रयोजनमेव नास्ति। किञ्चानुस्वारादिपूर्वस्य वर्णस्य 'बलम्' 'संपदि'त्यादौ स्थितस्य गुरुसंज्ञा पाणिनिना न कृता, किमेतावताऽन्यैरपि न कर्त्तव्या ? तस्मात्सूत्रमिदम् 'गन्ते' इति। गप्रदेशाः 'गावन्त आपीडः' (पि०सू०५।२२) इत्येवमादयः।।१०।।

पिङ्गल ने लघु शब्द का एक अक्षर 'ल' को ही लघुवाचक माना है वह जैसे सत्यभामा को सत्य या भामा से प्रयोग किया जा सकता है उसी तरह लोकसिद्ध है। अतएव ह्रस्व की ल् संज्ञा होती है यही सूत्रार्थ हुआ। जिस जगह ल् से व्यवहार किया जाय वहां पर ल् का अर्थ ह्रस्व ही समझना चाहिये, इसका प्रयोग **'लः समुद्रागणः'** (पि० सू० ५।१२) इत्यादि सूत्रों में किया गया है।

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से गृ का अनुवर्तन होता है। गृ से ह्रस्व का बोध होता है, यह पूर्व ही कहा जा चुका है। अत एव गृ शब्द से उपलक्षित ह्रस्वाक्षर किसी पाद के अन्त में यदि वर्तमान हो तो उसकी गुरु संज्ञा होती है। गुरु शब्द का जो एक देश 'ग्' है यह प्रथमाक्षर है उससे पूर्व सूत्र में कहे हुए की तरह गुरु का ही ग्रहण होता है ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न–इस सूत्र से पाद के अन्त में स्थित लघु की भी गुरु संज्ञा की जाती है परन्तु ग्लिति समानी (पि० सू० ५।६।) समानी छन्द में पाद के अन्त में भी ह्रस्व देख पड़ता है यह पूर्वापर विरोध क्यों ? गन्ते सूत्र के अनुसार वहां पर भी पादान्त लघु को गुरुत्वातिदेश करना चाहिये।

उत्तर–एक उत्सर्ग शास्त्र होता है दूसरा अपवाद, शास्त्रान्तर में भी इस तरह की व्यवस्था देखी जाती है। जैसे व्याकरण शास्त्र में "कर्मण्यण्" (पा०सू०

३-२-१) इस सूत्र में सभी धातुओं से कर्म उपपद रहते अण् प्रत्यय का विधान किया गया है कुम्भकारः, कुण्डलावः इत्यादि उदाहरण हैं।

इस सूत्र के अनुसार उपसर्गरहित आकारान्त धातुओं से भी अण् प्रत्यय प्राप्त है परन्तु "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा०सू० ३-२-३) इस सूत्र में आकारान्त उपसर्गरहित धातुओं से 'क' का विशेष विधान होने के कारण 'गोदः, कम्बलदः' इत्यादि स्थलों में 'क' प्रत्यय ही होता है 'अण्' नहीं, ऐसे स्थलों में 'अण्' प्रत्यय करने से अशुद्ध समझा जाता है।

क्योंकि 'कर्मण्यण्' (पा०सू० ३।२।१।) सूत्र में विशेष धर्म का उल्लेख न होने के कारण धातुमात्र से अण् प्रत्यय प्राप्त है अतः वह सामान्य विधि है और 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा०सू० ३।२।३।) सूत्र में आकारान्त उपसर्गरहित धातु यह विशेष धातुओं का उल्लेख होने के कारण विशेष विधि है। नियम है कि सामान्यशास्त्र का विशेषशास्त्र अपवाद होता है अर्थात् जिस स्थल पर सामान्य और विशेष दोनों नियम प्राप्त हैं वहां पर विशेष नियम ही लागू होता है, सामान्य नहीं।

इस शास्त्र में इस सार्वत्रिक नियम का व्यतिक्रम नहीं किया गया है। अत एव 'गन्ते' इस सूत्र में विशेष धर्म का उल्लेख न होने के कारण यह पाद के अन्त में स्थित लघुओं को, चाहे वह पाद किसी छन्द का हो, गुरुत्व का अतिदेश करता है परन्तु "ग्लिति समानी" (पि०सू० ५।६) "गीत्यार्या लः" (पि०सू० ४।४७) इत्यादि सूत्रों द्वारा 'समानी' 'गीती आर्या' इत्यादि विशेष छन्दों के पादान्त स्थित लघुओं में लघुत्व के रहने का ही विशेष विधान है। अतः वह विशेष शास्त्र है।

इसलिये 'समानी' 'गीती' इत्यादि छन्दों में विशेष नियम के अनुसार पादान्त में भी लघु ही रहता है। 'गन्ते' सामान्य सूत्र के अनुसार गुरु नहीं होता।

कुछ लोग इस सूत्र को व्यवस्थित विभाषा मानकर उक्त प्रश्न का समाधान करते हैं उनका कहना है कि लिगति प्रमाणी (पि०सू० ५।८) सूत्र में प्रमाणी छन्द के पादान्त में गुरुत्व की व्यवस्था है और ग्लिति समानी (५।७) इत्यादि सूत्रों के अनुसार समानी गीती आदि छन्दों के पादान्त में लघुत्व की व्यवस्था है जहां व्यवस्था नहीं देखी जाती है ऐसे अवशिष्ट स्थलों में इच्छा से गुरु या लघु किसी की व्यवस्था कर लेनी चाहिए ?

यह समाधान ठीक नहीं जंचता है, क्योंकि विकल्प प्रस्तुत नहीं है। यदि विकल्प प्रस्तुत होता तो उस विकल्प की व्यवस्था की जा सकती थी; परन्तु 'गन्ते'

सूत्र पादान्त स्थित लघु को नित्य ही गुरुत्व का अतिदेश करता है। विकल्प कहां से आया जिसकी व्यवस्था करते हो। इसलिये वहां पर गुरु ही होगा और समानी में लघु ही रहेगा।

वृत्तरत्नाकर आदि ग्रन्थकार और कुछ छन्दोविद् जैन विद्वानों का कहना है कि पादान्त में लघु की गुरु संज्ञा विकल्प से होती है उनके मत से व्यवस्थित विभाषा से समाधान अनुचित नहीं है परन्तु उन लोगों ने उत्सर्ग शास्त्र अपवाद शास्त्र से बाधित होता है, इस सार्वत्रिक नियम का विचार नहीं किया है। यदि किसी नियम को न मानकर केवल इच्छा से ही कहीं गुरु और कहीं लघु की व्यवस्था करोगे तो वह व्यवस्था किसकी इच्छा से होगी, शास्त्रकार की इच्छा से या कवि की ? शास्त्रकार महर्षि पिङ्गल का पादान्त में विकल्प से गुरुत्वविधायक सूत्र न होने के कारण शास्त्रकारी इच्छा से गुरुत्व लघुत्व की व्यवस्था नहीं कर सकते हो। कवि की इच्छा से ऐसी व्यवस्था की जा सकती है, ऐसी भी नहीं कह सकते क्योंकि इस स्थल पर अमुक कवि की ऐसी इच्छा थी यह किस प्रकार जान सकोगे। कौन जानता है किस कवि की कैसी इच्छा थी।

कुछ विद्वान् इस सूत्र पर आक्षेप करते हैं उनका कहना है कि महर्षि पाणिनि ने पाद के अन्त स्थित लघु की गुरु संज्ञा नहीं की है उन्होंने 'संयोग गुरु' (पा०सू० १।४।११) और 'दीर्घं च' (पा०सू० १।४।१२) इन दोनों सूत्रों से संयोग से पूर्ववर्ती लघु और दीर्घ इन दोनों की ही गुरु संज्ञा की है। पादान्त स्थित लघुवर्ण न संयोगादि ही हैं और न दीर्घ ही, फिर इनकी किस प्रकार गुरु संज्ञा करते हो इसलिये 'गन्ते' सूत्र व्यर्थ ही है।

इस पर वृत्तिकार का कहना है कि पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र के लक्ष्यों को सिद्ध करने के लिये वैसी ही संज्ञा की और पिङ्गल ने छन्दःशास्त्र के प्रयोजन सिद्ध करने के लिये और तरह संज्ञा की है, दोनों का प्रयोजन एक नहीं है फिर संज्ञा किस प्रकार एक हो सकती है।

'गुरोश्च हलः' (पा०सू० ३।३।१०३) इत्यादि सूत्रों से गुरुसंज्ञकवर्ण जिनमें हो ऐसे व्यञ्जनान्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय विधान करने के लिये पाणिनि ने संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्व वर्णों की गुरु संज्ञा की है। अतएव 'कुडि दाहे' (पा०भ्वा०धा० २७०) 'कुडि वैकल्ये' (भ्वा०धा० ३२२) हुडि संघाते' (भ्वा०धा० २६९) 'हुडि वरणे' (भ्वा० धा० २७७) इन धातुओं से 'इदितो नुम् धातोः' (पा० सू० ७।१।५८) से नुम् करने पर 'ण्ड' इन संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्व लघु वर्ण की गुरु

संज्ञा हो जाने से 'गुरोश्च हल:' (पा०सु० ३।३।१०३) सूत्र के अनुसार अ प्रत्यय हो जाता है और ईकार उकारादि इजादि जैसे ईह चेष्टायाम् (भ्वा० धा० ६३२) उह वितर्के (भ्वा० धा० ६४८) इत्यादि, धातुओं से 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ:' (पा०सु० ३।१।३९) गुरुसंज्ञकवर्ण है जिसमें ऐसे इजादि धातुओं से आम् प्रत्यय होता है। इस सूत्र के अनुसार दीर्घ की गुरु संज्ञा करने के कारण आम् प्रत्यय हो जाने से ईहाञ्चक्रे इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। संयोगादि और दीर्घ की गुरुसंज्ञा करने का प्रयोजन व्याकरण में मिलता है परन्तु पाद के अन्तस्थित लघु की गुरु संज्ञा करने का फल व्याकरण शास्त्र में नहीं है इसलिये पाणिनि ने उनकी गुरु संज्ञा नहीं की है परन्तु छन्द:शास्त्र में प्रयोजन है इसलिये पिङ्गल ने पाद के अन्तस्थित लघु की गुरु संज्ञा की है। 'बलं' 'संपद्' इत्यादि प्रयोगों में अनुस्वार विसर्गादि के पूर्व लघुवर्ण की गुरु संज्ञा पाणिनि ने प्रयोजन न रहने के कारण नहीं की है, परन्तु छन्द:शास्त्र में प्रयोजन रहने से पिङ्गल ने उनकी गुरु संज्ञा की है। अनुस्वारादि पूर्व लघुवर्णों की गुरु संज्ञा पाणिनि ने नहीं की है इसलिये क्या छन्द:शास्त्र की प्रयोजनसिद्धि के लिये पिङ्गल को भी उनकी गुरु संज्ञा नहीं करनी चाहिये ? इसलिये 'गन्ते' यह सूत्र व्यर्थ नहीं। पूर्वोक्त आक्षेप सर्वथा निर्मूल है। गावन्त आपीड: (पि०सू० ५।२२।) इत्यादि में इसका प्रयोजन है।।१०।।

ध्रादिपर:।।११।।

ध्र इति व्यञ्जनसंयोगस्योपलक्षणार्थमेतत्। ध्र आदिर्येषां ते ध्रादय:। आदिशब्देन विसर्जनीयानुस्वारजिह्वामूलीयोपध्मानीयानां ग्रहणम्। ध्रादय: परे यस्मात्स ध्रादिपर:। ततश्चायं सूत्रार्थ:– व्यञ्जनसंयोगात्पूर्वस्य ह्रस्वस्यानुस्वारविसर्जनीयजिह्वा-मूलीयोपध्मानीयेभ्यश्च गुरुसंज्ञातिदिश्यते।।११।।

इससे व्यञ्जनों का संयोग लक्षित किया जा रहा है। ध्र अर्थात् व्यञ्जनसंयोग आदि में हो जिनके ऐसे वर्ण आदि से विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मनियों का ग्रहण समझना। अब ध्रादि अर्थात् व्यञ्जन संयुक्त वर्ण, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आगे हों जिन वर्णों के ऐसे वर्णों की गुरु संज्ञा होती है। फलितार्थ यह हुआ कि संयुक्तवर्ण, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय वर्णों से पूर्व लघुवर्ण की गुरु संज्ञा होती है।।११।।

हे।। १२।।

ग इत्यनुवर्त्तते। हे इति द्विमात्रोपलक्षणार्थम्। ततश्चायं सूत्रार्थः-द्विमात्रिकस्य दीर्घस्य 'ग' इति संज्ञा क्रियते।। १२।।

गन्ते इस सूत्र से ग का अनुवर्तन होता है। हि' इससे द्विमात्र का उपलक्षण समझना, तब सूत्रार्थ यह होता है—द्विमात्र की गुरु संज्ञा होती है।।१२।।

लौ सः।। १३।।

स इति गकारस्य परामर्शः। स गकारो द्विमात्रो द्वौ लघू कृत्वा गणयितव्यः।।१३।।

'स' इससे गकार का परामर्श कर लेना चाहिये—उस 'ग' अर्थात् गुरुसंज्ञक द्विमात्रिक को दो लघु वर्णों की तरह गिनना चाहिये।।१३।।

ग्लौ।। १४।।

अधिकारोऽयमाशास्त्रपरिसमाप्तेः। यत्र विशेषान्तरं न श्रूयते तत्र 'ग्लौ' इत्युपतिष्ठते, 'गायत्र्या वसवः' (पि०सू० ३।३) इत्येवमादिवत्। प्लुतेनेह व्यवहारो नास्ति।। १४।।

इस शास्त्र की समाप्ति पार्यन्त 'ग्लौ' इस सूत्र का अधिकार रहेगा। अर्थात् जहां पर विशेष विधिका श्रवण न रहेगा वहां पर जैसे गायत्री का पाद कहने से आठ समझा जाता है अर्थात् गायत्री के पादशब्द से आठ की उपस्थिति होती है उसी प्रकार 'ग्लौ' से गुरुलघु की उपस्थिति होगी। परन्तु इस शास्त्र में प्लुत का व्यवहार नहीं किया जायेगा।

जैसे **'आसुरी पञ्चदश'** (२।३) सूत्र में वृत्तिकार कहेंगे 'तानि च अक्षराणि ग्लौ इत्यधिकारवशात् 'गुरूणि लघूनि च'। आसुरी गायत्री पन्द्रह अक्षरों की होती है वह पन्द्रह अक्षरों से "ग्लौ" इसका अधिकार होने के कारण गुरु संज्ञक और लघु दोनों का ही ग्रहण करना चाहिये।। १४।।

अष्टौ वसव इति।।१५।।

अत्र शास्त्रे वसव इत्युच्यमानेऽष्टसंख्योपलक्षिता गुरुलघुस्वरूपा वर्णा गृह्यन्ते। लौकिकप्रसिद्ध्युपलक्षणार्थमिदं सूत्रम्। तेन चतुर्णां समुद्राः, पञ्चानामिन्द्रियाणि, इत्येवमादयः

संज्ञाविशेषा लौकिकेभ्यः प्रत्येतव्याः। इतिकारोऽध्याय-समाप्तिसूचकः।।

इह ध्र्यादीनामुपादानप्रयोजनं वर्ण्यते—अध्ययनाद्धीर्भवति। यस्य धीस्तस्य श्रीः, बुद्धिपूर्वकत्वाद्विभूतेः। यस्य श्रीस्तस्य स्त्री, अर्थमूलकत्वाद्गार्हस्थ्यस्य। 'वरा सा' इत्यनेन सर्वेषां स्त्रीसाधनोपायानां बुद्धेरुपायस्य माहात्म्यं दर्शयति। तथा चोक्तम्—

'अर्धाङ्गुलपरीणाहिजिह्वाग्रायासभीरवः।
सर्वाङ्गीणपरिक्लेशमबुधाः कर्म कुर्वते।।'

तत्राह शिष्यः—'का गुहा' ? गुहाशब्दः स्थानवाचकः। का गुहा यत्रासौ तिष्ठति ? उपाध्यायो ब्रूते—'वसुधा'। पृथिव्यां लभ्यते धीर्नात्र विषादः कर्त्तव्यः। पुनरप्याह शिष्यः—'सा ते क्व ? सा धीस्त्वयोपदिष्टा पृथिव्यां क्वाश्रयस्थितेन लभ्यते ? तत्र पुनराचार्य आह—'गृहे'। पुनरप्याह शिष्यः—'कदा सः' स गृहस्थः पुरुषः कदा कस्मिकन्काले तां धियं प्राप्नोति ? ततोऽनन्तरं गुरुराह—'ध्रादिपरः' धारणार्थावबोधपरोऽसौ यदा स्यात्तदा धियं लभते। भूयोऽपि शिष्यः पृच्छति—'किं वद' किं कुर्वन्नसौ तां धियं लभते ? तद्वद। तत्राह गुरुः—'न हसन्' हासादिचापल्यम-कुर्वाणस्तां धियं लभत इत्यर्थ।।१५।।

इति श्रीभट्टहलायुधकृतायां पिङ्गलछन्दोवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः।१।

इस छन्दशास्त्र में 'वसु' शब्द से गुरु और लघु संज्ञक आठ अक्षरों का बोध करना चाहिये। इस सूत्र से लोक में जितनी संख्याबोधक शब्दों की प्रसिद्धि है उन सब का उपलक्षण समझना। जैसे समुद्र से चार का, इन्द्रिय से पांच का, रस से छः का, दिशा शब्द से दश का, इस प्रकार लौकिक संज्ञायों से ज्ञान कर लेना चाहिये।

इस सूत्र में इति शब्द अध्याय समाप्ति का द्योतक है प्रथम अध्याय समाप्त हुआ यही सूचित कर रहा है।

म्, य्, र् आदि संज्ञा विधान करने के लिये धी आदि शब्दों का उपादान सूत्रकार ने क्यों किया इसका उत्तर भट्ट हलायुध इस प्रकार दे रहे हैं–अध्ययन से ही बुद्धि बढ़ती है, जिसकी बुद्धि है उसी को लक्ष्मी मिलती है क्योंकि बुद्धि के बिना कोई व्यवसाय नहीं किया जा सकता है बल्कि जो अधिक बुद्धिमान् है वही पुरुष अनेक प्रकार के विचित्र उपायों द्वारा अर्थ कमा लेता है और जिसके समीप अर्थ है उसको स्त्री मिल ही जाती है अथवा कहना चाहिये कि गार्हस्थ्य संचालन अर्थोपार्जन के ऊपर निर्भर करता है। "वरा सा" इस सूत्र से बुद्धि की प्रशंसा की जाती है। वह बुद्धि अन्यान्य अर्थोपार्जन साधनों से श्रेष्ठ है कहा भी है कि–

आधा अंगुल विस्तृत जिह्वाग्र के कष्ट से डरे हुए मूर्ख लोग जिससे समस्त शरीर में कष्ट होता है ऐसे कर्म करते हैं।

अध्ययन से केवल जीभ को ही कष्ट होता है परन्तु अध्ययन से डरनेवाले लोगों को शारीरिक परिश्रम से ही धनोपार्जन करना पड़ता है यही इसका तात्पर्य है।

फिर शिष्य पूछता है कि 'का गुहा' स्थान कहां है ? अर्थात् जहां बुद्धि प्राप्त हो सकती है वह स्थान कहां है ?

उपाध्याय कहता है कि 'वसुधा' अर्थात् पृथ्वी में ही बुद्धि मिल सकती है, इसलिये दु:ख नहीं मानना चाहिये।

शिष्य पूछता है कि 'सा ते क्व' जिस बुद्धि प्राप्त करने का उपदेश आप दे रहे हैं वह बुद्धि पृथ्वी की किस जगह रहकर प्राप्त की जा सकेगी ?

गुरु कहता है–'गृहे' घर में ही बुद्धि मिल सकती है उसके लिये कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है।

शिष्य पूछता है 'कदा स:' वह गृहस्थ पुरुष किस काल में बुद्धि प्राप्त करता है ?

इसका उत्तर है 'धादिपर:' जब गृहस्थ पुरुष निर्जन गृह में बैठकर चित्त को किसी एक लक्ष्य में स्थिर कर देता है तब इस प्रकार योग का छठा अंग धारणा से चित्त स्थिर और शान्त हो जाता है और चित्त के शान्त होने से ही बुद्धि में सूक्ष्मता आती है। इससे आचार्य बुद्धि प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय धारणा का उपदेश दे रहे हैं।

शिष्य फिर पूछता है। 'किं वद' क्या करता हुआ गृहस्थ बुद्धि प्राप्त कर सकता है अर्थात् बुद्धि प्राप्त करने का साधारण उपाय क्या है ?

उत्तर है 'न हसन्' हास्य आदि चाञ्चल्य अर्थात् जिस क्रिया से मन में चाञ्चल्य उत्पन्न होता हो तो ऐसी क्रिया को त्याग देने से ही बुद्धि प्राप्त की जा सकती है। अर्थात् किसी प्रकार से चित्तवृत्ति के निरोध करने से ही बुद्धि प्राप्त हो सकती है।

गण-चक्रम्

संख्या	गणनाम	गणस्वरूप	सूत्र	उदाहरण	गुरुलघु
१.	मगण	ऽ ऽ ऽ	धी श्री स्त्री म्	(माताजी)	सर्वगुरु
२.	यगण	। ऽ ऽ	वरा सा य्	(यशोदा)	आदिलघु
३.	रगण	ऽ । ऽ	का गुहा र्	(रामजी)	मध्यलघु
४.	सगण	। । ऽ	व सुधा स्	(समता)	अन्तगुरु
५.	तगण	ऽ ऽ ।	सा वे क्व त्	(तालाब)	अन्तलघु
६.	जगण	। ऽ ।	कदा स ज्	(जहाज)	मध्यगुरु
७.	भगण	ऽ । ।	किं वद भ्	(भोजन)	आदिगुरु
८.	नगण	। । ।	न हस न्	(नयन)	सर्वलघु

भाषाटीका में प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।।१।।

द्वितीयोऽध्यायः

(अथ छन्दोऽधिकारः)

छन्दः ।। १ ।।

अधिकारोऽयमाशास्त्रपरिसमाप्तेः । इत ऊर्ध्वं यद्वक्ष्यामश्छन्दस्तत्रोपतिष्ठते । छन्दःशब्देनाक्षरसंख्यावच्छेदोऽत्राभिधीयते ।। १ ।।

इस शास्त्र की समाप्ति पर्यन्त छन्दःशब्द का अधिकार रहेगा। इसके अनन्तर जो कहा जायेगा उसमें 'छन्दः' की उपस्थिति होगी। छन्दः शब्द से यहां पर अक्षरों की नियतसंख्याविशिष्टवाक्य समझना।। १।।

(अथ गायत्र्यधिकारः)

गायत्री ।। २ ।।

अधिकारोऽयमाद्वादशसूत्रपरिसमाप्तेः । 'तान्युष्णिग्' (पि० २।१४) इत्यादिसूत्रात्प्राग्यदुच्यते छन्दस्तद्गायत्रीसंज्ञं वेदितव्यम् ।।२ ।।

बारहवें सूत्र पर्यन्त गायत्री शब्द का अधिकार रहेगा। तान्युष्णिक् २।१४ इत्यादि सूत्र से पहले जो छन्द कहा जायेग उसे गायत्री संज्ञक समझना चाहिये।

दैव्येकम् ।।३ ।।

एकाक्षरं छन्दो दैवी गायत्री संज्ञायते । तत्रायं प्रदर्शनोपायः चतुरङ्गक्रीडायामिव चतुःषष्टिकोष्ठान् लिखित्वा (प्रथमपङ्क्तौ आर्षीनाम लिखित्वा द्वितीयादिकोष्ठेष्वङ्कानामुपरि गायत्र्यादिसप्तच्छन्दसां नामानि विन्यसेत् ।) तत्र द्वितीयायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे दैवीशब्दं विन्यसेत्, संज्ञाज्ञापनार्थम् । द्वितीये एक(१) संख्याङ्कं विन्यसेत् ।।३ ।।

एकाक्षर छन्द को दैवीगायत्री कहते हैं। गायत्री उष्णिक् आदि सात प्रकार के छन्द होते हैं। उनमें हर एक के दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्षी और ब्राह्मी, ये आठ भेद होते हैं। कौन कितने अक्षरों का होता है इसे अच्छी तरह समझाने के लिये हलायुधभट्ट ने एक मण्डल तैयार किया है। उस

मण्डल को इस अध्याय की समाप्ति में दिखलाया जायेगा। उसके बनाने की पद्धति यह है कि सतरंज के खेल की तरह आठ पंक्ति के चौसठ कोष्ठ का एक मण्डल बनाओ। फिर उसकी पहली पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में आर्षी ऐसा लिखो। द्वितीय से अष्टम कोष्ठ तक के ऊपर भाग में क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों का नाम लिखो। पुनः द्वितीय पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में दैवी ऐसा शब्द लिखो। संज्ञा समझाने के लिये द्वितीय कोष्ठ में (१) अंक लिखना चाहिये।।३।।

आसुरी पञ्चदश।।४।।

आसुरी गायत्री पञ्चदशाक्षरा। तानि चाक्षराणि 'ग्लौ' (पिं० सू० १।१४) इत्यधिकाराद्गुरूणि लघूनि च यथासम्भवं द्रष्टव्यानि। अत्र तृतीयायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे आसुरीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीये कोष्ठे पञ्चदश (१५) संख्याङ्कं लिखेत्।।४।।

पन्द्रह अक्षरों की आसुरी गायत्री होती है। "ग्लौ" (१।१४) गुरु और लघु का अधिकार चल रहा है इसलिये आसुरी गायत्री आदि शब्दों में कहे गये अक्षरों से गुरु और लघुसंज्ञक दोनों का ग्रहण करना चाहिये। पूर्वोक्त मण्डल की तृतीय पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में आसुरी शब्द लिखकर द्वितीय कोष्ठ में (१५) पन्द्रह अंक लिखना चाहिये।।४।।

प्राजापत्याष्टौ।।५।।

प्राजापत्या गायत्र्यष्टाक्षरा भवति। यत्र क्वचिद्वेदेऽष्टाक्षरं छन्दस्तत्प्राजापत्या गायत्रीति ज्ञेयम्। चतुर्थ्यामत्र पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे प्राजापत्याशब्दं लिखित्वा द्वितीयेऽष्ट (८) संख्याङ्कं लिखेत्।।५।।

जिस छन्द में आठ (८) अक्षर हों उसे "प्राजापत्या" गायत्री कहते हैं। जहां पर किसी पाद में आठ अक्षर का छन्द हो उसे "प्राजापत्या गायत्री" समझना। पूर्वोक्त मण्डल की चौथी पंक्ति के पहिले कोष्ठ में "प्राजापत्या" शब्द लिखकर दूसरे कोष्ठ में (८) आठ ऐसा अंक लिखो।।५।।

यजुषां षट्।।६।।

यजुषां गायत्री षडक्षरा भवति। यत्र क्वचिद्वेदे षडक्षरं छन्दस्तद्याजुषी गायत्रीति संज्ञायते। अत्र पञ्चम्यां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे याजुषीशब्दं व्यावस्थाप्य द्वितीये षट् (६) संख्याङ्कं लिखेत्।।६।।

जिस छन्द में छः अक्षर हों उसे "याजुषी गायत्री" कहते हैं। जहां कहीं वेद में छः अक्षरों का छन्द दीख पड़े उसे "याजुषी गायत्री" समझना। पूर्वोक्त मण्डल की पांचवीं पंक्ति के पहिले कोष्ठ में याजुषी शब्द लिखकर उसी पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में छः (६) अंक बैठाना।।६।।

साम्नां द्विः।।७।।

षडित्यनुवर्तते। द्विरिति क्रियाभ्यावृत्तिदर्शनात्करोतिरध्याह्रियते। द्वादशाक्षरेत्यभ्यावृत्त्या क्रियते। तेन द्विःकृता द्विगुणिता षट्संख्या साम्नां गायत्री भवति। यत्र क्वचिद्वेदे द्वादशाक्षरं छन्दः तत्साम्नां गायत्रीति संज्ञायते। अत्र षष्ठ्यां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे सामशब्दं लिखित्वा द्वितीये द्वादश (१२) संख्याङ्कं लिखेत्।।७।।

पूर्वसूत्र से (षट्) इस पद की अनुवृत्ति होती है 'द्विः' इस पद में क्रिया की आवृत्ति अर्थ में सुच् (२) प्रत्यय होता है। हिन्दी में उसका अर्थ दोहराना या दो बार उधारण करना होता है। इससे छः संख्या के दोहराने से अर्थात् दोगुणा करने से जो संख्या होती हो वह संख्या "साम्नी गायत्री" की आती है। तात्पर्य यह हुवा कि जहां कहीं वेद में बारह (१२) अक्षरों का छन्द दीख पड़े उसे "साम्नी गायत्री" समझना। पूर्वोक्त मण्डल की छठी पंक्ति के पहिले कोठे में साम शब्द लिखकर उसी पंक्ति के दूसरे कोठे में बारह (१२) अंक रखना चाहिये।।७।।

ऋचां त्रिः।।८।।

षडित्यनुवर्त्तते। अत्रापि पूर्ववत् क्रियाभ्यावृत्तिः, तेन त्रिगुणिता षट्संख्या ऋचां गायत्री भवति। यत्र क्वचिद्वेदेऽष्टादशाक्षरं छन्दः सा ऋचां गायत्री ज्ञेया। अत्र सप्तम्यां पङ्क्तौ प्रथमे

कोष्ठे ऋक्शब्दं व्यवस्थाप्य द्वितयेऽष्टादश (१८) संख्याङ्कं लिखेत्।।८।।

'षड्' इस पद की अनुवृत्ति आती है। इस सूत्र में क्रिया की आवृत्ति पूर्ववत् समझना। छः संख्या को तीन से गुणा करने पर जो संख्या होती है वही "आर्ची गायत्री" की संख्या है। अर्थात् जहां कहीं वेद में अठारह (१८) अक्षरों का छन्द होता है, उसे "आर्ची गायत्री" समझना।

अब पूर्वोक्त मण्डल की सातवीं पंक्ति के पहिले कोठे में 'आर्ची' शब्द लिखकर उसी पंक्ति के दूसरे कोठे में अठारह (१८) अंक रखो।।८।।

द्वौ द्वौ साम्नां वर्धेत।।६।।

गायत्रीत्यनुवर्तते। साम्नां पङ्क्तौ गायत्री द्वौ द्वौ संख्याङ्कौ गृहीत्वा पूर्वात् पूर्वाद्वर्धेत यावदष्टमं कोष्ठं प्राप्नोति तत्र साम्नां पङ्क्तौ तृतीयादिषु कोष्ठेषु क्रमेण वर्धितान्यक्षराण्यङ्केन विन्यसेत्।।९।।

इस सूत्र में भी "गायत्री" पद की अनुवृत्ति आती है।

छठी पंक्ति में जो सामगायत्री की संख्या है उसे दो-दो संख्या से बढ़ाकर उसी पंक्ति के तीसरे कोठे से आठवें कोठे तक बैठाना।

अर्थात् छठी पंक्ति के दूसरे कोठे में साम (४) गायत्री का अंक (१२) बारह है उसमें दो जोड़ने से तीसरे कोठे में (१४) हो जाता है, पुनः चौदह में दो जोड़ने से चौथे कोठे में (१६) हो जाता है। इसी तरह पांचवें में (१८), छठे में (२०), सातवें में (२२), और आठवें में (२४) बैठेगा। तात्पर्य यह हुआ कि सामगायत्री में जो अक्षरसंख्या है, उसी संख्या में दो संख्या और जोड़ देने से सामोष्णिक् की अक्षर संख्या निकल आती है। इसी प्रकार सामानुष्टुप आदि की भी अक्षर संख्या निकल आती है। जैसे सामगायत्री की अक्षर संख्या १२ है इसलिये १२+२=१४ सामोष्णिक्। १४+२=१६ सामानुष्टुप्। १६+२=१८ सामबृहती। १८+२=२० सामपङ्क्ति। २०+२=२२ सामत्रिष्टुप्। २२+२=२४ सामजगती।

त्रींस्त्रीनृचाम्।।१०।।

गायत्रीत्यनुवर्तते। ऋचां गायत्री त्रींस्त्रीन् संख्याङ्कान् गृहीत्वा

पूर्ववद्वर्धेत। अत्राप्यृचां पङ्क्तौ तृतीयादिषु कोष्ठेषु त्रि(३)संख्या-ङ्कक्रमेण वृद्धमङ्कं स्थापयेत्।।१०।।

इस सूत्र में भी गायत्री पद का अनुवर्तन होता है, सातवीं पंक्ति जो "आर्ची गायत्री" का कोष्ठ है उसमें (१८) अठारह संख्या है। उस अठारह संख्या में तीन जोड़ने से "आर्ची उष्णिक्" की अक्षर संख्या आती है, पुनः तीन जोड़ने से आर्ची अनुष्टुप् की अक्षरसंख्या आजाती है। इसी प्रकार लगातार तीसरे कोठे से आठवें कोठे तक पूर्व की तरह (३) तीन अंक–जोड़े जाने से क्रमशः तीसरे कोठे में २१, चौथे में २४, पांचवें में २७, छठे में ३०, सातवें में ३३ और आठवें में ३६ अंक बैठेगा।

अतएव १८ अक्षरों की आर्ची गायत्री, २१ अक्षरों की 'आर्ची उष्णिक्' २४ की "आर्ची अनुष्टुप्" २७ की "आर्ची बृहती" ३० की "आर्ची पंक्ति, ३३ की "आर्ची त्रिष्टुप्" और ३६ की "आर्ची जगती" होती है।

चतुरश्चतुरः प्रजापत्यायाः।।११।।

प्राजापत्यायाः पङ्क्तौ गायत्री चतुरश्चतुरः संख्याङ्कान् गृहीत्वा वर्धेत। अत्रापि तृतीयादिषु कोष्ठेषु विन्यासः पूर्ववदेव।।११।।

चौथी पंक्ति में "प्राजापत्या गायत्री" चार-चार संख्या में बढ़ती हुई तीसरे कोठे से आठवें कोठे तक क्रमशः बैठेगी। अर्थात् उसी पंक्ति के दूसरे कोठे से "प्राजापत्या गायत्री" की संख्या (८) है अतएव (४) से बढ़ती हुई तीसरे कोष्ठ में बैठेगी १२, चौथे में १६, पांचवें में २०, छठे में २४, सातवें में २८ और आठवें में ३२। इसलिये "प्राजापत्या उष्णिक्" की अक्षर संख्या १२, "प्राजापत्या अनुष्टुप्" की १६, प्राजापत्या बृहती, की २०, "प्राजापत्या पंक्ति" की २४, "प्राजापत्या त्रिष्टुप्" की २८ और "प्राजापत्या जगती" की अक्षरसंख्या ३२ समझनी चाहिये।।११।।

एकैकं शेषे।।१२।।

अनुक्तः शेषः। यत्र गायत्र्यां संख्यावृद्धिर्नोक्ता सैकैकं संख्याङ्कं गृहीत्वा वर्धेत। दैवी याजुषी च शेषशब्देनोच्यते। आसुर्य्यां विशेषाभिधानात्। तेन दैवी तृतीयादिषु कोष्ठेषु क्रमेणैकैकमक्षरं गृहीत्वा वर्धेत। तथैव याजुषी।।१२।।

जिन गायत्रियों के सम्बन्ध में विशेष विधान नहीं किया गया हो उनकी अक्षर संख्या एक संख्या से बढ़ती हुई तीसरे कोठे से आठवें कोठे तक बैठेगी। दैवी और याजुषी ही ऐसी गायत्री हैं जिनकी संख्या में वृद्धि विधान नहीं है। वे "शेष" शब्द से कही गई हैं। आसुरी गायत्री का विशेष विधान आगे के सूत्र से करने ही वाले हैं। उसकी भी संख्यावृद्धि नहीं होती है। बल्कि संख्या का ह्रास होता है। इसलिये मण्डल की दूसरी और पांचवीं पंक्ति में जो दैवी और याजुषी कोष्ठ है उसमें दैवी गायत्री की अक्षर संख्या (१) एक और याजुषी गायत्री की अक्षर संख्या (६) छः है, उनकी वृद्धि आठवें कोठे तक एक संख्या के द्वारा होती चलेगी। अर्थात् दैवी उष्णिक् की अक्षर संख्या (२), दैवी अनुष्टुप् की (३), दैवी बृहती की (४), दैवी पंक्ति की (५), दैवी त्रिष्टुप् की (६) और दैवी जगती की अक्षर संख्या (७) है।

याजुषी उष्णिक् की अक्षर संख्या (७), याजुषी अनुष्टुप् की (८), याजुषी बृहती की (९), याजुषी पंक्ति की (१०), याजुषी त्रिष्टुप् की (११) और याजुषी जगती की अक्षर संख्या (१२) है।

जह्यादासुरी।।१३।।

एकैकमित्यनुवर्तते। आसुरी गायत्री एकैकमक्षरं त्यजेत्। उत्तरेषु कोष्ठेषु वृद्धौ प्राप्तायां ह्रासो विधीयते। तेऽङ्काः क्रमेण स्थाप्याः।।१३।।

पूर्वसूत्र से एकैक पद का अनुवर्तन होता है तृतीय पंक्ति में आसुरी गायत्री एक-एक संख्या छोड़ती हुई द्वितीय कोष्ठ से अष्टम कोष्ठ तक क्रमशः बैठेगी। जैसे तृतीय पंक्ति के द्वितीय कोष्ठ में आसुरी गायत्री की अक्षर संख्या (१५) पन्द्रह है, उस (१५) से (१) घटाकर तृतीय कोष्ठ में (१४), बैठेगी उससे पुनः (१) एक घटाने से जो (१३) संख्या होगी वह चतुर्थ कोष्ठ में बैठेगी। इसी प्रकार पञ्चम कोष्ठ में (१२), षष्ठ में (११) और सप्तम में (१०) और नवम कोष्ठ में (९) संख्या बैठेगी।।१३।।

अर्थात् आसुरी उष्णिक् की अक्षर संख्या (१४), आसुरी अनुष्टुप् की अक्षर संख्या (१३), आसुरी बृहती की (१२), असुरी पंक्ति की (११), आसुरी त्रिष्टुप् की (१०) और आसुरी जगती की अक्षर संख्या (९) होती है ऐसा समझना चाहिये।

तान्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यः।।१४।।

तानि छन्दांसि गायत्र्याः पुरस्तात् उष्णिग्-अनुष्टुब्बृहती-पङ्क्तत्रिष्टुब्-जगत्याख्यानि क्रमेण भवन्ति।।१४।।

गायत्री छन्द के अननतर द्वितीय कोष्ठ से अष्टम कोष्ठ पर्यन्त क्रमशः उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द होंगे। अर्थात् गायत्री छन्द के जैसे देवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी आदि भेद होते हैं उसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्द के भी भेद होते हैं। ये भेद पूर्व दिखाये गये हैं।

तिस्रस्तिस्रः सनाम्न्य एकैका ब्राह्म्यः।।१५।।

याजुषीं पङ्क्तिमारभ्य तिस्रो याजुषी, साम्नी, आर्ची चेति गायत्र्यो मिलिता एका षट्त्रिंशदक्षरा ब्राह्मी गायत्री भवति। सनाम्न्य इत्येकसंज्ञा इत्यर्थः। तिस्रस्तिस्र इति वीप्सया परेषामुष्णिगादीनामिह ग्रहणम्। तथैकैकेति वीप्सया ता एव ब्राह्म्यो भवन्तीति विधीयते। ब्राह्म्य इति गायत्र्यादीनां जगतीपर्यन्तानां विशेषणम्। एवं याजुषी, साम्नी, आर्ची चोष्णिङ्मिलिता एकीकृता द्वाचत्वारिंशदक्षरा ब्राह्म्युष्णिग्भवति। एवं तिस्रोऽनुष्टुभः संगताः सत्योऽष्टाचत्वारिंशदक्षरैका ब्राह्म्यनुष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो बृहत्यः संगताः सत्यश्चतुःपञ्चाशदक्षरा एका ब्राह्मी बृहती भवति। ता एव तिस्रः पङ्क्तयः संगताः षष्ट्यक्षरा एका ब्रह्मी पङ्क्तिर्भवति। ता एव तिस्रस्त्रिष्टुभः संगताः षट्षष्ट्यक्षरा एका ब्राह्मी त्रिष्टुप् भवति। ता एव तिस्रो जगत्यः संगता द्वासप्तत्यक्षरा एका ब्राह्मी जगती भवति। अत्राष्टम्यां षड्क्तौ प्रथमे कोष्ठे ब्राह्मीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीयादौ क्रमेण गायत्र्यादीनां षट्त्रिंशदा (३६) द्यङ्कान् विन्यसेत्।।१५।।

याजुषी, साम्नी और आर्ची गायत्री इन तीनों को मिला देने से (३६) अक्षरों की एक "ब्राह्मी गायत्री" होती है। इसी प्रकार याजुषी, साम्नी और आर्ची, इन

तीनों उष्णिक् छन्दों को मिला देने से (४२) अक्षरों को एक ब्राह्मी उष्णिक्, याजुषी, साम्नी, और आर्ची अनुष्टुप्, इन तीनों के मिल जाने से (४८) अक्षरों का एक ब्राह्मी अनुष्टुप्, याजुषी, साम्नी और आर्ची बृहती, इन तीनों के मिल जाने से (५४) अक्षरों की एक "ब्राह्मी बृहती" याजुषी, साम्नी और आर्ची पंक्ति के मिल जाने से ६० अक्षरों की एक 'ब्राह्मी पंक्ति' याजुषी, साम्नी और आर्ची त्रिष्टुप् के मिल जाने से ६६ अक्षरों की एक "ब्राह्मी त्रिष्टुप्" एवं याजुषी, साम्नी और आर्ची, इन तीन प्रकार जगती छन्दों को मिला देने से ७२ अक्षरों की एक ब्राह्मी जगती होती है।

अब पूर्वोक्त मण्डल की अष्टम पंक्ति के प्रथम कोष्ठ में ब्राह्मी शब्द लिखकर उसी पंक्ति के द्वितीय कोष्ठ में (३६), तृतीय कोष्ठ में (४२), चतुर्थ कोष्ठ में (४८), पञ्चम कोष्ठ में (५४), षष्ठ कोष्ठ में (६०), सप्तम कोष्ठ में (६६) और अष्टम कोष्ठ में (७२) इन अंकों को बैठाना चाहिये।।१५।।

प्राग्यजुषामार्ष्य इति।।१६।।

तिस्रस्तिस्र इत्यनुवर्तते। यजुषां पङ्क्तेः प्राक् प्राजापत्या आसुरी दैवीति यास्तिस्रो गायत्र्यः, ताः संगताः सत्यश्चतुर्विंशत्यक्षरा एका आर्षी गायत्री भवति। ता एव तिस्र उष्णिहः संगता अष्टाविंशत्यक्षरा एका आर्षी उष्णिक् संपद्यते। तिस्रोऽनुष्टुभः संगता द्वात्रिंशदक्षरा एका आर्षी अनुष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो बृहत्यः संगताः षट्त्रिंशदक्षरा एका आर्षी बृहती भवति। ता एव तिस्रः पङ्क्तयः संगताश्चत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी पङ्क्तिर्भवति। ता एव तिस्रस्त्रिष्टुभः संगताश्चत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी त्रिष्टुब् भवति। ता एव तिस्रो जगत्यः संगता अष्टाचत्वारिंशदक्षरा एका आर्षी जगती भवति। अत्र प्रथमायां पङ्क्तौ प्रथमे कोष्ठे आर्षीशब्दं व्यवस्थाप्य द्वितीयादिषु क्रमेण चतुर्विंशत्याद्यङ्कान् विन्यसेत्। प्रथमपङ्क्तेर्द्वितीयादिकोष्ठेष्वङ्कानापमुरि गायत्र्यादीनि नामानि विन्यसेत्। अयं स्पष्टतरः प्रदर्शनोपायः—

तिस्र तिस्र इन दो की अनुवृत्ति आती है। प्राजापत्या, आसुरी और **दैवी**-गायत्री, इन तीनों छन्दों के मिलाने से (२४) अक्षर की एक आर्षी गायत्री होती है। इसी प्रकार प्राजापत्या, आसुरी और दैवी इन तीनों प्रकार के उष्णिक् छन्दों के मिलाने से (२८) अक्षरों की एक आर्षी उष्णिक्, प्राजापत्या, आसुरी, और दैवी अनुष्टुप् के मिलाने से (३२) अक्षरों की एक आर्षी अनुष्टुप् छन्द, प्राजापत्या, आसुरी और दैवी बृहती, इन तीन छन्दों के मिल जाने से (३६) अक्षरों की एक आर्षी बृहती, प्राजापत्या, आसुरी और दैवी पंक्ति के मिलाने से (४०) अक्षरों की एक आर्षी पंक्ति, प्राजापत्या, दैवी और आसुरी त्रिष्टुप् छन्द, एवं प्राजापत्या, आसुरी और दैवी जगती, इन तीनों के मिल जाने से (४८) अक्षरों को एक आर्षी जगती होती है।

(श्रीहलायुधभट्टविरचितं चतुःषष्टिकोष्ठात्मकं मण्डलम्)

	छन्दः	गायत्री	उष्णिग्	अनुष्टुब्	बृहती	पङ्क्तिः	त्रिष्टुब्	जगती	अङ्कानां वृद्धिक्षय क्रम
१.	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	४ वृद्धिः
२.	दैवी	१	२	३	४	५	६	७	१ वृद्धिः
३.	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	१ ह्रासः
४.	प्राजा-पत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	४ वृद्धिः
५.	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	१ वृद्धिः
६.	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	२ वृद्धिः
७.	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	३ वृद्धिः
८.	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	६ वृद्धिः

इति श्रीभट्टहलायुधकृतायां पिङ्गलछन्दोवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

पूर्वोक्त मण्डल की पङ्क्ति के प्रथम कोष्ठ में आर्षी शब्द लिखकर, द्वितीय कोष्ठ में (२४), तृतीय कोष्ठ में (२८), चतुर्थ कोष्ठ में (३२), पञ्चम कोष्ठ में (३६), षष्ठ कोष्ठ में (४०), सप्तम कोष्ठ में (४४) और अष्टम कोष्ठ में

(४८), अंक बैठाना चाहिये और द्वितीय कोष्ठ के ऊपर गायत्री, तृतीय कोष्ठ के ऊपर उष्णिक्, चतुर्थ कोष्ठ के ऊपर अनुष्टुप्, पञ्चम कोष्ठ के ऊपर बृहती, षष्ठ कोष्ठ के ऊपर पङ्क्ति, सप्तम कोष्ठ के ऊपर त्रिष्टुप् और अष्टम कोष्ठ के ऊपर जगती, इस प्रकार सातों छन्दों का नाम लिख देना चाहिये।

वृत्तिकार हर एक सूत्र में छन्दों के भेद भली-भांति समझने के लिये किस पंक्ति के किस प्रकोष्ठ में कितने अंक बैठाने चाहियें यह दिखलात आये हैं। अब उन सबको मिला देने से एक पूर्ण मण्डल बन जाता है। जिसे ऊपर दिखाया गया है। यही मण्डल ही समस्त वैदिक छन्दों के भेदों को जानने का एक सर्वोत्तम उपाय है।

भाषाटीका में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।।२।।

तृतीयोऽध्यायः

पादः।।१।।

अधिकारोऽयमाध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत् 'पादः' इत्यधिकृतं वेदितव्यम्। वक्ष्यति च–'गायत्र्या वसवः' (पि०सू० ३।३) इति।।१।।

तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'पाद' शब्द का अधिकार रहेगा। अर्थात् इसके आगे जो कुछ कहा जायेगा वह 'पाद' के विषय में ही कहा जायेगा। द्वितीय अध्याय में गायत्र्यादि छन्दों में कितने अक्षर होते हैं और अक्षरों के भेद से गायत्री आदि छन्दों के कितने भेद होते हैं इसका विचार किया गया; परन्तु किस छन्द में कितने पाद होते हैं इसका विचार नहीं किया गया है। इस अध्याय में गायत्री आदि सातों छन्दों में किसके कितने पाद होते हैं और उन पादों के भेद होने से गायत्री आदि छन्दों के भी भेद हो जाते हैं इसका विवेचन किया जायेगा। परन्तु पाद शब्द के अधिकार से केवल सूत्रार्थ करने में सहायता होती है। जैसे (गायत्र्या वसवः) यह इस अध्याय का तीसरा सूत्र है–इसमें पाद शब्द की उपस्थिति होने से जहां पर गायत्री के पाद शब्द से कहा जायेगा वहां पर वसु अर्थात् आठ संख्या का बोध होता है।।१।।

इयादिपूरणः।।२।।

'पादः' इत्यनुवर्तते। इयादिः पूरणो यस्य स इयादिपूरणः। आदिशब्देन उवादयोऽपि गृह्यन्ते। तत्रायमर्थः-यत्र गायत्र्या-दिच्छन्दसि, पादस्याक्षरसंख्या न पूर्यते, तत्रेयादिभिः पूरयितव्या। यथा-'तत्सवितुर्वरेणियम्' (ऋ० सं० ३।४।१०।५), 'दिवं गच्छ सुवः पत' (यजु० १२।४) इत्यादयः।।२।।

पाद शब्द का अधिकार आरहा है। 'इयादिपूरणः' का अर्थ है कि (इयादि शब्द पूर्ण करनेवाला शब्द है जिस पाद का। आदि शब्द से उव्, पूर्वसवर्ण आदि का भी ग्रहण समझना। अर्थात् गायत्री आदि छन्दों के किसी पाद में यदि अक्षर संख्या कम हो तो उस न्यून अक्षरों की पूर्ति इय्, उव् आदि पदों से करनी चाहिये। जैसे आर्षी गायत्री के प्रथम पाद में आठ अक्षर होते हैं। परन्तु (तत्सवितुर्वरेण्यम्) गायत्री के इस पाद में सात ही अक्षर हैं, इसलिये (तत्सवितुर्वरेणियम्) ऐसा पाठ करना चाहिये। इससे गायत्री के इस पाद में आठ अक्षर हो जाते हैं।

गायत्र्या वसवः।।३।।

'पादः' इत्यनुवर्तते। परिभाषेयम्। गायत्र्याः पादो वसवोऽष्टाक्ष-राणि भवन्ति। यत्र गायत्र्याः पादोऽभिधास्यते तत्राष्टाक्षरो ग्राह्यः।

'पादः' सूत्र से पाद पद की अनुवृत्ति आती है। यह परिभाषा सूत्र है। गायत्री का पाद आठ अक्षरों का होता है इसलिये जहां कहीं गायत्री के पाद शब्द से व्यवहार किया जायेग वहां पर आठ अक्षरों का बोध होता है। इस सूत्र में गायत्री शब्द से **'आर्षी गायत्री'** का ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ब्राह्मी गायत्री आदि का पाद नव अक्षरों का भी होता है। ऋक्-प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में गायत्री शब्द से **'आर्षी गायत्री'** का ही व्यवहार देखा जाता है।।३।।

जगत्या आदित्याः।।४।।

'पादः' इत्यनुवर्त्तते। जगत्याः पादो द्वादशाक्षरो भवति। यत्र क्वचिज्जागतः पादस्तत्र द्वादशाक्षरो गृह्यते।।४।।

"पादः" सूत्र से पाद पद की अनुवृत्ति आती है। यह परिभाषा सूत्र है।

जगती का पाद द्वादश अक्षर का होता है। जहां कहीं जगती का पाद कहा जाय वहां बारह अक्षर समझना चाहिये।।४।।

विराजो दिशः।।५।।

'पादः' इत्यनुवर्तते। यत्र क्वचिद्वैराजः पाद इत्युच्यते, तत्र दशाक्षरः प्रत्येतव्यः।।५।।

'पादः' इस पद की अनुवृत्ति आती है। जहां कहीं विराट् का पाद ऐसा कहा जाय वहां दस अक्षर समझना चाहिये।।५।।

त्रिष्टुभो रुद्राः।।६।।

त्रैष्टुभः 'पादः' इत्युक्ते सर्वत्रैकादशाक्षरो गृह्यते। अस्मिन्नेवाध्याये परिभाषा एताश्चतस्रः।।६।।

जहां कहीं 'त्रिष्टुभ का पाद' ऐसा व्यवहार किया वहां ग्यारह अक्षर समझना। केवल इसी अध्याय में ही इन चार परिभाषायों का प्रयोग किया जायेगा (अन्यत्र नहीं)।।६।।

एकद्वित्रिचतुष्पादुक्तपादम्।।७।।

एभिश्चतुर्भिर्लक्षणैरुक्तः पादो यस्य तत् 'उक्तपादं' छन्दः। यस्य च्छन्दसो यादृशः पादः परिभाषितस्तच्छन्दस्तेनैव पादेन क्वचिदेकपात्, क्वचिद्द्विपात्, क्वचित्त्रिपात्, क्वचिच्चतुष्पाद् भवति। गायत्री च त्रिपदैव। चतुर्भिरष्टाक्षरैः पादैरनुष्टुबेव स्यात्।।७।।

पूर्वोक्त चार सूत्रों से जिन छन्दों में जैसा पाद कहा गया हो वह छन्द उसी पाद से कहीं एकपाद, कहीं द्विपाद, कहीं त्रिपाद और कहीं चतुष्पाद होता है परन्तु गायत्री त्रिपाद ही होती है, क्योंकि आठ अक्षरों से युक्त चार पाद जिस छन्द में हों उसे अनुष्टुप् ही कहते हैं।।७।।

आद्यं चतुष्पादृतुभिः।।८।।

'ऋतु' शब्देन लक्षणया षडक्षरः पादोऽभिधीयते। तैः पादैश्चतुष्पादं गायत्रं छन्दो भवति। एवं चतुर्विंशत्यक्षराणि संपद्यन्ते। यथा—

'दोषो गाय बृहद् (१) गाय द्युमद्धेहि (२)।
आथर्वण स्तुहि (३) देवं सवितारम् (४)।।'

(अथर्ववेद कां० ६ सू० १ मं० १)।।८।।

ऋतु शब्द से छः अक्षरों से युक्त पाद लक्षणा से है। अर्थात् जिसके हर एक पाद में छः छः अक्षर हों ऐसे चार पादों से युक्त गायत्री छन्द होता है। जैसे अथर्ववेद के उक्त उदाहरण में (२४) अक्षरों के चार पाद देखे जाते हैं।।८।।

क्वचित्त्रिपादृषिभिः।।९।।

क्वचिद्वेदे सप्ताक्षरोपलक्षितैः पादैस्त्रिभिर्गायत्र्येव भवति। एवमेकविंशत्यक्षराणि जायन्ते। यथा–

'युवाकु हि शचीनां (१) युवाकु सुमतीनाम् (२)।
भूयाम वाजदाव्नाम् (३)।।'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० १ व० ३२ मं० ४)।।९।।

जिसके प्रत्येक पाद में सात अक्षर हों इस प्रकार तीन पादों से युक्त इक्कीस अक्षरों का भी गायत्री छन्द किसी वेद में देखा जाता है। कहीं पर वेद में सात अक्षरों से युक्त तीन पादवाले छन्द की गायत्री संज्ञा ही होती है। इसी प्रकार इक्कीस अक्षरों का भी गायत्री छन्द होता है।।९।।

सा पादनिचृत्।।१०।।

सैव गायत्री 'पादनिचृत्' इति संज्ञां लभते। प्रयोक्तुरदृष्टाभ्युदयसम्बन्धज्ञापनार्थमियं संज्ञा वेदस्यानादित्वान्महत्त्वेऽपि च न दुष्टेति।।१०।।

उसी सात अक्षरों की त्रिपदा गायत्री को 'पादनिचृत्' कहते हैं। इसके प्रयोग करनेवाले को शुभ अदृष्ट उत्पन्न होता है। इसी बात को सूचित करने के लिये ही ऐसी संज्ञा की गयी है। चृत् का अर्थ हिंसा करना है और नि उपसर्ग लग जाने से उसका विपरीत अर्थ हिंसा न करना है। वह शुभ अदृष्ट से ही हो सकता है। यही भाव इस प्रकार संज्ञा का है।।१०।।

षट्कसप्तकयोर्मध्येऽष्टावतिपादनिचृत्।।११।।

प्रथमः षडक्षरः, द्वितीयोऽष्टाक्षरः, तृतीयः सप्ताक्षरः। एवं

त्रिभिः पादैर्या गायत्री सा 'अतिपादनिचृत्' इति संज्ञां लभते। 'त्रिपात्' इत्यनुवर्तनीयम्। यथा–

प्रेष्ठं वो अतिथिं (१) स्तुषे मित्रमिव प्रियम् (२)।
अग्निं रथं न वेद्यम् (३)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ६ म० ६ व० ५ मं० १)।।११।।

जिस गायत्री छन्द के प्रथमपाद में छः अक्षर, द्वितीय पाद में आठ अक्षर और तृतीय पाद में सात अक्षर हों उसे 'अतिपादनिचृत्' कहते हैं।

द्वौ नवकौ षट्कश्च नागी।।१२।।

द्वौ नवाक्षारौ पादौ, षडक्षरस्तृतीयः। एवं त्रिभिः पादैः 'नागी' नाम गायत्री भवति। यथा–

'अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः (२) क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् (२)।
ऋद्ध्यामा त ओहैः (३)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ३ म० ५ व० १० मं० १)।।१२।।

जिस गायत्री छन्द के प्रथम दो पादों में नौ अक्षर और तृतीयपाद में छः अक्षर हों उस त्रिपदा गायत्री को 'नागी' कहते हैं।।१२।।

विपरीता वाराही।।१३।।

इयमेव नागी गायत्री विपरीता यदा भवति, तदा 'वाराही' नाम भवति। प्रथमः पादः षडक्षरः द्वितीयतृतीयौ नवाक्षरौ। यथा–

'वीतꣳस्तुके स्तुके (१) युवमस्मासु नियच्छतम् (२)।
प्र प्र यज्ञपतिं तिर (३)।'

(तै० आ० प्रपा० ३ अ० ११ मं० २०)।।१३।।

यही नागी गायत्री यदि विपरीत हो जाय; अर्थात् प्रथम पाद में छः द्वितीय और तृतीय पाद में यदि नौ अक्षर हों तो उसे वाराही गायत्री कहते हैं।

षट्कसप्तकाष्टकैर्वर्धमाना।।१४।।

षडक्षरः प्रथमः पादः, द्वितीयः सप्ताक्षरः, तृतीयोऽष्टाक्षरः। एवं त्रिभिः पादैः 'वर्धमाना' गायत्री भवति। यथा–

'त्वमग्ने यज्ञानां (१) होता विश्वेषां हितः (२)।
देवेभिर्मानुषे जने (३)।।'

(ऋग्वेद-अ० ४ अ० ५ व० २१ मं० १)।।१४।।

जिस गायत्री छन्द के प्रथम पाद में छः अक्षर, द्वितीय पाद में सात अक्षर और तृतीय पाद में आठ अक्षर हों उसे 'वर्धमाना' गायत्री कहते हैं।।१४।।

विपरीता प्रतिष्ठा।।१५।।

सैव वर्धमाना गायत्री विपरीता यदा भवति, तदा 'प्रतिष्ठा' नाम गायत्री भवति। अष्टाक्षरः प्रथमः पादः, द्वितीयः सप्ताक्षरः, षडक्षरस्तृतीयः। यथा–

'आपः पृणीत भेषजं (१) वरूथं तन्वे३ मम (२)।
ज्योक्च सूर्यं दृशे (३)।।'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० २ व० १२ मं० १)।।१५।।

वही वर्धमाना गायत्री यदि विपरीत हो। अर्थात् जिसके प्रथम पाद में आठ द्वितीय पाद में सात और तृतीय पाद में छः अक्षर हों उसे 'प्रतिष्ठा' गायत्री कहते हैं।

तृतीयं द्विपाज्जागतगायत्राभ्याम्।।१६।।

तृतीयशब्देनैतदध्यायस्थसूत्रपाठक्रमापेक्षया विराजमाह। तथा चोक्तम्–विराजो दिशः' (पि० सू० ३।५) इति। यदा द्वादशाक्षरोऽष्टाक्षरश्च पादः स्यात् ततस्ताभ्यां 'द्विपाद् विराड्' नाम गायत्री भवति। यथा–

'नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो (१) राजा देवः समुद्रियः (२)।।

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० १५ मं० १)।।१६।।

तृतीय शब्द से यहां पर तृतीय अध्यायस्थ सूत्र के पाठक्रम की अपेक्षा से विराट् का ग्रहण करना चाहिये **'विराजो दिशः'** (पि०सू० ३।५) इस सूत्र से दश अक्षर की 'विराट' संज्ञा कही गयी है।

जिस गायत्री के एक पाद में (१२) अक्षर और एक पाद में (८) अक्षर हों उसे 'द्विपाद् विराट्' नाम की गायत्री कहते हैं।

त्रिपात्त्रैष्टभैः ।।१७।।

'तृतीयम्' इत्यनुवर्तते। एकादशाक्षरैः पादैः 'त्रिपाद् विराड्' नाम गायत्री भवति। यथा–

'दुहीयन्मित्रधितये युवाकु (१) राये च नो मिमीतं वाजवत्यै (२)। इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै (३)।।'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ८ व० २३ मं० ४)।।१७।।

इति गायत्र्यधिकारः।

तृतीय शब्द की अनुवृत्ति इस सूत्र में भी आती है। तृतीय शब्द से विराट् का ग्रहण होता है यह कहा गया है और त्रिष्टुभ् शब्द में ग्यारह का ग्रहण होता है। 'त्रिष्टुभो रुद्राः' (३।६)

इसलिये सूत्रार्थ यह हुआ कि जिस गायत्री छन्द के ग्यारह ग्यारह अक्षर तीनों पादों में होते हों उसे 'त्रिपाद् विराड्' नाम की गायत्री कहते हैं।।१७।।

गायत्री का अधिकार समाप्त हुआ।

उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च।।१८।।

यत्र गायत्रावष्टाक्षरौ पादौ, जागतश्च द्वादशाक्षरः, एवं त्रिभिः पादैः 'उष्णिग्' नाम छन्दो भवति। अत्र च क्रमो न विवक्षितः। पादसंख्यामात्रं विधीयते।।१८।।

जिस छन्द के दो पाद आठ अक्षर के और एक पाद बारह अक्षर का हो उस त्रिपाद छन्द को उष्णिक् कहते हैं। इस छन्द में किन पादों में आठ अक्षर हों और किन पादों में बारह अक्षर हों यह नियमित नहीं है। नियम है केवल आठ और बारह अक्षरवाले तीन पाद मात्र का।।१८।।

ककुम्मध्ये चेदन्त्यः।।१६।।

गायत्रयोः पादयोर्मध्ये जागतश्चेत्पादो भवति, तदेयम् उष्णिक् 'ककुप्' संज्ञा लभते। यथा–

'युष्माकं स्मा रथां अनु (१) मुदे दधे मरुतो जीरदानवः (२)। वृष्टीद्यावो यतीरिव (३)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ३ व० ११ मं० ५)।।१९।।

पूर्वसूत्र में जो अन्त कहा गया है वही यदि मध्य में हो। जैसे-पूर्व सूत्र में जागत शब्द का उल्लेख अन्त में है और जागत शब्द से पूर्वपरिभाषा के अनुसार बारह अक्षरों का ग्रहण होता है। इसलिये सूत्रार्थ यह हुआ कि जिस छन्द का प्रथम और अन्त का पाद आठ अक्षरों का हो और बीच का पाद यदि बारह अक्षरों का हो तो उस उष्णिक् छन्द की 'ककुप्' संज्ञा होती है।

पुर उष्णिक्पुरः।।२०।।

ए. एव पादो जागतश्चेत् प्रथमो भवति, गायत्रौ च परतः, तदा 'पुर उष्णिक्' नाम भवति। यथा–

"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषज (१) मपामुत प्रशस्तये (२)।
देवा भवत वाजिनः (३)।।

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० २ व० ११ मं० ४)।।२०।।

जिस छन्द के पहिले पाद में बारह अक्षर, और शेष दो पाद आठ आठ अक्षर के हैं उसे 'पुर उष्णिक्' कहते हैं।।२०।।

परोष्णिक् परः।।२१।।

एवं जागतः पादः परतश्चेद्भवति, पूर्वौ च गायत्रौ, तदा 'परोष्णिक्' नाम छन्दो भवति।

'उष्णिग्गायत्रौ जागतश्च' (पि०सू० ३।१८) इत्यनेन गतार्थमेतत्। विशेषसंज्ञाभिधानार्थं पुनरुच्यते। प्रथमसूत्रे (पि०सू० ३।२०) उष्णिग्ग्रहणमधिकारार्थम्। यथा–

'अग्ने वाजस्य गोमत (१) ईशानः सहसो यहो (२)।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः (३)।।'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ५ व० २७ मं० ४)।।२१।।

जिस छन्द का अन्तिम पाद बारह अक्षरों का हो और आदि के दो पाद आठ अक्षरों के हों उसे 'परोष्णिक' कहते हैं।

चतुष्पादृषिभिः।।२२।।

सप्ताक्षरैश्चतुर्भिः पादैः 'उष्णिक्' एव भवति। यथा–

'नदं व ओदतीनां (१) नदं योयुवतीनाम् (२)।
पतिं वो 'अघ्न्यानां (३) धेनूनामिषुध्यसि (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ५ व० ५ मं० २)।।२२।।

इत्युष्णिगधिकारः।

जिस छन्द के प्रत्येक पाद में सात अक्षर हों और चार पाद हों, उस चतुष्पाद छन्द को भी 'उष्णिक्' कहते हैं।।२२।।

उष्णिक् का अधिकार समाप्त हुआ।

अनुष्टुब्गायत्रैः।।२३।।

'चतुष्पाद्' इत्यनुवर्तते। गायत्रैरष्टाक्षरैः पादैश्चतुष्पाच्छन्दः "अनुष्टुप्" संज्ञं भवति। यथा–

"सहस्त्रशीर्षा पुरुषः (१) सहस्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा (३) त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ४ व० १७ मं० १)।।२३।।

पूर्व सूत्र से 'चतुष्पाद' शब्द की अनुवृत्ति आती है। जिस छन्द में गायत्री के चार पाद हों। अर्थात् जिस छन्द के चार पाद हों और प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर हों उसे अनुष्टुप् कहते हैं। आर्षी गायत्री में आठ आठ अक्षरों के तीन पाद होते हैं और अनुष्टुप् में आठ आठ अक्षरों के चार पाद होते हैं। यही आर्षी गायत्री और अनुष्टुप् में अन्तर है।।२३।।

त्रिपात्क्वचिज्जागताभ्यां च।।२४।।

'अनुष्टुब्' इत्यनुवर्तति। चकाराद् गायत्रग्रहणं च। गायत्रेणैकेन पादेन, ततो द्वाभ्यां जागताभ्यां क्वचित् 'त्रिपादनुष्टुब्' भवति।।२४।।

'अनुष्टुप्' शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आती है। इस सूत्र में 'च' ग्रहण है इससे 'गायत्र' पद की भी अनुवृत्ति आती है। यदि एक पाद गायत्री का हो शेष दो पाद जगती के हों (अर्थात् एक पाद में आठ अक्षर और दो पादों में बारह बारह अक्षर हों) तो उस त्रिपाद छन्द को भी अनुष्टुप् कहते हैं।

कौन पाद गायत्री का हो और कौन पाद जगती का हो यह क्रम अगले सूत्र में कहा जायेगा।।२४।।

मध्येऽन्ते च।।२५।।

जागतयोः पादयोर्मध्येऽन्ते च यदा गायत्रः पादो भवति, तदाप्यनुष्टुबेव स्यात्। यथा–

पर्यूषु प्र धन्व वाजसातये (१) परिवृत्राणि संक्षणिः (२)।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईयसे (३)।।

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० २२ मं० १)

अन्तपक्ष उदाहरणम्–

'मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो (१) माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः (२)। स्तनाभुजो अशिश्वीः (३)।।'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ८ व० २३ मं० ३)।।२५।।

इत्यनुष्टुबधिकारः।

(क) जगती के दो पाद आदि के और अन्त के हों, बीच का पाद गायत्री का हो। अर्थात् जिस छन्द के पहिले पाद में बारह अक्षर दूसरे में आठ अक्षर और तीसरे पाद में पुनः बारह हों तो इस प्रकार का भी त्रिपाद् अनुष्टुप् कहा जाता है।

(ख) जिस छन्द के पहिले पाद में बारह, दूसरे पाद में बारह और तीसरे पाद में आठ अक्षर हों इस प्रकार का भी 'त्रिपाद् अनुष्टुप्' कहा जाता है।

अनुष्टुप् अधिकार समाप्त हुआ।

बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः।।२६।।

एको जागतः पादः, त्रयश्च गायत्राः, तदा 'बृहती' नाम छन्दो भवति। यथा–

'मत्स्वा सुशिप्र हरिवस्तदीमहे(१) त्वे आ भूषन्ति वेधसः (२)।
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्या (३) सुतेष्विन्द्र गिर्वणः (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ७ व० ३ मं० २)।।२६।।

जिस छन्द में जगती का एक पाद और शेष तीन पाद गायत्री के हों (अर्थात्

जिस छन्द के किसी एक पाद में बारह अक्षर हों और शेष तीन पादों में आठ आठ अक्षर हों) उसे 'बृहती' छन्द कहते हैं।।२६।।

पथ्या पूर्वश्चेत्तृतीयः।।२७।।

'बृहती' इत्यनुवर्तते। पूर्वः पादो जागतो यदि तृतीयो भवति, अन्ये गायत्राः, तदासौ बृहती 'पथ्या' नाम छन्दो भवति। यथा—

'मा चिदन्यद्विशंसत (१) सखायो मा रिषण्यत (२)।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते(३)मुहुरुक्था च शंसत (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ५ अ० ७ व० १० मं० १)।।२७।।

पूर्वसूत्र से 'बृहती' पद की अनुवृत्ति आती है। पूर्व सूत्र में संज्ञीकोटि में पठित प्रथम जगती का पाद यदि तृतीय हो और प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ पाद यदि गायत्री के हों (अर्थात् जिस छन्द के प्रथम पाद में आठ, द्वितीय पाद में आठ, तृतीय पाद में बारह और चतुर्थ पाद में आठ अक्षर हों) उसे 'पथ्या बृहती' कहते हैं।।२७।।

न्यङ्कुसारिणी द्वितीयः।।२८।।

'पूर्वश्चेद्' इत्यनुवर्तते। पूर्वश्चेज्जागतः पादो द्वितीयो भवति, शेषाश्च गायत्राः, तदा 'न्यङ्कुसारिणी' नाम्नी बृहती भवति। यथा—

'मत्स्यपायि ते महः (१) पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः (२)।
वृषा ते वृष्ण इन्दु (३) र्वाजी सहस्रसातमः (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० ४ व० १८ मं० १)।।२८।।

पूर्वसूत्र से पूर्व शब्द की अनुवृत्ति चली आरही है। प्रथम सूत्र के संज्ञीकोटि में प्रथम पठित जगती का पाद वह यदि द्वितीय हो और शेष प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पाद यदि गायत्री के हों (अर्थात् जिस छन्द के पहिले पाद में आठ अक्षर, दूसरे में बारह अक्षर, तीसरे और चौथे में फिर आठ-आठ अक्षर हों) उसे 'न्यङ्कुसारिणी बृहती' कहते हैं।।२८।।

स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः।।२६।।

इयमेव 'न्यङ्कुसारिणी' क्रौष्टुकेराचार्यस्य मतेन 'स्कन्धोग्रीवी' नाम छन्दो भवति। आचार्यग्रहणं पूजार्थम्।।२९।।

क्रौष्टुकी आचार्य के मत में इस 'न्यङ्कुसारिणी' की 'स्कन्धोग्रीवी' संज्ञा है।।२९।।

उरोबृहती यास्कस्य।।३०।।

इयमेव 'न्यङ्कुसारिणी' यास्कस्याचार्यस्य मतेन 'उरोबृहती' नाम्नी भवति।।३०।।

यास्काचार्य इसी न्यङ्कुसारिणी को उरोबृहती कहते हैं।।३०।।

उपरिष्टाद्बृहत्यन्ते।।३१।।

यदा जागतः पादोऽन्ते भवति, तदा 'उपरिष्टाद्बृहती' नाम भवति। यथा–

'न तमंहो न दुरितं (१) देवासो अष्ट मर्त्यम् (२)। सजोषसो यमर्यमा (३) मित्रो नयन्ति वरुणो अतिद्विषः (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० १३ मं० १)।।३१।।

जब जगती का पाद अन्त में हो पहिला, दूसरा, तीसरा पाद गायत्री का हो तो उस बृहती की 'उपरिष्टात् बृहती' संज्ञा होती है। (अर्थात् पहिले पाद में आठ, दूसरे में आठ, तीसरे में भी आठ और चौथे पाद में यदि बारह अक्षर हों तो) उसे 'उपरिष्टाद्बृहती' कहते हैं।।३१।।

पुरस्ताद्बृहती पुरः।।३२।।

स एव जागतः पादः पूर्वश्चेद् भवति, शेषाश्च गायत्राः, तदा 'पुरस्ताद्बृहती' नाम भवति। यथा–

'महो यस्पतिः शवसो असाम्या (१) महो नृम्णस्य तूतुजिः (२)। भर्ता वज्रस्य धृष्णोः (३) पिता पुत्रमिव प्रियम् (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ७ व० ६ मं० ३)

'बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः' (पि० सू० ३।२६) इत्यनेनैव गतार्थमेतत्। संज्ञाविशेषप्रदर्शनार्थं पुनरुच्यते।।३२।।

वही जगती का पाद यदि पूर्व में और शेष दूसरा, तीसरा और चौथा पाद यदि गायत्री का हो, (अर्थात् जिस छन्द के पहिले पाद में बारह, दूसरे में आठ, तीसरे और चौथे में भी आठ ही अक्षर हों) उसे 'पुरस्ताद्बृहती' कहते हैं।।३२।।

'बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्रा:' इस सूत्र से बृहती का सामान्यलक्षण कहा गया है परन्तु विशेष स्वरूप निर्देश के लिये ही पुन: विधान किया गया है।।

क्वचिन्नवकाश्चत्वार:।।३३।।

क्वचिद्वेदे नवाक्षराश्चत्वार: पादा दृश्यन्ते, सापि बृहत्येव। यथा-

'चक्षुषो हेते मनसो हेते (१) वाचो हेते ब्रह्मणो हेते (२)।
यो माघायुरभिदासति (३) तमग्ने मेन्या मेनिं कृणु (४)।।'

(कृ० यजुर्वेद-तै० ब्रा० का० २ प्र० ४ अ० २ मं० १)।।३३।।

वेद में किसी स्थल पर चार पाद की ऐसी 'बृहती' देखी जाती है जिसके प्रत्येक पाद में नव अक्षर होते हैं।।३३।।

वैराजौ गायत्रौ च।।३४।।

यत्र वैराजौ पादौ पूर्वौ दशाक्षरौ भवत:, ततो गायत्रौ च, सापि बृहती। यथा-

'कां सोस्मितां हिरण्यप्रकारा (१) मार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् (२)। पद्मेस्थितां पद्मवर्णां (३) तामिहोपह्वये श्रियम् (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ४ परि० मं० ४)।।३४।।

जिस छन्द के प्रथमपाद में दश अक्षर द्वितीय पाद में भी दश अक्षर, तृतीय और चतुर्थपाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं, उसे भी 'बृहती' कहते हैं।।३४।।

त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती।।३५।।

त्रिभिर्जागतै: पादैश्छन्दो 'महाबृहती' नाम। यथा-

'अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ (१) ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुण: (२)।
सदासरो वाजमच्छा स निष्यदत् (३०)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० २२ मं० ४)।।३५।।

जिसके तीन छन्द में बारह-बारह अक्षर के तीन पाद हों उसे 'महाबृहती' कहते हैं।।३५।।

क्रौष्टुकी आचार्य के मत में इस 'न्यङ्कुसारिणी' की 'स्कन्धोग्रीवी' संज्ञा है।।२९।।

उरोबृहती यास्कस्य।।३०।।

इयमेव 'न्यङ्कुसारिणी' यास्कस्याचार्यस्य मतेन 'उरोबृहती' नाम्नी भवति।।३०।।

यास्काचार्य इसी न्यङ्कुसारिणी को उरोबृहती कहते हैं।।३०।।

उपरिष्टाद्बृहत्यन्ते।।३१।।

यदा जागतः पादोऽन्ते भवति, तदा 'उपरिष्टाद्बृहती' नाम भवति। यथा–

'न तमंहो न दुरितं (१) देवासो अष्ट मर्त्यम् (२)। सजोषसो यमर्यमा (३) मित्रो नयन्ति वरुणो अतिद्विषः (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० १३ मं० १)।।३१।।

जब जगती का पाद अन्त में हो पहिला, दूसरा, तीसरा पाद गायत्री का हो तो उस बृहती की 'उपरिष्टात् बृहती' संज्ञा होती है। (अर्थात् पहिले पाद में आठ, दूसरे में आठ, तीसरे में भी आठ और चौथे पाद में यदि बारह अक्षर हों तो) उसे 'उपरिष्टाद्बृहती' कहते हैं।।३१।।

पुरस्ताद्बृहती पुरः।।३२।।

स एव जागतः पादः पूर्वश्चेद् भवति, शेषाश्च गायत्राः, तदा 'पुरस्ताद्बृहती' नाम भवति। यथा–

'महो यस्पतिः शवसो असाम्या (१) महो नृम्णस्य तूतुजिः (२)। भर्ता वज्रस्य धृष्णोः (३) पिता पुत्रमिव प्रियम् (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ७ व० ६ मं० ३)

'बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः' (पि० सू० ३।२६) इत्यनेनैव गतार्थमेतत्। संज्ञाविशेषप्रदर्शनार्थं पुनरुच्यते।।३२।।

वही जगती का पाद यदि पूर्व में और शेष दूसरा, तीसरा और चौथा पाद यदि गायत्री का हो, (अर्थात् जिस छन्द के पहिले पाद में बारह, दूसरे में आठ, तीसरे और चौथे में भी आठ ही अक्षर हों) उसे 'पुरस्ताद्बृहती' कहते हैं।।३२।।

'बृहती जागतस्त्रयश्च गायत्राः' इस सूत्र से बृहती का सामान्यलक्षण कहा गया है परन्तु विशेष स्वरूप निर्देश के लिये ही पुनः विधान किया गया है।।

क्वचिन्नवकाश्चत्वारः।।३३।।

क्वचिद्वेदे नवाक्षराश्चत्वारः पादा दृश्यन्ते, सापि बृहत्येव।

यथा-

'चक्षुषो हेते मनसो हेते (१) वाचो हेते ब्रह्मणो हेते (२)।
यो माघायुरभिदासति (३) तमग्ने मेन्या मेनिं कृणु (४)।।'

(कृ० यजुर्वेद-तै० ब्रा० का० २ प्र० ४ अ० २ मं० १)।।३३।।

वेद में किसी स्थल पर चार पाद की ऐसी 'बृहती' देखी जाती है जिसके प्रत्येक पाद में नव अक्षर होते हैं।।३३।।

वैराजौ गायत्रौ च।।३४।।

यत्र वैराजौ पादौ पूर्वौ दशाक्षरौ भवतः, ततो गायत्रौ च, सापि बृहती। यथा-

'कां सोस्मितां हिरण्यप्रकारा (१) मार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् (२)। पद्मेस्थितां पद्मवर्णां (३) तामिहोपह्वये श्रियम् (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ४ परि० मं० ४)।।३४।।

जिस छन्द के प्रथमपाद में दश अक्षर द्वितीय पाद में भी दश अक्षर, तृतीय और चतुर्थपाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं, उसे भी 'बृहती' कहते हैं।।३४।।

त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती।।३५।।

त्रिभिर्जागतैः पादैश्छन्दो 'महाबृहती' नाम। यथा-

'अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ (१) ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः (२)।
सदासरो वाजमच्छा स निष्यदत् (३०)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ५ व० २२ मं० ४)।।३५।।

जिसके तीन छन्द में बारह-बारह अक्षर के तीन पाद हों उसे 'महाबृहती' कहते हैं।।३५।।

सतोबृहती ताण्डिनः।।३६।।

इयमेव महाबृहती ताण्डिन आचार्यस्य मतेन 'सतोबृहती' नाम भवति।।३६।।

इति बृहत्यधिकारः।

आचार्य ताण्डीमुनि इसी महाबृहती को 'सतोबृहती' कहते हैं।।३६।।

बृहती का अधिकार समाप्त हुआ।

पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च।।३७।।

यदा द्वौ पादौ जागतौ भवतस्ततो गायत्रौ च, तदा 'पङ्क्तिः' नाम छन्दः।।३७।।

जिस छन्द में दो पाद जगती के और दो पाद गायत्री के हों (अर्थात् बारह बारह अक्षरों के दो पाद और आठ-आठ अक्षरों के दो पाद जिस छन्द में हों) उसे 'पङ्क्ति' कहते हैं।।३७।।

पूर्वौ चेदयुजौ सतःपङ्क्तिः।।३८।।

यत्र पूर्वोद्दिष्टौ पादावयुजौ भवतः, प्रथमतृतीयौ पादौ जागतावित्यर्थः, द्वितीयचतुर्थौ च गायत्रौ तच्छन्दः 'सतःपङ्क्तिः' नाम भवति। यथा–

'अग्निना तुर्वशं यदुं परावत (१) उग्रादेवं हवामहे (२)।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं (३) तुर्वीतिं दस्यवे सहः (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ३ व० ११ म० ३)।।३८।।

जिस छन्द के पहिले और तीसरे पाद में बारह बारह अक्षर, दूसरे और चौथे पाद में आठ आठ अक्षर हों उसे 'सतःपङ्क्ति' कहते हैं।।३८।।

विपरीतौ च।।३९।।

यदा तावेव पादौ विपरीतौ भवतः, तदापि सतःपङ्क्तिरेव। अयमर्थः–प्रथमतृतीयौ पादौ गायत्रौ, द्वितीयचतुर्थौ च जागतौ, तदापि सतःपङ्क्तिरेव भवति। यथा–

'य ऋष्व: श्रावयत्सखा (१) विश्वेत्स वेद जनिमा पुरुष्टुत: (२)।
तं विश्वे मानुषा युगे (३) न्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुच: (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ४ व० ३ मं० २)।।३९।।

पूर्द सूत्र में जो कहा गया है। वही यदि विपरीत हो जाय (अर्थात् जिस छन्द के पहिले और तीसरे पाद में आठ अक्षर हों दूसरे और चौथे पाद में बारह बारह अक्षर हों) उसे भी 'सत:पङ्क्ति' कहते हैं।।३९।।

प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः।।४०।।

यदा जागतौ पादौ पूर्वौ भवत:, गायत्रौ च परत:, तदा 'प्रस्तारङ्क्तिः' नाम। यथा-

'भद्रमिद्भद्रा कृणवत्सरस्वत्य (१) कवारी चेतति वाजिनीवती
(२) गृणाना जमदग्निवत् (३) स्तुवाना च वसिष्ठवत् (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ५ अ० ६ व० २० मं० ३)

'पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च' (पि० सू० ३।३७) इत्यनेन गतार्थमिदं संज्ञाविशेषज्ञापनार्थं पुनरुच्यते।।४०।।

जिस छन्द में आदि के दो पाद बारह बारह अक्षर के हों और शेष दो पाद आठ आठ अक्षर के हों ऐसे चतुष्पाद् छन्द को 'प्रस्तारपङ्क्ति' कहते हैं।

'पङ्क्तिर्जागतौ गायत्रौ च' इस सूत्र से गतार्थ होने पर भी संज्ञा विशेष के ज्ञापन के लिये 'प्रस्तारपङ्क्तिः पुरतः' इत्यादि सूत्रों का आरम्भ समझना चाहिये। पूर्वोक्त सूत्र से पङ्क्ति का सामान्य लक्षण कहा गया है और आगे के सूत्रों से पङ्क्ति का विशेष लक्षण कहा जायेगा।।४०।।

आस्तारपङ्क्तिः परतः।।४१।।

यदा जागतौ पादौ परौ भवत:, गायत्रौ च पूर्वौ, तदा आस्तारपङ्क्तिः' नाम। यथा-

'भद्रं नो अपि वातय (१) मनो दक्षमुत क्रतुम् (२)।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे (३) रणन् गावो न यवसे विवक्षसे (४)।'

(ऋग्वेदे-अ० ७ अ० ७ व० ११ मं० १)।।४१।।

जिस छन्द में अन्त के दो पाद बारह बारह अक्षर के हों और आदि के दो पाद आठ आठ अक्षर के हों उसे 'आस्तारपङ्क्ति' कहते हैं।।४१।।

विष्टारपङ्क्तिरन्तः।।४२।।

यदा जागतौ पादौ मध्ये भवतः, आद्यन्तयोश्च गायत्रौ, तदा 'विष्टारपङ्क्तिः' नाम। यथा–

'अग्ने तव श्रवा वयो (१) महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो (२)।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं (३) दधासि दाशुषे कवे (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० २८ मं० १)।।४२।।

जिस छन्द में बीच के दो पाद जगती के हों और आदि में गायत्री का, अन्त में भी गायत्री का पाद हो (अर्थात् जिस छन्द के पहिले पाद में आठ, दूसरे और तीसरे पाद में बारह और चौथे में फिर आठ अक्षर हों) उसे 'विष्टारपङ्क्ति' कहते हैं।।४२।।

संस्तारपङ्क्तिर्बहिः।।४३।।

यदा तावेव जागतौ पादौ बहिर्भवतः, मध्ये च गायत्रौ, तदा 'संस्तारपङ्क्तिः' नाम छन्दः। यथा–

'पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः (१) प्रति दध्मो यजामसि (२)।
उषा अप स्वसुस्तमः (३) संवर्तयति वर्तनिं सुजातता (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ८ व० ३० मं० ३,४)।।४३।।

जिस छन्द में आदि तथा अन्त के पाद जगती के हों और बीच के दो पाद गायत्री के हों (अर्थात् जिस छन्द के पहिले और चौथे पाद में बारह बारह अक्षर हों तथा दूसरे और तीसरे पाद में आठ-आठ अक्षर हों) उसे 'संस्तारपङ्क्ति' कहते हैं।।४३।।

अक्षरपङ्क्तिः पञ्चकाश्चत्वारः।।४४।।

पञ्चाक्षरैश्चतुर्भिः पादैः 'अक्षरपङ्क्तिः' नाम छन्दः। ननु चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिश्छन्दः, तत्कथं 'पञ्चकाश्चत्वारः' इत्युच्यते ? तत्रोत्तरम्- 'द्वावप्यल्पशः' (पि० सू० ३।४५) इत्यस्मात् सिंहावलोकितन्यायेनाल्पग्रहणमनुवर्तते, तेन पङ्क्तेरल्पत्वं विशेषात्प्रतिपादितं भवति। यथा–

'पश्वा न तायुं (१) गुहा चतन्तं (२)।
नमो युजानं (३) नमो वहन्तम् (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ५ व० ९ मं० १)।।४४।।

जिस छन्द में चार पाद पांच पांच अक्षर के हों उसे 'अक्षरपङ्क्ति' नाम का छन्द कहते हैं।

प्रश्न–चालीस अक्षरों का पङ्क्तिछन्द होता है। यहां पांच पांच अक्षर के चार पाद होने से बीस ही अक्षर होते हैं कैसे ?

उत्तर–"द्वावप्यल्पशः" इस सूत्र से 'अल्पशः' पद को सिंहावलोकन न्याय से लाना चाहिये।

इससे इस छन्द का कदाचित् ही प्रयोग होता है यह तात्पर्य निकला।।४४।।

द्वावप्यल्पशः।।४५।।

पञ्चग्रहणमनुवर्तते। पञ्चाक्षराभ्यां पादाभ्यामल्पशः पङ्क्तिर्नाम छन्दो भवति, क्वचिदेव वेदे न सर्वत्र। यथा–

'सद्दो विश्वायुः (१) शर्म सप्रथाः।'

(तै० आ० ।४ ।११)।।४५।।

पूर्व सूत्र से 'पञ्च' पद की अनुवृत्ति आती है। जिस छन्द में दो ही पाद हों और प्रत्येक पाद में पांच-पांच अक्षर हों उसे 'अल्पशः पङ्क्ति' कहते हैं।।४५।।

पदपङ्क्तिः पञ्च।।४६।।

'पञ्चकाः' इत्यनुवर्तते। यदा पञ्चाक्षराः पञ्च पादा भवन्ति, तदा 'पदपङ्क्तिः' नाम छन्दः। यथा–

'घृत न पूतं (१) तनूररेपाः (२) शुचि हिरण्यम् (३)।
तत्ते रुक्मो न (४) रोचत स्वधावः (५)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ५ व० १० मं० ६)।।४६।।

इस सूत्र में भी 'पञ्चकाः' पद की अनुवृत्ति आती है। जिस छन्द में पांच पाद हों और प्रत्येक पाद में पांच पांच अक्षर हों उसे 'पदपङ्क्तिछन्द' कहते हैं।।४६।।

चतुष्कषट्कौ त्रयश्च।।४७।।

चकारः 'पञ्चकाः' इत्यनुकर्षणार्थः। यदा प्रथमश्चतुरक्षरः पादः,

द्वितीयः षडक्षरः, ततस्त्रयः पञ्चाक्षरास्तदा पञ्चपदा पदपङ्क्तिरेव।
यथा–

'अधा ह्यग्ने (१) क्रतोर्भद्रस्य (२) दक्षस्य साधोः (३)।
रथीर्ऋतस्य (४) बृहतो बभूथ (५)॥'

(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ५ व० १० मं० २)॥४७॥

इस सूत्र में 'पञ्चकाः' इस पद का अनुकर्षण करने के लिये ही चकार रखा गया है। जिस छन्द के पहिले पाद में चार अक्षर और दूसरे में छः अक्षर हों तथा पांच पांच अक्षर के शेष तीन पाद हों उसे भी 'पदपङ्क्ति' कहते हैं॥४७॥

पथ्या पञ्चभिर्गायत्रैः॥४८॥

पञ्चभिरष्टाक्षरैः पादैः 'पथ्या' नाम पङ्क्तिर्भवति। अस्योदाहरणम्–

'यो अर्यो मर्तभोजनं (१) पराददाति दाशुषे (२)।
इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु (३) विभजा भूरि ते वसु (४)
भक्षीय तव राधसः (५)॥'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ६ व० २ मं० १)॥४८॥

जिस छन्द में पांच गायत्री के पाद हों (अर्थात् आठ आठ अक्षरों के पांच पाद हों) उसे 'पथ्यापङ्क्ति' कहते हैं॥४८॥

जगती षड्भिः॥४६॥

'गायत्रैः' इत्यनुवर्तते। गायत्रैः षड्भिः पादैः 'जगती' नाम च्छन्दो भवति। यथा–

'महि वो महतामवो (१) वरुण मित्र दाशुषे (२)।
यमादित्या अभि द्रुहो (३) रक्षथा नेमघं नश- (४)
दनेहसो व ऊतयः (५) सुऊतयो व ऊतयः (६)॥'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ४ व० ७ मं० १)॥४९॥

इति पङ्क्त्यधिकारः।

'गायत्रैः' इस पद का अनुवर्तन होता है। जिस छन्द में छः गायत्री के पाद हों (अर्थात् आठ आठ अक्षरों के छः पाद हों) उसे जगती कहते हैं॥४९॥

पंक्ति का अधिकार समाप्त हुआ।

(त्रिष्टुब्जगत्यधिकारः)

एकेन त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती।।५०।।

त्रिष्टुभः प्रस्तुतत्वात्प्रत्यासत्तेश्च तस्या एव सम्बन्धः। एकेन त्रैष्टुभेन पादेनाधिकाराच्चतुर्भिर्गायत्रैः पश्चात् 'त्रिष्टुब्ज्योतिष्मती' नाम छन्दो भवति। त्रैष्टुभेन सह 'पञ्चभिर्गायत्रैः' (पि० सू० ३।४८) इत्युक्ते चत्वार एव गायत्राः पादा लभ्यन्ते। यथा 'उपाध्यानेन सह पञ्च शिष्या आगता' इत्युक्ते उपाध्यायपञ्चमाः प्रतीयन्ते।।५०।।

त्रिष्टुभ का ही प्रकरण है और त्रिष्टुभ शब्द निकट में भी है। इसलिये एक शब्द का त्रिष्टुभशब्द के साथ ही सम्बन्ध करना युक्तियुक्त है। गायत्री का अधिकार आरहा है। 'पञ्चभिः गायत्रैः' (पि० ३।४८) सूत्र की जो आवृत्ति आ रही है उसमें यदि (एकेन त्रिष्टुभेन पादेन) इन दो पदों को भी मिला दिया जाय तो पूरा वाक्य होगा (एकेन त्रिष्टुभेन पादेन पञ्चभिर्गायत्रैस्त्रिष्टुब् भवति)। (अर्थात् एक त्रैष्टुभ पाद के साथ पांच गायत्री के पाद यदि हों तो उसे त्रिष्टुभ छन्द कहते हैं)। त्रिष्टुभ के साथ पांच गायत्री के पाद हों ऐसा कहने पर एक पाद त्रिष्टुभ का और चार पाद गायत्री के ऐसा प्रतीत होता है। जैसे उपाध्याय के साथ पांच शिष्य आये हैं और इस वाक्य से चार शिष्य और पांचवां उपाध्याय ऐसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझना। यह वृत्तिकार का अभिप्राय है।

वृत्तिकार के मत से सूत्रार्थ यह हुआ कि "जिस छन्द में त्रिष्टुभ का एक पाद हो (अर्थात् ग्यारह अक्षरों का एक पाद हो) शेष पाद गायत्री के हों (अर्थात् उनमें आठ-आठ अक्षर यदि हों) तो उसे त्रिष्टुभ छन्द कहते हैं।।५०।।

तथा जगती।।५१।।

एकेन जागतेन पादेन चतुर्भिर्गायत्रैः पादैः पञ्चपाज्जगती 'ज्योतिष्मती' नाम छन्दो भवति।।५१।।

जिस छन्द में बारह अक्षरों का एक पाद और चार पाद आठ-आठ अक्षरों के हों इस प्रकार के पञ्चपाद छन्द को 'ज्योतिष्मती' जगती कहते हैं।।५१।।

पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमेन।।५२।।

प्रथमेन त्रैष्टुभेन पादेन, शेषैश्च गायत्रैः पादैः 'पुरस्ताज्ज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति। यथा–

'कृधी नो अह्रयो देव सवितः (१) स च स्तुषे मघोनाम्।
सही न इन्द्रा वह्निभि (३) र्न्येषां चर्षणीनां (४) चक्रं रश्मिं न योयुवे (५)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ४ व० २७ मं० ४)

पूर्वेणैव गतार्थत्वाद्विशेषसंज्ञाज्ञापनार्थमिदम्। 'तथा जगती' इत्यनुवर्तनीयम्। तेनाद्येन जागतेन पादेन चतुर्भिश्च गायत्रैः 'पुरस्ताज्ज्योतिः' नाम जगती भवति। यथा–

'नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा (१) विवक्षणस्य पीतये (२)।
आयातमश्विना गत (३) मवस्युर्वामहं हुवे (४) धत्तं रत्नानि दाशुषे (५)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ६ अ० ३ व० १७ मं० ५)।।५२।।

जिस छन्द के पहिले पाद में ग्यारह अक्षर और शेष चारों पाद में आठ आठ अक्षर हों तो उसे पुरस्ताज्ज्योति नामक त्रिष्टुब् कहते हैं। इसी प्रकार जिस छन्द के पहिले पाद में बारह अक्षर हों और शेष चारों पाद में आठ आठ अक्षर हों ऐसे पञ्चपाद छन्द को 'पुरस्ताज्ज्योति' जगती कहते हैं।

यहां एक बात ध्यान देने योग्य है उपरिष्टाद् (३।५४) सूत्र तक 'तथा जगती' (पि०सू० ३।५१) सूत्र से जगती शब्द का अनुवर्तन होता है और एकेन (३।५०) सूत्र से त्रिष्टुप् का भी, इसलिये त्रिष्टुप् और जगती दोनों छन्दों का साथ ही साथ लक्षण किया गया है।।५२।।

मध्येज्योतिर्मध्यमेन।।५३।।

यदा मध्यमस्त्रैष्टुभः पादो भवति, उभयतश्च द्वौ द्वौ गायत्रौ, तदा 'मध्येज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति। मध्येज्योतिरित्यलुक्समासः। यथा–

'बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः (१) शुक्रेण देव शोचिषा (२)।

भरद्वाजे समिंधानो यविष्ठ्य (३) रेवन्नः शुक्र दीदिहि (४)
द्युमत्पावक दीदिहि (५)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ४ अ० ८ व० २ मं० २)

'तथा जगती' इत्यनुवर्तनीयम्। तेन मध्यमेन जागतेन एकेन, जागतेन मध्यमेन तृतीयेनोभयतश्च द्वौ द्वौ गायत्रौ, तदा 'मध्येज्योतिः' नाम जगती भवति। यथा–

'यन्मे नोक्तं तद्रवतां (१) शकेयं तदनुब्रुवे (२)।
निशामतं निशामहै मयि व्रतं (३) सह व्रतेषु भूयासं (४)
ब्रह्मणा सङ्गमेमहि (५)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ८ व० ९ परि० मं० ४)।।५३।।

जिस छन्द के पहिले दो पाद और अन्त के दो पाद आठ आठ अक्षरों के हों और शेष बीच का तीसरा पाद ग्यारह अक्षरों का हो तो उसे 'मध्येज्योति' नामक त्रिष्टुप् कहते हैं।

इसी प्रकार जिस छन्द के पहिले दो पाद और अन्त के दो पाद आठ आठ अक्षरों के हों तथा बीच का तीसरा पाद यदि बारह अक्षरों का हो तो उसे "मध्येज्योति" नाम की जगती कहते हैं।।५३।।

उपरिष्टाज्ज्योतिरन्त्येन।।५४।।

यदा चत्वारो गायत्राः पादा भवन्ति, अन्ते च त्रैष्टुभः, तदा 'उपरिष्टाज्योतिः' नाम त्रिष्टुब् भवति। यथा–

'संवेशिनीं संयमिनीं (१) ग्रहनक्षत्रमालिनीम् (२)।
प्रपन्नोऽहं शिवां रात्रीं (३) भद्रे पारमशीमहि (४)
भद्रे पारमशीमह्यों नमः (५)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० १४ परि० मं० ४)

'तथा जगती' इत्यनुवर्तनीयम्। तेनान्तेन जागतेन पादेन शेषैश्च गायत्रैश्चतुर्भिः 'उपरिष्टाज्ज्योतिः' नाम जगती भवति। यथा–

'लोकं पृण छिद्रं पृण (१)। अथो सीद शिवा त्वम् (२)।

इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिः (३)। अस्मिन् योनावसीषदन् (४)।
तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीद (५)।।'

(यजुर्वेदे—तै० ब्रा० अ० ३ प्र० ११ अ० ६ मं० ३)।।५४।।

इति त्रिष्टुब्जगत्यधिकारः।

जिस छन्द में आदि के चार पाद आठ आठ अक्षरों के हों और अन्त का पांचवां पाद यदि ग्यारह अक्षरों का हो तो उसे 'उपरिष्टाज्ज्योति' नामक त्रिष्टुप् कहते हैं।।

इसी प्रकार जिस छन्द में आदि के चार पाद आठ आठ अक्षरों के हों और अन्त का पांचवां पाद यदि बारह अक्षरों का हो तो उसे 'उपरिष्टाज्ज्योति' नाम की जगती कहते हैं।

पूर्व की तरह एकेन (३।५०) तथा जगती (३।५१) सूत्रों से सिद्ध होने पर भी विशेष संज्ञा विधान करने के लिये ही और तीन सूत्र कहे गये हैं।।५४।।

त्रिष्टुब् जगती का अधिकार समाप्त हुआ।

(गायत्र्यादीनां विशेषसंज्ञाधिकारः)

एकस्मिन्पञ्चके छन्दः शङ्कुमती।।५५।।

यदैकः पञ्चाक्षरः पादो भवति, त्रयश्च षडक्षराः, तदा 'शङ्कुमती' नाम गायत्री। यथा—
'तिस्रो देवीर्बर्हि (१) रेदँ सदन्त्विडा (२) सरस्वती भारती (३)। मही गृणाना (४)।।'

(य० तैत्तिरीयसंहिता—कां० ४ प्र० १ अ० ८ मं० ९)

छन्दोग्रहणे प्रकृते पुनश्छन्दोग्रहणं छन्दोमात्रप्रतिपत्त्यर्थम्। तेन सर्वेषु छन्दःसु पञ्चाक्षरैकपादलक्षिता शङ्कुमती भवति। इतरथा ह्यनन्तरं सम्प्रत्ययः स्यात्।।५५।।

जिस छन्द में एक पाद पांच अक्षरों का हो और शेष तीन पाद छः छः अक्षरों के हों तो उसे शङ्कुमती गायत्री कहते हैं। यहां पर 'छन्दः' (पि०सू० २।१) सूत्र से छन्दः शब्द का अधिकार सिद्ध ही था पुनः इस सूत्र में छन्द शब्द का ग्रहण सामान्यतः समस्त छन्दों का बोध कराने के लिये ही किया गया है।

इसलिये यह नियम सभी छन्दों के लिये समझना चाहिये। अत एव गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् आदि सातों प्रकार के वैदिक छन्दों के लक्षण कहे हैं। जितने अक्षरों के जितने पाद कहे गये हैं यदि उनमें किसी एक पाद में पांच अक्षर पाये जायें और शेष पादों में जितने अक्षर कहे गये हैं, उतने ही अक्षर हों तो उन छन्दों को भी शङ्कुमती समझना। जैसे-आर्षी अनुष्टुप् छन्द में आठ आठ अक्षर के चार पाद और कुल बत्तीस अक्षर कहे गये हैं अब उनके यदि किसी एक पाद में पांच अक्षर हों और शेष तीनों पादों में आठ आठ अक्षर हों तो उसे शङ्कुमती अनुष्टुप् समझना। इसी प्रकार अन्यान्य छन्दों में भी कल्पना कर लेनी चाहिये।।५५।।

षट्के ककुद्मती।।५६।।

एकस्मिन् षडक्षरे पादे, अन्येषु यथालक्षणमुपात्तेषु छन्दोमात्रं 'ककुद्मती' नाम भवति।।५६।।

पूर्वोक्त जिस किसी छन्द के यदि छः अक्षरों का कोईसा पाद हो तो उसे ककुद्मती समझना।।५६।।

त्रिपादणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या।।५७।।

यदाद्यन्तौ पादौ बह्वक्षरौ, मध्यमोऽल्पतराक्षरः, तदाणिष्ठमध्या सती 'पिलीलिकमध्या' नाम भवति। अयमर्थः-आद्यन्तौ पादावष्टाक्षरौ, मध्यमस्त्र्यक्षरः, एवं त्रिपाद्गायत्री 'पिपीलिकमध्या' नाम भवति। एवं चतुरक्षरे पञ्चाक्षरेऽपि मध्यमे पादे पिपीलिकमध्या सिद्ध्यति। यत्किञ्चित्त्रिपाच्छन्दो लघुमध्यमपादं तत्सर्वं पिपीलिकमध्यमुच्यते।।५७।।

जिस छन्द के आदि और अन्त के पाद बहुत अक्षरों से युक्त हों और मध्य का पाद स्वल्प अक्षरों से युक्त हो, तो इस प्रकार की गायत्री को पिपीलिकमध्या कहते हैं। स्पष्टार्थ इस प्रकार है-जिस छन्द के आदि और अन्त के पाद आठ आठ अक्षरों के हों और मध्य का पाद तीन अक्षरों का हो इस प्रकार की त्रिपाद् गायत्री को पिपीलिकमध्या कहते हैं। इसी प्रकार जिस छन्द में मध्य का पाद चार या पांच अक्षरों का हो तो उसकी भी 'पिपीलिकमध्या' संज्ञा होती है। केवल गायत्री के लिये ही यह नियम नहीं है किन्तु कोई भी त्रिपाद छन्द क्यों न हो यदि उस त्रिपाद

छन्द में बीच का पाद कम अक्षरों का होगा तो उसकी भी पिपीलिकमध्या संज्ञा होगी।।५७।।

विपरीता यवमध्या।।५८।।

आद्यन्तौ पादा लघ्वक्षरौ, मध्यमश्च बह्वक्षरः, सा गायत्री 'यवमध्या' नाम भवति। एवमुष्णिगादिष्वपि योज्यम्।।५८।।

जिस छन्द के आदि और अन्त के पाद में अल्प अक्षर हों एवं मध्य के पाद में यदि बहुत अक्षर हों तो उसे 'यवमध्या' कहते हैं। इसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्दों में भी मध्य का पाद यदि बहुत अक्षरों से युक्त हो, तो उनकी भी 'यवमध्या' संज्ञा होती है।।५८।।

ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भुरिजौ।।५९।।

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, एकेनाक्षरेण न्यूनेन सा 'निचृत्' इति विशेषसंज्ञां लभते। एकेनाधिकेन 'भुरिक्' इति। एवमुष्णि-गादिष्वपि द्रष्टव्यम्।।५९।।

चौबीस अक्षर की गायत्री में यदि एक अक्षर कम हो (अर्थात् तेईस अक्षर हों) तो उसकी 'निचृत्' संज्ञा होती है और उसी चौबीस अक्षर की गायत्री में यदि एक अक्षर अधिक हो (अर्थात् पचीस अक्षर हों) तो उसकी 'भुरिक्' संज्ञा होती है। इसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्दों में भी समझना चाहिये।।५९।।

द्वाभ्यां विराट्-स्वराजौ।।६०।।

'ऊनाधिक' ग्रहणमनुवर्तते। द्वाभ्यामक्षराभ्यां न्यूनाधिकाभ्यां गायत्री यथाक्रमं विराट्-स्वराट्-संज्ञा भवति। एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम्।।६०।।

जिस गायत्री छन्द में दो अक्षर कम अथवा दो अक्षर अधिक हों तो उसकी क्रमशः विराट् और स्वराट् संज्ञा होती है। आर्षी गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। यदि २२ अक्षर की गायत्री देख पड़े तो उसे 'विराट् गायत्री' समझना और यदि २६ अक्षर देख पड़े तो उसे स्वराट् गायत्री समझना। इसी प्रकार उष्णिक् आदि छन्दों में भी अक्षरों की कमी और अधिकताओं से विराट् और स्वराट् का ज्ञान कर लेना चाहिये।।६०।।

आदितः सन्दिग्धे।।६१।।

यदा षडविंशत्यक्षरं छन्दो भवति, तदा किं प्रतिपत्तव्यम् ? किं गायत्री स्वराड् ? उतोष्णिग्विराड् ? इति। एवं सन्दिग्धे सति छन्दस्यादिभूतात् पादान्निर्णयः कर्त्तव्यः। यदि प्रथमः पादो गायत्र्यास्तदा गायत्र्येवासौ। अथोष्णिहस्तदोष्णिग् इति। एवं सर्वत्र।।६१।।

जब किसी छन्द में छब्बीस अक्षर हों तो क्या उसे 'स्वराड् गायत्री' समझना चाहिये या 'विराड् उष्णिक्' ? क्यों कि पहिले सूत्र में कहा गया है कि किसी छन्द में यदि दो अक्षर बढ़ जायें तो उसे स्वराट् और दो अक्षर घट जायें तो उसे विराट् समझना चाहिये। जैसे चौबीस अक्षरों की आर्षी गायत्री में यदि दो अक्षर और बढ़ जायें (अर्थात् छब्बीस अक्षर हो जायें) तो वह स्वराट् गायत्री हो जाती है। इसी प्रकार (२८) अक्षरों का आर्षी उष्णिक् छन्द होता है। यदि उसमें दो अक्षर कम हो जायें तो उसकी 'विराट् उष्णिक्' संज्ञा होगी। अब छब्बीस अक्षर का छन्द होने से उसकी स्वराट् गायत्री संज्ञा होगी अथवा विराट् उष्णिक् संज्ञा होगी, ऐसे स्थलों पर सन्देह होता है। उन सन्दिग्ध स्थलों में छन्दों का निश्चय होना असम्भव है। इसलिये इस सूत्र में उसी का उपाय कहा जा रहा है। यदि ऐसा स्थल मिल जाये तो वहां पर प्रारम्भ का पाद देखकर व्यवस्था करनी चाहिये। यदि प्रारम्भ का पाद गायत्री का हो तो उसे गायत्री समझना और यदि प्रारम्भ का पाद उष्णिक् का हो तो उसे उष्णिक् ही समझना। इसी प्रकार सब जगह जान लेना चाहिये।

मेरे विचार से ऐसे स्थलों पर जहां कि 'विराट् गायत्री' या 'विराट् उष्णिक्' का सन्देह होता हो वहां पर प्रारम्भ का पाद देखकर निर्णय करना असम्भव है क्योंकि दो गायत्री के पाद और एक जगती का पाद जहां पर हो उसे उष्णिग् कहा गया है (देखो ३।१८) उष्णिक् छन्द के आदि पाद में भी गायत्री का पाद हो सकता है। इसलिये यह नियम इनके अतिरिक्त स्थलों में ही मान्य होगा।।६१।।

देवतादितश्च।।६२।।

इदमपरं निर्णयनिमित्तमुच्यते। सन्दिग्धे छन्दसि देवतादेश्च निर्णयः कर्त्तव्यः। 'आदि' ग्रहणं स्वरादिपरिग्रहार्थम्।।६२।।

सन्दिग्धस्थलों में निर्णय के लिये दूसरा उपाय भी कहा जारहा है। जिस

छन्द में छब्बीस अक्षरों को देखकर सन्देह होता है कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट् उष्णिक्, वहां पर देवता देखकर निर्णय कर लेना चाहिये। जैसे गायत्री का अग्नि देवता है और उष्णिक् का सविता। इसलिये यदि अग्निदेवता का विधान मिलता हो तो उसे गायत्री छन्द, यदि सविता का उल्लेख हो तो उसे उष्णिक् छन्द समझना चाहिये। किस छन्द का कौनसा देवता है यह आगे के सूत्र में कहा जायेगा। 'आदि' पद से स्वरों का भी ग्रहण होता है।।६२।।

कस्य छन्दसः का देवता, यथा निर्णयः कर्त्तव्यः इत्यपेक्षायामिदमुच्यते–

अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः।।६३।।

गायत्र्यादीनां जगतीपर्यन्तानां यथाक्रममग्न्यादयो देवता वेदितव्याः। तत्र सन्दिग्धे छन्दसि यदाग्नेयं, तदा गायत्री। यदि सावित्रं, तदोष्णिग्। एवं सर्वत्र। वैदिकेष्वेव छन्दःसु निचृद्भुरिजौ तथा विराट्स्वराजौ च दृश्येते; न लौकिकेषु। अतो लौकिकेषु सन्देहाभावात्तन्निर्णयनिमित्तभूता देवतादयो नेष्यन्ते।।६३।।

पहिले कहा गया है कि देवताओं को देखकर छन्दों का निर्णय करना चाहिये परन्तु कौन-से छन्द का कौन-सा देवता होता है यह नहीं कहा गया है, इस सूत्र में यही कहा जा रहा है।

गायत्री से लेकर जगती पर्यन्त जो सात छन्द हैं गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन छन्दों के क्रमशः अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र और विश्वदेव देवता होते हैं। जैसे गायत्री का अग्नि, उष्णिक् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पङ्क्ति का मित्रावरुण, त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती का विश्वदेव देवता होता है। अतः किसी मन्त्र का अग्नि देवता है तो गायत्री छन्द और सविता देवता है तो उष्णिक् छन्द है ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार और भी समझना।

स्वराट् विराट् आदि भेद वैदिक छन्दों में ही होते हैं लौकिक छन्दों में ये भेद नहीं होते। इसलिये लौकिक छन्दों में सन्देह न होने के कारण उनमें देवता का उपयोग नहीं है।।६३।।

स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः।।६४।।

षड्जर्षभगान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादाः स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः।।६४।।

गायत्री प्रभृति सात प्रकार के छन्दों के षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ये सात स्वर क्रमशः होते हैं। गायत्री का षड्ज, उष्णिक् का ऋषभ, अनुष्टुप् का गान्धार, बृहती का मध्यम, पङ्क्ति का पञ्चम, त्रिष्टुप् का धैवत और जगती का निषाद स्वर होता है।

यदि किसी स्थल पर स्वराट् और विराट् दोनों का सन्देह हो तो वहां पर स्वर देखकर भी निर्णय किया जा सकता है। जैसे (२६) अक्षरों के छन्द में यह सन्देह हो रहा है कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट् उष्णिक्, वहां पर यदि षड्ज स्वर का उल्लेख पाया जाता है तो गायत्री समझना चाहिये और ऋषभ स्वर का यदि उल्लेख पाया जाता हो तो उष्णिक् छन्द समझना।।६४।।

सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः।।६५।।

गायत्र्यादिषु क्रमेण वर्णा वर्णनिर्णयनिमित्तमभिधीयन्ते।।६५।।

गायत्री प्रभृति सातों छन्द के वर्ण भी सात प्रकार के होते हैं। वह इस प्रकार हैं, सित, सारङ्ग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित और गौर।।६५।।

आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभागर्वकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि।।६६।।

गायत्र्यादीनां क्रमेणैतानि गोत्राणि भवन्तीति वाक्यशेषः। अत्र 'रोचनाभाः कृतयः, श्यामान्यतिच्छन्दांसि' इत्येवमादिकमधीयते छान्दसाः। तन्नोपपद्यते। कृतीनामतिच्छन्दसां च निचृद्भुरिजौ विराट्स्वराजोश्च प्रदेशाभावात् कश्चिन्नास्ति संशयः। यस्य निर्णयनिमित्तं वर्णोपन्यासः क्रियते, तदपि ऋषिदेवतास्वरवर्णानां ज्ञानान्निःश्रेयसमिच्छन्ति छान्दसाः।।६६।।

इति श्री भट्टहलायुधकृतायां पिङ्गलछन्दोवृत्तौ तृतीयोऽध्यायः।।३।।

गायत्री आदि सातों छन्द के सात प्रकार के गोत्र भी होते हैं जैसे गायत्री

छन्द में छब्बीस अक्षरों को देखकर सन्देह होता है कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट् उष्णिक्, वहां पर देवता देखकर निर्णय कर लेना चाहिये। जैसे गायत्री का अग्नि देवता है और उष्णिक् का सविता। इसलिये यदि अग्निदेवता का विधान मिलता हो तो उसे गायत्री छन्द, यदि सविता का उल्लेख हो तो उसे उष्णिक् छन्द समझना चाहिये। किस छन्द का कौनसा देवता है यह आगे के सूत्र में कहा जायेगा। 'आदि' पद से स्वरों का भी ग्रहण होता है।।६२।।

कस्य छन्दसः का देवता, यथा निर्णयः कर्त्तव्यः इत्यपेक्षायामिदमुच्यते–

अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः।।६३।।

गायत्र्यादीनां जगतीपर्यन्तानां यथाक्रममग्न्यादयो देवता वेदितव्याः। तत्र सन्दिग्धे छन्दसि यदाग्नेयं, तदा गायत्री। यदि सावित्रं, तदोष्णिग्। एवं सर्वत्र। वैदिकेष्वेव छन्दःसु निचृद्भुरिजौ तथा विराट्स्वराजौ च दृश्येते; न लौकिकेषु। अतो लौकिकेषु सन्देहाभावात्तन्निर्णयनिमित्तभूता देवतादयो नेष्यन्ते।।६३।।

पहिले कहा गया है कि देवताओं को देखकर छन्दों का निर्णय करना चाहिये परन्तु कौन-से छन्द का कौन-सा देवता होता है यह नहीं कहा गया है, इस सूत्र में यही कहा जा रहा है।

गायत्री से लेकर जगती पर्यन्त जो सात छन्द हैं गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन छन्दों के क्रमशः अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र और विश्वदेव देवता होते हैं। जैसे गायत्री का अग्नि, उष्णिक् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पङ्क्ति का मित्रावरुण, त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती का विश्वदेव देवता होता है। अतः किसी मन्त्र का अग्नि देवता है तो गायत्री छन्द और सविता देवता है तो उष्णिक् छन्द है ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार और भी समझना।

स्वराट् विराट् आदि भेद वैदिक छन्दों में ही होते हैं लौकिक छन्दों में ये भेद नहीं होते। इसलिये लौकिक छन्दों में सन्देह न होने के कारण उनमें देवता का उपयोग नहीं है।।६३।।

स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः।।६४।।

षड्जर्षभगान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादाः स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः।।६४।।

गायत्री प्रभृति सात प्रकार के छन्दों के षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ये सात स्वर क्रमशः होते हैं। गायत्री का षड्ज, उष्णिक् का ऋषभ, अनुष्टुप् का गान्धार, बृहती का मध्यम, पङ्क्ति का पञ्चम, त्रिष्टुप् का धैवत और जगती का निषाद स्वर होता है।

यदि किसी स्थल पर स्वराट् और विराट् दोनों का सन्देह हो तो वहां पर स्वर देखकर भी निर्णय किया जा सकता है। जैसे (२६) अक्षरों के छन्द में यह सन्देह हो रहा है कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट् उष्णिक्, वहां पर यदि षड्ज स्वर का उल्लेख पाया जाता है तो गायत्री समझना चाहिये और ऋषभ स्वर का यदि उल्लेख पाया जाता हो तो उष्णिक् छन्द समझना।।६४।।

सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः।।६५।।

गायत्र्यादिषु क्रमेण वर्णा वर्णनिर्णयनिमित्तमभिधीयन्ते।।६५।।

गायत्री प्रभृति सातों छन्द के वर्ण भी सात प्रकार के होते हैं। वह इस प्रकार हैं, सित, सारङ्ग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित और गौर।।६५।।

आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि।।६६।।

गायत्र्यादीनां क्रमेणैतानि गोत्राणि भवन्तीति वाक्यशेषः। अत्र 'रोचनाभाः कृतयः, श्यामान्यतिच्छन्दांसि' इत्येवमादिकमधीयते छान्दसाः। तन्नोपपद्यते। कृतीनामतिच्छन्दसां च निचृद्भुरिजौ विराट्स्वराजोश्च प्रदेशाभावात् कश्चिन्नास्ति संशयः। यस्य निर्णयनिमित्तं वर्णोपन्यासः क्रियते, तदपि ऋषिदेवतास्वरवर्णानां ज्ञानान्निःश्रेयसमिच्छन्ति छान्दसाः।।६६।।

इति श्री भट्टहलायुधकृतायां पिङ्गलछन्दोवृत्तौ तृतीयोऽध्यायः।।३।।

गायत्री आदि सातों छन्द के सात प्रकार के गोत्र भी होते हैं जैसे गायत्री

छन्द में छब्बीस अक्षरों को देखकर सन्देह होता है कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट् उष्णिक्, वहां पर देवता देखकर निर्णय कर लेना चाहिये। जैसे गायत्री का अग्नि देवता है और उष्णिक् का सविता। इसलिये यदि अग्निदेवता का विधान मिलता हो तो उसे गायत्री छन्द, यदि सविता का उल्लेख हो तो उसे उष्णिक् छन्द समझना चाहिये। किस छन्द का कौनसा देवता है यह आगे के सूत्र में कहा जायेगा। 'आदि' पद से स्वरों का भी ग्रहण होता है।।६२।।

कस्य छन्दसः का देवता, यथा निर्णयः कर्त्तव्यः इत्यपेक्षायामिदमुच्यते–

अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः।।६३।।

गायत्र्यादीनां जगतीपर्यन्तानां यथाक्रममग्न्यादयो देवता वेदितव्याः। तत्र सन्दिग्धे छन्दसि यदाग्नेयं, तदा गायत्री। यदि सावित्रं, तदोष्णिग्। एवं सर्वत्र। वैदिकेष्वेव छन्दःसु निचृद्भुरिजौ तथा विराट्स्वराजौ च दृश्येते; न लौकिकेषु। अतो लौकिकेषु सन्देहाभावात्तन्निर्णयनिमित्तभूता देवतादयो नेष्यन्ते।।६३।।

पहिले कहा गया है कि देवताओं को देखकर छन्दों का निर्णय करना चाहिये परन्तु कौन-से छन्द का कौन-सा देवता होता है यह नहीं कहा गया है, इस सूत्र में यही कहा जा रहा है।

गायत्री से लेकर जगती पर्यन्त जो सात छन्द हैं गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती इन छन्दों के क्रमशः अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रावरुण, इन्द्र और विश्वदेव देवता होते हैं। जैसे गायत्री का अग्नि, उष्णिक् का सविता, अनुष्टुप् का सोम, बृहती का बृहस्पति, पङ्क्ति का मित्रावरुण, त्रिष्टुप् का इन्द्र और जगती का विश्वदेव देवता होता है। अतः किसी मन्त्र का अग्नि देवता है तो गायत्री छन्द और सविता देवता है तो उष्णिक् छन्द है ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार और भी समझना।

स्वराट् विराट् आदि भेद वैदिक छन्दों में ही होते हैं लौकिक छन्दों में ये भेद नहीं होते। इसलिये लौकिक छन्दों में सन्देह न होने के कारण उनमें देवता का उपयोग नहीं है।।६३।।

स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः।।६४।।

षड्जर्षभगान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादाः स्वरा गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः।।६४।।

गायत्री प्रभृति सात प्रकार के छन्दों के षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ये सात स्वर क्रमशः होते हैं। गायत्री का षड्ज, उष्णिक् का ऋषभ, अनुष्टुप् का गान्धार, बृहती का मध्यम, पङ्क्ति का पञ्चम, त्रिष्टुप् का धैवत और जगती का निषाद स्वर होता है।

यदि किसी स्थल पर स्वराट् और विराट् दोनों का सन्देह हो तो वहां पर स्वर देखकर भी निर्णय किया जा सकता है। जैसे (२६) अक्षरों के छन्द में यह सन्देह हो रहा है कि यह स्वराट् गायत्री है या विराट् उष्णिक्, वहां पर यदि षड्ज स्वर का उल्लेख पाया जाता है तो गायत्री समझना चाहिये और ऋषभ स्वर का यदि उल्लेख पाया जाता हो तो उष्णिक् छन्द समझना।।६४।।

सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः।।६५।।

गायत्र्यादिषु क्रमेण वर्णा वर्णनिर्णयनिमित्तमभिधीयन्ते।।६५।।

गायत्री प्रभृति सातों छन्द के वर्ण भी सात प्रकार के होते हैं। वह इस प्रकार हैं, सित, सारङ्ग, पिशङ्ग, कृष्ण, नील, लोहित और गौर।।६५।।

आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभागर्वकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि।।६६।।

गायत्र्यादीनां क्रमेणैतानि गोत्राणि भवन्तीति वाक्यशेषः। अत्र 'रोचनाभाः कृतयः, श्यामान्यतिच्छन्दांसि' इत्येवमादिकमधीयते छान्दसाः। तन्नोपपद्यते। कृतीनामतिच्छन्दसां च निचृद्भुरिजौ विराट्स्वराजोश्च प्रदेशाभावात् कश्चिन्नास्ति संशयः। यस्य निर्णयनिमित्तं वर्णोपन्यासः क्रियते, तदपि ऋषिदेवतास्वरवर्णानां ज्ञानान्निःश्रेयसमिच्छन्ति छान्दसाः।।६६।।

इति श्री भट्टहलायुधकृतायां पिङ्गलछन्दोवृत्तौ तृतीयोऽध्यायः।।३।।

गायत्री आदि सातों छन्द के सात प्रकार के गोत्र भी होते हैं जैसे गायत्री

का आग्निवेश्य, उष्णिक् का काश्यप, अनुष्टुप् का गौतम, बृहती का आङ्गिरस, पङ्क्ति का भार्गव, त्रिष्टुप् का कौशिक, जगती का वशिष्ठ।

वैदिक लोग 'रोचनाभाः कृतयः, श्यामान्यतिच्छन्दांसि' ऐसा पढ़ते हैं। उनका तात्पर्य है कि चतुर्थाध्याय में वर्णित कृति और अतिछन्दों का क्रमशः रोचन और श्याम रंग होता है ऐसा वैदिकों का कहना ठीक नहीं, क्योंकि कृति और अति छन्दसों का ऐसा कोई अवसर नहीं आता जिसमें स्वराट् और विराट् दोनों का सन्देह हो। जब सन्देह ही न हो तो वहां निर्णय की आवश्यकता ही क्या। गायत्री आदि छन्दों के जो वर्ण कहे गये हैं केवल सन्दिग्ध स्थलों में निर्णय करने के लिये।

तब सन्देह मिटाने के लिये उनकी आवश्यकता न होने पर भी ऋषि, देवता, स्वर और वर्णों के ज्ञान से मोक्षप्राप्ति रूप फल उन्होंने स्वीकार किया है।।६६।।

भाषाटीका में तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।।३।।

चतुर्थोऽध्यायः

चतुःशतमुत्कृतिः।।१।।

चतुरधिकं शतं चतुःशतम्। मध्यमपदलोपी समासः। अथवा चत्वारि च शतं च शतुःशतम्। द्वन्द्वसमासः। कर्मधारयस्तु नेष्यते। तत्र चतुःशतानीति प्राप्नोति। यत्र चतुःशतमक्षराणां संख्या भवति, तत् 'उत्कृतिः' नाम छन्दः। यथा–

'छागस्य हविष आत्तामद्य (१) मध्यतो मेद उद्भृतं (२) पुरा द्वेषोभ्यः (३) पुरा पौरुषेय्या गृभो (४) घस्तां नूनं (५) घासे अज्राणां यवसप्रथमानां (६) सुमत्क्षराणां शतरुद्रियाणाम् (७) अग्निष्वत्तानां पीवोपवसनानां (८) पाश्वर्तः श्रोणितः (९) शितामतः उत्सादतः (१०) अङ्गादङ्गादवत्तानां (११) करत एवाश्विना (१२) जुषेतां हविः (१३)।।'

(शुक्लयजुर्वेदे-अ० २१ मं० ४३)।।१।।

जिस छन्द में एक सौ चार अक्षर हों उसे 'उत्कृति' नाम का छन्द कहते हैं।।१।।

चतुरश्चतुरस्त्यजेदुत्कृतेः।।२।।

चतुःशताक्षराच्छन्दसः क्रमेण चतुरश्चतुरः संख्याविशेषांस्त्यजेत्। एतेदुक्तं भवति-उत्कृतेरारभ्य चतुर्भिश्चतुभिरक्षरैर्न्यूनानि छन्दांस्यन्यानि स्थापयेत्, अष्टाचत्वारिंशदक्षरं यावत्।।२।।

उत्कृति से लेकर चार-चार अक्षरों को घटाते हुए दूसरे छन्दों को (४८) अक्षर तक रखना चाहिये।।२।।

तान्यभिसंव्याप्रेभ्यः कृतिः।।३।।

तान्युत्कृतेरनन्तराणि छन्दांसि अभि-सं-वि-आङ्-प्र इत्येतेभ्यः पराणि 'कृति' संज्ञानि भवन्ति। तत्र शताक्षरं छन्दः 'अभिकृतिः'। यथा-

देवो अग्निः स्विष्टकृत् (१)। देवान्यक्षद्यथायथम् (२)। होताराविन्द्रमश्विना (३)। वाचा वाचᳪ सरस्वतीम् (४)। अग्निᳪ सोमᳪ स्विष्टकृत् (५)। स्विष्ट इन्द्रः सुत्रामा (६)। सविता वरुणो भिषक् (७)। इष्टो देवो वनस्पतिः (८)। स्विष्टा देवा आज्यपाः (९)। इष्टो अग्निरग्निना (१०)। होता होत्रे स्विष्टकत् (११)। यशो न दधदिन्द्रियम् (१२)। ऊर्जमपचितिं स्वधाम् (१३)।।'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे-अ० २ प्र० ६ अ० १४ मं० ११)

षण्णवत्यक्षरं संकृतिः। यथा-

देवो अग्निः स्विष्टकृत् (१) सुद्रविणा मन्द्रः कविः (२)। सत्यमन्मा यजी होता (३)। होतुर्होतुरायजीयान् (४)। अग्ने यान् देवान्याट् (५)। याँ अपि प्रेः (६) ये ते होत्रे अमत्सत (७)। ताᳪ ससनुषीᳪ होत्रां देवंगमां (८) दिवि देवेषु

यज्ञमेरयेमम् (९)। स्विष्टकृच्चाग्ने होताभूः (१०)। वसुवने वसुधेयस्य नमो वाके वीहि (११)।।'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे-अ० ३ अ० ६ अ० १४ मं० १)

द्वानवत्यक्षरं विकृतिः। यथा–

'इमे सोमाः सुरामाणः (१)। छागैर्न मेषैर्ऋषभैः सुताः (२)। शष्पैर्न तोक्मभिः (३)। लाजैर्महस्वन्तः (४)। मदा मासरेण परिष्कृताः (५)। शुक्राः पयस्वन्तोऽमृताः (६) प्रस्थिता वो मधुश्चुतः (७)। तानश्विना सरस्वती (८)। इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा (९)। जुषन्ताꣳ सोम्यं मधु (१०)। पिबन्तु मदन्तु वियन्तु सोमम् (११)।'

(तैत्तिरीयब्राह्मणे-अ० २ प्र० ६ अ० ११)

अष्टाशीत्यक्षरमाकृतिः यथा–

'तञ्चक्षुर्देवहितं (१) पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् (२)। पश्येम शरदः शतं (३) जीवेम शरदः शतं (४) नन्दाम शरदः शतं (५) मोदाम शरदः शतं (६) भवाम शरदः शतꣳ (७) शृणवाम शरदः शतं (८) प्रब्रवाम शरदः शत (९) मजीताः स्याम शरदः शतं (१०) जोक्च सूर्यं दृशे।।'

(तैत्तिरीयारण्यके–प्र० ५ अ० ४२ मं० २२)

चतुरशीत्यक्षरं प्रकृतिः। यथा–

'अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः (१)। पापेभ्यो रक्षन्ताम् (२)। यदह्ना पापमकार्षम् (३)। मनसा वाचा हस्ताभ्याम् (४)। पद्भ्यामुदरेण शिश्ना (५)। अहस्तदवलुम्पतु (६)। यत्किञ्च दुरितं मयि (७)। इदमहं माममृतयोनौ (८)। सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा (९)।।'

(तै० आ० प्र० १० अ० २४)।।३।।

उत्कृति के अनन्तर कृति शब्द के पूर्व अभि, सम, वि, आङ् और प्र इन पांच उपसर्गों को मिला देने से जो शब्द बनते हैं उन्हीं पांच नाम के पांच छन्द होते

हैं। उनकी 'कृति' संज्ञा है क्योंकि इसी कृति के पूर्व ही इन पांच उपसर्गों के लग जाने से पांच प्रकार का भेद हो जाता है। जैसे **अभिकृति, संस्कृति, विकृति, आकृति** और **प्रकृति।**

अर्थात् पूर्व नियम के अनुसार (१०४) से पांच संख्या (प्रकृति) तक चार चार अंकों को घटाते जाने से जो जो संख्या निकलती जायेगी वही अक्षरों की संख्या उस छन्द की समझना चाहिये जैसे–

उत्कृति अक्षर संख्या १०४ है–

उनमें (४) चार अंक घटा देने से अभिकृति की संख्या निकल आती है देखिए–

उत्कृति १०४–४=१०० अभिकृति।।१।।
अभिकृति १००–४=९६-संकृति।।२।।
संकृति ९६–४=९२-विकृति।।३।।
विकृति ९२–४=८८-आकृति।।४।।
आकृति ८८–४=८४-प्रकृति।।५।।

प्रकृत्या चोपसर्गवर्जितः।।४।।

उपसर्गेण वर्जितः शुद्धः कृतिशब्दः प्रकृत्या स्वरूपेणैवावतिष्ठते। तेनैतदुक्तं भवति-अशीत्यक्षरं छन्द 'कृति'र्नाम। यथा–

देव इन्द्रो नराशंस(१)स्त्रिवरूथस्त्रिवन्धुरो (२) देवमिन्द्रमवर्धयत् (३)। शतेन शितिपृष्ठानामाहितः (४) सहस्रेण प्रवर्तते (५) मित्रावरुणेदस्य होत्रमर्हतो (६) बृहस्पतिः स्तोत्र (७) मश्विनाध्वर्यवं (८) वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज (९)।।'

(शुक्लयजुर्वेद-अ० २८ मं० १९)।।४।।

उपसर्गरहित शुद्ध कृति शब्द की स्वाभाविक रूप से स्थिति रहेगी। (अर्थात् जिस छन्द में (८०) अक्षर हों उसकी 'कृति' संज्ञा होती है।) पहिले (८४) अक्षरों की 'प्रकृति' कही गयी है। अब उनमें (सू० ४।२) सूत्र के अनुसार (४) घटा देने से जो अंक शेष रहता है (अर्थात् (८०) अंक) यही 'कृति' छन्द की अक्षरसंख्या है।।४।।

धृत्यष्टिशक्वरीजगत्यः ।।५।।

कृतेरधस्ताद्धृतिरष्टिः शक्वरी जगतीत्येते शब्दाः क्रमेण व्यवस्थापनीयाः ।।५।।

'कृति' शब्द के नीचे धृति, अष्टि, शक्वरी और जगती इन शब्दों को यथा क्रम से लिखना चाहिये। कुछ लोग इस सूत्र का अर्थ करते हैं कि–कृति शब्द के अनन्तर धृति, अष्टि, शक्वरी और जगती कहे जायेंगे। परन्तु मेरी समझ में 'अधस्तात्' और 'व्यवस्थापनीयाः' इन दोनों शब्दों से और (४।२) सूत्र की वृत्ति में भी (छन्दांस्यन्यानि स्थापयेत्) इस स्थापन शब्द से 'उत्कृति' से लेकर जगती पर्यन्त एक पङ्क्ति बनाकर समझाना चाहिये। जिसमें उत्कृति से लेकर जगती पर्यन्त (१०४) में से क्रमशः चार चार अंक घटाते हुए एक के नीचे दूसरा इसी प्रकार रखना चाहिये।।५।।

पृथक्पृथक्पूर्वत एतान्येवैषाम् ।।६।।

एषां धृत्यादीनां पूर्वतः पृथक्पृथगेतान्येव शब्दरूपाणि विन्यसेत्। पृथक्पृथग्ग्रहणं प्रत्येकं पूर्वत्वज्ञापनार्थम्। अन्यथा हि समुदायपूर्वत्वमेषां स्यात्। तेनायमर्थः–धतिशब्दात् पूर्वं धृतिशब्दः, अष्टिशब्दात्पूर्वमष्टिशब्दः शक्वरीशब्दात्पूर्वं शक्वरीशब्दः, जगतीशब्दात् पूर्वं जगतीशब्दः ।।६।।

पहिले सूत्र में कहा गया है कि एक पङ्क्ति बनाकर क्रमशः प्रकृति के नीचे धृति, उसके नीचे शक्वरी, और उसके नीचे जगती शब्द लिखना चाहिये। अब इस सूत्र में कहा जा रहा है कि पङ्क्ति में लिखित धृति आदि शब्द के पूर्व दूसरा धृति आदि शब्द लिखना चाहिये। जैसे धृति शब्द से पूर्व 'धृति', अष्टि शब्द से पूर्व 'अष्टि', शक्वरी शब्द से पूर्व 'शक्वरी' और जगती शब्द से पूर्व 'जगती' शब्द।।६।।

द्वितीयं द्वितीयमतितः ।।७।।

अत्र द्वितीयं द्वितीयं शब्दरूपमतिशब्दात्परतः प्रयोक्तव्यम्। एवं सत्युत्तरेषां छन्दसामेताः संज्ञाः क्रमेण भवन्ति। तत्र षट्सप्तत्यक्षरमतिधृतिः। यथा–

'स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणि (१) रप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनि (२) रार्तनास्विष्टनिः (३)। आदद्धव्यान्याददि (४) र्यज्ञस्य केतुरर्हणा (५)। अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो (६) विश्व जुषन्त पन्थां (७) नरः शुभेन पन्थाम् (८)।।'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० १ व० १३ मं० १)

द्वासप्तत्यक्षरं धृतिः। यथा-

'अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः (१) शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो (२) घृणान्न भीषाँ अद्रिवः (३) शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभि (४) र्वधैरुग्रेभिरीयसे (५)। अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्त्वभि (६) स्त्रिसप्तैः शूरसत्वभिः (७)।।'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० १ व० २२ मं० ६)

अष्टषष्ट्यक्षरमत्यष्टिः। यथा-

अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी (१) पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभि (२) श्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः (३)। द्युक्षं मित्रस्य सादन (४) मर्यम्णो वरुणस्य च (५)। अथादधाते बृहदुक्थ्यं वय (६) उपस्तुत्यं बृहद्वयः (७)।।'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० १ व० २६ मं० २)

चतुःषष्ट्यक्षरमष्टिः। यथा-

'त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं (१) तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिब (२) द्विष्णुना सुतं यथावशत् (३)। स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं (४) सैनं सश्चद्देवो देवं (५) सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः (६)।।' (ऋग्वेदे-अ० २ अ० ६ व० २८ मं० १)

षष्ट्यक्षरमतिशक्वरी। यथा-

'साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ (१) साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः (२) दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु (३) सैनं सश्चद्देवो देवं (४) सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः (५)।।'

(ऋग्वेदे-अ० २ अ० ६ व० २८ मं० ३)

षट्पञ्चादशक्षरा शक्वरी। यथा–

'प्रौष्वस्मै पुरोरथ (१) मिन्द्राय शूषमर्चत (२)। अभीके चिदु लोककृत् (३) सङ्गे समत्सु वृत्रहा (४) ऽस्माकं बोधि चोदिता (५) नभन्तामन्यकेषाम् (६) ज्याका अधिधन्वसु (७)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ८ अ० ७ व० २१। मं० १)

द्विपञ्चाशदक्षरा अतिजगती। यथा–

'स भ्रातरं वरुणमग्न आववृत्स्व (१) देवाँ अच्छा सुमती यज्ञवनसं (२) ज्येष्ठं यज्ञवनसम् (३) ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं (४) राजानं चर्णणीधृतम् (५)।।'

(ऋग्वेदे-अ० ३ अ० ४ व० १२ मं० २)

अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती। यथा–

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये (१) मारुतं शर्धो अदितिं हवामहे (२)। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो (३) विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन (४)।।'

(ऋग्वेदे-अ० १ अ० ७ व० २४ मं० १)।।७।।

इति श्रीभट्टहलायुधकृतायां पिङ्गलछन्दोवृत्तौ चतुर्थाध्याये वैदिकच्छन्दःप्रकरणं समाप्तम्।

पूर्व सूत्र के अनुसार दोहराया गया जो धृति आदि शब्द (अर्थात् धृति आदि शब्दों के पूर्व पङ्क्ति में लिखे गये जो धृति आदि शब्द) उनके आगे अति शब्द लिख देना चाहिये। जैसे धृति शब्द से पूर्व जो धृति शब्द लिखा गया है उसके आगे अति शब्द लिख देने पर (अति धृति) शब्द बन जाता है। उसी प्रकार अष्टि शब्द से पूर्व लिखा गया जो अष्टि शब्द है। उसके आगे अति शब्द लिख देने से 'अत्यष्टि'। इसी प्रकार 'शक्वरी' (अति शक्वरी), 'जगती' (अति जगती) आदि शब्दों को पङ्क्ति में एक के नीचे दूसरे लिखते जाना चाहिये। पीछे प्रत्येक शब्द के अनन्तर चार चार अंक घटाकर जो अंक अवशिष्ट रहता है उसे रखते जाना चाहिये। वृत्तिकार के कथनानुसार सबको समझाने के लिये एक पंक्ति बनाकर नीचे दी जाती है। उसी से अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।।७।।

अथोत्कृत्यादिछन्दसामक्षरसंख्याबोधिका पङ्क्तिः

छन्दःसंख्या	छन्दोनाम	अक्षरसंख्या	छन्दःसंख्या	छन्दोनाम	अक्षरसंख्या
१	उत्कृतिः	१०४	९	धृतिः	७२
२	अभिकृतिः	१००	१०	अत्यष्टिः	६८
३	संकृतिः	९६	११	अष्टिः	६४
४	विकृतिः	९२	१२	अतिशक्वरी	६०
५	आकृतिः	८८	१३	शक्वरी	५६
६	प्रकृतिः	८४	१४	अतिजगती	५२
७	कृतिः	८०	१५	जगती	४८
८	अतिधृतिः	७६			

वैदिकछन्दःप्रकरण समाप्त हुआ।

पंचमं घटकम्

वैदिकव्याकरणं व्याख्यापद्धतिश्च

(क) सौवरः (महर्षि दयानन्द सरस्वती)

अथ भूमिका

इस सौवर ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि जिससे सब मनुष्यों को उदात्तादि स्वरों की व्यवस्था का बोध यथार्थ हो जावे। जब तक उदात्तादि स्वरों को ठीक-ठीक नहीं जानते तब तक लौकिक-वैदिक वाक्यों वा छन्दों का स्पष्ट, प्रिय उच्चारण, गान और ठीक-ठीक अर्थ भी नहीं जान सकते। और उच्चारण आदि के यथार्थ होने के बिना लौकिक-वैदिक शब्दों से यथार्थ सुखलाभ भी किसी को नहीं होता। देखो इस विषय में प्रमाण:-

दुष्टः शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ।(महा. १, १, १)

जो शब्द अकारादि वर्णों के स्थान प्रयत्न पूर्वक उच्चारण निमय और उदात्तादि स्वरों के नियम से विरूद्ध बोला जाता है उसको **मिथ्याप्रयुक्त** कहते हैं, क्योंकि जिस अर्थ को जताने के लिये उसका प्रयोग किया जाता है उस अर्थ को वह शब्द नहीं कहता, किन्तु विरूद्ध अर्थान्तर को कहता है। इसलिये उच्चारण किया हुआ वह शब्द अभीष्ट को नष्ट करने से वज्र के तुल्य वाणीरूप होकर यजमान अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध की सङ्गति करनेवाले पुरूष ही को दुःख दे देता है, अर्थात् प्रयोक्ता के अभिप्राय को बिगाड़ देना ही उसको दुःख देना है। जैसे (इन्द्रशत्रुः) शब्द स्वर के विरूद्ध से ही विरूद्धार्थ हो जाता है। '**इन्द्रशत्रुः**' तत्पुरूष-समास में तो अन्तोदात्त होता है। इन्द्र अर्थात् सूर्य का शत्रु मेघ बढ़कर विजयी हो। '**इन्द्रशत्रुः**' यहाँ बहुब्रीहि-समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर से आद्युदात्त स्वर होता है। और शत्रु शब्द का अर्थ यही है कि शान्त करने वा काटनेवाला। प्रमाण निरूक्त का - **इन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता दा** । (निरू० अध्याय २, खण्ड १६)। सो तत्पुरूष-समास में तो इन्द्र नाम सूर्य का शत्रु शान्त करनेवाला मेघ आया और बहुब्रीहि-समास में सूर्य जिसका शत्रु शान्त करने वा काटनेवाला है ऐसा अन्य पदार्थ मेघ आया। जो पुरूष '**सूर्य का शान्त करनेवाला मेघ**' है, इस अभिप्राय से इन्द्रशत्रु शब्द का उच्चारण

किया जाता है तो उसको अन्तोदात्त उच्चारण करना चाहिये, परन्तु जो वह आद्युदात्त उच्चारण कर देवे। (तो) उसका अभिप्राय नष्ट हो जावे, क्योंकि आद्युदात्त उच्चारण से बहुव्रीहि-समास में 'मेघ का शान्त करने वा काटनेवाला **सूर्य**' ठहरेगा।

इसलिये जैसा अपना इष्ट अर्थ हो वैसे स्वर और वर्ण का नियमपूर्वक ही उच्चारण करना चाहिये। जब मनुष्य को उदात्तादि स्वरों का ठीक-ठीक बोध हो जाता है तब स्वर लगे हुए लौकिक (-वैदिक) शब्दों के नियत अर्थों को शीघ्र जान लेता है। जैसे किसी एक शब्द को आद्युदात्त स्वरयुक्त देखा तो जान लेगा कि अमुक अर्थ में अमुक 'ञित्' वा 'नित्' प्रत्यय हुआ है, इसलिये इसका यही अर्थ होना चाहिये, इससे विरूद्ध अर्थ नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय स्वरज्ञ पुरूष को हो जाता है। जैसे - **स कर्त्ता । स कर्त्ता** । इन दो वाक्यों में दो प्रकार के स्वर होने से दो ही प्रकार के अर्थ होते है। पहिले वाक्य में लुट लकार की क्रिया है। अर्थ - वह अगले दिन करेगा। और दूसरे कृदन्त में तृच् प्रत्ययान्त शब्द है। अर्थ है- वह करने वाला पुरूष है, इत्यादि।

इसी प्रकार एक प्रकार के शब्दों का अर्थभेद स्वरव्यवस्था जानने से ही निकलता है। जो स्वरव्यवस्था का बोध न हो तो अर्थों का लौट-पौट व्यभिचार हो जाने से बड़ा अन्धेर फैल जावे। इसी प्रकार समासों के पृथक्-पृथक् नियतस्वरों को जान के उन-उन समासों के नियत अर्थों को शीघ्र जान लेता है, अर्थात् उदात्तादि स्वरज्ञान के बिना अर्थ की भ्रान्ति नहीं छुटती। और उदात्तादि स्वरबोध के बिना वेदमन्त्रों का गान और उच्चारण भी यथार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि षड्जादि स्वर गानविद्या में उपयोगी होते हैं, वे उदात्तादि के बिना नहीं हो सकते। जैसे :-

उच्चौ निषादगान्धारौ नीचावृषभधैवतौ ।

शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः ।। (याज्ञवल्क्यशिक्षा)

पड्जादिकों में निषाद और गान्धार तो उदात्त के लक्षण से, ऋषभ और धैवत अनुदात्त के लक्षण से तथा षड्ज, मध्यम और पञ्चम ये तीनों स्वरितस्वर से गाये जाते हैं। उदात्तादि के बिना वेदमन्त्रों का उच्चारण भी प्रिय नहीं लगता और जब उदात्तादि के सहित उच्चारण किया जाता है तब अतिप्रिय मनोहर उच्चारण होता है। इस ग्रन्थ में स्वरव्याख्या संक्षेप से की है, परन्तु जो मुख्य-मुख्य स्वरविषय के पाणिनीय अष्टाध्यायीस्थ सूत्र हैं, वे सब इसमें लिख दिये हैं, और सब अष्टाध्यायी की वृत्ति में लिखे जायेंगे।

।। **इति भूमिका** ।।

स्थान महाराणाजी का उदयपुर

संवत् १९३९ आश्विन वदी १३ **(स्वामी)**

दयानन्दसरस्वती

अथ सौवरः

१ – महाभाष्य – स्वयं राजन्त इति स्वराः,

अन्वग्भवति व्यञ्जनम् ।। (महा० १ । २ । २९)

स्वर उनको कहते हैं कि जो बिना किसी की सहायता से उच्चारित और स्वयं प्रकाशमान (हों,) और **व्यञ्जन** वे कहाते हैं कि जिनका उच्चारण स्वर के आधीन हो ।।१ ।।

२–उच्चैरुदात्तः ।।अष्टाध्यायी० अध्याय १, पाद २, सूत्र २१ ।।

मुख के किसी एक स्थान में जिस अच् का ऊंचे स्वर से उच्चारण हो, वह **उदात्तसंज्ञक** होता है ।। जैसे – **औपगवः** । यहाँ 'अण्' प्रत्यय का अकार उदात्त हुआ है ।। २ ।।

३ – महा०– आयामो दारूण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य ।।

(महा० अध्याय १ । पाद २ । सूत्र २१)

उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहिये – (आयामः) शरीर के सब अवयवों को रोक लेना, अर्थात् ढीले न रखना, (दारूण्यम्) शब्द के निकलते समय तीखा, रूखा स्वर निकले, और (अणुता खस्य) कण्ठ को रोक के बोलना चाहिये, फैलाना नहीं। ऐसे प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है, यही उदात्त का लक्षण है ।। ३ ।।

४ – नीचैरनुदात्तः ।।अ० १ । २ । ३० ।।

जो किसी एक मुखस्थान में नीचे प्रयत्न से उच्चारण किया हुआ स्वर है, उसको **अनुदात्त** कहते हैं ।। जैसे – **औपगवः** ।

यहां जिनके नीचे तिर्छी रेखा है वे तीनों वर्ण अनुदात्त है ।।४ ।।

५–महा०–अन्ववसर्गो मार्दवमुरूता खस्येति

नीचैःकराणि शब्दस्य ।। (महा० १ ।२ ।३०)

अनुदात्त उच्चारण में (अन्ववसर्गः) शरीर के अवयवों को शिथिल कर देना, (मार्दवम्) कोमल, स्निग्ध उच्चारण करना, (उरूता खस्य) और कण्ठ को कुछ फैला के बोलना ।इस प्रकार के प्रयत्न से उच्चारण किये स्वर को अनुदात्त कहते हैं, यही इसका लक्षण है ।।५ ।।

६– समाहारः स्वरितः ।।अ० १ ।२ ।३१ ।।

उदात्त और अनुदात्त गुण का जिसमें मेल हो वह अच् **स्वरितसंज्ञक** होता है ।। जो उदात्त स्वर है उसका कोई चिह्न नहीं होता, किन्तु बहुधा स्वरित वा अनुदात्त से पूर्व ही उदात्त रहता है।

अनुदात्त वर्ण के नीचे जैसा (क) यह तिर्छा चिह्न किया जाता है। और स्वरित के ऊपर (क) ऐसा खड़ा चिह्न किया जाता है। दो गुणों को मिला के जो बनता है उसका तीसरा नाम रखते हैं। जैसे श्वेत और काला ये रङ्ग अलग-अलग होते हैं परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न होता है उसको (कल्माष) खाखी वा आसमानी (रंग) कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त गुण पृथक-पृथक हैं परन्तु जो इन दोनों को मिलाने से उत्पन्न होता है उसको स्वरित कहते है।।६ ।।

७-तस्यादित उदात्तमर्द्धह्रस्वम् ।।अ० १ । २ ।३२ ।।

जो पूर्व सूत्र में स्वरित विधान किया है उसके तीन भेद होते हैं - ह्रस्वस्वरित, दीर्घस्वरित और प्लुतस्वरित ।सो इन स्वरितों की आदि में आधी मात्रा उदात्त होती और (शेष) सब अनुदात्त रहती है। जैसे - क्व ।कन्या ।शक्तिकै३ ।यहां ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीनों क्रम से स्वरित हुए हैं।

इस सूत्र में ह्रस्व के कहने से यह सन्देह होता है कि दीर्घस्वरित और प्लुतस्वरित में उदात्त का विभाग न होना चाहिये, क्योंकि ह्रस्वसंज्ञा से दीर्घ प्लुतसंज्ञा भिन्नकालिक है। इसीलिये अर्द्धह्रस्व शब्द के आगे प्रमाण अर्थ में 'मात्रच्' प्रत्यय का लोप महाभाष्यकार ने माना है कि ह्रस्व का अर्द्धभागमात्र अर्थात् आदि की आधी मात्रा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत किसी में हो उदात्त हो जाती है।

इस सूत्र के उपदेश करने में प्रयोजन यह है कि जो मिली हुई जीज़ होती है उसमें नहीं जाना जाता कि कौनसा कितना भाग है। जैसे दूध और जल मिलादें तो यह नहीं विदित होता कि कितना दूध और कितना जल है तथा किधर दूध और किधर जल है, इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त मिले हुए हैं, इस कारण जाना नहीं जाता कि कितना उदात्त और अनुदात्त और किध ार उदात्त और किधर अनुदात्त है। इसलिये सबके मित्र होके पाणिनि महाराज ने इस सूत्र का उपदेश किया है, जिससे ज्ञात हो जावे कि इतना उदात्त, इतना अनुदात्त तथा इधर उदात्त और इध ार अनुदात्त है।

(प्रश्न) जो पाणिनि महाराज सबके ऐसे परम मित्र थे तो इस प्रकार की और बातें क्यों नहीं प्रसिद्ध कीं। जैसे स्थान, करण, प्रयत्न, नादानुप्रदान आदि ?

(उत्तर) जब व्याकरण अष्टाऽध्यायी बनाई गई थी उससे पूर्व ही शिक्षा आदि कई ग्रन्थ बन चुके थें, जिनमें स्थान, करण आदि का प्रकार लिखा है, क्योंकि शब्द के उच्चारण में जितने साधन हैं वे मनुष्य को प्रथम ही जानने चाहियें। और जो बातें उन ग्रन्थों में लिख चुके थे उनको फिर अष्टाऽध्यायी में भी लिखते तो पिष्टपेषण दोषवत् पुनरूक्तदोष समझा जाता। इसलिये जो बातें वहाँ नहीं लिखीं वे यहाँ प्रसिद्ध की है। तथा गणना से भी व्याकरण तीसरा वेदाङ्ग है इसलिये पाणिनिजी महाराज ने सब कुछ अच्छा ही किया है। जो इस सूत्र का प्रयोजन और इस पर प्रश्नोत्तर लिखे हैं सो सब महाभाष्य में स्पष्ट करके इसी सूत्र पर लिखे है*।

८-एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ ।। अ० १ ।२ ।३३ ।।

दूर से अच्छे प्रकार बल से बुलाने अर्थ में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीनों स्वरों का एकश्रुति अर्थात् एकतार श्रवण हों, पृथक-पृथक सुनने में न आवें, ऐसा उच्चारण करना चाहिये। जैसे - **आगच्छ भो माणवक देवदत्त ३** । यहाँ उदात्तानुदात्तस्वरित का पृथक्-पृथक् श्रवण नहीं होता। 'दूरात्' ग्रहण इसलिये है कि - **आगच्छ भे भवदेव** । यहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों का अलग-अलग उच्चारण होता है। ।।८ ।।

९-उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ।। अ० ९ । ४ ।६६ ।।

सब स्वरप्रकरण में यह सामान्य नियम समझना चाहिये कि जो उदात्त से परे अनुदात्त हो तो उसको स्वरित हो जाता है।। जैसे - **ऋतेन** । यहाँ 'ते' उदात्त है, उससे परे नकार अनुदात्त (है उस) को स्वरित हो जाता है - **ऋतेन** । तथा - **गार्ग्यः** । यहाँ '**गा**' उदात्त है और '**र्ग्य**' अनुदान था उसको '**र्ग्य**' स्वरित हो जाता है। इसी प्रकार उदात्त से परे जहां-जहां स्वरित आता है वहां-वहां सर्वत्र असंख्य शब्दों में इसी सूत्र से अनुदात्त को स्वरित जानना चाहिये। और जहां उदात्त से परे अनेक अनुदात्त हों वहाँ एक को स्वरित (तथा) औरों को जो होना चाहिये सो आगे लिखेंगे ।।९ ।।

उदात्त से परे जो अनुदात्त, उससे परे उदात्त वा स्वरित होने में इतना विशेष है कि -

१०-नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ।। अ० ८ । ४ । ६७ ।।

उदात्त से परे जिस अनुदात्त को स्वरित विधान किया है यदि उस (अनुदात्त) से परे उदात्त वा स्वरित हो तो उस अनुदात्त को स्वरित न हो। परन्तु गार्ग्य, काश्यप, गालब इन ऋषियों के मत को छोड़ के, अर्थात् इन तीनों के मत में तो जिससे परे उदात्त वा स्वरित हो उस अनुदात्त को भी स्वरित हो जावे ।

परन्तु यह गार्ग्य आदि ऋषियों का मत वेद में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वेद सनातन हैं। वहां किसी का मत नहीं चलता। लौकिक प्रयोगों में गार्ग्य आदि का मत चल जाता है। वेद में सर्वत्र उदात्तस्वरितोदय हो तो भी अनुदात्त ही बना रहता है। जैसे - **कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारू देवस्य नाम** (ऋ० १ । २४ । १) । यहां '**देवस्य नाम**' (में) नाम शब्द आद्युदात्त के परे होने से '**व**' उदात्त से परे '**स्य**' अनुदात्त को स्वरित नहीं हुआ। तथा - **नव्यं तदुक्थ्यम्** (ऋ० १ ।१०५ ।१२) । यहाँ तकार उदात्त से परे '**दु**' अनुदात्त को आगे '**कथ्य**' स्वरित होने से भी स्वरित नहीं होता। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। लौकिक उदाहरण - **गार्ग्य ऋषिः** । यहाँ 'गार्ग्य' और 'ऋषि' दोनों शब्द आद्युदात्त हैं। ऋकार उदात्त के उदय में अनुदात्त 'र्ग्य' को स्वरित नहीं होता - **गार्ग्य ऋषिः** । और गार्ग्य आदि के मत में - '**गार्ग्य ऋषिः**' ऐसा भी होता है।।१० ।।

अब एकश्रुतिस्वरविषय में लिखते हैं –

११–यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु ।। अ० १ । २ । ३४ ।।

यज्ञकर्म अर्थात् यज्ञसम्बन्धी कर्म करने में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं वहां उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को एकश्रुतिस्वर हो, (अर्थात्) उदात्तादि का पृथक्–पृथक् श्रवण न हो, परन्तु जप करने में तथा न्यूङ्ख – किसी प्रकार के वेद के स्तोत्रों का नाम है – वहां और सामवेद में उदात्तादि के स्थान में एकश्रुति न हो, किन्तु स्वर पृथक्–पृथक् बोले जावें। जैसे – **समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन** । (यजु० ३ । १) इत्यादि मन्त्र होम करते समय स्वरभेद के बिना ही पढ़े जाते हैं। तीनों स्वर के विभाग से वेद–मन्त्रों का पाठ होना चाहिये, इस कारण यज्ञकर्म में भी पृथक्–पृथक् उच्चारण प्राप्त था, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ है।।११।।

१२–उच्चैस्तरां वा वषट्कारः ।। अ० १ । २ । ३५ ।।

जो यज्ञकर्म में वषट्कार शब्द है वह विकल्प करके उदात्ततर हो और पक्ष में एकश्रुतिस्वर होता है। जैसे – **वषट्कारैः सरस्वती, वषट्कारैः सरस्वती** । (यजु० २१ । ५३) यहां उदात्त और एकश्रुति दोनों का चिह्न न होने से एक ही प्रकार का स्वर दीख पड़ता है परन्तु उच्चारण में भेद जान पड़ता है।।१२।।

१३–विभाषा छन्दसि ।। अ० १ २ । ३६ ।।

वेदमन्त्रों के सामान्य उच्चारण करने में उदात्त, अनुदान और स्वरित को एकश्रुति स्वर विकल्प करके होता है। एकश्रुतिपक्ष में उदात्तादि का भिन्न–भिन्न उच्चारण नहीं होता। सो ये दो पक्ष तीन वेदों में घटते हैं। सामवेद में तीनों स्वर भिन्न–भिन्न उच्चारण किये जाते हैं, क्योंकि (११ वें) सूत्र से सामवेद में एकश्रुति होने का निषेध कर चुके हैं।।१३ ।।

१४–न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ।। अ० १ । २ । ३७ ।।

जो सुब्रह्मण्या निगद में यज्ञकर्म में पूर्वसूत्र से एकश्रुति स्वर प्राप्त है सो न हो, किन्तु उसमें जो स्वरित वर्ण हों उनके स्थान में उदात्त हो जावे। सुब्रह्मण्या एक निगद का नाम है। उसका व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में तृतीय काण्ड तृतीय प्रपाठक के प्रथम ब्राह्मण में सत्रहवीं कण्डिका से लेके बीसवीं कण्डिका पर्यन्त किया है। उस निगद में जितने शब्द हैं उन सब में स्वर का विशेष नियम समझना चाहिये।

भा० – सुब्रह्मण्यायामोकार उदात्तो भवति ।। (अ० १ । २ । ३७)

सुब्रह्मन् शब्द से साध्वर्थ में 'यत्' प्रत्यय होके (सुब्रह्मण्य शब्द) स्वरितान्त होता है, उसका 'टाप्' (के अनुदात्त आकार के साथ एकादेश होके 'सुब्रह्मण्या' शब्द स्वरितान्त होता है, उसका उदात्त) ओकार के साथ एकादेश होके स्वरित (ही बना रहता है)। उस स्वरित को इस सूत्र से उदात्त आदेश हो जाता है, और तीन वर्ण अनुदात्त रहते हैं – **सुब्रह्मण्योम्** ।।

भा० – आकार आख्याते परादिश्च, वाक्यादौ च द्वे द्वे ।। (अ० १ । २ । ३७)

जहां आख्यातक्रिया परे हो वहां उससे पूर्व का आकार और उस क्रिया का आदि वर्ण उदात्त होता है (और वाक्य के आदि में दो-दो वर्ण उदात्त होते हैं) जैसे **इन्द्र आगच्छ, हरिव आगच्छ** । यहां ऐसा समझो कि '**इन्द्र**' और '**हरिवः**' शब्द आमन्त्रित होने से आद्युदात्त हैं। उनके दूसरे वर्ण अनुदात्त हैं। उनके दूसरे वर्ण अनुदात्त हैं। उनको उदात्त से परे स्वरित हो जाता है। उस स्वरित को इस सूत्र से उदात्त करते हैं। इस प्रकार 'इन्द्र' शब्द सब उदात्त और 'हरिवः' शब्द में भी जो दो उदात्त और वकार अनुदात्त है, उसको पूर्व उदात्त के असिद्ध मानने से स्वरित नहीं होता। '**आगच्छ**' में आकार तो प्रथम ही उदात्त है, उससे परे दोनों अक्षर अनुदात्त हैं। आकार उदात्त से परे गकार अनुदात्त को स्वरित होके इस सूत्र से स्वरित को उदात्त हो जाता है। इस प्रकार '**इन्द्र आगच्छ**' इस वाक्य में एक छकार अनुदात्त और चार वर्ण उदात्त रहते हैं, तथा '**हरिव आगच्छ**' इस वाक्य में वकार छकार दो वर्ण अनुदात्त और चार वर्ण उदात्त रहते हैं।

सुब्रह्मण्यो३मिन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार । कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्राह्मण श्वः सुत्यामागच्छ मघवन्। '**मेधातिथेर्मेष**' यहां आमन्त्रित 'मेष' शब्द के परे पूर्व सुबन्त को पराङ्गवत् (भाव से) आद्युदात्त होके (शेष) सब अक्षर अनुदात्त हो जाते हैं। फिर 'मे' उदात्त से परे 'धा' अनुदात्त को स्वरित होकर उस स्वरित को इस सूत्र से उदात्त हो के आदि में दो उदात्त और चार वर्ण अनुदात्त रहते हैं।

इसी प्रकार '**वृषणश्वस्य मेने, गौरावस्कन्दिन्, अहल्यायै जार, कौशिक ब्राह्मण, गौतम ब्रुवाण**' इन सब में दो-दो आदि में उदात्त और (शेष) यब वर्ण अनुदात्त रहते हैं।

'श्वस्' और 'सुत्या' शब्द अन्तोदात्त को स्वरित होके उदात्त हो जाता है। इस प्रकार तीनों उदात्त रहते हैं – **श्वः सुत्याम्** । '**आगच्छ मघवन्**' यहां भी उदात्त आकार से परे गकार अनुदात्त को स्वरित होके उदात्त हो जाता है। 'मघवन्' शब्द आमन्त्रित के होने से सब अनुदात्त हो जाता है। यहां जितने पदों का व्याख्यान किया है वे सब सुब्रह्मण्या निगद के ही है। अब आगे एक अपूर्व बात लिखते हैं कि जो इस सूत्र से भी सिद्ध नहीं है।। १४ ।।

१५-वा०-सुत्यापराणामन्तः ।। (अ० १ ।२ ।३७)

सुत्या शब्द जिन से परे हो उनको अन्तोदात्त हो। (जैसे –) **द्व्यहे सुत्याम्, त्र्यहे सुत्याम्।** यहां 'द्व्यह' 'त्यह' शब्दों को अन्तोदात्त होके उससे परे 'सु' अनुदात्त को स्वरित और स्वरित को उदात्त हो जाता है।। १५ ।।

१६-वा०-असावित्यन्तः ।। (अ० १ । २ । ३७)

वाक्य में जो प्रथमान्त पद है वह अन्तोदात्त हो । (जैसे –) **गार्ग्यो यजते** । 'गार्ग्य' शब्द प्रथम आद्युदात्त प्राप्त है। उसका बाधक यह अन्तोदात्त होके उस-उस उदात्त से परे (यजते के)

यकार को स्वरित और स्वरित को इससे उदात्त हो जाता है, और 'यजते' क्रिया में अन्त्य के दो वर्ण अनुदात्त रहते हैं।।१६ ।।

१७-वा०-अमुष्येत्यन्तः ।। (अ० १ । २ । ३७)

'अमुष्य' यह षष्ठी के एकवचन का संकेत है, जो षष्ठ्येकवचनान्त पद है वह अन्तोदात्त हो। जैसे - दाक्षेः पिता यजते । यहां 'दाक्षेः' शब्द षष्ठी का एकवचन है उस 'इञ्' प्रत्ययान्त को आद्युदात्तस्वर प्राप्त है, उसको अन्तोदात्त हो जाता है, और पिता शब्द 'तृच्' प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त ही है। अन्तोदात्त 'दाक्षि' शब्द से परे 'पि' अनुदात्त को स्वरित होके उदात्त और अन्तोदात्त 'पितृ' शब्द से परे अनुदात्त यकार को स्वरित होकर उदात्त हो जाता है। इस प्रकार मध्य में चार उदात्त तथा आदि में एक (और) अन्त में दो अनुदात्त रहते हैं - दाक्षेः पिता यजते ।।१७।।

१८-वा०-स्यान्तस्योपोत्तमं चान्त्यश्च ।। (अ० १. २. ३७)

जहां षष्ठी का एकवचन स्यान्त हो वहां उपोत्तम को अर्थात् (तीन या तीन से अधिक अच्वाले शब्दों में अन्त्य से पूर्व अच् को) उदात्त होता है, और उस शब्द को भी अन्तोदात्त हो जाता है। (जैसे -) गार्ग्यस्य पिता यजते । यहां तृतीय वर्ण 'स्य' और द्वितीय 'ग्र्य' को उदात्त और 'पिता यजते' यहां पूर्ववत् उदात्त होता है। इसलिये पांचवर्ण मध्य में उदात्त और आदि में एक (तथा) अन्त में दो अनुदात्त रहते हैं - गार्ग्यस्य पिता यजते, वात्स्यस्य पिता यजते ।।८ ।।

१९-वा०-वा नामधेयस्य ।। (अ० १।२ । ३७)

जो किसी का नामवाची स्यान्त षष्ठ्येकवचनान्त (शब्द है उसके उपोत्तम तथा अन्त्य) को विकल्प करके उदात्त होता है, पक्ष में जैसा प्राप्त है वैसा बना रहता है। (जैसे-) देवदत्तस्य पिता यजते । यहां 'त्तस्य' ये दो उदात्त और 'पिता यजते' यहां पूर्ववत् उदात्त होके मध्य में पांच वर्ण उदात्त और आदि (में तीन और) अन्त में दो-दो अनुदात्त हो जाते हैं - देवदत्तस्य पिता यजते, यज्ञदत्तस्य पिता यजते । और पक्ष में 'देवदत्त' शब्द अन्तोदात्त है, सो ज्यों का त्यों ही बना रहता है और 'पिता यहां पूर्ववत् स्वरित को उदात्त हो जाता है। जैसे - देवदत्तस्य पिता यजते ।।१९ ।।

२०-देवब्रह्मणोरनुदात्तः ।। (अ० १ । २ । ३८)

भा०-देवब्रह्मणोरनुदात्तत्वमेके ।। (अ० १ । २ ।३८)

पूर्व सूत्र से सुब्रह्मण्या निगद में देव और ब्रह्मन् शब्द के स्वरित को उदात्त पाता है सो न हो, किन्तु उस स्वरित को अनुदात्त ही हो जावे।

भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि जो देव और ब्रह्मन् शब्द को अनुदात्त कहते हो सो किन्हीं आचार्यों का मत है, अर्थात् विकल्प करके होना चाहिये। देव और ब्रह्मन् शब्द आमन्त्रित

हैं, इससे विशेष वचन आमन्त्रित 'ब्रह्मन्' शब्द के परे पूर्व आमन्त्रित देव शब्द को विकल्प करके अविद्यमानवत् होने से पर आमन्त्रित को जहां एक पक्ष में निघात नहीं होता वहां दोनों आमन्त्रित को आद्युदात्त होकर उदात्त से परे दूसरा-दूसरा वर्ण स्वरित होके उसको फिर इस सूत्र से अनुदात्त हो जाता है जैसे - **देवा ब्रह्माणः** । और दूसरे पक्ष में जहां पूर्व आमन्त्रित को विद्यमान मानते हैं, वहां पर आमन्त्रित को निघात होकर पूर्व आमन्त्रित को आद्युदात्त हो जाता है, पीछे 'दे' उदात्त से परे 'वा' अनुदात्त को स्वरित होके जिन के मत में अनुदात्त होता है, वहां **देवा ब्रह्माणः** ऐसा प्रयोग, और जिनके मत में स्वरित को अनुदात्त नहीं होता वहां पूर्व सूत्र से स्वरित को उदात्त होकर **देवा ब्रह्माणः** ऐसा प्रयोग होता है। और जिन आचार्यों का ऐसा मत है कि देव और ब्रह्मन् शब्द समानाधिकरण सामान्यवचन है, वहाँ ये ही दो प्रयोग होते हैं, क्योंकि अविद्यमानवत् का निषेध होने से पर आमन्त्रित को नित्य ही निघात हो जाता है।। २० ।।

२१-स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् ।। अ० १ . २ . ३९

स्वरित से परे संहिता में एक, दो और बहुत अनुदातों को भी पृथक्-पृथक् एकश्रुतिस्वर होता है।

भा०-एकशेषनिर्देशोऽयम्। अनुदात्तस्य चानुदात्तयोश्चानुदात्तानामिति, अ० १ . २ . ३९

भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि जो इस सूत्र में बहुवचनान्त अनुदात्त शब्द पढ़ा है, उसमें एकशेष समझना चाहिये, अर्थात् एक, दो और बहुत अनुदात्तों को भी पृथक्-पृथक् कार्य होता है। जैसे - **अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋ० १ . १ . १) । यहां 'मी' स्वरित से परे 'ळे' अनुदात्त को एकश्रुतिस्वर हुआ है। एकश्रुति का नियम यही है कि स्वरित से परे उस पर कोई चिह्न नहीं हो। **होतारं रत्नधातमम्** (अ० १ . १ . १) यहां 'ता' स्वरित से परे दो रेफ अनुदात्त वर्णों को एकश्रुतिस्वर हुआ है, तथा **इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति** (ऋ० १० . ७५ . ५) यहां 'मे' स्वरित वर्ण है, उससे परे 'ति' पर्यन्त सब अनुदात्त हैं, उन सबको एकश्रुतिस्वर इस सूत्र से हुआ है। 'संहिता' ग्रहण इसलिये है कि - **इमम् मे, गङ्गे, यमुने, सरस्वति, शतुद्रि** यहां पृथक्-पृथक् पदों पर अवसान होने से एकश्रुतिस्वर न हुआ।। २१ ।।

२२-उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः ।। अ० १ . २ . ४०

उदात्त और स्वरित जिससे परे हों उस अनुदात्त को एकश्रुतिस्वर न हो किन्तु सन्नतर अर्थात् अनुदात्ततर हो जावे। पूर्व सूत्र से सामान्य विषय में एकश्रुतिस्वर प्राप्त है, उसका इस सूत्र से विशेष विषय में निषेध किया है। जैसे - **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः** (ऋ० १ . १ . २) यहां 'ऋषि' शब्द आद्युदात्त के परे (रहते) भिस् विभक्ति को एकश्रुतिस्वर प्राप्त है, सो न हुआ, किन्तु उसको अनुदात्ततर हो गया। तथा **मरुतः क्व सुविता** (ऋ० १ . ३८ . ३) यहां 'क्व' शब्द स्वरित के परे (रहते) 'त' अनुदात्त को स्वरित नहीं होता, किन्तु अनुदात्ततर हो जाता है।। २२ ।।

२३-आद्युदात्तश्च ।। अ० ३ . १ . ३

धातुओं वा प्रातिपादिकों से जितने प्रत्यय होते हैं, उन सब के लिये यह उत्सर्ग सूत्र है कि - सब प्रत्यय आद्युदात्त हों। जो एकाक्षर के ही प्रत्यय हैं, वे आद्यन्तवद्भाव से उदात्त हो जाते हैं। जैसे - **प्रियः** । यहां एकाक्षर 'क' प्रत्यय किया है। **आखनिकवकः** यहां 'इकवक' प्रत्यय आद्युदात्त हुआ है। इसके अपवाद विषय में अन्य प्रत्ययस्वरविधायक सूत्र बहुत हैं, उनमें से थोड़े यहां भी आगे लिखे हैं।। २३ ।।

२४-अनुदात्तौ सुप्पितौ ।। अ० ३ . १ . ४

जो सुप् अर्थात् सु आदि इक्कीस और पित् प्रत्यय हैं, वे अनुदात्त हों। जैसे - **सोमसुतौ, सोमसुतः** । यहां सुप् में 'औ' तथा 'जस्' अनुदात्त होके उदात्त से परे स्वरित हो गये हैं। (ऐसे ही) **भवति, पचति** इत्यादि, यहां शप् और तिप् पित् प्रत्यय होने से अनुदात्त हुए हैं।। २४।।

२५-अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ।।अ० ६ ।१ ।१५८ ।।

स्वरप्रकरण में यह परिभाषा सूत्र सर्वत्र प्रवृत्त होता है। जो दो वा अनेक कितने ही पदों का समास होता है, वह भी एक पद कहाता है। स्वरप्रकरण में जिस एक पद में उदात्त वा स्वरित जिस वर्ण को विधान करें, उससे पृथक् जितने वर्ण हों वे सब अनुदात्त हो जावें। इस बात का स्मरण सब स्वरप्रकरण में रखना चाहिये।

इस सूत्र का प्रयोजन महाभाष्यकार दिखलाते हैं -

का०-आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।
पृथक्स्वरनिवृत्त्यर्थमेकवर्जं पदस्वरः ।। महा० ६ . १ . १५८

आगम, विकार, प्रकृति और प्रत्यय का पृथक स्वर न होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है।

आगम - जो टित् कित् मित् चिन्ह के साथ अपूर्व उपजन हो जाता है, उसका स्वर हो जावे । जैसे - **चत्वारः, अनड्वाहः** । यहां चतुर् और अनडुह् शब्द को 'आम्' आगम हुआ है, उसी का स्वर रहता और प्रकृतिस्वर की निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् प्रकृति और आगम के दोनों स्वर एक पद में एक साथ नहीं रह सकते।

विकार - जो किसी वर्ण वा शब्द को आदेश हो जाता है। जैसे - **अस्थ्ना, दध्ना, अस्थनि, दधनि** । यहां अस्थि और दधि शब्द प्रथम आद्युदात्त हैं, पश्चात् तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इन (उदात्त) को अनङ् आदेश हो के प्रकृति और आदेश के दो स्वर प्राप्त हैं, सो नहीं होते, किन्तु प्रकृतिस्वर को बाध के आदेश का उदात्त स्वर हो जाता है।

प्रकृति – धातु वा प्रातिपदिक जिससे प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। जैसे – **गोपायति, धूपायति।** यहां प्रकृतिस्वर 'गोपाय' 'धूपाय' धातु को अन्तोदात्त और प्रत्ययस्वर 'आय' प्रत्यय को आद्युदात्त दो स्वर प्राप्त हैं, सो न हों किन्तु प्रत्ययस्वर को बाध के प्रकृतिस्वर हो जावे।

प्रत्यय – जो धातु वा प्रातिपदिक से परे विधान किया जाता है। जैसे – **कर्त्तव्यम्, तैत्तिरीयः**। यहां कृ धातु और तित्तिरि प्रातिपदिक से 'तव्य' और 'छ' प्रत्यय हुआ है, प्रकृति और प्रत्यय दोनों के स्वर प्राप्त हैं, सो न हों, किन्तु प्रकृतिस्वर को बाध के प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर हो जावे ।। २५ ।।

२६-वा०-सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वञ्च ।। अ० ६ . १ . १५८

सत्येकस्मिन् स्वरे विशिष्टो द्वितीयः स्वरो बलवान् भवति ।।

'सतिशिष्ट' वह कहाता है कि स्वर के वर्त्तमान में द्वितीय विशेषविधान किया जावे, वही बलवान् रहता है। प्रथम स्वर निवृत्त हो जाता है, और पश्चात् विहित स्वर प्रधान रहता है।।

वा-तच्चानेकप्रत्ययसमासार्थम् ।। अ० ६ . १ . १५८

सतिशिष्ट का प्रयोजन यह है कि अनेक प्रत्यय और अनेक समासों में उत्तरोत्तर स्वर बलवान् होता जावे। जैसे-अनेक प्रत्यय-**औपगवः**। यहां उपगु शब्द से 'अण्' हुआ है, उसी का स्वर रहता है। औपगव शब्द से त्व – **औपगवत्वक**। यहां अण् स्वर का बाधक 'त्व' प्रत्यय का स्वर। औपगवत्वमेव **औपगवत्वकम्**। यहां 'त्व' प्रत्यय के स्वर का बाधक 'क' स्वर रहता है। तथा पुरूणां राजा **पौरवः** यहां 'अण्' प्रत्यय का स्वर प्रकृतिस्वर का बाधक। पौरवस्यापत्यम् इञ् **पौरविः** आद्युदात्त। तस्य युवापत्यं फक् **पौरवायणः** अन्तोदात्त। पौरवायणानां समूहः वुञ् **पौरवायणकम्** आद्युदात्त। पौरवायणकानां छात्राः **पौरवायणकीयाः** यहां 'छ' प्रत्यय आद्युदात्त। पौरवायणकीयैः प्रोक्तमधीयते तेऽपि **पौरवायणकीयाः**। 'अण्' का स्वर अन्त में रहता है। इसी प्रकार बहुत कुछ प्रत्ययमाला बन सकती है। अनेक समास-वीरश्चासौ राजा **वीरराजः**। टच् अन्तोदात्त पुरूषः **वीरराजपुरूषः**। वीरराजपुरूषस्य पुत्रः **वीरराजपुरूषपुत्रः**। वीरराजपुरूषपुत्रः प्रधानो येषां ते **वीरराजपुरूषपुत्रप्रधानाः**। यहां पूर्वपदप्रकृतिस्वर होता है। इसी प्रकार के इनसे बहुत बड़े-बड़े समास हो सकते हैं और उनके स्वर भी तदनुकूल हो जावेंगे।। २६ ।।

२७-वा०-विभक्तिस्वरान्नञ्स्वरो बलीयान् ।। अ० ६ . १ . १५८

विभक्तिस्वर से नञ्स्वर बलवान् होता है। जैसे-न तिस्रः **अतिस्रः**। यहां विभक्तिस्वर जस् विभक्ति को उदात्त प्राप्त है, उसका बाधक नञ्स्वर पूर्वपदप्रकृतिभाव हो जाता है।। २७ ।।

२८-वा०-विभक्तिनिमित्तस्वराच्च नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम् ।। अ० ६ . १ . १५८

विभक्ति जिसका निमित्त है, उसको जो स्वर होता है, उसको बाध के नञ्स्वर होना

चाहिये। जैसे - **अचत्वारः, अनडवाहः** । यहां विभक्ति को मान के जो 'आम्' आगम होता है, उसका बाधक नञ्प्रकृतिस्वर हो जाता है।। २८ ।।

२९-ञ्नित्यादिर्नित्यम् ।।अ० ६ ।१ ।१९७।।

ञित् नित् प्रत्ययों के परे पूर्व प्रकृति को आद्युदात्तस्वर हो । यह सूत्र (२३) सूत्र का अपवाद है, और इसके अपवाद आगे कुछ लिखेंगे। उदाहरण - ञित्-ष्यञ्-**ब्राह्मण्यम्, चातुर्वर्ण्यम्, त्रैलोक्यम्;** यञ् - **गार्ग्यः, शाकल्यः, माधव्यः, बाभ्रव्यः** इत्यादि; इञ्-**दाक्षिः, सौधातकिः, वैयासकिः;** फिञ्-**तैकायनिः, कैतवायनिः** इत्यादि। नित्-वुन्-**वासुदेवकः, अर्जुनकः;**ठन्-**वस्निकः** कन्-**द्रव्यकः** इत्यादि शब्द आद्युदात्त हो जाते हैं।। २९ ।।

३०-कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ।।अ० ६ ।१ ।१५१ ।।

घञन्त कर्ष धातु और आकारवान् घञन्त शब्दों के अन्त में उदात्त स्वर हो। कर्ष धातु के कहने से भ्वादिगणवाले का ग्रहण होता है। गुणनिषेधवाले तुदादि का ग्रहण नहीं होता ।जैसे-**कर्षः, त्यागः, राग, दायः, धायः, पाकः, पाठः** इत्यादि। आकारवान् कहने से कर्ष को प्राप्त नहीं था, इसलिये पृथक ग्रहण किया है। 'आकारवान्' ग्रहण इसलिये है कि - **मन्थः योगः** यहां न हो ।।३०।।

३१-उञ्छादीनां च ।। अ० ६ ।१ ।१६० ।।

उञ्छ आदि गणपठित शब्दों को अन्तोदात्त स्वर हो। जैसे-**उञ्छः, म्लेच्छ, जल्पः** ।इन चार घञन्त शब्दों में आद्युदात्त प्राप्त था, सो न हुआ।**जपः, व्यधः** ये दो शब्द अप् प्रत्ययान्त हैं, इनको भी आद्युदात्त स्वर प्राप्त था।

गणसूत्र-युगःकालविशेषे रथाद्युपकरणे च ।।१ ।।

युग शब्द कालविशेष अर्थात् कलियुग, द्वापर युग इत्यादि वा पीढ़ी तथा रथ आदि के उपकरण अर्थात् अवयव जुआ आदि अर्थ में अन्तोदात्त होता है, अन्यत्र नहीं होता।। (जैसे -) **युगः** ।घञन्त होने से आद्युदात्त स्वर प्राप्त था।

ग० सू० - गरो दूष्ये ।। २ ।।

दूष्य अर्थात् विष अर्थ में गर शब्द अन्तोदात्त हो। जैसे- **गरः** ।अन्यत्र आद्युदात्त रहेगा।

ग० सू० - वेगवेदवेष्टबन्धाः करणे ।। ३ ।।

कारणकारक में प्रत्यय किया हो तो घञन्त वेग आदि चार शब्द अन्तोदात्त हों। विजयते येन स **वेगः**, वेत्ति येन स **वेदः**, वेष्टते येन स **वेष्टः**, बध्नाति येन से **बन्धः** ।और भाव वा अधिकरण में प्रत्यय होगा तो आद्युदात्त ही समझे जावेंगे

ग० सू०-स्तुयुद्रुवश्च छन्दसि ।।४ ।।

क्विबन्त स्तु आदि तीन धातुओं को अन्तोदात्त स्वर हो। जैसे-परिष्टुत्, संयुत्, परिद्रुत्। यहां उपसर्गों को प्रकृतिभाव प्राप्त था।

ग० सू०-वर्त्तनिः स्तोत्रे ।।५ ।।

जो स्तुति अर्थ में वर्त्तनि शब्द हो तो अन्तोदात्त स्वर हो। जैसे - वर्त्तनिः । अन्यत्र अनि प्रत्यय आद्युदात्त होने से मध्योदात्त स्वर होगा । (जैसे) - वर्त्तनिः ।

ग० सू०-श्वभ्रे दरः ।।६ ।।

श्वभ्र अभिधेय हो तो दर शब्द अन्तोदात्त हो। जैसे - दरः । अन्यत्र आद्युदात्त ही समझा जाता है। जैसे - दरः ।

ग० सू०-साम्बतापौ भावगर्हायाम् ।।७ ।।

भावगर्हा अर्थात् धात्वर्थ की निन्दा में साम्ब और ताप शब्द अन्तोदात्त हों। जैसे - साम्बः, तापः । अन्यत्र आद्युदात्त ही समझे जावेंगे।

ग० सू०-उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र ।।८ ।।

उत्तम और शश्वत्तम ये दोनों शब्द सामान्य अर्थों में अन्तोदात्त हों। जैसे - उत्तमः, शश्वत्तमः।

तथा भक्षः, मन्थः, भोगः, देहः इत्यादि ।।३१ ।।

३२-अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ।। अ० ६ . १ . १३१

जिस अनुदात्त के परे उदात्त का लोप हो उस अनुदात्त को उदात्त हो। जैसे - औपगव--ई। यहां ई अनुदात्त के परे अन्तोदात्त औपगव शब्द के अन्त्य वर्ण का लोप होकर ईकार उदात्त हो जाता है - औपगवी । तथा दाक्षायणी, प्लाक्षायणी, कुमारी इत्यादि। अस्थन्, दधन् शब्द दोनों अन्तोदात्त हैं, तृतीयादि अजादि विभक्तियों में उपधा अकार का लोप होकर अस्थ्ना, दध्ना, अस्थ्ने, दध्ने, इत्यादि। इसी प्रकार इस सूत्र का बहुत विषय है, जहां कहीं अनुदात्त के परे उदात्त का लोप हो, वहां सर्वत्र इसीसे उदात्त समझा जावेगा। 'यत्र' ग्रहण इसलिये है कि - भार्गवः, भार्गवौ, भृगवः यहां जस् विभक्ति के आने से प्रथम ही प्रत्यय का लुक् हो जाता है। 'उदात्त' ग्रहण इसलिये है कि जहां अनुदात्त के परे अनुदात्त ही का लोप हो, वहां उदात्त न हो ।।३२ ।।

३३-धातोः ।। अ० ६ ।१ ।१६२ ।।

धातु को अन्तोदात्त स्वर हो । (जैसे -) पचति, पठति, चिचीषति, तुष्टुषति, ऊर्णोति, पापच्यते, जागर्ति, गोपायति इत्यादि। इनमें जितने अंश की धातु संज्ञा है, उसीको अन्तोदात्त हुआ

है।।३३।।

३४-चितः ।। अ० ६.१.१६३

चित् अर्थात् चकार इत् होके लोप जिस में हो उस समुदाय को अन्तोदात्त स्वर हो। प्रत्यय के आद्युदात्त स्वर हो। प्रत्यय के आद्युदात्त स्वर का अपवाद यह सूत्र है। (जैसे) घुरच्-**भङ्गुरः**, **भासुरः**, **मेदुरः**; कौण्डिन्य को कुण्डिनच् आदेश - **कुण्डिनाः**; अकच्-**सर्वकः**, **उच्चकैः**, **नीचकैः**; बहुच्-**बहुकृतम्**, **बहुभुक्तम्**, **बहुपुट** इत्यादि ।।३४ ।।

३५-तद्धितस्य च ।। अ० ६ ।१ ।१६४ ।।

जो तद्धित चित् प्रत्यय है, वह अन्तोदात्त हो । जैसे - च्फञ्-**कौञ्जायनः**, **भौञ्जायनः** इत्यादि। पूर्वसूत्र में चित् के कहने से यहां भी अन्तोदात्त हो जाता। फिर इस सूत्र का पृथक् आरम्भ इसलिये किया है कि जहां दो अनुबन्धों से दो स्वर प्राप्त हों वहां भी चित् का स्वर अन्तोदात्त ही हो। जैसे च्फञ् प्रत्ययान्तों को हुआ ।।३५ ।।

३६-कितः ।। अ० ६ .१.१६५

जो तद्धित कित् प्रत्यय है, वह अन्तोदात्त हो। जैसे- फक् **नाडायनः**, **चारायणः**, **दाक्षायणः**, ठक्-**रैवतिकः**, **आक्षिकः**, **कौद्दालिकः**, **पारिधिकः** ।।३६ ।।

३७-सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ।। अ० ६ ।१ ।१६८ ।।

जो सु अर्थात् सप्तमी के बहुवचन में एकाच् शब्द हो उससे परे जो तृतीयादि विभक्ति वह उदात्त हो। जैसे-**वाचा**, **वाग्भ्याम्**, **वाग्भिः**, **वाचे**, **वाचः**, **त्वचे**, **त्वचः** इत्यादि। 'सु' ग्रहण इसलिये है कि - **राज्ञा**, **राज्ञे** यहां न हो। 'एकाच्' ग्रहण इसलिये है कि - **किरिणा**, **गिरिणा** यहां विभक्ति उदात्त न हो। 'तृतीयादि' ग्रहण इसलिये है कि - **वाचौ**, **वाचः** यहां न हो। 'विभक्ति' ग्रहण इसलिये है कि- **वाक्तरा** यहां न हो। सप्तमी का बहुवचन 'सु' इसलिये लिया है कि - **त्वया** यहां भी विभक्ति उदात्त न हो।।३७ ।।

३८-शतुरनुमो नद्यजादी ।। अ० ६. १. १७३

नुम् रहित जो शतृप्रत्ययान्त प्रातिपदिक उससे परे जो नदीसंज्ञक प्रत्यय और अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति वह उदात्त हो। (जैसे -) नदीसंज्ञक ङीप् - **तुदती**, **नुदती**, **लुनती** इत्यादि। अजादि सर्वनामस्थान विभक्ति - **लुनते**, **लुनतः**, **लुनतोः**, **लुनति** । 'अनुम्' ग्रहण इसलिये है कि **तुदन्ती**, **नुदन्ती** इत्यादि में नदी उदात्त न हो। 'नद्यजादि' ग्रहण इसलिए है कि - **तुदद्भ्याम्**, **तुदद्भिः** यहां विभक्ति उदात्त न हो ।।३८ ।।

३९-वा०-नद्यजाद्युदात्तत्वे बृहन्महतोरूपसंख्यानम् ।। अ० ६.१. १७३

जो बृहत् और महत् शब्द से परे नदी और अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति है, वह

उदात्त हो। जैसे - बृहती, महती, बृहते, महता, महते इत्यादि। पृषत् आदि शब्दों को शतृ प्रत्ययान्त के सब कार्य होते हैं, फिर इस वार्त्तिक के कहने का प्रयोजन यह है कि पृषत् आदि सब शब्दों से परे नदी और अजादि विभक्ति उदात्त न हो किन्तु बृहत् और महत् से ही हो ।।३९ ।।

४०-उदात्तयणो हल्पूर्वात् ।। अ० ६ ।१ ।१७४ ।।

हल् वर्ण जिसके पूर्व हो ऐसा जो उदात्त के स्थान में यण्, उससे परे जो नदीसंज्ञक प्रत्यय और अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति सो उदात्त हो। जैसे नदी - कर्त्री, हर्त्री, पक्त्री, लवित्री, प्रसवित्री इत्यादि। यहां सर्वत्र तृच् अन्तोदात्त के स्थान में यण् हुआ है। अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति - कर्त्रा, कर्त्रे, कर्त्रोः, लवित्रा, लवित्रे, लवित्रोः इत्यादि। यहां 'उदात्त' ग्रहण इसलिये है कि - कर्त्री, हर्त्री, कर्त्ता, हर्त्ता, यहां तृन्नन्त शब्दों के आद्युदात्त के स्थान में यण् हुआ है। यहां 'हल्पूर्व' ग्रहण इसलिये है कि - बहुतितर्वा, बहुतितर्वे यहां उदात्त के स्थान में बहुतितउ शब्द के उकार को यण् तो हुआ है परन्तु वह उदात्त केवल अच् था, (अर्थात् उससे पूर्व कोई हल् न था) फिर विभक्ति को उदात्त का निषेध होके आष्टमिक (८ ।२ ।४) सूत्र से स्वरित होता है ।।४० ।।

४१-वा०-नकारग्रहणं च कर्त्तव्यम् ।। अ० ६ . १ . १७४

जो नकारान्त से परे नदीसंज्ञक प्रत्यय हो वह उदात्त हो। (जैसे-) वाक्पत्नी, चित्पत्नी ।।४१ ।।

४२-ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् ।। अ० ६ ।१ ।१७४ ।।

जो ह्रस्वान्त अन्तोदात्त प्रातिपादिक और नुट् का आगम इन से परे जो मतुप् प्रत्यय हो तो वह उदात्त हो। पित् प्रत्यय के अनुदात्त होने का यह अपवाद है। (जैसे-) ह्रस्व-अग्निमान्, वायुमान्, भानुमान्, कर्तृमान् इत्यादि। नुट्-अक्षण्वता, शीर्षण्वतः, मूर्द्धन्वती ।।४२ ।।

४३-वा०-मतुबुदात्तत्वे रेग्रहणम् । अ० ६ . १ . १७६

रे शब्द से परे जो मतुप् हो तो वह भी उदात्त हो। (जैसे-) आ रेवानै तु नोविशः । यहां रेवान् शब्द में ह्रस्व के नहीं होने से प्राप्त नहीं था ।।४३ ।।

४४-वा०-त्रिप्रतिषेधश्च ।। अ० ६ . १ . १७६

त्रि शब्द से परे मतुप् उदात्त न हो । (जैसे-) त्रिवती: । यहां उदात्त न हुआ ।।४४ ।।

४५-नामन्यतरस्याम् ।। अ० ६ . १ . १७७

मतुप् प्रत्यय के परे जो ह्रस्व अङ्ग उससे परे षष्ठी का बहुवचन नाम् विभक्ति हो तो वह विकल्प करके उदात्त हो। जैसे-अग्नीनाम्, अग्नीनाम्, वायूनाम्, वायूनाम्; तिसृणाम्, तिसृणाम्; चतसृणाम्, चतसृणाम् । यहां 'ह्रस्व' ग्रहण इसलिये है कि - कुमारीणाम् किशोरीणाम् इत्यादि में विभक्ति उदात्त न हो ।।४५ ।।

४६–ङ्याश्छन्दसि बहुलम् ।। अ० ६ । १ ।१७८ ।।

जो ङ्यन्त से परे नाम् हो तो वह बहुल कर के उदात्त हो, अर्थात् कहीं हो और कहीं न हो। (जैसे-) **देवसेनानाममभिभञ्जतीनाम्** । यहां (नाम् विभक्ति उदात्त) हो गई, तथा **नदीनां परि जयन्तीनां मरुतः** यहां (नाम्) विभक्ति उदात्त नहीं होती ।।४६ ।।

४७–तित्स्वरितम् ।। अ० ६ . १ . १८५

जो तित् प्रत्यय है वह स्वरित हो। यह आद्युदात्त प्रत्ययस्वर का अपवाद है। (जैसे-) यत्-**चिकीर्ष्यम्, जिहीर्ष्यम्, चिचीर्ष्यम्, तुष्टूष्यम्** । ण्यत्-**कार्यम्, हार्यम्** इत्यादि ।।४७ ।।

४८–तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमहन्विङोः ।।अ० ६ ।१ ।१८६।

तासि प्रत्यय, अनुदात्तेत्धातु, ङित् धातु और अदुपदेश इनसे परे लकार के स्थान में जो सार्वधातुसंज्ञक तिप् आदि प्रत्यय वे अनुदात्त हों, परन्तु यह कार्य हनुङ् धातु को छोड़ के होवे, क्योंकि ये दोनों ङित् हैं। जैसे-तासि प्रत्यय-**कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः** । अनुदात्तात्-**आस्ते, आसाते, आसते** । ङित्-**शते, सूते, दीधीते, वेवीते**। अदुपदेश-**पठतः, पठन्ति, पचतः, पचन्ति**। 'तासि आदि से परे' ग्रहण इसलिये है कि - **सुनुतः, सुवन्ति** यहां न हो। 'लसार्वधातुक' ग्रहण इसलिये है कि- **सुषुवे, सुषुवाते** यहां न हो। और हनुङ् तथा इङ् का निषेध इसलिये है कि - **ह्नुते, अधीते** यहां अनुदात्त न हो ।।४८ ।।

४९–लिति ।। अ० ६ . १ . १७३

लकार जिसका इत् संज्ञक हो उस प्रत्यय से पूर्व उदात्त हो। जैसे-**चिकीर्षकः, जिहीर्षकः**। यहां चिकीर्ष जिहीर्ष धातु से ण्वुल् हुआ है। **भौरिकिविधम्** यहां तद्धित का विधल् प्रत्यय है, और **ऐषुकारिभक्तः** यहां तद्धित का भक्तल् प्रत्यय हुआ है, इत्यादि ।।४९ ।।

५०–आमन्त्रितस्य च ।।अ० ६ ।१ ।१९८ ।।

जो आमन्त्रित अर्थात् सम्बोधन में प्रथमा विभक्त्यन्त शब्द हों उनको आद्युदात्त स्वर हो जाता है। जैसे-**अग्ने, वायो, इन्द्र, देवदत्तौ, देवदत्ताः, धनञ्जय** इत्यादि ।।५० ।।

५१–यतोऽनावः ।। अ० ६ ।१ ।२१३ ।।

दो अच् वाले यत्प्रत्ययान्त शब्दों को आद्युदात्त स्वर हो, परन्तु नौ शब्द को छोड़ के । जैसे- **देयम्, धेयम्, चेयम्, जेयम्;** शरीरावयवाद्यत्-**कण्ठ्यम्, ओष्ठ्यम्, जङ्घ्यम्, जिह्व्यम्**, इत्यादि। (तित्स्वरितम्) इस पूर्व लिखित सूत्र से (तित् प्रत्ययान्त) द्व्यच् प्रातिपदिकों को भी स्वरित पाता है सो उसका अपवाद यह सूत्र है। 'द्व्यच्' ग्रहण इसलिये है कि - **उरस्यम्, ललाट्यम्, नासिक्यम्** यहां आद्युदात्त न हो। 'नौ' शब्द का निषेध इसलिये है कि - **नाव्यम्** यहां भी आद्युदात्त न हो ।।५१।।

५२-समासस्य ।। अ० ६ ।१ ।२२३ ।।

समास किये शब्दमात्र को अन्तोदात्तस्वर हो। अब समास के स्वर का थोड़ासा विषय लिखा जाता है। समास के स्वर का सामान्यसूत्र यह है। और यह सब समास के स्वर का उत्सर्ग सूत्र है, आगे सब प्रकरण इसका अपवाद है। (जैसे-) **राजपुरूषः, ब्राह्मणकम्बलः, नदीघोषः, पटहशब्दः, वीरपुरूषः, परमेश्वरः** इत्यादि ।।५२ ।।

५३-परिभा०-स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ।।

उदात्तादि स्वरों के विधान में व्यञ्जन वर्णों को अविद्यमानवत् समझना चाहिये। जैसे- **राजदृषत्, ब्राह्मणसमित्** । यहां समासान्त हल् वर्ण के होने से उस हल् को उदात्त प्राप्त है, उस को अविद्यमानवत् मान के उससे पूर्व वर्ण को उदात्त हो जाता है। इसी प्रकार और भी बहुत से प्रयोजन हैं ।।५३ ।।

५४-बहुब्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अ० ६ ।२ ।१ ।।

जो बहुब्रीहि समास में पूर्वपद का स्वर हो वह प्रकृति करके अर्थात् अन्तोदात्त न हो और ज्यों का त्यों बना रहे। जैसे-**स्थूलपृषती, हिरण्यबाहुः, ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः, स्नातकपुत्रः, पण्डितपुत्रः, अध्यापकपुत्रः** इत्यादि ।।५४ ।।

५५-तत्पुरूषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः ।।अ० ६ . २ . २

तत्पुरूष समास में जो तुल्यार्थ, तृतीयान्त, सप्तम्यन्त, उपमावाची, अव्यय द्वितीयान्त और कृत्यप्रत्ययान्त पूर्वपद हो तो उसमें प्रकृतिस्वर हो। जैसे-तुल्यार्थ-**तुल्यश्वतः, तुल्यलोहितः, तुल्यमहान्, सदृक्श्वेतः, सदृग्लोहितः**। यहां तुल्यार्थ शब्दों के साथ कर्मधारय तत्पुरूष समास हुआ है। तृतीया-तत्पुरूष-शङ्कुलया खण्डः **शङ्कुलाखण्डः, किरिकाणः** । सप्तमीतत्पुरूष-**अक्षशौण्डः, पानशौण्डः** ।उपमानवाची-**घनश्यामः, तडिद्गौरी, शस्त्रीश्यामा, कुमुदश्येनी** इत्यादि। अव्यय पर-

५६-वा०-अव्यये नञ्कुनिपातानाम् ।। अ० ६ . २ . २

अव्यय के कहने से सामान्य अव्यय का ग्रहण न हो इसलिये इस वार्त्तिक से परिगणन किया है कि - अव्ययों में नञ्, कु और निपातों को ही पूर्वपद प्रकृतिस्वर हो जैसे-नञ्-**अब्राह्मणः, अवृषलः** ।कु-**कुब्राह्मणः, कुवृषलः**, ।निपात-**निष्कौशाम्बिः निर्वाराणसिः** ।परिगणन इसलिये है कि - **स्नात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः** यहां पूर्वपदप्रकृतिस्वर न हो। द्वितीयान्त-**मुहूर्त्तसुखम्, मुहूर्त्तरमणीयम्, सर्वरात्रकल्याणी, सर्वरात्रशोभना** । यहां अत्यन्तसंयोग में द्वितीया का समास है। कृत्यान्त-भोज्यञ्च तदुष्णं च **भोज्यौष्णम्, भोज्यलवणम्, पानीयशीतम्, हरणीयचूर्णम्** इत्यादि।।५५-५६ ।।

५७-गतिरनन्तरः ।। अ० ६ . २ . ४७

जो कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद परे और अनन्तर अर्थात् समीप गति हो तो वह प्रकृतिस्वर हो। जैसे-**प्रकृतः, प्रहृतः** इत्यादि। 'अनन्तर' ग्रहण इसलिये है कि - **अभ्युद्धृतम् उपसमाहृतम्** इत्यादि में पूर्वपदप्रकृतिस्वर न हो। 'कर्मवाची' का ग्रहण इसलिये है कि-**प्रकृतः कटं देवदत्तः** यहां कर्त्ता में क्त प्रत्यय है इसलिये नहीं होता ।।५७ ।।

यह पूर्वपदप्रकृतिस्वर पूरा हुआ । अब पूर्वपद आद्युदात्त आदि प्रकरण कुछ-कुछ लिखेंगे-

५८-आदिरुदात्तः ।। अ० ६ . २ . ६४

पूर्वपद आद्युदात्त होने के लिये यह अधिकार सूत्र है ।।५८ ।।

५९-णिनि ।। अ० ६ . २ . ७९

णिनि प्रत्ययान्त उत्तरपद परे हो तो पूर्वपद आद्युदात्त हो।

जैसे -**उष्णभोजी, शीतभोजी, स्थण्डिलशायी, पण्डितमानी, सोमयाजी, कुमारघाती, शीर्षघाती, फलहारी, पर्णहारी** इत्यादि ।।५९ ।।

६०-अन्तः ।। अ० ६ . २ . ९२

पूर्वपद अन्तोदात्त प्रकरण में यह अधिकार सूत्र है ।।६० ।।

६१-सर्वं गुणकार्त्स्न्ये ।। अ० ६ . २ . ९३

जो गुणों की सम्पूर्णता अर्थ में वर्त्तमान पूर्वपद सर्व शब्द हो तो वह अन्तोदात्त हो। जैसे-**सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः, सर्वलोहितः, सर्वहरितः, सर्वश्यामः, सर्वसारङ्ग, सर्वकल्माषः, सर्वमान्** इत्यादि ।।६१ ।।

६२-उत्तरपदादिः ।। अ० ६ . २ . १११

उत्तरपद आद्युदात्त प्रकरण में यह अधिकार सूत्र है ।।६२ ।।

६३-अकर्मधारये राज्यम् ।। अ० ६ . २ . १३०

कर्मधारय समास से भिन्न तत्पुरूष समास में जो राज्य उत्तरपद हो तो वह आद्युदात्त हो। जैसे- **ब्राह्मणराज्यम्, क्षत्रियराज्यम्, यवनराज्यम्, कुरूराज्यम्** इत्यादि ।।६३ ।।

अब उत्तरपद तथा उभयपद प्रकृतिस्वर के विषय में कुछ लिखते हैं -

६४-गतिकारकोपपदात्कृत् ।। अ० ६ । २ । १३९ ।।

जो तत्पुरूषसमास में गति, कारक और उपपद से परे कृदन्त उत्तरपद हो तो वह प्रकृतिस्वर

हो। जैसे-गति-प्रकारकः, प्रहारकः, प्रकरणम्, प्रहरणम्। कारक इध्मप्रव्रश्चनः, पलाशशातनः, श्मश्रुकल्पनः। उपपद - ईषत्करः, दुष्करः, सुकरः। 'गतिकारकोपपद' ग्रहण इसलिये है कि - देवदत्तस्य कारको देवदत्तकारकः यहाँ न हो ।।६४ ।।

६५-उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् ।। अ० ६ ।२ ।१४० ।।

वनस्पति आदि समास किये हुये शब्दों में पूर्वपद उत्तरपद दोनों एककाल में प्रकृतिस्वर हों। (जैसे-) वनस्पतिः। यहां वन और पति दोनों शब्द को समास में सुट् हो जाता है। बृहस्पतिः यहां भी सुट् हुआ है। शचीपतिः, तनूनपात्, नराशंसः, शुनःशेपः, शण्डामर्कौ, तृष्णावरूत्री, बम्बाविश्ववयसौ, मर्मृत्युः ।।६५ ।।

६६-देवताद्वन्द्वे च ।। अ० ६ ।२ ।१४१ ।।

देवतावाची शब्दों के द्वन्द्वसमास में एककाल में दोनों शब्द प्रकृतिस्वर हों। (जैसे-) इन्द्रासोमौ, इन्द्रावरूणौ, इन्द्राबृहस्पती, द्यावापृथिव्यौ, सोमारूद्रौ, इन्द्रापूषणौ, शुक्रामन्थिनौ इत्यादि ।।६६ ।।

६७-अन्तः ।। अ० ६ . २ . १४३

उत्तरपद अन्तोदात्त प्रकरण में यह अधिकार सूत्र है ।।६७ ।।

६८-थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् ।। अ० ६ . २ . १४४

गति, कारक और उपपद से परे जो थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप, इत्र, और क इतने प्रत्ययान्त शब्द उत्तरपद उनको अन्तोदात्तस्वर हो। जैसे-थ-सुनीथः, अवभृथः। अथ-आवसथः, उपवसथः। घञ्-प्रभेदः, काष्ठभेदः, रज्जुच्छेदः। क्त-दूरादागतः, विशुष्कः, आतपशुष्कः। अच्-प्रणयः, विनयः, विजयः, आश्रयः, व्यत्ययः, अन्वयः इत्यादि। अप्-प्रलवः, प्रसवः। इत्र-प्रलवित्रम्। क-गोदः, कम्बलदः, शंस्थः, गृहस्थः, वनस्थः इत्यादि। ।६८ ।।

अब इसके आगे अनुदात्त का प्रकरण संक्षेप से लिखते हैं -

६९-पदात् ।। अ० ८ . १ . १७

यह अधिकार सूत्र है। यहां से आगे पद से परे कार्य होगा।।६९ ।।

७०-पदस्य ।। अ० ८ ।१ ।१६ ।।

यह भी अधिकार सूत्र है। यहां से आगे जो कार्य कहेंगे वह पद के स्थान में समझा जावेगा ।।७०।।

७१-अनुदात्तं सर्वमपादादौ ।। अ० ८ । १ । १८ ।।

यह भी अधिकार सूत्र है। अपादादि अर्थात् जो पाद की आदि में न हो किन्तु मध्य वा अन्त में हो तो पद से परे सब पद अनुदात्त हो। यह अधिकार चलेगा।।७१ ।।

७२-आमन्त्रितस्य च ।। अ० ८ । १ । १९ ।।

जो पद से परे अपादादि में वर्त्तमान आमन्त्रित पद हो तो वह सब अनुदात्त होवे। जैसे-**पठसि देवदत्त, जुहोसि देवदत्त** । आमन्त्रित पद को पूर्वोक्त (५०) सूत्र से आद्युदात्त प्राप्त था; इसलिये यह विधान है ।।७२ ।।

७३-परिभाषा०-आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ।। अ० ८ . १ . ७२

पद से परे जिस पद का अनुदात्त आदि विधान करते हैं उससे पूर्व जो आमन्त्रित हो तो उसको अविद्यमानवत् समझना चाहिये, अर्थात् पूर्व कुछ नहीं है ऐसा माना जावे। जैसे-**देवदत्त यज्ञदत्त**। यहां यज्ञदत्त शब्द को पद से परे निघात नहीं हुआ। तथा **देवदत्त पचसि** यहां अविद्यमान होने से क्रिया को निघात नहीं होता। तथा **देवदत्त तव ग्रामः स्वम्** । **देवदत्त मम ग्रामः स्वम्** यहां पद से परे 'ते' 'मे' आदेश नहीं होते, इत्यादि ।।७३ ।।

७४-नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ।। अ० ८ . १ . ७३

सामान्यवचन समानाधिकरण आमन्त्रित पद परे हो तो पूर्व जो आमन्त्रित पद है वह अविद्यमानवत् न हो। जैसे-**अग्ने व्रतपते** (यजु० १ । ५), **अग्ने गृहपते** (यजु० २ । २७), **पृथिवि देवयजनि** (यजु० १ । २५), अर्थात् पद से परे निघात आदि कार्य हो जावें। 'समानाधिकरण' ग्रहण इसलिये है कि पूर्व सूत्र के विषय में यह सूत्र न लगे। 'सामान्यवचन' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि- **अघ्न्ये देवि सरस्वति इडे काव्ये विहव्ये** यहां पर्यायवाची शब्दों में न हो ।। ७४ ।।

७५-विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम् ।। अ० ८ . १ . ७४

विशेषवचन समानाधिकरण आमन्त्रित पद परे हो तो पूर्व जो आमन्त्रित पद है वह विकल्प करके अविद्यमानवत् हो। जैसे-**देवा ब्रह्माणः, देवा ब्रह्माणः, ब्राह्मणा वैयाकरणाः, ब्राह्मणा वैयाकरणाः** इत्यादि। यहां अविद्यमानवत् पक्ष में दोनों पद के स्वर और विद्यमानवत् पक्ष में उत्तरपद निघात हो जाता है। 'विशेषवचन' ग्रहण इसलिये है कि - **माणवक जटिलक** यहां विकल्प न हो ।।७५ ।।

७६-युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयस्थयोर्वान्नावौ ।। अ० ८ . १ . २०

षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति के सह वर्त्तमान अपादादि में पद से परे जो युष्मद्-अस्मद् पद उनको क्रम से वाम् और नौ आदेश हों और वे सब अनुदात्त हों।

जैसे-षष्ठीस्थ-**ग्रामो वां स्वम्, जनपदो नौ स्वम्** । चतुर्थीस्थ- **ग्रामो वां दीयते, जनपदो नौ दीयते**। द्वितीयस्थ-**माणवको वां पश्यति, माणवको नौ पश्यति** इत्यादि। इस सूत्र में 'स्थ' ग्रहण इसलिये है कि - **दृष्टो मया युष्मत्पुत्रः** यहां षष्ठी का लुक् हो जाने से आदेश और अनुदात्त नहीं होता ।।७६ ।।

७७-बहुवचनस्य वस्नसौ ।। अ० ८ . १ . २१

षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति के सह वर्त्तमान अपादादि में पद से परे बहुवचनान्त जो युष्मद्-अस्मद् पद उनको क्रम से वस् और नस् आदेश हों तथा वे सब अनुदात्त हों। जैसे-**नमो वः पितरः** (यजु० २ ।३२), **नमो वो देवाः, मा नो वधीः** (यजु० १६ ।१५), **मा नो गोषु मा नो ऽश्वेषु रीरिषः** (यजु० १६ ।१६), **शन्नः** (यजु० ३६ ।१२) इत्यादि ।।७७ ।।

७८-तेमयावेकवचनस्य ।।अ० ८ . १ . २२

अपादादि में वर्त्तमान पद से परे जो एकवचनान्त युष्मद् अस्मद् पद उनको ते, मे, आदेश हों और वे सब अनुदात्त हों। जैसे-**गुरूस्ते पण्डितः, गुरूर्मे पण्डितः, देहि मे, ददामि ते** इत्यादि ।।७८।।

७९-त्वामौ द्वितीयायाः ।।अ० ८ . १ . २३

पद से परे अपादादि में वर्त्तमान द्वितीयैकवचनान्त जो युष्मद् अस्मद् पद उनको त्वा, मा आदेश हों और वे सब आद्युदात्त हों। जैसे- **कस्त्वा युनक्ति** (यजु० १ ।६), **स त्वा युनक्ति** (यजु० १ ।६), **पुनन्तु मा** (यजु० १९ ।३९) इत्यादि ।।७९ ।।

८०-तिङ्ङतिङः ।। अ० ८ . १ . २८

जो अपादादि में अतिङन्त पद से परे तिङन्त पद हो तो वह सब अनुदात्त हो जावे। जैसे- **त्वं पचसि, अहं पठामि, स गच्छति, तौ गच्छतः** इत्यादि। यहां 'तिङ्' ग्रहण इसलिये है कि - **शुक्लं वस्त्रम्** यहां नहीं होता। 'अतिङ्' ग्रहण इसलिये है कि - **पठति पचति** यहाँ न हो ।।८०।।

८१-यावद्यथाभ्याम् ।। अ० ८ ।१ ।३६ ।।

जो यावत् और यथा से युक्त तिड़न्त पद हो तो वह अनुदात्त न हो ।जैसे -**यावद् भुङ्क्ते, यावेदधीते, यथाऽधीते देवदत्तः पचति यावत्, देवदत्तः पचति यथा** इत्यादि ।।८१ ।।

८२-यद्वृत्तान्नित्यम् ।।अ० ८ . १ . ६६

जो यत् शब्द के प्रयोग से युक्त तिङ्न्त पद हो तो वह अनुदात्त न हो। जैसे- **भुङ्क्ते, यं भोजयति, येन भुङ्क्ते** इत्यादि ।।८२ ।।

८३-गतिर्गतौ ।। अ० ८.१.७०

जो गति से परे पूर्व गति हो तो वह निघात हो जाती है। जैसे-**अभ्युद्धरति, समुदानयति, उपसंव्यानयति, उपसंहरति, अभ्यवहरति** इत्यादि ।।८३ ।।

८४-उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य ।। अ० ८.२.४

जो उदात्त और स्वरित के स्थान में यण् उससे परे अनुदात्त हो तो उसको स्वरित हो जावे। जैसे-**सुप्वा** (यजु० १.३) यहां सुपू शब्द अन्तोदात्त और विभक्ति अनुदात्त है उसको स्वरित हो जाता है। नीचे जो यह वक्र चिह्न होता है वह भी स्वरित ही का चिह्न है। इसी प्रकार **पृथिव्यसि** (यजु० १ ।२) यहां पृथिवी शब्द अन्तोदात्त है, उससे परे अकार अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। स्वरित यण्-सकृल्लिव+आशा,खलप्वि+आशा, यहां 'सकृल्ल्वि' 'खलप्वि' सप्तम्यन्त स्वरितान्त शब्द हैं, उनके यण् से परे आकार अनुदात्त को स्वरित हो जाता है - **सकृल्ल्व्याशा, खलप्व्याशा** इत्यादि ।।८४ ।।

८५-एकादेश उदात्तेनोदात्तः ।। अ० ८.२.५

उदात्त के साथ जो अनुदात्त का एकादेश है वह भी उदात्त ही हो जाता है। जैसे-**अग्नी, वायू**। यहां अग्नि, वायु शब्द अन्तोदात्त हैं, उनका अनुदात्त विभक्ति के साथ एकादेश हुआ है। इसी प्रकार **वृक्षैः, प्लक्षैः** इत्यादि।।८५ ।।

८६-स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ ।। अ०८।२।६।।

जो उदात्त के साथ एकादेश है वह पदादि अनुदात्त के परे विकल्प करके स्वरित हो, पक्ष में उदात्त हो। (जैसे -) सु + उत्थितः = **सूत्थितः, सूत्थितः**। वि + ईक्षते = **वीक्षते, वीक्षते** इत्यादि ।।८६।।

वैदिक व्याख्या पद्धति

प्राचीना एवं अर्वाचीना

यह निर्विवाद है कि जब से वेद का प्रादुर्भाव हुआ, तभी से वेदार्थ के समझने-समझाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में वेदार्थ का बोध वेद से ही करा दिया जाता था। तदनन्तर जब मतिमान्द्यादि के कारण वेद से वेद का अर्थ समझना-समझाना दुरूह हो गया, तब ऋषियों ने वेदार्थ का ज्ञान करने-कराने के लिए वेदाङ्गों की रचना और उनके अभ्यास द्वारा वेदार्थ-बोध कराने का उपक्रम किया। यत: यज्ञकर्मविधायक कल्पसूत्र वेदाङ्गों के अन्तर्गत हैं, अत: इसी काल में परम्परा से परिज्ञात वेदार्थ को सुरक्षित रखने और उसे सुगमता से हृदयङ्गम कराने के लिए यज्ञों और उपाख्यानों की प्रकल्पना हुई।

आरम्भ से अद्य यावत् सुदीर्घकाल को हम वेदार्थ की दृष्टि से प्रधानतया चार विभागों में विभक्त कर सकते हैं–

प्रथम काल–कृतयुग के अन्त तक, **दूसरा**–त्रेता से द्वापर के अन्त तक, **तीसरा**–कलि के प्रारम्भ से विक्रम की १९वीं शताब्दी तक। **चौथा**–विक्रम की २०वी शती से वेदार्थ के चतुर्थ काल का आरम्भ होता है।

इस कालविभाग का निर्देश हम इस प्रकार भी कर सकते हैं–प्राग् याज्ञिक काल, पूर्व याज्ञिक काल, अपर याज्ञिक काल, और आधुनिक काल।

इतने सुदीर्घकाल में देश काल और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ वेदार्थप्रक्रिया की दृष्टि में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा। उसमें अनेक वाद उत्पन्न हुए। उन्हीं सब वादों की यहाँ भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से संक्षिप्त मीमांसा प्रस्तुत की जा रही है। यह भी ध्यान रहे कि इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में भारतीय इतिहास के अनुसार ही काल गणना और ग्रन्थरचनाकाल का निर्देश किया जाएगा।

१. प्राग्याज्ञिक काल (कृतयुग) का वेदार्थ

यज्ञों का प्रादुर्भाव कृतयुग का अन्त अथवा त्रेता के प्रारम्भ (अर्थात् सन्धिकाल) में हुआ। अत: कृतयुग के आरम्भ से लेकर उसके अन्त तक वेदार्थ की क्या परिस्थिति रही, इसका परिज्ञान इस समय पूर्णतया नहीं हो सकता। क्योंकि वर्तमान समय में जितना वैदिक वाङ्मय उपलब्ध होता है, वह सब प्राय: भारत युद्ध से ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ३०० वर्ष पश्चात् तक प्रोक्त है। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में एकमात्र मनुस्मृति ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसका मूल रूप से प्रवचन कृतयुग के अन्तिम

चरण में और भृगु द्वारा प्रवचन त्रेता में हुआ। इसी समय में नारद ने मानव धर्मशास्त्र के राजधर्म अंश का पृथक् रूप से प्रवचन किया। कृतयुग के द्वितीय चरण में आदि विद्वान् ब्रह्मा द्वारा विभिन्न शास्त्रों का अति विस्तृत शासन हुआ। उसके पश्चात् ऋषियों ने ब्रह्मा द्वारा शासित सुदीर्घ शास्त्रों का क्रमशः संक्षिप्त, संक्षिप्ततर और संक्षिप्ततम प्रवचन किया। इसीलिये ऋषियों द्वारा किये गये शास्त्रों के समस्त प्रवचन अनुशासन कहाते हैं। वर्तमान काल में विभिन्न शास्त्रों के जितने भी आर्ष ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे सब प्रायः उन-उन विषयों के अन्तिम एवं संक्षिप्ततम आर्ष संस्करण है। हमारे देश में ग्रन्थ-प्रवचन की एक ऐसी अद्भुत विधा है, जिसके कारण देश काल और परिस्थिति के अनुसार उत्तरोत्तर प्रवचनो में परिवर्तन परिवर्धन निष्कासन होने पर ग्रन्थ का नवीनीकरण हो जाता है और प्राचीन उपयोगी अंश भी जैसे के तैसे सुरक्षित हो जाते हैं। यह ग्रन्थ-प्रवचन की विधा नीरजस्तम (=रजोगुण तमोगुण से रहित) भारतीय मनीषियों की अनुपम देन है। इसी कारण सम्प्रति उपलभ्यमान परम्परागत आर्ष ग्रन्थों में प्राचीन आद्यकालीन वेदार्थ सम्बन्धी कतिपय निर्देश सुरक्षित रह गये हैं। अतः मनुस्मृति तथा अन्य आर्ष वाङ्मय के आधार पर प्राग्याकि काल के वेदार्थ पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

मनुस्मृति के १२वें अध्याय में लिखा है–

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥१००॥

अर्थात् संग्राम में सेना का संचालन, राज्यपालन, प्रजा के संरक्षण के लिये उचित दण्डव्यवस्था, और सार्वभौम आधिपत्य वा **सर्वलोक=पृथिवी**, जल और अन्तरिक्ष का प्रभुत्व पाने के लिये वेदरूपी शास्त्र का जानने **वाला ही समर्थ** हो सकता है। आगे पुनः कहा है–

ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।

त्र्यवरा परिषज्ज्ञया धर्मसंशयनिर्णये॥११२॥

अर्थात् प्रत्येक देश काल में व्यवहर्तव्य 'धर्म'=कर्तव्य कर्म के संशय के निर्णय के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञाता तीन विद्वानों की परिषद् बनावे।

इसी प्रसङ्ग में और लिखा है–

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥९७॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्॥९८॥

अर्थात्–चारों वर्णों और चारों आश्रमों के भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों

में कर्त्तव्य कर्मों का पूर्ण ज्ञान वेद से होता है। सारे प्राणियों की रक्षा करने वाला सनातन वेद ही है।

मनुस्मृति के राजधर्म (७/४३) प्रकरण में लिखा है–

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।

आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां च वार्तारम्भांश्च लोकतः॥

अर्थात्–राजा त्रैविद्य=तीन प्रकार की विद्याओं के जानने वालों से (१) **दण्डनीति**=राजनीति, (२) **आन्वीक्षिकी**=पदार्थ विज्ञान, तथा (३) **अध्यात्म**=शरीर आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी तीन विद्याओं को और लोक से वार्तारम्भ=शिष्टाचार को सीखे।

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि मनु के मतानुसार वेदों में (१) संग्राम में सेना का संचालन, (२) राज्य का पालन, (३) दण्डव्यवस्था=प्रजा को दुःख देने वालों का दमन, (४) आधिभौतिक तथा आधिदैविक पदार्थों का विज्ञान, (५) अध्यात्म विद्या अर्थात् शरीर का नैरोग्य, आत्मा के स्वरूपज्ञान से सांसारिक दुःखों से निवृत्ति, और परमात्मा के ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति आदि अनेक विद्याओं का वर्णन है। अर्थात् वेद में इन विद्याओं का वर्णन होने से मनु के मत में वेद का अर्थ इन विद्याओंपरक करना चाहिये।

इसीलिये मनु ने वेद के विषय में अन्यत्र भी लिखा है–**'सर्वज्ञानमयो हि सः'**॥२७॥ अर्थात् वेद समस्त विद्याओं का आकर है।

मनु के उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि एक अन्य दिशा से भी होती है, जो कि अत्यन्त प्रबल है। इस समय संस्कृत वाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सब अपने विषयों को वेदमूलक कहते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार वेद में उन-उन विद्याओं का वर्णन है। इस दष्टि से वेद में–

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद=संगीत, तथा नाट्य, कर्म, ज्ञान और उपासना आदि आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन मानना होगा। तभी उन-उन विषयों की वेदमूलकता स्वीकार की जा सकती है। दूसरे शब्दों में वेद का अर्थ इन सभी विद्याओं की दृष्टि से करना चाहिये, तभी तत्तद् ग्रन्थकारों का उन-उन विषयों की वेदमूलकता का कथन उपपन्न हो सकता है। महर्षि कणाद वेद की प्रामाणिकता का उपपादन पदार्थविज्ञान की दृष्टि से करते हैं। उनके वचन हैं–

अथातो धर्म व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥
तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्॥

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।। वैशे० १/१/१-४।।

अर्थात् अब हम यहाँ से आगे धर्म का व्याख्यान करेंगे। जिससे लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो, वह धर्म है। उसी धर्म का प्रतिपादन करने से वेद का प्रामाण्य है (अपौरुषेय या ईश्वरवचन होने से नहीं)। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा धर्मविशेष के ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है।

वैशेषिक के इन सूत्रों में 'धर्म' शब्द का अभिप्राय पदार्थों के गुणों से है, किसी पुण्य या अदृष्ट से नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रतिपाद्यविषय पदार्थों के गुणों की मीमांसा करना ही है। यदि यहाँ धर्म से अभिप्राय अदृष्ट का होता, तो ग्रन्थकार–"दृष्टानां दृष्टिप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय" (१०/२/९) सूत्र के अनन्तर पुनः "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" सूत्र न बनाते।

महर्षि कणाद के उपर्युक्त सूत्रों से स्पष्ट है कि वे वेद में न केवल पदार्थविज्ञान का ही प्रतिपादन मानते हैं, अपितु वे वेदप्रतिपादित पदार्थविज्ञान की सत्यता के आधार पर ही वेद का प्रामाण्य भी सिद्ध करते हैं। इसके लिये वे दो स्थानों पर वैदिकं च (४/२/१०) तथा वेदलिङ्गाच्च (४/२/११) सूत्रों द्वारा साक्षात् वेद का प्रमाण भी उपस्थित करते हैं।

न्यायसूत्रकार गौतम भी मन्त्रान्तर्गत (=मन्त्रप्रतिपादित) आयुर्वेद (=चिकित्सा-विज्ञान) के प्रामाण्य द्वारा वेद का प्रामाण्य सिद्ध करते हैं। उनका इस विषय का प्रसिद्ध सूत्र है–

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'।।२/१/६८।।

अर्थात् वेदमन्त्रों में जिस आयुर्वेद=चिकित्साविज्ञान का प्रतिपादन है, वह लोक में सत्य घटित होता है। इसलिये मन्त्रायुर्वेदरूपी एक देश के प्रत्यक्ष से वेद के उस भाग का भी प्रामाण्य समझना चाहिये, जिसमें आयुर्वेद का प्रतिपादन नहीं है। क्योंकि वेदोक्त आयुर्वेदिक प्रत्यक्ष विज्ञान द्वारा वेद के रचयिता का आप्तत्व सिद्ध है। वहीं आप्त उस भाग का भी रचयिता है, जिसमें आयुर्वेद का साक्षात् प्रतिपादन नहीं है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में क्रमशः अर्थशास्त्र, धनुःशास्त्र, संगीतशास्त्र और चिकित्साशास्त्र का विशेषरूप से प्रतिपादन है, इसलिये ये शास्त्र क्रमशः चारों वेदों के उपवेद माने जाते हैं।

इन सब संकेतों से स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल के महर्षि "वेद में लोकोपयोगी समस्त विद्याओं, आधिदैविक तथा आधिभौतिक पदार्थों के विज्ञानों और

आध्यात्मिक तत्त्वों की विस्तार से विवेचना की है" ऐसा समझते थे। भारतयुद्धकालीन विविधरूपेण परिवर्तित परिवर्धित, तथा मूल उद्देश्य से बहुत दूर गई हुई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार लिखे गये ब्राह्मण ग्रन्थां में वर्णित वेदार्थ से इन विषयों पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

पञ्चविध वेदार्थ-प्रक्रिया

तैत्तिरीय उपनिषद् (१/३/१) में वेदार्थ के पांच अधिकरण (=प्रक्रिया) का निर्देश मिलता है। यथा–

'अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकम्, अधिज्यौतिषम, अधिविद्यम्, अधिप्रजम्, अध्यात्मम्।।

त्रिविध वेदार्थ-प्रक्रिया

कृतयुग के तृतीय चरण में मनुष्य-समाज में क्रमशः सत्त्वगुणों की न्यूनता और रजोगुण की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्यों की मेघाशक्ति घटने लगी। इस प्रकार जब मेघाशक्ति के ह्रास के कारण प्राचीन विविध ज्ञान-विज्ञानपरिगुम्फित वेदार्थ भूलने लगा, तब ऋषियों ने विविध प्रक्रियानुसारी बहुविध प्राचीन वेदार्थ को "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्ध त्यजति पण्डितः" न्याय के अनुसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीन प्रक्रियाओं के अन्तर्गत सीमित कर दिया। तदनुसार पदार्थविज्ञान का समावेश आधिभौतिक प्रक्रिया में, ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति गति और उनके चराचर जगत् पर होने वाले प्रभाव अर्थात् ज्योतिषविज्ञान कालविज्ञान ऋतुविज्ञान आदि बहुविध विज्ञानों का समावेश आधिदैविक प्रक्रिया में, तथा शरीरविज्ञान जीवविज्ञान और ईशविज्ञान का समावेश आध्यात्मिक प्रक्रिया में किया गया।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित पञ्चविध प्रक्रिया में से अधिलोक अधिज्योतिष का आधिदैविक प्रक्रिया में, अधिविद्य का आधिभौतिक प्रक्रिया में, तथा अधिप्रज और अध्यात्म का आध्यात्मिक प्रक्रिया में अन्तर्भाव जानना चाहिये।

कृतयुग के चतुर्थ चरण में उत्तरोत्तर 'मेघाशक्ति के ह्रास के कारण पूर्वोक्त चहुंमुखी त्रिविध वेदार्थप्रक्रिया भी दुरूह होने लगी। इसी समय में मनुष्यों में रजोगुण की वृद्धि और तमोगुण की उत्पत्ति के कारण लोभ का प्रादुर्भाव हुआ। बलवान् और साधन- सम्पन्न व्यक्ति लोभ के वशीभूत होकर प्रजा को सताने लगे। इस मात्स्यन्याय से प्रजा का त्राण करने के लिये ऋषियों ने वर्णव्यवस्था और राजव्यवस्था के साथ-साथ पदार्थ-विज्ञान के अध्ययनाध्यापन तथा उसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिये। इस प्रकार पदार्थविज्ञान के क्षेत्र में संकोच के साथ-साथ वेदार्थ का क्षेत्र भी

बहुत संकुचित हो गया।

वेदार्थ में दो नये वादों का प्रादुर्भाव

इसी समय में अर्थात् कृतयुग के अन्त में अथवा त्रेता के प्रारम्भ में वेदार्थप्रक्रिया में दो नये वादों ने जन्म लिया। जिनमें एक था—दैवतवाद, और दूसरा—याज्ञिकवाद। इन वादों का उत्तरकालीन वेदार्थप्रक्रिया पर भारी प्रभाव पड़ा।

नये दैवतवाद ने प्राचीन आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों प्रक्रियाओं का सम्मिलितरूप से प्रतिनिधित्व किया। तदनुसार अग्नि जलवायु विद्युत् सूर्य चन्द्र आदि पदार्थों को देवता का रूप दिया गया। इस देवतावाद की शनैः-शनैः परिसमाप्ति अधिष्ठातृ-वाद में हुई।

इन तीन प्रक्रियाओं के निर्देश के लिये देखिये—

न श्रुतमतीयात्—

अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्।

मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु चैव श्रुतमित्यभिधीयते॥ शां० गृह्य ॥१/२/१८, १९॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेद् आधिदैविकमेव च।

आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्॥ मनु० ६/८३॥

यज्ञों की उत्पत्ति क्यों और कब हुई, उनमें किस प्रकार उत्तरोत्तर परिवर्तन तथा परिवर्धन हुए, और उनका उत्तरोत्तर वेदार्थप्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ा, यह जानकारी भी आवश्यक है।

२. याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

कृतयुग के अन्तिम चरण में आधिभौतिक वेदार्थ लुप्त होने लगा, आधिदैविक वेदार्थ की दिशा परिवर्तित हो गई, तथा काम क्रोध लोभ मोह आदि दोषों के कारण आध्यात्मिक भावना न्यून हो गई। उस काल में आधियाज्ञिक प्रक्रिया का प्रादुर्भाव हुआ। उसने न केवल मृतप्राय आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का स्थान ही लिया, अपितु प्रारम्भ में आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की रक्षा में भी हाथ बंटाया।

यज्ञों की कल्पना का प्रयोजन

सृष्टि के आरम्भ में सत्त्वगुण विशिष्ट योगजशक्तिसम्पन्न परावरज्ञ ऋषि लोग अपनी दिव्य मानसिक शक्ति से इस चराचर जगत् के परमाणु से लेकर परममहत् तत्त्व

पर्यन्त समस्त पदार्थों का हस्तामलकवन् प्रत्यक्ष कर लेते थे। उनके लिये कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था। उत्तरोत्तर सत्त्वगुण की न्यूनता, एवं रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम क्रोध लोभ और मोह आदि उत्पन्न हुए। उनके वशीभूत होकर मानवी प्रजा ने सुख विशेष की इच्छा से प्राजापत्य शाश्वत नियमों का उल्लंघन करके कृत्रिम जीवनयापन करना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों आवश्यकताएँ बढ़ती गई, त्यों-त्यों जीवनयापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इसके साथ ही साथ मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने लगा। उनके ह्रास के कारण सूक्ष्म, दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ अजेय बन गये। अत: ब्रह्माण्ड और पिण्ड (अध्यात्म=शरीर) की रचना कैसी है, यह जानना जटिल समस्या बन गई। इस कारण आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया। ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने और तत्परक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने-कराने के लिये यज्ञरूपी नाटकों की कल्पना की। यज्ञ का प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना है, इस बात की ओर आचार्य यास्क ने निरुक्त १/१९ में संकेत किया है—**याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।** तदनुसार यज्ञ और देवता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फल स्थानीय है, अर्थात् जैसे पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है, वैसे ही याज्ञिक प्रक्रिया का ज्ञान दैवत (=ब्रह्माण्ड) के ज्ञान में कारण होता है। जब दैवतज्ञान हो जाता है, तब वह याज्ञिकप्रक्रिया की दृष्टि से फलस्थानीय होता हुआ भी अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से पुष्पस्थानीय होता है, अर्थात् अध्यात्म में दैवत-ज्ञान कारण बनता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों में **'इत्यधियज्ञम्'** कहकर **'अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्'** के निर्देश द्वारा तीनों की परस्पर समानता दर्शाई है। इसी प्रकार मीमांसाशास्त्र के भी तीन विभाग हैं। पूर्व-उत्तर-मीमांसा तो लोक में प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु दोनों के मध्य में दैवत मीमांसा का भाग भी था, जो इस समय लुप्तप्राय: है। तदनुसार १२ अध्याय जैमिनि प्रोक्त कर्ममीमांसा, चार अध्याय **दैवतमीमांसा** और अन्त के चार अध्याय कृष्ण द्वैपायन व्यास प्रोक्त **ब्रह्ममीमांसा** के हैं। इस प्रकार २० बीस अध्यायात्मक मीमांसा शास्त्र में भी क्रमश: यज्ञ दैवत और ब्रह्म का विचार किया है। इन सब निर्देशों से व्यक्त है कि यज्ञों की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का ज्ञान कराने के लिये ही की गई है, अर्थात् भौगोलिक मानचित्रों के समान यज्ञ साधन मात्र हैं, साध्य नहीं।

यज्ञों की कल्पना का आधार

विराट् पुरुष (ब्रह्म) ने अपने सखा शरीर पुरुष (जीव) के शरीर की रचना

में अपने ही विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) की रचना का पूरा-पूरा अनुकरण किया है, अर्थात् यह मानव शरीर इस ब्रह्माण्ड की ही एक लघु प्रतिकृति है। परावरज्ञ ऋषियों ने अपनी दिव्य योगजशक्ति से इसी रचना-साम्य का अनुभव करके उसी के आधार पर दोनों के प्रतिनिधि रूप यज्ञों की कल्पना की। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्रमण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिये उनके मानचित्रों की व प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिये नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिये यज्ञों की कल्पना की गई, अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के मानचित्रों के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर की गई है। अतएव जिस प्रकार नगर, जिला, प्रान्त, देश और महादेश आदि के क्रम से भूगोल का क्रमिक ज्ञान कराने के लिये विभिन्न छोटे बड़े प्रदेशों के मानचित्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल, सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिये अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि विभिन्न छोटे मोटे यज्ञों की कल्पना की गई। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का एक नाम कल्प भी है—कल्पनात् कल्पः। अतएव यज्ञों के व्याख्यान करने वाले सूत्रग्रन्थ कल्पसूत्र कहलाते हैं।

वेदि-निर्माण, अग्न्याधान पुष्करपर्ण-निधान और सवनों के आरोहादि के अनुकरण के द्वारा सृष्टियज्ञ से जो तुलना ब्राह्मणादि ग्रन्थों में दर्शाई है, उससे स्पष्ट है कि श्रौतयज्ञ सृष्टियज्ञ के ही रूपक हैं और सृष्टियज्ञ अर्थात् आधिदैविक जगत् का अध्यात्म के साथ सम्बन्ध है। आधिदैविक जगत् के ज्ञान से अध्यात्म का अर्थात् शारीरयज्ञ का परिज्ञान होता है। इसीलिये निरुक्तकार यास्क ने देवताऽध्यात्मके वा [पुष्पकले] (निरुक्त १/१९) कहकर अधिदैविक ज्ञान को अध्यात्म ज्ञान में कारण बताया है। यही अभिप्राय लोक-प्रसिद्ध "यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे" लोकोक्ति से भी प्रकट होता है।

यद्यपि इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित श्रौत यज्ञों की समस्त क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ क्या सादृश्य है, इसका साक्षात् विस्तृत उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता, तथापि ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक क्रियाओं तथा तद्गत पदार्थों के निर्देश के साथ-साथ यत्र-तत्र उल्लिखित **'इत्यधिदैवतम्'** तथा **'इत्यध्यात्मम्'** आदि निर्देशों से उक्त सादृश्य का अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है। सौभाग्यवश दर्शपौर्णमास की सभी मुख्य-मुख्य क्रियाओं और पदार्थों की आधिदैविक अथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दर्शाई गई तुलना शतपथ ब्राह्मण (११/२/४/१ से ११/२/७/३३ तक) में सुरक्षित है।

उसके अनुशीलन से भी यज्ञों की कल्पना के मूलभूत आधार का ज्ञान भली प्रकार हो जाता है।

प्रारम्भ में जब यज्ञों की कल्पना की गई उस समय यज्ञ की प्रत्येक क्रिया और पदार्थ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे। इसी नियम पर प्रारम्भ में प्रकल्पित अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि यज्ञों में उत्तरोत्तर बहुत कुछ परिवर्तन होने पर आज भी इनकी क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों से अत्यधिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

यज्ञों के प्रादुर्भाव के काल

भारतीय इतिहास के अनुसार सर्ग के आरम्भ में मानवों की वैदिक ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर भी जैसे वेदों में वर्णित वर्णाश्रम-व्यवस्था राज्य-व्यवस्था आदि व्यवहारों का प्रचलन सर्ग के आरम्भ में ही नहीं हुआ था, तद्वत् ही द्रव्यमय यज्ञों का भी प्रचलन नहीं हुआ था। क्योंकि उस समय सभी मानव सत्त्वगुण सम्पन्न साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ परममेधावी थे। महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के अनुसार उस समय सारा जगत् ब्राह्ममय था। यज्ञों के विषय में शांखायन आरण्यक (४/५, पृ० १५) में स्पष्ट लिखा है–

'तद्ध स्मैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं च जुह्वां चक्रुः।'

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेकत्र **'य उ चैनं वेद'** कहकर यज्ञ करने और उसको तत्त्वतः जानने का समान फल दर्शाया है। यही बात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वि०सं० १९३२ में प्रकाशित संस्कार-विधि (प्रथम संस्करेण, पृ० ११८) के गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है–**'उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने वाला, ज्ञानी=सब पदार्थों को जानने वाला, ये दोनों होमादि बाह्य क्रिया न करें।'**

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त बात गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है। संन्यासी अर्थात् ज्ञानी को बाह्य होमादि न करने का जो विधान सभी शास्त्रों में विद्यमान है, उसका भी मूल कारण यही है।

अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धि काल में हुआ। इसीलिये कहीं पर यज्ञों की उत्पत्ति कृतयुग के अन्त में, और कहीं त्रेता युग के आरम्भ में कही है। प्रारम्भ में केवल **एकाग्निसाध्य** यजुर्वेदमात्र से सम्पन्न होने वाले अग्निहोत्रादि होमों का ही प्रचलन हुआ। तदनन्तर महाराज पुरुरवा ऐल के काल में **त्रेताग्निसाध्य** (=तीन अग्नियों में किये जाने

वाले) दो वेदों (=यजुः ऋक्) से किये जाने वाले दर्शपौर्णमासादि, तथा तीन वेदों (=यजुः ऋक् साम) से किये जाने वाले ज्योतिष्टोमादि यज्ञों की, और तत्पश्चात् पञ्चाग्निसाध्य विविध क्रियाकलाप की प्रकल्पना हुई। शतपथ ४, ६, ७, १३।।

प्रारम्भिक यज्ञ

यतः प्रारम्भ में यज्ञों की कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर की गई थी, अतः प्रारम्भ में कल्पित यज्ञों का आधिदैविक जगत् के साथ साक्षात् सम्बन्ध था। यथा अग्निहोत्र का अहोरात्र के साथ, दर्श पौर्णमास का कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के साथ, तथा चातुर्मास्य का तीनों ऋतुओं के साथ। अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ के ११वें काण्ड में मिलती है। चातुर्मास्य के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है–

'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते।' कौषीतकि ब्रा० ५/१

इसी प्रकार गोपथ उत्तरार्ध १/१९ में भी कहा है।

महाभारत शान्तिपर्व २६९/२० में अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है। यथा–

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः।।

याज्ञिक प्रक्रिया और वेदार्थ

भारतीय इतिहास से स्पष्ट है कि वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि अर्थात् कृतयुग के प्रारम्भ में हुआ। और यज्ञों की कल्पना का उदय कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ। यज्ञों की कल्पना से पूर्व वेद का अर्थ किस प्रकार सर्वविद्याविषयक किया जाता था, उसका किस प्रकार उत्तरोत्तर ह्रास हुआ, तथा यज्ञों की कल्पना क्यों और कब हुई, इनका संक्षिप्त वर्णन पूर्व किया जा चुका है। अब हम इस बात पर प्रकाश डाला जाएगा कि वेद का यज्ञों के साथ सम्बन्ध कैसे हुआ?

जब प्रारम्भ में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साम्य के आधार पर यज्ञों की कल्पना की गई, तब आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं तथा पदार्थों का वर्णन करने वाले वेदमन्त्रों का अभिप्राय समझाने के लिये उन-उन मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञों की तत्तत् कियाओं के साथ किया गया। जिस प्रकार नाटक करने वाले व्यक्ति किसी पूर्वकालीन ऐतिहासिक घटना का प्रदर्शन करते हुए उन-उन

ऐतिहासिक व्यक्तियों के मध्य हुए संवाद का अनुकरण करते हैं, उस संवाद के साथ उन नटों का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, ठीक इसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करने वाले वेदमन्त्रों का उन-उन की प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में, याज्ञिकप्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है। वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझाने का निमित्तमात्र है।

यज्ञों के आरम्भिक काल में याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की यही स्थिति थी। इसलिये उस समय याज्ञिक क्रियाकलापों में वे ही मन्त्र विनियुक्त किये जाते थे, जो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ के साथ-साथ उनके प्रतिनिधि रूप याज्ञिक क्रियाओं का भी शब्दशः वर्णन करने में समर्थ थे। उत्तरकाल में जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता होती गई, वैसे-वैसे वेद का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी मुख्यार्थ गौण बनता गया और याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा वेदार्थ याज्ञिकप्रक्रिया तक ही सीमित हो गया। अर्थात् **"यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः"** का वाद प्रवृत्त हो गया और इसकी अन्त्य परिणति मन्त्रानर्थक्यवाद में हुई।

काल्पनिक विनियोग

उत्तरकाल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा, और प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिये यज्ञों की सृष्टि हुई, तब उन समस्त यज्ञों की विविध क्रियाओं के अनुरूप वेदमन्त्र उपलब्ध न होने पर मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके याज्ञिक क्रियाओं के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् मन्त्रार्थ के विपरीत विनियोग का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इस प्रकार के अनेक कल्पनिक विनियोग उपलब्ध होते हैं। यथा–

मैत्रायणी संहिता ३/२/४ में लिखा है–

'निवेशनः संगमनो वसूनाम् इत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते।'

अर्थात् अग्निचयन में **'निवेशनः संगमनो वसूनाम'** (मै०सं० १/७/१२ (१५१) इस इन्द्रदेवतावाली ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करे।

याज्ञिकों के मत में जब इन्द्र से विशेषण-विशिष्ट महेन्द्र, वृत्रहा इन्द्र, पुरन्दर इन्द्र आदि भी भिन्न-भिन्न देवता हैं, तब इन्द्र और अग्नि के भिन्न-भिन्न देवता होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता। ऐसी अवस्थ में इन्द्र देवता वाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान भला अभिधावृत्ति से कैसे हो सकता है? यहाँ निश्चय ही इन्द्र शब्द के

मुख्यार्थ का त्याग करके गौणी कल्पना करनी पड़ेगी। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विनियोग 'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति' रूपी विनियोग की परिभाषा की दृष्टि से काल्पनिक ही कहे जायेंगे।

उपलब्ध ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण सबसे प्राचीन है। उसमें यज्ञ में क्रियमाण तत्तत् क्रियाकलाप को साक्षात् कहने वाले मन्त्र विनियोग को यज्ञ की समृद्धि (श्रेष्ठता) कहा है। इससे स्पष्ट है कि उसके काल में तत्तत् यज्ञीय क्रियाकलाप को साक्षात् या परम्परा से कथंचित् भी प्रतिपादन न करने वाले मन्त्रों का पद या अक्षरवर्ण के सादृश्य से विनियोग करने की परिपाटी आरम्भ हो चुकी थी और ऐसा असम्बद्ध विनियोग भी प्रामाणिक माना जाने लग गया था। अतएव ऐतरेय ब्राह्मणकार उसे स्पष्ट शब्दों में अयुक्त घोषित न कर सके।

भारतीय कालगणना के अनुसार महीदास ऐतरेय का काल याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के ३५०० वर्ष पश्चात् और भारतयुद्ध से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है। अतः पद अक्षर वर्णमात्र के सादृश्य से काल्पनिक विनियोगों का आरम्भ निश्चय ही भारत युद्ध से २००० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु उस काल तक उनका आधिक्य नहीं था, यह भी ऐतरेय के वचन से स्पष्ट है।

काल्पनिक मन्त्र

जब विभिन्न प्रकार के यज्ञों की मात्रा बहुत बढ़ी, तब उन सब यज्ञों में क्रियमाण विविध क्रिया-कलाप के अनुरूप (जो अर्थतः उस क्रिया को कह सकते हों) मन्त्रों के उपलब्ध न होने पर मन्त्रकल्पना का आरम्भ हुआ। इस प्रकार के अनेक काल्पनिक मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक और श्रौतसूत्र आदि में उपलब्ध होते हैं। गृह्यसूत्रों में तो इस प्रकार के काल्पनिक मन्त्रों की बहुतायत है (उत्तर काल में ऐसे काल्पनिक मन्त्रों को लुप्त शाखाओं में पठित समझा जाने लगा)।

काल्पनिक मन्त्रों की रचना का आरम्भ भारत युद्ध से लगभग दो ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। आरम्भ में वेदमन्त्रों को अपने-अपने कर्मों के अनुरूप बनाने के लिये उनमें साधारण परिवर्तन किया गया। तत्पश्चात् मन्त्रों के विभिन्न स्थानों के विभिन्न वाक्य जोड़कर मन्त्रों की रचना की गई। तदनन्तर वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का सन्निवेशमात्र करके (जिससे वे वैदिक मन्त्रवत् प्रतीत हों) मन्त्र रचे गये। अन्त में यही मन्त्र-कल्पना 'नमो भगवते वासुदेवाय' सदृश साम्प्रदायिक, तथा 'ओं ह्री हु' फट् स्वाहा' आदि सर्वथा अर्थरहित तान्त्रिक मन्त्रों की रचना में परिणत हुई।

मन्त्रानर्थक्यवाद

याज्ञिक काल में वेद के उपयोग का एकमात्र केन्द्र यज्ञ बन गये। कर्मकाण्ड में साक्षात् अविनियुक्त वेदभाग निष्प्रयोजन न माना जावे, इसलिये वेद के समस्त मन्त्रों का कर्मकाण्ड के साथ येन-केन प्रकारेण बलात् सम्बन्ध जोड़ा गया। मन्त्रों की मुख्यता समाप्त होकर विनियोजक ब्राह्मण ग्रन्थ ही मुख्य बन गये। ब्राह्मण ग्रन्थों की मुख्यता यहाँ तक बढ़ी कि 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक लोट् लिङ् और लेट् लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों के 'प्रथयति' आदि पदों को ही विधि अर्थवाला (=विधायक) माना गया। अर्थात् प्रारम्भ में मन्त्र के किसी पद विशेष के मुख्य अर्थ की उपेक्षा की गई, परन्तु उत्तरकाल में पूरे मन्त्र को ही अनर्थक मानकर उसके पदमात्र के सादृश्य से विनियोग की कल्पना की गई। 'भद्र' कर्णेभि:श्रृणुयाम देवा:' तथा 'वक्ष्यन्ति वेदागनीगन्तिकर्णम्' आदि मन्त्रों का कर्णवेध-संस्कार में किया गया विनियोग ऐसा ही है। इन मन्त्रों में कोई भी ऐसा पद नहीं है, जो कर्ण के वेधन करने का वाचक हो। मन्त्रों में पठित कर्ण पदमात्र को देखकर आँख मीचकर कर्णबेधन में इनका विनियोग कर दिया गया। उत्तरकाल में पदैकदेशमात्र के सादृश्य से विनियोग होने लगा। यथा 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' का दधिभक्षण में। तत्पश्चात् अक्षरमात्र के सादृश्य से विनियोगों की कल्पना हुई। यथा 'शन्नो देवी' का शनैश्चर की, और 'उद् बुध्यस्व' का बुध की पूजा में।

इस प्रकार उत्तरोत्तर काल्पनिक विनियोगों के आधिक्य से प्रभावित होकर कौत्स जैसे कर्मकाण्डी ने स्पष्ट घोषणा कर दी-"मन्त्र अनर्थक है।" अर्थात् मन्त्रों का यज्ञों में क्रियमाण कर्मों के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है। उनका यज्ञान्तर्गत किसी भी कर्मविशेष में प्रयोग होने से अदृष्ट (=धर्म विशेष) उत्पन्न होता है।

इस प्रकार याज्ञिकों द्वारा उद्भावित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट लक्षित होता है। यही कारण है कि इन शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में (शतपथ को छोड़कर) विनियोग (=इस मन्त्र से यज्ञ का अमुक कर्म करे) का ही उल्लेख प्राय: मिलता है। अतएव ब्राह्मण का लक्षण ही 'विनियोजकं ब्राह्मणम्' ऐसा याज्ञिकों में प्रसिद्ध हो गया। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ-कहीं मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्राय: आनुषङ्गिक हैं, अर्थात् मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना नहीं हुई। अत: इन ब्राह्मण ग्रन्थों (शतपथ को छोड़कर) से वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता। केवल ब्राह्मण-प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है।

मन्त्रानर्थक्यवाद का खण्डन

कौत्स आदि याज्ञिकों द्वारा पल्लवित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रतिवाद जैमिनि और यास्क ने बड़े प्रयत्न से किया है। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर, अथवा स्वयं तर्कजीवी होने के कारण याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में याजुष मन्त्रों का विनियोग दर्शाते हुए शुक्ल यजुर्वेद के लगभग १८ अध्यायों के मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ भी दर्शाया है।

अति प्राचीन काल के वेदार्थ के संकेत

वेदों के केवल यज्ञ के लिये पर्यवसित हो जाने, पर तथा प्राचीन वैज्ञानिक यज्ञों में उत्तरोत्तर पर्याप्त परिवर्तन और नये-नये यज्ञों के उद्भव के कारण वेदमन्त्रों के अनर्थक बन जाने पर भी भारत युद्धकाल तक वेदार्थ के प्रारम्भिक दृष्टिकोण का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। इसलिये तात्कालिक वैदिक शाखा, ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में प्राचीन वेदार्थ के कुछ सङ्केत सुरक्षित रह गये हैं। यदि उन संकेतों को ध्यान में रखकर आज भी वेदार्थ करने का प्रयत्न किया जाये, तो अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है। इसी प्रकार यदि यज्ञों की सूक्ष्म विवेचना द्वारा उनकी प्रकल्पना यज्ञों के द्वारा आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के समझने-समझाने में हम समर्थ हो सकते हैं।

याज्ञिक प्रक्रियाओं में हुए उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन का वेदार्थ पर भी गहरा प्रभाव पड़ा और जो याज्ञिक प्रक्रिया प्रारम्भ में वेदार्थ का ज्ञान कराने के लिये कल्पित की गई थी, उसने अन्त में वेदों को भी अर्थरहित बना दिया। यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य के प्रभाव से मन्त्रानर्थक्यवाद का यद्यपि कुछ प्रतिवाद हुआ, तथापि उससे प्राचीन या तत्समकालीन ग्रन्थों में मन्त्रार्थ से असम्बद्ध जो याज्ञिक मन्त्रविनियोग हो चुका था, उसका परिमार्जन न हुआ, अर्थात् उसका खण्डन नहीं किया गया। अतः याज्ञिक लोग उसी प्रकार मन्त्रार्थ से असम्बद्ध नये-नये विनियोग उत्तर काल में भी करते रहे। यदि यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य आदि मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रबल खण्डन न करते, तो जो कुछ याज्ञिकप्रक्रियानुसारी टूटा-फूटा वेदार्थ उपलब्ध होता है, वह भी न मिलता और वेदमन्त्र सर्वथा तान्त्रिक मन्त्रों के समान निरर्थक समझे जाते।

३. आधिदैविक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

याज्ञिक प्रक्रिया के अनन्तर आधिदैविक प्रक्रिया का स्थान है। याज्ञिक प्रक्रिया का इस प्रक्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यास्क के शब्दों में याज्ञिक प्रक्रियानुसारी

वेदार्थ पुष्प-स्थानीय है और आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ फल-स्थानीय। इससे स्पष्ट है कि याज्ञिक वेदार्थ की अपेक्षा आधिदैविक वेदार्थ प्रधान है।

याज्ञिक प्रक्रिया से पूर्व की वेदार्थ की त्रिविप्रक्रिया

आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का अभिप्राय समझने से पूर्व 'देव' शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है। जब यज्ञों की प्रकल्पना नहीं हुई थी, तब वेदार्थ की आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ये तीन प्रक्रियाएँ विद्यमान थी। उस समय की आधिदैविक प्रक्रिया और यज्ञप्रकल्पना के अनन्तर काल की आधिदैविक प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर है। प्राग्यज्ञ- प्रकल्पना-काल में ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को द्यु और पृथ्वी इन दो विभागों में बांटा गया था। उन्हें ही तात्स्थ्य उपाधि से देव और भूत कहा जाता था। तदनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों का वर्णन आधिभौतिक प्रक्रिया का अङ्ग था और पृथ्वी से ऊपर के समस्त पदार्थों का वर्णन आधिदैविक प्रक्रिया का अङ्ग। उस समय देव शब्द का अर्थ 'देवो द्युसथानो भवति' इतना ही समझा जाता था। उत्तर काल में यज्ञप्रकल्पना के साथ-साथ नये दैवतवाद का भी उदय हुआ, और देव शब्द के प्राचीन अर्थ 'देवो द्युस्थाओ भवति' के साथ 'दानाद्वा द्योतनाद्वा अंश और जोड़ा गया। तदनुसार अग्नि जलवायु नदी पर्वत वृक्ष औषधि वनस्पति आदि पदार्थों की भी गणना देवों में की गई। क्योंकि मनुष्य इन पदार्थों से कुछ न कुछ लाभ उठाता ही है। अतः प्राग्याज्ञिक काल के आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का बहुत-सा अंश नूतन परिवृंहित आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के अन्तर्गत हो गया और आधिभौतिक प्रक्रिया की स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गई। परन्तु याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के कारण आधिभौतिक वेदार्थ प्रक्रिया के लुप्त होने पर भी वेदार्थप्रक्रिया का त्रिविधत्व बना रहा।

आरम्भ में (त्रेता के तृतीय चरण तक) आधिदैविक प्रक्रिया का अभिप्राय ब्रह्माण्ड की किसी क्रिया वा पदार्थ का वर्णन करना समझा जाता था। इसके संकेत निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलते हैं। उत्तर काल (त्रेता के अन्त) में आधिदैविक प्रक्रिया में अधिष्ठातृवाद की उत्पत्ति हुई। तदनुसार अग्नि वायु सूर्य चन्द्र औषधि वनस्पति आदि समस्त पदार्थों में चेतन स्वरूप देवविशेषों की कल्पना की गई। उस समय आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का प्रयोजन अग्निवायु सूर्य आदि देवों से स्व-अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति के लिये उनकी प्रार्थना करना मात्र रह गया। दूसरे शब्दों में अत्युकृष्ट विज्ञान से युक्त मन्त्रों की स्थिति चारण भाट आदि के स्तुति-वचनों के समान बन गई। इसी कारण प्राचीन काल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद का जो वैज्ञानिक अर्थ किया जाता था, वह उत्तर काल में शनैः-शनैः लुप्त होता गया।

देवता के स्वरूप में किस प्रकार परिवर्तन हुआ, और उसमें कौन-कौन से वाद उत्पन्न हुए, इनका संक्षिप्त निदर्शन यास्क ने दैवतमीमांसा प्रकरण (निरु०अ० ७) में कराया है।

आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ को समझने के लिये इस समय एकमात्र सहारा यास्कीय निरुक्त ही है। हाँ, ब्राह्मण ग्रन्थों विशेषकर शतपथ ब्राह्मण से इस विषय में कुछ सहायता मिल सकती है।

यास्कीय निरुक्त में मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या उपलब्ध होने से लोक में नैरुक्त-प्रक्रिया का अभिप्राय आधिदैविक-प्रक्रिया ही समझा जाता है, परन्तु यह एक भारी भ्रम है। वस्तुतः निरुक्त शब्द निर्वचन का पर्याय है। वह निर्वचन भी अर्थ-निर्वचन नहीं है। तदनुसार निर्वचन को प्रधानता देकर जो भी मन्त्रव्याख्या की जायेगी, चाहे यह याज्ञिक हो, चाहे आधिदैविक, या चाहे आध्यात्मिक, सभी व्याख्या नैरुक्त प्रक्रियानुसार समझी जायेगी। यास्कीय निरुक्त के दैवत प्रकरण से विदित होता है कि कुछ प्राचीन निरुक्तकार याज्ञिक प्रक्रियानुसार भी मन्त्र-व्याख्या करते थे। इसी प्रकार निरुक्त के परिशिष्ट प्रकरण से विदित होता है कि कतिपय निरुक्त ग्रन्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर भी लिखे गये थे। अतः नैरुक्त प्रक्रिया का अर्थ केवल आधिदैविक प्रक्रिया समझना भूल है।

आधिदैविक-प्रक्रिया पर याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभुत्व

महाभारतयुद्ध काल तक वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया याज्ञिक प्रक्रिया से अभिभूत होकर भी कथंचित् जीवित रही। परन्तु उसके अनन्तर याज्ञिक प्रक्रिया ने उसे सर्वथा समाप्त कर दिया। याज्ञिक प्रक्रिया का इतना प्रभाव हुआ कि यास्कीय निरुक्त के आधिदैविक प्रक्रियानुसारी होने पर भी दुर्ग और स्कन्द ने निरुक्तान्तर्गत मन्त्रों की व्याख्या भी याज्ञिकविनियोगों का निदर्शन कराते हुए याज्ञिक प्रक्रियानुसार ही की है। यही अवस्था निरुक्त-समुच्चयकार आचार्य वररुचि की है। इतना होने पर भी वररुचि दुर्ग और स्कन्द की व्याख्याओं में विशुद्ध आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार यास्कीय निरुक्त, उसकी व्याख्याओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र-तत्र उल्लिखित 'इत्यधिदैवतम्' आदि संकेतों के आधार पर वेदमन्त्रों का आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ समझा जा सकता है। इसमें प्राचीन यज्ञों की प्रक्रिया से भारी सहायता मिल सकती है। वर्तमान भौतिक विज्ञान तथा ज्योतिष विज्ञान से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है।

४. आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया के अनन्तर आध्यात्मिक प्रक्रिया का स्थान है। यास्क के मतानुसार आधिदैविक वेदार्थ पुष्प-स्थानीय है और आध्यात्मिक वेदार्थ फल-स्थानीय। अर्थात् याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ से आधिदैविक वेदार्थ श्रेष्ठ है और आधिदैविक वेदार्थ से आध्यात्मिक वेदार्थ। दूसरे शब्दों में अध्यात्म का ज्ञान करना वेद का मुख्य अर्थात् अन्तिम प्रयोजन है।

वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया का वास्तविक अभिप्राय समझने के लिए प्रथम 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। आत्मा शब्द का अर्थ है–शरीर जीव और ईश्वर। जो आत्मा के विषय में कहा जाय, वह 'अध्यात्म' कहाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ में शरीर जीव और ईश्वर सम्बन्धी सभी विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है। शरीरविज्ञान आयुर्वेद का एक अवान्तर विषय है। आयुर्वेद का वेद के साथ सीधा सम्बन्ध है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं। अत: वेद को शरीर-विज्ञान का प्रतिपादन करना ही चाहिये। वेद का सम्पूर्ण ज्ञान है ही जीव के नि:श्रेयस और अभ्युदय के लिये। अत: वेद के साथ जीव का साक्षात् या परम्परा से सम्बन्ध होना अवश्यंभावी है। अब रहा ईश्वर का सम्बन्ध, सो जिस प्रकार वेद में संसार के विविध पदार्थों का विज्ञान दर्शाया है, उसी प्रकार वेद में ईश्वर सम्बन्धी विज्ञान का निर्देश होना भी आवश्यक है। अतना ही नहीं, प्राचीन भारतीय सम्प्रदाय के अनुसार वैदिक विज्ञान ईश्वरप्रदत्त माना गया है। अत: वेद का ईश्वर के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये अनेक आचार्यों का कहना है कि वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। इस प्रकार वेद के आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी अर्थ का अभिप्राय है–शरीर जीव तथा ईश्वर सम्बन्धी किसी न किसी विज्ञान का प्रतिपादन करना।

अति प्राचीन काल में वेद का आध्यात्मिक अर्थ किस प्रकार का किया जाता था, यह इस समय निश्चयात्मक रीति से नहीं बताया जा सकता। क्योंकि इस समय जितना भी वैदिक वाङ्मय उपलब्ध हो रहा है, वह सब भारत युद्ध काल के आस-पास का है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा प्राचीन आर्ष ग्रन्थ भी नहीं मिलता, जिसमें किसी वेद के किसी भी भाग का आनुपूर्वी से आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया हो। इतना होने पर भी उपलभ्यमान आर्ष वाङ्मय में आध्यात्मिक अर्थ के अनेक ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, विशेषकर आरण्यक ग्रन्थों में, जिनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

निरुक्त ७/४ में लिखा है–

'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'

अर्थात् देवता के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होने से एक ही देवता की बहुत प्रकार से स्तुति होती है।

अब प्रश्न होता है कि वह एक देवता कौन-सा है? इसका उत्तर निरुक्त के परिशिष्ट (जिसमें मुख्यतया वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया दर्शाई है) में इस प्रकार दिया है–

'अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म।'

अर्थात् वह महानात्मा पर (=परमात्मा) है, वह ब्रह्म है।

कात्यायन के मत में इस महान आत्मा का नाम सूर्य है। वेद की दृष्टि में इस महानत्मा का नाम अग्नि है–

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः।" ऋ० ३/२६/७

इसी एक अग्निरूपी महानात्मा के अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त होने से अध्यात्मचिन्तक उसे अनेक नामों से स्मरण करते हैं। इसका निर्देश ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है–

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'।। ऋ०१/१६४/४६
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।। शु० यजुः ३२/१

इन श्रौत प्रमाणों के अनुसार वेद में इन्द्र वरुण आदि जितने नाम प्रयुक्त हुए हैं, वे सब आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार एक ही महानात्मा के वाचक हैं। इसलिये वेद में जितने भी देवतावाचक पद हैं, आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार उन सबका अर्थ ब्रह्म ही होगा।

याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ से पराहत बुद्धिवाले समझते हैं कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ (=कर्मकाण्ड) ही है, अध्यात्म विषय तो उपनिषदों का है (ईशावास्य अध्याय की भी उपनिषद् संज्ञा होने से उसे उपनिषदों में ही गिनते हैं)। यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार सम्पूर्ण वेद का प्रतिपाद्य विषय एकमात्र ब्रह्म है। इस विषय में हम कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं–

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।'

इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वेद का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय 'ओम्' है। इसी कठ श्रुति की प्रतिध्वनि गीता के निम्न श्लोक में सुनाई पड़ती है–

'यदक्षरं ब्रह्मविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥' ८/११

५. ऐतिहासिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

जिस समय वेदार्थ की आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का लोप हो रहा था, उस समय वेदार्थ की एक नई प्रक्रिया का उदय हुआ। उसका नाम है–ऐतिहासिक प्रक्रिया।

ऐतिहासिक प्रक्रिया की उत्पत्ति का कारण

जब रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण मनुष्यों की बुद्धि मन्द होने लगी, वे वेद के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक गूढ़ तत्त्व साक्षात् समझने में असमर्थ होने लगे, तब ऋषियों ने मन्त्रागत गूढ़ तत्त्वों को समझाने के लिये मन्त्रागत पदों के आश्रय से तद्विषक आख्यायिकाओं की कल्पना की। यास्क ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन निरुक्त में दो बार किया–

ऋषेदृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता १०/१०, ४६

अर्थात् अर्थ के साक्षात् कर्त्ता ऋषि की आख्यान से संयुक्त करके [कहने की] प्रीति होती है।

इस प्रकार इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के उद्भव का मूल आधार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ ही है।

इतिहास शब्द का अर्थ

इतिहास शब्द का मूल अर्थ है–इति+ह+आस अर्थात् ऐसा ही था। इसी अर्थवाला इतिहास शब्द भूतकाल की सत्य घटना का वर्णन करता है। परन्तु गौणी वृत्ति से इस इतिहास शब्द का व्यवहार उन काल्पनिक पशु-पक्षियों की आख्यायिकाओं के लिए भी होता है, जिनका वर्णन 'अथाप्युदाहरन्तीमम्' इतिहासं पुरातनम् कहकर भूतकालिक घटनाओं के रूप में किया जाता है। इसी प्रकार की काल्पनिक कहानियों के लिए इतिहास शब्द का प्रयोग रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों में बहुत पाया जाता है। इसलिए किसी भी ग्रन्थ में इतिहास पद के उपलब्ध होने मात्र से उसे भूतकाल की वास्तविक घटना नहीं समझ लेना चाहिये। सबसे प्रथम यह विचारना चाहिये कि

यह इतिहास शब्द यहाँ पर मुख्यार्थ में प्रयुक्त हुआ है वा गौणार्थ में अर्थात् सत्य घटना के लिये प्रयुक्त हुआ है अथवा काल्पनिक वर्णन के लिये।

वेद और इतिहास

समस्त प्राचीन संस्कृत वाङ्मय चाहे वह वैदिक हो, वा दार्शनिक, वैज्ञानिक हो वा लौकिक, सभी एक स्वर से वेद को अपौरुषेय अथवा महाभूत' निःश्वसित कहते हैं, परन्तु इन्हीं ग्रन्थों में वेदार्थ से सम्बद्ध इतिहास आख्यान आदि पदों का असकृत् निर्देश उपलब्ध होता है। निरुक्त में कई स्थानों पर मन्त्रार्थ दर्शाने से पूर्व "तत्रेतिहासमाचक्षते" का प्रयोग मिलता है। वेद व्यास ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। आदिपर्व १/२६७

इसलिए यह विचारणीय हो जाता है कि वेदार्थ विषयक 'इतिहास' पद का क्या अर्थ है? क्या वस्तुतः वेद में ऐतिहासिक व्यक्तियों, नगरों, नदियों, पर्वतों का वर्णन है वा एतद्विषयक इतिहास पद गौणी वृत्ति से मन्त्र के किन्हीं पदों के आधार पर कल्पित आख्यायिकाओं के वाचक हैं। इस बात का निर्णय करने के लिए हमें इन्हीं ग्रन्थों को टटोलना होगा और उन्हीं के आधार पर इस 'इतिहास' पद के वास्तविक अभिप्राय को समझाने की चेष्टा करनी होगी।

यास्कीय निरुक्त में 'इतिहास' और 'आख्यान' दो पदों का एकार्थ में प्रयोग उपलब्ध होता है। निरुक्त के अनुशीलन से विदित होता है कि उसमें प्रयुक्त 'इतिहास' और 'आख्यान' पद वास्तविक (सत्य) इतिहास के वाचक नहीं है।

निरुक्तकार यास्क ने 'त्वष्टा दुहित्रे' (ऋ० १०/१७/१) मन्त्र के उपक्रम में 'तत्रेतिहास- माचक्षते' लिखकर मन्त्रार्थ का उपसंहार "महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्य, आदित्योदये अन्तर्धीयते" पदो से किया है। इससे स्पष्ट है कि यास्क द्वारा यहाँ प्रयुक्त इतिहास पद किसी वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वाचक नहीं है, अपितु मन्त्रप्रतिपादित अहो-रात्र-विज्ञान को सुगमता से समझाने के लिए मन्त्रार्थ से पूर्व लिखी गई काल्पनिक आख्यायिका का बोधक है। अन्यथा उपक्रम और उपसंहार में एक वाक्यता नहीं बन सकती। द्र०–निरुक्त १२/१०, ११

यास्क ने मन्त्रार्थ से पूर्व इस प्रकार के काल्पनिक इतिहास वा आख्यायिका के लिखने का प्रयोजन दो स्थानों पर इस प्रकार स्पष्ट किया है–

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। निरुक्त १०/१०, ४५

अर्थात् मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषि की स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को समझाने के लिए उसे कथा से संयुक्त करके कहने में प्रीति होती है। यही अभिप्राय निरुक्त के टीकाकार दुर्ग ने

इतिहास शब्द के अर्थ का निरूपण करते हुए इस प्रकार लिखा है–

यत्कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वाऽर्थ आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। निरुक्त टीका १०/२६, पृ० ८५८ (आनन्दाश्रम संस्करण) अर्थात् जो कोई भी आध्यात्मिक आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ भाग्य से बुद्धि में प्रकट हुआ, उसे प्रकट करने के लिये जो कथन होता है, वह इतिहास कहलाता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि जब उसे किसी विषय का अपूर्व ज्ञान होता है, तब उसे दूसरों पर प्रकट करने के लिए उसके मन में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न होती है। जब तक वह उस अपूर्वज्ञान को दूसरों पर प्रकट नहीं कर देता, तब तक उसके मन को शान्ति नहीं होती। इसी मनुष्य स्वभाव के अनुसार जब किसी ऋषि को किसी मन्त्र के अपूर्व अर्थ का प्रतिभान होता है, तब वह उसे प्रकट करने के लिये आतुर हो जाता है। अत: वह विज्ञान अतिशय गूढ़ होता है, उसे सीधे-साधे शब्दों में कहने मात्र से वह साधारण व्यक्ति को हृदयङ्गम नहीं हो सकता, अत: उसे हृदयङ्गम कराने के लिये उसे आख्यायिका का रूप देकर कहने की इच्छा होती है। इसी भाव से वेदव्यास ने भी '**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्**' में '**समुपबृंहयेत्**' पद का निर्देश किया है। अर्थात् वेद के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम कराने के लिये वेदार्थानुकूल किसी आख्यायिका का आश्रयण लेना ही होगा और उस वेदार्थानुकूल आख्यायिका की कल्पना बिना पुरातन इतिहास जाने नहीं हो सकती और उसके बिना मन्त्रार्थ में रोचकता तथा सरलता नहीं आ सकती। अत: वेदार्थ का बोध कराने के लिये पुरातन इतिहास का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वेद में अनेक ऐसे वर्णन उपलब्ध होते हैं, जो आपाततः ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में वह ऐतिहासिक रूप के नहीं होते। यथा वेद का इन्द्र-वृत्र-युद्ध।

यास्क ने निरुक्त २/१६ में इन्द्र वृत्र युद्ध प्रतिपादक एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है–

अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्मजायते,
तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

अर्थात् मेघस्थ जल के साथ विद्युत् का सम्बन्ध होने से वृष्टि होती है, वेद में एतद्विषयक जो इन्द्र वृत्र युद्ध का वर्णन है, वह उपमारूप से है। अर्थात् इन्द्रनाम विद्युत् का है और वृत्र नाम मेघ का। विद्युत् का मेघ पर प्रहार होने से वह छिन्न-भिन्न होता है, और उससे वृष्टि होती है।

इसके आगे यास्क ने इसी मत को स्पष्ट करने के लिए लिखा है–

अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति दासपत्नी रहिगोपा ..... ।

अर्थात् इन्द्र वृत्र का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में अहि=मेघ के समान उपलब्ध होता है। अहि (मेघ) शरीर को बढ़ाकर जल के स्रोतों को रोक देता है। उसके हत होने=नष्ट होने पर जल गिर पड़ते हैं। इसी '**अहिवत्तु खलु .... तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः**' अर्थ को कहने वाली अगली '**दासपत्नीरहिगोपाः**' ऋचा होती है।

इस प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि यास्क के मत में मन्त्र प्रतिपादित इन्द्रवृत्र युद्ध वस्तुतः ऐतिहासिक घटना नहीं है, अपि तु वह इस जगत् में सदा होने वाली वर्षा की घटना है। युद्ध का वर्णन तो औपमिक है।

जिस प्रकार वेदार्थ की अन्य प्रक्रियाओं की अन्त में दुर्गति हुई, उसी प्रकार इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की भी महती दुर्गति हुई। मन्त्रों में शाब्दिक समानता को लेकर वेद में विभिन्न व्यक्तियों के चरित्रों की खोज होने लगी, और नाम मात्र की समानता से अनेक काल्पनिक इतिहास लिखे गये। इस प्रकार की ऐतिहासिक प्रक्रिया के उत्कृष्ट उदाहरण 'मन्त्ररामायण' और 'मन्त्रभागवत' ग्रन्थ है।

आधुनिक पश्चात्य विद्वानों ने वेदों को पौरुषेय ग्रन्थ मानकर उनमें प्राचीन भौगोलिक तथा मानवीय इतिहास खोजने का बड़ा भारी प्रयत्न किया है। हम समझते हैं कि प्राचीन काल में वेद में वास्तविक इतिहास मानने वाले व्यक्तियों ने भी इस विषय में इतना महान् प्रयास नहीं किया था, क्योंकि उस समय का सत्य इतिहासवाद भी प्राचीन काल्पनिक इतिहासवाद का एक परिवर्तित रूप था। यदि उस समय सत्य इतिहासवाद की इतनी प्रबलता होती, जितनी की आज है, तो वेद के अपौरुषेयवाद के खण्डन में बौद्ध और जैन विद्वान् इस वाद का विशेषरूप से आश्रयण करते, परन्तु बौद्ध और जैन दार्शनिक ग्रन्थों में इस बात का उपयोग उसी साधारण रूप में किया है, जिस रूप में जैमिनि ने इसका पूर्वपक्ष में निर्देश किया है।

शाखागत ऐतिहासिक पदों का सामान्य अर्थ करने की शैली

वेद की समस्त शाखाएँ वेद के रूपान्तर हैं। वर्तमान में उपलब्ध शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि इन शाखाओं के रूपान्तरी-करण में दो प्रधान कारण थे। एक–अप्रसिद्धार्थ पद के स्थान में प्रसिद्धार्थ पद का निर्देश करके

अर्थ का बोध कराना और दूसरा–याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिये सुविधा उत्पन्न करना।

इन शाखाओं के विभिन्न मन्त्रों की तुलना से यह भी स्पष्ट होता है कि कई स्थानों में उनमें मन्त्र के सामान्यार्थवाचक शब्द के स्थान में याज्ञिक प्रक्रिया आदि की सुगमता के लिये व्यक्ति, जाति, देश विशेष वाचक शब्द भी रख दिये जाते हैं। भाव को प्रकट करने के लिये एक मन्त्र के उपलब्ध शाखाओं के पाठान्तर नीचे दर्शाते हैं–

एष, वोऽमी राजा माध्यन्दिन, एष वः कुरवो, राजैष पञ्चाला राजा काण्व, एष वो भरता राजा तैत्तिरीय, एष ते जनते राजा काठक, एष ते जनते राजा मैत्रा०।

इन पाठों को आपाततः देखने से ही स्पष्ट विदित होता है कि माध्यन्दिनी संहिता का पाठ प्राचीन है। यहाँ सर्वनाम 'अमी' शब्द का व्यवहार किया गया है, जिसका किसी जाति वा देश विशेष से सम्बन्ध नहीं है। अन्य संहिताओं में 'कुरवः' 'भरताः' 'पञ्चालाः' आदि जाति विशेष वाचक पद प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों से स्पष्ट है कि जिस शाखा का जिस देश में विशेष प्रचार था, उस-उस देश के निवासियों को सम्बोधन करके अभिषिक्त राजा का निर्देश किया है। काठक और मैत्रायणी में यद्यपि जातिविशेष का वाचक पद नहीं है, तथापि 'जनते' का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि जिन देशों में वास्तविक रूप में कोई व्यक्ति विशेष आजन्म राजा नहीं होता था अर्थात् प्रजातन्त्रराज्य था, वहाँ 'जनता' को ही संबोधन किया है।

६. भाषाविज्ञान-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

वेदार्थ की अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है–भाषाविज्ञान। इस प्रक्रिया के अनुसार वेद के विभिन्न सन्दिग्ध पदों का अर्थ करने के लिये विभिन्न देशों की भाषाओं की शाब्दिक, आर्थिक और व्याकरण सम्बन्धी साम्यता को मुख्य आधार रूप में स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इस प्रक्रिया का उद्भव विक्रम की २०वीं शताब्दी में माना जाता है, परन्तु यह प्रक्रिया एतद्देशीय विद्वानों के लिये नवीन नहीं है, यह अनुपद ही व्यक्त हो जायेगा। हाँ, मध्यकाल में जब भारतीय भाषा परिवार से भिन्न म्लेच्छभाषा के अध्ययनाध्यापन पर धार्मिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया, तब यह प्रक्रिया लुप्त हो गई।

सम्प्रति जिसे भाषाविज्ञान कहा जाता है, उसके तीन अङ्ग हैं–उच्चारण, शब्दों का स्वरूप और उसके अर्थ। भारतीय मनीषियों ने भाषाशास्त्र के तीनों अङ्गों के निरूपण के लिये क्रमशः शिक्षा व्याकरण और निरुक्त शास्त्र का अन्वाख्यान किया है। निरुक्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन वैदिक शब्दों के निश्चित अर्थों का ज्ञान कराना है। दूसरे शब्दों में अमुक अर्थ क्यों हो गया, इसकी उपपत्ति दर्शाना ही निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन है। शब्दों की वर्णानुपूर्वी समान होने पर भी उनके अर्थों में महद् अनन्तर होता

है, इसलिये उनके विभिन्न अर्थों के मूल कारणों को व्यक्त करने के लिये ही निरुक्त शास्त्र में एक शब्द के अनेक धातुओं के निर्देश द्वारा अर्थों का उपपादन किया है।

यास्कीय निरुक्त के 'अथ निर्वचनम्' प्रकरण (२/१४) की तुलना आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों से करने पर स्पष्ट विदित होता है कि यास्क ने साम्प्रतिक भाषाविज्ञान के न केवल उन सभी नियमों का आश्रयण किया है जिन्हें विक्रम की २०वीं शताब्दी की उपज समझा जाता है, अपितु ध्वनिविकार के कई ऐसे नियम दिए हैं, जिन्हें आधुनिक भाषाशास्त्री अभी तक स्वीकार नहीं कर पाये, किन्तु भाषा में वे ध्वनिविकार स्पष्ट देखे जाते हैं। प्राचीन आचार्य वर्तमान भाषाविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों का वेदार्थ में उपयोग करना जानते थे। इतना ही नहीं, अपितु समस्त विश्व की मूल भाषा एकमात्र प्राजापत्या दैवी वाक् संस्कृत को मानने के कारण उनके शब्दार्थ सभ्यता का क्षेत्र साम्प्रतिक भाषाविज्ञानवादियों अपेक्षा की कहीं अधिक विस्तृत था, क्योंकि आधुनिक-भाषा-विज्ञानवादी संस्कृतभाषा का सेमिटिक आदि अन्य परिवार की भाषाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं मानते। पाश्चात्य भाषाविज्ञानवादियों ने अनेक निराधार कल्पनाओं के कारण भाषाविज्ञान का स्वरूप बहुत विकृत कर दिया है। इस कारण जहाँ इस विज्ञान के यथार्थ प्रयोग से वेदार्थ में सहायता हो सकती थी, वहाँ इसके दुरुपयोग से वेदार्थ का नाश हो रहा है। श्रेष्ठ पर्याय 'आर्य' शब्द का लिथोनियन भाषा के आधार पर 'कृषक' अर्थ करना, 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' में 'कस्मै' पद को प्रश्नार्थक बनाना, 'उषो वाजेन वाजिनी' (ऋ० ३/६१/१) का The Goddess of Dawn having flet horses अर्थ करना इसी प्रकार का है।

वेदों के भाष्य

प्राचीन भारतीय भाष्य

सम्प्रति सायण, महीधर, उव्वट, भट्टभास्कर, माधव, वेङ्कटमाधव, स्कन्द और उद्गीथ आदि-आदि के जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हो रहे हैं, वे सब याज्ञिक प्रक्रियानुसारी हैं। उनके ऊपर कल्पसूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ और अपने समय की परिस्थिति का अत्यधिक प्रभाव है। उनका मस्तिष्क इनके भार से इतना दबा हुआ है कि वे स्वतन्त्रता से कुछ नहीं लिख सकते। अतएव ये भाष्यकार सिद्धान्तरूप से किसी बात को स्वीकार करके भी उसको निभा नहीं सके। इन सब विद्वानों ने अपने भाष्य **'वेदा यज्ञार्थ प्रवृत्ता'** इसको केन्द्र बना कर रचे हैं। मध्वाचार्य तथा उनके कतिपय अनुयायियों ने ऋग्वेद के प्रारम्भिक ढाई अध्याय (४० सूक्तों) की आध्यात्मिक प्रक्रिया से टीका टिप्पणी करने का प्रयास किया है। यह प्रयास स्तुत्य होते हुए भी सम्प्रदाय विशेष की दृष्टि से किया हुआ है। इस कारण उसमें वह प्रौढ़ता नहीं है, जो

स्वतन्त्र विचारक की कृति में हुआ करती है। आत्मानन्द का अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १/१६४) का अध्यात्मभाष्य भी इसी कोटि का है। ये सब टीका टिप्पणीकार अध्यात्म शब्द विषयक प्राचीन आर्ष विस्तृत दृष्टि नहीं समझते थे। मन्त्र में कथंचित् भी विष्णु का संबन्ध जोड़ देना, इनके आध्यात्मिकत्व का लक्षण था। अतः इनके लिये आध्यात्मिक शब्द का व्यवहार करना भी अनुचित है। इसके अतिरिक्त इन वेदभाष्यकारों ने वेद का सबसे महत्त्वपूर्ण अर्थ जिससे मनुष्यों की ज्ञान-विज्ञान और उसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती थी, उसकी ओर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया। इसलिये इन प्राचीन वेदभाष्यों के अनुसार वेद या तो केवल शुष्क कर्मकाण्ड के विषय बन गये या मूड़मुड़ाये लोगों के लिये हरिस्वरण के।

योरोपियन भाष्य

विक्रम की २०वीं शताब्दी में योरोपदेशवासियों ने वेद पर अनुसन्धान करना आरम्भ किया। अनेकों ने जर्मन और इंगलिश भाषा में वेद के अनुवाद किए। इनके लिये संस्कृत भाषा विदेशी भाषा थी, इसलिये उनका उसमें अप्रतिहत गति प्राप्त करना असम्भव था, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने अपने दृढ़ अध्यवसाय के बल पर वैदिक साहित्य पर गत डेढ़ शताब्दी में जितना कार्य किया है, उसका दशांश भी भारतीयों ने नहीं किया। पाश्चात्य विद्वानों के इतने दृढ़ अध्यवसायी होने पर भी वे तीन कारणों से वेद की गहराई तक नहीं पहुँच सके। प्रथम–उन्हें वेदार्थ समझने के लिये एकमात्र सायणभाष्य का ही आश्रय मिला, जो स्वयं वेद के ऊपर-ऊपर डोलता है। दूसरा–पाश्चात्य विद्वानों का ईसाइयत का पक्षपात। तीसरा–बिना सिर पैर के मिथ्यावादों की कल्पना। इन तीन प्रगुख कारणों से योरोपीय विद्वानों से किये गये वेद के अनुवाद कैसे होंगे, इसका अनुमान सहज ही हो सकता है। हम यहाँ निदर्शनार्थ दो छोटे से उदाहरण उपस्थित करते हैं–

१. इन्द्र के लिये प्रयुक्त "वृषभो रोरवीति" (ऋ० ३/५५/१७) का अर्थ Indra The Great Roaring Bull किया है।

२. "उषो वाजेन वाजिनी" (ऋ० ३/६१/१) का अर्थ The Goddess of Dawn Having Fleet Horses किया है।

अतः योरोपीय विद्वानों से यह आशा रखना कि वे वेद के वास्तविक अर्थ को प्रकट करेंगे, सर्वथा दुराशा है। इसी प्रकार जो भारतीय विद्वान् पाश्चात्यों के पदचिह्नों पर चलकर वेद में परिश्रम कर रहे हैं, उनसे भी किसी प्रकार की आशा रखना अनुचित है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य

जिस समय योरोपीय देशों में वेदार्थ जानने के लिए प्रयत्न हो रहा था, उसी समय भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक सर्वथा नई दृष्टि से वेदार्थ करने का उपक्रम किया। स्वामी दयानन्द का वेदार्थ इन दोनों प्रकार के वेदार्थों से भिन्न था। स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ की प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रक्रियाओं का भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन किया और इस बात का निर्णय किया कि वेद और उसके अर्थ की वह स्थिति नहीं है, जो यज्ञों के प्रादुर्भाव के पीछे उत्तरोत्तर परिवर्तन होकर बन गई है। अपितु जिस समय यज्ञों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, उस समय वेदों की जो स्थिति थी और जिस आधार पर वेद का अर्थ किया जाता था, वही उसका वास्तविक अर्थ था। इसके लिये उन्होंने समस्त वैदिक और लौकिक, आर्ष और अनार्ष, सर्वविध संस्कृत वाङ्मय का आलोडन किया। मनुस्मृति, षड्दर्शन, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और महाभारत आदि ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी उन्हें प्रसङ्ग प्राप्त प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी संकेत उपलब्ध हुए उनके अनुसार प्राग्यज्ञकालीन वेदार्थ करने के जो नियम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निर्धारित किए, वे इस प्रकार हैं–

१. वेद अपौरुषेय वा मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य वा देवाधिदेव की दैवी वाक् वा ज्येष्ठ ब्रह्म की ब्राह्मी वाक् वा प्रजापति की श्रुति वा महाभूत का निःश्वास होने से अजर-अमर अर्थात् नित्य है। अतएव

२. वेद में किसी देश जाति और व्यक्ति का इतिवृत्त नहीं है। इस कारण

३. वेद के समस्त नाम पद (=प्रातिपदिक) यौगिक (=धातुज) हैं, रूढ़ नहीं। अतएव उनके सर्वविधप्रक्रियानुगामी होने से

४. वेद सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। इसलिए

५. वेद में आधिभौतिक तथा आधिदैविक समस्त पदार्थ विज्ञान का सूत्र रूप से वर्णन है। इसके साथ ही आध्यात्मिक दृष्टि से

६. वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का परित्याग नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण वेद का वास्तविक तात्पर्य अध्यात्म में है। अतएव

७. वेद के अग्नि वायु इन्द्र आदि समस्त देवता वाचक पद उपासना प्रकरण (=अध्यात्म) में परमेश्वर के वाचक होते हैं और अन्यत्र भौतिक पदार्थ के। याज्ञिक क्रिया का पर्यवसान आधिदैविक विज्ञान में होने से

८. युक्ति प्रमाणसिद्ध याज्ञिक क्रिया-कलाप, मन्त्रार्थानुसृत विनियोग और तदनुसारी याज्ञिक अर्थ भी ग्राह्य है, अन्य नहीं।

९. वेद मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य होने से उसकी वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है। अतएव

१०. वेद में भौतिक जड़ पदार्थों से अभिलषित पदार्थों की याचना, अश्लीलता, वर्ग-द्वेष और पशु-हिंसा आदि-आदि असम्भव तथा अनर्थकारी बातों का उल्लेख नहीं है।

११. वेद स्वतः प्रमाण है, अन्य समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाङ्मय परतः प्रमाण अर्थात् वेदानुकूल होने से मान्य है। अतएव

१२. वेद की व्याख्या करने में व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, पदपाठ, प्रातिशाख्य, आयुर्वेदादि उपवेद, मीमांसा वेदान्त आदि दर्शन, कल्प (श्रौत, गृह्य, धर्म) सूत्र, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि आदि समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाङ्मय से सहायता ली जा सकती है (क्योंकि इनमें प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी अनेक रहस्यों के संकेत विद्यमान हैं), परन्तु कोई भी मन्त्र-व्याख्या इन ग्रन्थों के अनुकूल न होने वा विपरीत होने से अमान्य नहीं हो सकती, जब तक वह स्वयं वेद के विपरीत न हो।

इन नियमों के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के साढ़े छः मण्डल और सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य रचा। उन्होंने अपने भाष्य में इन मूलभूत सिद्धान्तों का सर्वत्र अनुगमन किया है। जैसे सायण और स्कन्द वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों के प्रादुर्भाव से पूर्व वेदार्थ की क्या स्थिति थी और किन प्रक्रियाओं के आधार पर वेदार्थ समझा वा समझाया जाता था, यज्ञों के प्रादुर्भाव के अनन्तर उसका वेदार्थ पर क्या प्रभाव पड़ा, याज्ञिक तथा अन्य प्रक्रियाओं में किस प्रकार शनैः शनैः परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों का वेद और उसके अर्थ पर अन्त में क्या प्रभाव हुआ।

आज से लगभग ११-१२ सहस्र वर्ष पूर्व से वेदार्थ की वास्तविक प्रक्रिया में परिवर्तन तथा ह्रास का आरम्भ हुआ (यही काल यज्ञों के प्रादुर्भाव का है) और वेदार्थ उत्तरोत्तर विकृत होता चला गया। इतने सुदीर्घ काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती के अतिरिक्त किसी भी अन्य आचार्य ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि जब तक यज्ञों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तब (यज्ञों से पूर्व) भी वेद का कोई अर्थ समझा-समझाया जाता था वा नहीं? (वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरम्भ में और यज्ञों का त्रेता के आदि में माना जाता है), यदि समझा जाता था तो उस वेदार्थ की क्या प्रक्रिया थी? इस सुदीर्घ काल में जितने भी पुरातन आचार्यों ने वेदार्थ के विषय में जो कुछ लिखा है उन सब पर अपने-अपने समय की वेदार्थ प्रक्रिया का कितना भारी प्रभाव था, यह भी इस

विवेचना से स्पष्ट है।

वेदार्थ प्रक्रियाओं की इस ऐतिहासिक विवेचना से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दृष्टि से वेद और उसके अर्थ की वही वास्तविक स्थिति है, जो यज्ञों की प्रकल्पना से पूर्व समझी जाती थी और जिसके कतिपय संकेत मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। स्वायम्भुव मनु के पश्चात् सम्भवतः स्वामी दयानन्द ही एक मात्र ऐसा व्यक्ति हुआ, जिसने वेद के विषय में स्वायम्भुव मनु के "सर्वज्ञानमयो हि सः" के समान "वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है" ऐसी स्पष्ट घोषणा की और इसी सर्वप्राचीन दृष्टि से ऋग्वेद के साढ़े छः मण्डल और सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य करके दर्शा दिया कि वेद वास्तविक रूप में सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रति मन्त्र व्याख्या के सम्बन्ध में चाहे कितना ही मतभेद क्यों न हो, परन्तु उन्होंने जिस दृष्टि से वेद का अर्थ किया है, भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी वह वेदार्थ प्रक्रिया वा वेदार्थ की दृष्टि सर्वथा ठीक है, यह तो स्वीकार करना ही होगा। और इससे यह भी मानना होगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती की मेधा अत्यन्त विमल और सूक्ष्म थी, उसके लिये न देश का व्यवधान था और न काल का, न उस पर किसी प्राचीन ऋषि-मुनि वा सम्प्रदाय का प्रभाव था और न अपने समय का। अतएव उस महापुरुष ने वेदार्थ की समस्त काल्पनिक प्रक्रियाओं का उल्लघंन करके अति पुरातन काल की वेदार्थ प्रक्रिया का आश्रयण कर वेद और वेदार्थ की प्रक्रिया का विशुद्ध स्वरूप संसार के सामने उपस्थित किया।

वेदार्थ की प्रक्रिया

प्राचीन ऋषि तथा मुनि वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं। स्कन्द स्वामी, वेङ्कट माधव और सायण प्रभृति वेदभाष्यकारों ने याज्ञिक प्रक्रियानुसार वेदभाष्य करते हुए, कहीं-कहीं मन्त्रों का व्याख्यान आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार दर्शाया है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वेदार्थ की यही तीन प्रक्रियाएं मान्य हैं। परन्तु मध्यकालीन एवं वर्तमान विद्वानों का मत है कि वेद का प्रादुर्भाव यज्ञों के लिए ही हुआ है। यथा-**वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः**। अर्थात् वेदार्थ कर्मकाण्ड तक सीमित है। आचार्य सायण ने काण्व संहिता के भाष्य के उपोद्घात में स्पष्ट लिखा है-

तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्था ब्रह्मकाण्डः। तदव्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेति अनयो ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रउभयत्राधानाग्निहोत्र दर्शपौर्णमासादिकर्मण एवं प्रतिपाद्यत्वात् इति।

अर्थात् यजुर्वेद में दो काण्ड हैं, कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यक उपनिषद ब्रह्मकाण्ड है, उससे भिन्न शतपथ और संहिता ग्रन्थों में सर्वत्र कर्मकाण्उ है। इन दोनों में आधान, अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास आदि कर्म का ही विधान होने से।

सायण ने यह पंक्तियाँ मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानकर लिखी है। इनसे इतना स्पष्ट है कि ब्रह्मकाण्ड का प्रतिपादन उपनिषद् ग्रन्थों से तथा कर्मकाण्ड का निर्देश संहिता से स्वीकार करता है। यही विचार सामान्य रूप से सभी उपलब्ध वेदभाष्यों के रचयिताओं का है।

आधिदैविक प्रक्रिया–आधिदैविक प्रक्रिया में वेद का अर्थ सृष्टि उत्पत्ति, स्थिति एवं तद्गत पदार्थों के गुण-परक होता है। इस वेदार्थ प्रक्रिया के साक्षात् विधायक ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है। शाखाओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र-तत्र ऐसा वेदार्थ मिलता है। यास्कमुनि विरचित निरुक्त शास्त्र वेद का आधिदैविक प्रक्रियानुसार ही मन्त्रार्थ करता है। यह ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध है।

आध्यात्मिक प्रक्रिया–आध्यात्मिक प्रक्रिया में मन्त्रों का अर्थ, शरीर-विज्ञान, आत्मविज्ञान एवं परमात्मविषयक होता है। इस प्रक्रिया परक वेद व्याख्यान ग्रन्थ भी अनुपलब्ध है। शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में ऐसे अर्थ यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। यास्कमुनि आधिदैविक प्रक्रियानुसार मन्त्रार्थ करते हुए कहीं-कहीं **अथाध्यात्मम्** लिखकर ऐसा भी मन्त्रार्थ करता है। निरुक्त के १३वें तथा १४वें काण्डों में प्राचीन नैरुक्तों के मतानुसार **अतिस्तुति** नाम से कुछ मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ संग्रहीत है।

यजुर्वेद के भाष्यकार उवट ने ३१वें अध्याय में शौनक आचार्य कृत आध्यात्मिक व्याख्यान उद्धृत किया है। इस प्रक्रियानुसार वेद के सहस्रों मन्त्रों का व्याख्यान ऋषि दयानन्द के भाष्य में ही विशेषत: उपलब्ध है।

आधियाज्ञिक प्रक्रिया–इस प्रक्रिया में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सम्पूर्ण यज्ञरूपी कर्मकाण्ड ही मन्त्रों के अर्थ का विषय है। प्राचीन ग्रन्थों में वेद की शाखाएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ और कल्पसूत्र इसी याज्ञिक प्रक्रियानुसार वेद का प्रधानरूप से व्याख्यान करते हैं।

त्रिविध प्रक्रिया के प्रमाण–

१. महर्षि यास्क ने ऋग्मन्त्र **वाचं शुश्रुवां अफलाम-पुष्पाम्** का व्याख्यान करते हुए लिखा है–

अर्थं वाचः पुष्पफलमाह–याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। नि० १/२०

अर्थात् वेद का मन्त्र वेदवाणी के पुष्प और फल का निर्देश करता है। ये पुष्प

और फल क्रमशः आधियाज्ञिक और आधिदैविक विज्ञान अथवा आधिदैविक और आध्यात्मिक विज्ञान है। पुष्प पहले लगता है और फल पीछे। पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है। तदनुसार यास्क का मत है कि याज्ञिक अर्थ का परिज्ञान पुष्प स्थानीय है और वह फलस्थानीय आधिदैविक विज्ञान में कारण है। इसी प्रकार जब मानव को आधिदैविक जगत विज्ञात हो जाता है, तो वह आध्यात्मिक विज्ञान में कारण बनता है। अर्थात् याज्ञिक विज्ञान की दृष्टि से जो आधिदैविक विज्ञान फलस्थानीय था, वह उत्तर अध्यात्म विज्ञान के प्रति पुष्पस्थानीय होता है। इससे यह तत्त्व अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि श्रौत यज्ञों की प्रक्रिया, रचना और शरीर रचना में अत्यन्त सादृश्य है। इसी तत्त्व का निर्देश ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रवक्ता याज्ञिक तत्त्वों की व्याख्या करके **अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम्** लिखकर सृष्टि और शरीर सम्बन्धी तत्त्वों का सादृश्य दर्शाते हैं।

२. शांखायन श्रौत सूत्र में लिखा है-

नश्रुतमतीयात्। अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्। मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते॥ १/१/१८, १९

अर्थात् श्रुत=शब्द श्रवण मात्र से गम्यमान अर्थ का परित्याग न करे। देव सम्बन्धी, आत्म सम्बन्धी और यज्ञ सम्बन्धी तीन अर्थ मन्त्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रुत कहे जाते हैं।

३. महाभाष्य-टीकाकार भर्तृहरि ने १/१/२७ की व्याख्या में लिखा है-

यथा इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋग्वेद १/२२/१७) **इत्यत्र एक एव विष्णु शब्दौऽनेकशक्तिः सन्नधिदैवतमध्यात्मधियज्ञं च आत्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे'**

अर्थात् मन्त्र में एक ही विष्णु शब्द अनेक शक्तिवाला अधिदैवत, अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः सूर्य, परमात्मा और चषाल (-यूप के ऊपर का ढक्कन) अर्थ को कहता है।

४. निरुक्त व्याख्याता स्कन्द स्वामी लिखता है-

सर्वदर्शनेषु च सर्व मन्त्रायोजनीयाः। कुतः? भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्॥ (अध्याय ७, खण्ड ५)

अर्थात् सब दर्शनों=अधियज्ञ, अधिदैवत, अध्यात्म में सब मन्त्रों के अर्थ की योजना करनी चाहिए। क्यों भाष्यकार यास्क ने तीन प्रकार के विषय के प्रदर्शन

के लिए **अर्थं वाचः पुष्पफलमाह** वचन द्वारा यज्ञ आदि का पुष्पफल रूप से निदर्शन कराया है।

५. दुर्गाचार्य अपनी निरुक्त व्याख्या में लिखता है–

अध्यात्माधिदैव-ताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्था विज्ञायन्ते।।१/१८

अर्थात् अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ अर्थों को कहने वाले मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थ जाने जाते हैं।

६. हरिस्वामी अपने शतपथ ब्राह्मण भाष्य के प्रथम काण्ड के आरम्भ में लिखता है–

मन्त्रा आधियाज्ञिका इषे त्वादयः, त एव देवतापदत्वेनाधिदैविकाः, स एवात्मानमधिकृता आध्यात्मिकाः। ईशावास्यादयस्त्वा- ध्यात्मिका एव।

अर्थात् **'इषे त्वादि'** मन्त्र अधियज्ञ विषयक हैं, ये ही देवता परक अर्थ अभिधान करने पर आधिदैविक होते है और ये ही आत्मा के प्रति अधिकृत हुए आध्यात्मिक अर्थ को कहते हैं। ईशा वास्यम् आदि मन्त्र आध्यात्मिक ही हैं। अर्थात् ये तीनों अर्थों को नहीं कहते।

इन कतिपय प्राचीन आचार्यों के वचनों से यह स्पष्ट है कि वेद का यज्ञ-दैवत-आत्माविषयक त्रिविध अर्थ होता है।

याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभाव–याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभाव वेदार्थ पर इतना अधिक हुआ कि निरुक्तकार ने जिन मन्त्रों का अर्थ आधिदैवत प्रक्रियानुसारी किया था, उनका अर्थ भी स्कन्द आदि टीकाकारों ने बलात् यज्ञपरक ही किया।

याज्ञिक प्रक्रिया स्वयं सृष्टि-यज्ञ अर्थात् आधिदैविक जगत् के व्याख्यानार्थ प्रवृत्त हुई है अतः अधियज्ञ और अधिदैवत में अधियज्ञ विषयक अर्थ गौण है, और अधिदैवत अर्थ प्रधानभूत है। इस दृष्टि से वेद का प्रतिपाद्य विषय अधिदैवत और अध्यात्म ही है। आधिदैविक अर्थ की भी परिणति अध्यात्म में ही होती है। इन दोनों अर्थों में भी अध्यात्म अर्थ प्रधान है। वेद का यही आध्यात्मिक विचार **परा विद्या** है। उपनिषत्कारों ने **अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते** के द्वारा दैवी वाक् के इसी तात्पर्य की ओर संकेत किया है। आधिदैविक विज्ञान अपरा विद्या में गिना जाता है कर्मकाण्ड विज्ञान आधिदैविक विज्ञान का बाह्य स्वरूप है।

चतुर्थ वेदार्थ प्रक्रिया

वेद के जितने भी आचार्य हुए हैं, उन्होंने प्रायः स्वकाल में प्रसिद्ध किसी एक

वेदार्थ प्रक्रिया का आश्रय लेकर वेद व्याख्यान लिखे हैं। त्रिविध वेदार्थ प्रक्रिया के अतिरिक्त एक अन्य प्रक्रिया भी है। इस प्रक्रियानुसारी मन्त्रार्थ के संकेत यत्र तत्र प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं।

व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया–मानव समाज से सम्बद्ध अर्थ को प्रधानता देकर वेद के व्यावहारिक अर्थ को उद्घाटित करने का परम श्रेय इस युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। ऋषि दयानन्द के द्वारा समाश्रित व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें त्रिविध प्रक्रिया का अन्त:पुट रहते हुए भी यह एक स्वतन्त्र प्रक्रिया का स्थान ग्रहण करने में समर्थ है। कर्मकाण्डीय अर्थ के प्रचलन के कारण लोक में यह धारणा उत्पन्न हो गयी थी कि वेद का मानव जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके निवारणार्थ उन्होंने वेद का व्यावहारिक अर्थ विशेष रूप से प्रस्तुत किया।

इस व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया का मूलाधार है अलंकारों का प्रचुर समाश्रय। अन्य वेद भाष्यकारों ने कहीं-कहीं अलंकारों का उपयोग किया है, परन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में इनका भरपूर उपयोग किया है। जिस-जिस मन्त्र के श्लेषादि अलंकारों द्वारा पारमार्थिक और व्यावहारिक दो-दो अर्थ सम्भव थे, उनके दो-दो ही अर्थ किए हैं। अन्यथा केवल व्यावहारिक अर्थ ही किया है। उन्होंने वेद के पारमार्थिक अर्थात् आध्यात्मिक और व्यावहारिक अर्थ देने का विशेष प्रयत्न किया है।

❋ ❋ ❋
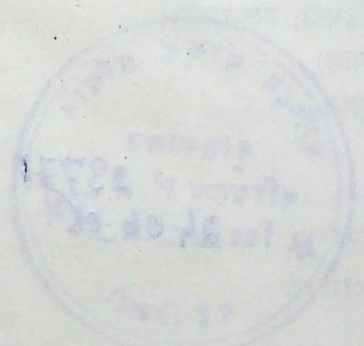
संदर्भ ग्रन्थ

१. ऋग्वेद संहिता-सायणभाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।
२. ऋग्वेद भाषाभाष्य, क्षेमकरणदास त्रिवेदी, सा०आ० प्रतिनिधि सभा, दिल्ली।
३. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
४. ऋग्वेद भाष्य भूमिका, सायण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
५. ऋक् सूक्त वैजयन्त्री, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत।
६. ऋक् सूक्त संग्रह, डॉ० कृष्ण कुमार, मेरठ।
७. वैदिक संग्रह, डॉ० कृष्ण लाल, दिल्ली।
८. वैदिक व्याख्या विवेचन, डॉ० रामगोपाल, दिल्ली।
९. दी न्यू वैदिक स्लेक्शन, डॉ० वी०बी० चौबे, होशियार पुर।
१०. यजुर्वेद भाष्य, स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
११. वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता, उबट, महीधर भाष्य, निर्णय सागर, बम्बई।
१२. सामवेद-संहिता, सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत।
१३. सामवेद-संहिता, जयदेव शर्मा, अजमेर।
१४. अथर्ववेद संहिता, सायणभाष्य, विश्वबन्धु, वी०वी०आर०आई०, होशियार पुर।
१५. अथर्ववेद भाषाभाष्य, परोपकारिणी सभा, अजमेर।
१६. ऐतरेय ब्राह्मण, सायण भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज-३२।
१७. शतपथ ब्राह्मण, सायण भाष्य, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई।
१८. तैत्तिरीय उपनिषद्, शांकर भाष्य, गीता प्रैस, गोरख पुर।
१९. कठोपनिषद्, शांकर भाष्य, गीता प्रैस, गोरख पुर।
२०. वैदिक व्याकरण, डॉ० रामगोपाल, दिल्ली।
२१. वैदिक व्याकरण, डॉ० सत्यव्रत, दिल्ली।
२२. भाषा विज्ञान, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी।
२३. भाषा विज्ञान, डॉ० मंगलदेव।
२४. वैदिक माईथोलोजी, हि०अ० रामकुमार राय, विद्याभवन।
२५. वैदिक सिद्धान्त-मीमांसा, मीमांसक-कपूर ट्रस्ट।
२६. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, द्विवेदी, इलाहाबाद।
२७. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, बलदेव उपाध्याय।
२८. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला।
२९. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भगवद्दत्त।
३०. निरुक्त, डॉ० लक्ष्मणस्वरूप।
३१. निरुक्त, कपिल देव शास्त्री एवं श्रीकान्त पाण्डेय।
३२. History of Indian Literature, M. Winternitz.